UNIVERSAL
LIBRARY
OU_178989
UNIVERSAL
LIBRARY

ll No. H182 K45H Accession No. H 3125

thor खन्ना, वेदपाल

e हिन्दी नाटक साहित्य का आलोचनात्मक अध्ययन

This book should be returned on or before the date last marked below.

27 OCT 1992

हिन्दी-नाटक-साहित्य

का

आलोचनात्मक अध्ययन

लेखक
वेदपाल खन्ना 'विमल' एम० ए०, पी-एच० डी०
अध्यक्ष, हिन्दी-विभाग, भार्गव म्युनिसिपल कॉलेज,
शिमला ।

प्रकाशक
श्री भारत भारती (प्राइवेट) लिमिटेड
१ अन्सारी रोड, दरियागंज
दिल्ली–७

प्रकाशक
सुदर्शनकुमार
मैनेजिंग डायरेक्टर
श्री भारत भारती (प्राइवेट) लिमिटेड
दिल्ली–७

मूल्य बारह रुपया

प्रथम संस्करण—१९५८
सर्वाधिकार प्रकाशकों के अधीन हैं।

मुद्रक
नरेन्द्र प्रिंटिंग प्रेस
२० मॉडल बस्ती
नई दिल्ली-५

निवेदन

भारतवर्ष की नाट्य-परम्परा अति प्राचीन है। हमारा संस्कृत का नाटक-साहित्य संसार में प्राचीनतम ही नहीं है, अपितु बड़ा सुसमृद्ध एवं सुप्रसिद्ध भी है। किन्तु जहाँ संस्कृत-नाटकों की अविच्छिन्न परम्परा ईसा की ग्यारहवीं-बारहवीं शताब्दियों से लुप्त हो गई, वहाँ हिन्दी-नाटकों की अविरल धारा उन्नीसवीं शताब्दी ईस्वी के मध्य से पूर्व प्रवाहित न हो सकी। पिछले एक सौ वर्षों में हिन्दी-नाटक ने द्रुत गति के साथ उन्नति की है और गत तीस वर्षों में रचे गये अन्यान्य प्रकार के अनेक उत्कृष्ट हिन्दी-नाटकों से तो हिंदी-साहित्य का यह उपेक्षित अंग पूर्णतया सबल तथा समृद्ध हो गया है।

किन्तु गत आठ-दस वर्षों से पूर्व तक हिन्दी-नाटक पर आलोचनात्मक साहित्य के सृजन की ओर विद्वानों का ध्यान बहुत कम आकर्षित हुआ था। हिन्दी-कविता पर रचे गये समालोचना-साहित्य के मुक़ाबले में हिंदी-नाटक पर लिखे गये साहित्य का प्रायः अभाव था। इस अभाव से खिन्न होकर मैंने हिन्दी-नाटक के उद्गम और क्रमिक विकास पर एक गंभीर आलोचनात्मक ग्रन्थ लिखना अत्यावश्यक और उपयोगी समझा।

जब फ़र्वरी १९४५ में मैंने अपना यह विचार पंजाब विश्वविद्यालय के संस्कृत तथा हिंदी विभाग के अध्यक्ष श्रद्धेय गुरुवर स्वर्गीय डा० लक्ष्मणस्वरूप एम० ए०, डी० फ़िल० (ऑक्सन) के समक्ष प्रकट किया तो उन्होंने मेरे विषय का सहर्ष स्वागत करते हुए इस पर पी-एच० डी० की उपाधि के लिए थीसिस लिखने का आदेश दिया। डाक्टर महोदय के इस प्रस्ताव से प्रोत्साहित होकर मैं अपने खोज-कार्य में और भी अधिक तत्परता के साथ संलग्न हो गया। अगस्त १९४७ तक मैंने अपने थीसिस का प्रायः सर्वांश समाप्त कर लिया। केवल यत्र-तत्र छोटे-मोटे संशोधन करके थीसिस को अंतिम रूप में लिखने का कार्य शेष था।

इतने में हमारे देश का (तथा पंजाब का) विभाजन हो गया और मेरे थीसिस का कुछ भाग तथा बहुत से नाटक जो मैंने अनेक स्थानों से बड़ा परिश्रम करके मंगाये थे, लाहौर में रह गये। इस क्षति ने तथा पाकिस्तान और भारतवर्ष के कुछ प्रदेशों में डेढ़-दो मास तक चलने वाले भीषण बवण्डर ने मेरे मन को बड़ा अशांत कर दिया। परन्तु शीघ्र ही मैं इस मानसिक

विक्षोभ को दबाकर और भी अधिक उत्साह के साथ अपने कार्य में पुनः जुट गया। अन्त में फ़र्वरी १९४९ में मेरी तपस्या पूर्ण हुई और थीसिस टाइप करवा कर मई १९४९ में विश्वविद्यालय को भेज दिया गया। अगस्त १९५२ में यूनिवर्सिटी ने परिणाम घोषित करते हुए थीसिस को पी-एच० डी० की उपाधि के लिए स्वीकृत कर लिया।

विश्वविद्यालय के नियमानुसार मूल थीसिस अंग्रेज़ी में लिखकर भेजा गया था। परिणाम घोषित होने के पश्चात् मैंने इसका हिन्दी-रूपांतर करने का विचार किया, किंतु अध्यापन-कार्य तथा अन्य व्यस्तताओं के कारण कुछ मास इस कार्य में हाथ न लगा सका। फिर अगस्त १९५३ में रूपान्तरण-कार्य समाप्त करके इस ग्रन्थ की पाण्डुलिपि प्रकाशनार्थ भेज दी गई, और श्री भारत भारती प्राइवेट लिमिटेड, दिल्ली ने इसे प्रकाशित करने का भार सहर्ष उठाने का अनुग्रह किया। खेद है कि उक्त प्रकाशन-संस्था की विविध व्यस्तताओं आदि के कारण इस ग्रन्थ के प्रकाशन में अप्रत्याशित विलंब हो गया, अन्यथा यह अध्ययन दो-ढाई वर्ष पूर्व ही आपके हाथों में पहुँच गया होता।

इस प्रकार प्रस्तुत ग्रन्थ की रचना पंजाब विश्वविद्यालय द्वारा पी-एच० डी० की उपाधि के लिए स्वीकृत मेरे थीसिस के आधार पर की गई है। मूल थीसिस मई १९४९ में यूनिवर्सिटी को भेज दिया गया था, अतः उसमें केवल १९४८ तक के नाटक-साहित्य का ही अध्ययन प्रस्तुत किया गया था। उस थीसिस पर आधारित जो पाण्डुलिपि १९५३ में प्रकाशकों के पास भेजी गई थी, उसमें भी १९४८ तक के नाटकों का ही वर्णन था। अब पुस्तक के अन्त में एक और अध्याय (सत्ताईसवाँ) बढ़ा दिया गया है, जिसमें १९४९ से लेकर आज तक के हिन्दी-नाटकों का अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। इस प्रकार इस ग्रन्थ को पूर्णतया अप-टू-डेट बनाने के अतिरिक्त जिन-जिन विषयों पर अन्य विद्वानों ने अधिक संक्षेप से काम लेकर उन पर समुचित प्रकाश नहीं डाला था, उन विषयों पर अपेक्षित विस्तार के साथ लिखकर उन्हें सर्वथा स्पष्ट कर दिया गया है। प्रस्तुत अध्ययन को विद्यार्थियों के लिए विशेष हितकर तथा सुबोध बनाने के उद्देश्य से ग्रन्थ की भाषा जानबूझ कर सरल रखी गई है।

प्रस्तुत ग्रन्थ में हिन्दी-नाटक के उदय के प्रश्न पर विभिन्न दृष्टिकोणों से गंभीरतापूर्वक विचार करके हिन्दी-नाटक के क्रमिक विकास की आज तक की सभी अवस्थाओं का आलोचनात्मक अध्ययन सुव्यवस्थित रूप में प्रस्तुत किया गया है। ग्रन्थ की उपयोगिता में वृद्धि करने के लिए एक अध्याय (छब्बीसवें) में आरंभ से लेकर आज तक के हिन्दी-रंगमंच का परिचय दे दिया गया है।

हिन्दी-नाटक के टेकनीक अथवा नाट्य-विधान पर दो अध्यायों में यथेष्ट प्रकाश डाला गया है। उनमें से एक (नवें) अध्याय में उन्नीसवीं शताब्दी के नाट्य-विधान का और दूसरे (पच्चीसवें) अध्याय में आधुनिक नाटक के टेकनीक का परिचय देकर दोनों नाट्य-विधानों के अन्तर की ओर भी संकेत कर दिया गया है। यद्यपि साहित्यिक विषयों में भविष्यवाणी करना बड़ा कठिन है तथापि छब्बीसवें अध्याय में मैंने हिन्दी नाटक के भविष्य पर अपने विचार प्रकट करने का साहस किया है। इसके साथ ही उस अध्याय में एक व्यावहारिक योजना भी प्रस्तुत की गई है, जिसको कार्यान्वित करने से हिन्दी-नाटक का विशेष उत्कर्ष हो सकता है, तथा जनता की रुचि का परिष्कार भी किया जा सकता है।

प्रस्तुत ग्रन्थ का विषय अति विस्तृत तथा क्षेत्र बड़ा व्यापक है। इसके साथ ही हिन्दी-नाटकों की, विशेषतः गत तीस-पैंतीस वर्षों में रचे गये हिन्दी-नाटकों की, संख्या बहुत अधिक है। अतः प्रत्येक नाटककार पर अथवा प्रत्येक नाटक पर पूरे विस्तार के साथ लिखने का अवकाश इस ग्रन्थ में नहीं था। विस्तारपूर्वक अध्ययन के लिए तो भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, जयशंकर प्रसाद, हरिकृष्ण प्रेमी, सेठ गोविंददास, उपेन्द्रनाथ अश्क आदि नाटककारों में से किसी एक को ही लिया जा सकता है, और एक सुन्दर स्वतंत्र ग्रन्थ की रचना की जा सकती है। अतः मैंने अपने ग्रन्थ के अधिक विस्तार-भय के कारण यथा-शक्ति संक्षेप से काम लिया है। अनावश्यक विस्तार से सावधानी के साथ बचते हुए नाटकों का अध्ययन तथा नाटक-संबंधी प्रश्नों तथा प्रवृत्तियों का विवेचन केवल उतने ही शब्दों में किया है जिससे प्रत्येक विषय स्पष्ट भी हो जाय, और ग्रन्थ का आकार भी अधिक बढ़ने न पाये। कुछेक अति साधारण एवं महत्त्वहीन रचनाओं को छोड़ दिया गया है, क्योंकि प्रस्तुत अध्ययन में मेरा प्रधान उद्देश्य सभी नाटकों की सूची दे देना नहीं है, वरन् हिंदी-नाटक के उदय के प्रश्न पर गंभीरतापूर्वक विचार करके हिंदी-नाटक के विकास, ह्रास तथा पुर्नविकास का और प्रत्येक काल की विशेषताओं तथा प्रमुख प्रवृत्तियों का आलोचनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करना है।

अपनी ओर से इस बात का ध्यान रखा गया है कि कोई भी उच्चकोटि की अथवा महत्त्वपूर्ण नाटकीय रचना इस अध्ययन से रह न जाय। किन्तु फिर भी संभव है कि भूल से, अधिक व्यस्तता से, अथवा आवश्यकता के समय किसी नाटक के उपलब्ध न हो सकने के कारण कोई उल्लेखनीय नाटक इस अध्ययन में स्थान प्राप्त न कर सका हो। परन्तु जानबूझ कर अथवा किसी नाटक या

नाटककार के प्रति उपेक्षा-भाव दिखाने के विचार से ऐसा बिल्कुल नहीं किया गया। इसके अतिरिक्त नाटकों की समालोचना करते हुए तथा मूल्यांकन करते समय किसी भी रचना या रचयिता के प्रति लेशमात्र भी पक्षपात अथवा द्वेष का भाव मन में नहीं आने दिया गया। नाटकों का सर्वथा स्वतंत्र, सहानुभूतिपूर्ण एवं निष्पक्ष दृष्टिकोण से अध्ययन किया गया है, और सभी निष्कर्ष रचनाओं के गुण-दोषों को भली भाँति ध्यान में रखते हुए ही निश्चित किये गये हैं। यदि इससे किसी का मन तनिक भी दुःखे या मेरी आलोचना किसी को अरुचिकर प्रतीत हो, तो इसके लिए लेखक सविनय क्षमा-प्रार्थी है।

यद्यपि प्रस्तुत ग्रंथ के प्रकाशित होने में अप्रत्याशित विलम्ब हो गया है, तथापि इसका मुद्रण अब बड़ी सावधानी से तथा प्रकाशन बड़े परिश्रम के साथ किया गया है। इसके लिए लेखक अपने प्रकाशकों—श्री भारत भारती प्राइवेट लिमिटेड का तथा उनके मैनेजिंग डायरेक्टर प्रियवर श्री सुदर्शनकुमार जैन का हृदय से आभारी है।

आशा है प्रस्तुत अध्ययन सभी हिन्दी-प्रेमियों के लिए सामान्यतः और विद्यार्थी-वर्ग के लिए विशेषतः उपयोगी सिद्ध होगा।

वेदपाल खन्ना
एम० ए०, पी-एच० डी०

भार्गव म्युनिसिपल कॉलेज, शिमला।
१ मार्गशीर्ष, २०१३।

विषय-सूची

पहला अध्याय

नाटकों के अभाव के कारण १–१४

दूसरा अध्याय

हिंदी-नाटक के पूर्व-रूप १५–१६

रामलीला १५

रासलीला १६

नौटंकी १७

इन लीलाओं का हिंदी-नाटक पर प्रभाव १७

तीसरा अध्याय

पूर्व-भारतेन्दु-काल २०–२८

आरंभकालीन हिंदी-नाटक २०

इन नाटकों की विशेषताएं २२

हिंदी-नाटक का उदय २३

चौथा अध्याय

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र २६–५७

भारतेन्दु के नाटक ३०

भारतेन्दु के अनूदित नाटक ३१

भारतेन्दु के मौलिक नाटक ३५

भारतेन्दु के प्रहसन ४३

भारतेन्दु के नाटकों का कला-विधान ४५–५७

कथावस्तु ४८

चरित्र-चित्रण ४६

रस ५१

कथोपकथन ५२

भाषा ५३

गीत ५४

प्रेम-सिद्धान्त ५४

प्राकृतिक वर्णन ५६

पांचवां अध्याय

उन्नीसवीं शताब्दी के अन्य नाटककार (क) ... ५८–७७

प्रमुख नाटककार ५८

सामान्य नाटककार ७१

छठा अध्याय

उन्नीसवीं शताब्दी के अन्य नाटककार (ख) ... ७८–८७

(अ) प्रहसन ७८

(आ) अनुवाद ८२

सातवां अध्याय

रंगमंचीय नाटक ८८–९८

रंगमंचीय नाटकों का कला-विधान ९२

आठवां अध्याय

हिंदी-नाटक का ह्रास ९९–१०४

नवां अध्याय

उन्नीसवीं शताब्दी का नाट्य-विधान १०५–१११

हिंदी-नाटक बीसवीं शताब्दी में

दसवां अध्याय

अभावकाल (१९००–१९१२) ११२–११८

मौलिक नाटक ११२

अनूदित नाटक ११४

हिंदी-नाटक का पुनरुत्थान ११४

ग्यारहवां अध्याय

पुनरुत्थान-काल (१९१२–३२) ११९–१२३

प्रमुख प्रवृत्तियां ११९

रासलीला और रामलीला १२१

श्रृंगारी थिएट्रिकल नाटक १२२

बारहवां अध्याय

पौराणिक नाटक १२४–१३४

(क) पारसी रंगमंच के पौराणिक नाटक ... १२४

(ख) भट्ट-धारा के पौराणिक नाटक १३०

(ग) प्रसाद-धारा के पौराणिक नाटक १३४

तेरहवां अध्याय

ऐतिहासिक नाटक १३५–१४७

(क) भट्ट-धारा के ऐतिहासिक नाटक १३५

(ख) प्रसाद-धारा के ऐतिहासिक नाटक १३६

चौदहवां अध्याय

जयशंकर प्रसाद के ऐतिहासिक नाटक १४८–१८०

प्रसाद के नाटकों का कला-विधान १५८

प्रसाद के नाटकों में दोष १७५

पन्द्रहवां अध्याय

(क) प्रहसन और व्यंग्य १८१–१९१

(ख) यथार्थवादी नाटक १९१

सोलहवां अध्याय

प्रतीकवादी नाटक १९६–२००

अनुवाद २००

आधुनिक काल (१९३३–४८)

सत्रहवां अध्याय

प्रमुख प्रवृत्तियां २०४–२०८

अठारहवां अध्याय

ऐतिहासिक नाटक (क) २०९–२२०

उन्नीसवां अध्याय

ऐतिहासिक नाटक (ख) २२१–२३७

बीसवां अध्याय

पौराणिक नाटक २३८–२४६

इक्कीसवां अध्याय

समस्या-नाटक २४७–२७६

बाईसवां अध्याय

गीति-नाटक २७७–२९०

तेईसवां अध्याय

प्रतीकवादी नाटक २९१–२९८

चौबीसवां अध्याय

हिंदी-एकांकी २९९–३१५

एकांकी का कला-विधान ३०२

प्रमुख एकांकीकार ३०४

पच्चीसवां अध्याय

आधुनिक नाट्य-विधान ३१६–३२६

छब्बीसवां अध्याय

(क) हिंदी-रंगमंच ३२७–३३५

रंगमंच की आवश्यकता ३२७

उन्नीसवीं शताब्दी में हिन्दी-रंगमंच ३२९

बीसवीं शताब्दी का हिन्दी-रंगमंच ३३१

आज का हिन्दी-रंगमंच ३३२

(ख) हिन्दी-नाटक का भविष्य ३३५–३४२

एक व्यावहारिक योजना ३३९

सत्ताईसवां अध्याय

हिन्दी-नाटक (१९४९ ई० से आज तक) ३४३–३९५

ऐतिहासिक नाटक ३४४

पौराणिक नाटक ३६३

समस्या-नाटक ३७२

एकांकी नाटक ३८३

शुद्धि-पत्र

पृष्ठ			पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२	ऊपर	से	बारहवीं	दो वस्तुओं की अपेक्षा होती है	दो वस्तुएँ अपेक्षित होती है
४	नीचे	से	छठी	जिनमें	जिसमें
६	ऊपर	से	सोलहवीं	उद्देश्यों	उद्देश्य
१७	नीचे	से	पाँचवीं	उनमें	उसमें
१८	ऊपर	से	नवीं	रामलीला	रासलीला
२५	,,	,,	उन्नीसवीं	नहुष नाटक (१८५१)	नहुष नाटक (१८५९
२५	नीचे	से	छठी	नाटकों के प्राप्य	नाटक के प्राप्य
२६	,,	,,	,,	विरहपयुत्सुकजन:	विरहपर्युत्सुकजन:
३०	,,	,,	चौथी	लेखिनी	लेखनी
३५	,,	,,	छठी	सरलता	सरसता
४८	,,	,,	ग्यारहवीं	भारतेन्दु के	भारतेन्दु से
७३	ऊपर	से	अठारहवीं	'गोसंकट' नामक	'गोसंकट नाटक'
९४	,,	,,	छठी	अतिरंजिता	अतिरंजितता
९५	नीचे	से	पहली	मक़ाबले	मुक़ाबले
९८	ऊपर	से	दसवीं	वह था	वह थी
१०१	,,	,,	तेरहवीं	रंगमंची	रंगमंचीय
१३१	नीचे	से	सातवीं	दुष्टता का है	दुष्टता का प्रतीक है
१४५	,,	,,	दूसरी	कम्पनी के हाँ	कम्पनी के
१४५	,,	,,	पहली	काम कर चुके थे	काम कर चुके हैं
१४८	ऊपर	से	बारहवीं	अज्ञातवास	वनवास
१७०	,,	,,	पांचवीं	उद्यान में	'उद्यान में'
१८९	,,	,,	नवीं	खश	खुश
२१५	,,	,,	पहली	बनने	बनाने
२४५	,,	,,	अठारहवीं	भट्ट जी का	भट्ट जी के
२५७	,,	,,	पहली	अमल्य	अमूल्य
२६०	,,		से सोलहवीं	वश्वास	विश्वास
२६५	नीचे	से	पहली	दिया है	दिया गया है
३२३	,,	,,	दूसरी	योग	प्रयोग

सहायक ग्रन्थ-सूची

१.	आधुनिक हिन्दी नाटक	ले० डा० नगेन्द्र
२.	आधुनिक हिन्दी साहित्य	ले० डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय
३.	आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास	ले० डा० श्रीकृष्णलाल
४.	नाट्य-कला-मीमांसा	ले० सेठ गोविन्ददास
५.	नाटक निबन्ध	ले० भारतेन्दु हरिश्चन्द्र
६.	प्रसाद और उनका साहित्य	ले० विनोदशंकर व्यास
७.	प्रसाद के नाटकीय पात्र	ले० जगदीशनारायण दीक्षित
८.	प्रसाद के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन	ले० डा० जगन्नाथप्रसाद शर्मा
९.	प्रसाद जी की कला	ले० गुलाबराय
१०.	भारतेन्दु नाटकावली	सं० ब्रजरत्नदास
११.	,, ,,	सं० श्यामसुन्दरदास
१२.	हमारी नाट्य-परंपरा	ले० दिनेशनारायण उपाध्याय
१३.	हिन्दी एकांकी	ले० सत्येन्द्र
१४.	हिन्दी नाटक-साहित्य का इतिहास	ले० डा० सोमनाथ गुप्त
१५.	हिन्दी नाट्य-साहित्य	ले० ब्रजरत्नदास
१६.	हिन्दी नाट्य-विमर्श	ले० गुलाबराय
१७.	हिन्दी नाट्य-चिन्तन	ले० शिखरचन्द्र जैन
१८.	हिन्दी नाट्य-साहित्य का विकास	ले० विश्वनाथप्रसाद मिश्र
१९.	हिन्दी पुस्तक-साहित्य	ले० डा० माताप्रसाद गुप्त
२०.	हिन्दी साहित्य का इतिहास	ले० रामचन्द्र शुक्ल
२१.	,, ,, ,, ,,	ले० चतुरसेन शास्त्री
२२.	हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास	ले० डा० रामकुमार वर्मा
२३.	Modern Hindi Literature	*by Dr. Indar Nath Madan*
२४.	Hindi Literature	*by F. E. Keay*
२५.	Modern Vernacular Literature of Hindustan	*by Sir George Grierson*

२६. Encyclopœdia Britanica ...
Articles on Drama, Stage, Theatre, Cinema, Screen and Art etc.
२७. Sanskrit Drama ... ... *by A. B. Keith*
२८. Classical Sanskrit Literature *by ,, ,, ,,*
२९. History of Sanskrit Literature *by A. A. Macdonell*
३०. History of Urdu Literature *by Ram Babu Saksena*
३१. History of English Literature *by Legouis and Czamian*
३२. The Art of the Drama ... *by Bentley and Millet*
३३. Indian Theatre ... ... *by R. K. Yajnik*
३४. Indian Theatre ... ... *by Horrwitz*
३५. Bengali Drama ... ... *by Guha Thakurata*
३६. British Drama ... ... *by A. Nicoll*
३७. The Theatre ... ... *by J. W. Marriot*
३८. The Enjoyment of Drama ... *by Milton Marx*
३९. National Theatre For India ... *by Baldoon Dhingra*
४०. On the Art of the Theatre ... *by Gordon Craig*
४१. Dramatic Technique ... ... *by G. P. Baker*
४२. Principles of Literary Criticism *by I. A. Richards*

पहला अध्याय

नाटकों के अभाव के कारण

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र से पूर्व हिन्दी अपने जीवन के लगभग आठ सौ वर्ष समाप्त कर चुकी थी। इस काल में कविता के क्षेत्र में उसने विशेष समृद्धि भी प्राप्त कर ली थी। परन्तु जब हमारी दृष्टि नाटक-साहित्य की ओर जाती है तो इस काल में नाटकों का नितान्त अभाव देखकर हमें निराश होना पड़ता है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र से पूर्व हमें हिन्दी में नाटक नाम की केवल आठ-दस रचनाएँ मिलती हैं और उनमें से भी एक-दो को छोड़कर शेष सभी नाममात्र को ही नाटक हैं। वस्तुतः वे नाटक नहीं हैं, क्योंकि न तो उनमें नाटक के प्रधान तत्त्वों का समावेश है, और न ही उनमें नाटकीय नियमों का यथाविधि पालन हुआ है। संस्कृत साहित्य में नाटक का अपना विशेष गौरवमय स्थान है। संस्कृत का नाटक-साहित्य बड़ा ही समुन्नत एवं समृद्ध है, और संसार की किसी भी भाषा के नाटक-साहित्य से टक्कर ले सकता है। यद्यपि हिंदी की उत्पत्ति प्राकृत तथा अपभ्रंश की सीढ़ियों से उतर कर संस्कृत से ही हुई है, तथापि भारतेन्दु से पूर्व हिंदी का नाटक-साहित्य नगण्य-सा है।

भारतेन्दु से पूर्व हिन्दी-नाटक-साहित्य के इस अभाव के कई कारण हैं। इन कारणों के विषय में विद्वानों के विभिन्न मत हैं। यहाँ हम व्यर्थ के वाद-विवाद में न पड़कर अन्य विद्वानों द्वारा वर्णित कारणों को ध्यान में रखते हुए देश की राजनीतिक, सामाजिक एवं धार्मिक परिस्थितियों पर गंभीरतापूर्वक विचार करके इस अभाव के कारणों को यथार्थ रूप से जानने की चेष्टा करेंगे।

हर्षवर्धन की मृत्यु (६४७ ईस्वी) के पश्चात् भारतवर्ष की राजनीतिक एकता भंग हो गई। शक्तिशाली केन्द्रीय शासन के स्थान पर देश में अनेक छोटे-छोटे राज्य स्थापित हो गये जिनका ध्यान तथा धन अधिकतर गृह-कलह अथवा पड़ोसी राज्यों के साथ संघर्ष-विग्रह आदि में व्यस्त रहता था। इसके अतिरिक्त राजा दाहर के शासन-काल से इस देश पर मुसलमानों के आक्रमण भी होने लगे थे। पारस्परिक द्वेष और युद्ध आदि के साथ-साथ इन राज्यों को सदा विदेशी आक्रमणकारियों का भय भी बना रहता था, जिससे इन राज्यों की मानप्रतिष्ठा ही नहीं, वरन् इनकी सत्ता तक भी संकट तथा संशय में पड़ी रहती थी। वास्तव में हिन्दी के जन्म-काल से लेकर कई शताब्दियों तक देश

को दृढ़ केन्द्रीय शासन का सौभाग्य तथा चिर-शांति का लाभ प्राप्त न हो सका।

देश की ऐसी राजनीतिक परिस्थिति होने के कारण मुग़ल-शासन-काल से पूर्व तो हिन्दी में नाटक के उत्थान अथवा विकास की आशा ही नहीं की जा सकती थी। नाटक के यथोचित विकास के लिए देश में चिर-शांति का होना नितांत आवश्यक है। इंगलैंड में एलिज़ाबेथ के शासन-काल में शेक्सपियर तथा अन्य प्रसिद्ध नाटककारों द्वारा अंग्रेज़ी के नाटक की जो इतनी श्रीवृद्धि हुई उसका प्रमुख कारण उस देश का तत्कालीन दृढ़ केन्द्रीय शासन तथा तज्जनित चिर-शांति थी। परन्तु हमारे देश में इस शांत वातावरण के अभाव के कारण आरम्भ की कुछ शताब्दियों में हिन्दी-साहित्य नाटक के क्षेत्र में प्रायः शून्य-सा रहा।

इसके अतिरिक्त हम देखते हैं कि नाटक (अथवा किसी भी ललित कला) की उन्नति के लिए साधारणतया दो वस्तुओं की अपेक्षा होती है—(१) राजकीय सहायता एवं प्रोत्साहन, (२) जनता का सहयोग। इन दोनों में से उचित मात्रा में एक की भी प्राप्ति नाटकादि कलाओं के विकास के लिए पर्याप्त हो सकती है। हमारा संस्कृत का नाटक-साहित्य तथा एलिज़ाबेथ के शासनकाल का अंग्रेज़ी नाटक-साहित्य किसी-न-किसी रूप में राजकीय प्रोत्साहन प्राप्त होने के कारण ही चरम समृद्धि को पहुँच सका। आज का अँग्रेज़ी नाटक अथवा हिन्दी नाटक जनता के सहयोग और समर्थन के बल पर ही इतनी उन्नति कर रहा है। परन्तु दुर्भाग्यवश हिन्दी नाटक को मध्यकाल के अन्त तक न तो शासन की ओर से प्रोत्साहन मिल सका और न ही जनता का सहयोग प्राप्त हुआ। पूर्व-मध्यकाल में राजकीय प्रोत्साहन न मिलने का कारण हम ऊपर लिख चुके हैं। जनता का सहयोग न मिल सकने का कारण भी अधिकांश वही है। विघ्नरहित चिर-शांति का अभाव, गृह-कलह तथा विदेशी आक्रमणकारियों का निरन्तर भय जनता के ध्यान को नाटक जैसे मनोरंजन के साधन की ओर प्रेरित करने में बाधक बना रहा।

यह तर्क इस बात से और भी स्पष्ट हो जाता है जब हम देखते हैं कि ब्रिटिश शासनकाल में दृढ़ केन्द्रीय शासन तथा चिर-शान्ति की सुविधाओं को पाकर वही अवरुद्ध हिन्दी नाटक बड़ी तीव्र गति से उन्नति कर गया।

इस सम्बन्ध में एक और बात भी हमारे ध्यान में आती है। संसार की किसी भी भाषा में नाटक का उदय उस भाषा की उत्पत्ति के साथ-साथ नहीं हो सका। जहां कविता का विकास किसी भाषा में बहुत शीघ्र हो जाता है, वहां नाटक का क्षेत्र उसी भाषा में चिरकाल के पश्चात् उर्वरित होने

लगता है। प्रायः सभी साहित्यों का श्रीगणेश कविता से होता है। इसका एक कारण तो यह है कि प्राचीन काल में रचनाएँ अधिकतर कण्ठस्थ की जाती थीं, और गद्य की अपेक्षा पद्य शीघ्र कंठस्थ हो जाता है। दूसरी बात यह है कि मानव मन में भावना का संचार सदा सहज रूप में बना रहता है, जो कि अनायास ही कविता (जो कि भाव-प्रधान वस्तु है) के रूप में प्रस्फुटित हो जाता है। मनुष्य को उसके लिए कोई प्रयास नहीं करना पड़ता। इसके विपरीत नाटक के लिए भावना के अतिरिक्त कई ऐसी बातों की आवश्यकता होती है, जिनका सम्बन्ध बुद्धि, विचार तथा तर्क आदि के साथ अधिक होता है।

उदाहरण के लिए हम वैदिक संस्कृत को ले सकते हैं। यह भाषा बहुत प्राचीन है, और इसके साहित्य में कविता का प्राधान्य है। सारा ऋग्वेद छन्दोबद्ध है। परन्तु वैदिक संस्कृत में नाटक नाम का एक भी ग्रन्थ उपलब्ध नहीं। लौकिक अथवा श्रेण्य (Classical) संस्कृत में भी कविता का प्रादुर्भाव नाटक की अपेक्षा बहुत पहले हो चुका था। यही अवस्था अंग्रेज़ी भाषा के साहित्य की है। इसी प्रकार हिन्दी साहित्य में भी जहां कविता की चरम समृद्धि हमें सूरदास तथा तुलसीदास के समय में ही मिल जाती है वहां सुन्दर नाटकीय रचनाओं का अभाव भारतेन्दु से पूर्व तक बना रहता है।

फिर नाटक में नाटकोचित बल और प्रभाव लाने के लिए अकेली कविता ही पर्याप्त नहीं। उसके लिए शक्तिशाली और प्रौढ़ गद्य की भी बड़ी आवश्यकता है। यह ठीक है कि भारतेन्दु से पूर्व हिन्दी गद्य का आविर्भाव हो चुका था। 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' तथा 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता' आदि गद्य-ग्रन्थों की रचना भी हो चुकी थी। फिर भी गद्य का यह प्रारम्भिक रूप हिन्दी नाटक के मार्ग को प्रशस्त करने में समर्थ न था। गद्य का वह प्रौढ़ और प्रतिष्ठित रूप जो सफल नाटक-रचना के लिए अपेक्षित है, हमें लल्लूलाल तथा उनके साथियों की गद्य-रचनाओं से पूर्व नहीं मिलता। इसके साथ हमें यह बात भी ध्यान में रखनी चाहिए कि नाटककार का काम प्रौढ़ एवं परिपक्व गद्य का निर्माण करना नहीं होता, वरन् प्रचलित प्रौढ़ गद्य का उचित ढंग से उपयोग करने में ही उसकी कुशलता है। अतः भारतेन्दु से पूर्व हिन्दी-नाटक के अभाव का कारण किसी अंश तक शक्तिशाली गद्य का अभाव भी है।

बाबू व्रजरत्नदास[१], बाबू गुलाबराय[२] तथा प्रो० सत्येन्द्र[३] आदि विद्वानों का

१. हिन्दी-नाट्य-साहित्य, द्वितीय संस्करण, पृष्ठ ४३। २. हिन्दी-नाट्य-विमर्श, १९४२, पृष्ठ ९५। ३. हिन्दी-एकांकी, प्रथम संस्करण, पृष्ठ ९।

भी इस विषय में यही मत है। डा० श्रीकृष्णलाल[१] भी इसको हिन्दी नाटक के अभाव का एक गौण कारण मानते हैं। परन्तु डा० सोमनाथ गुप्त का मत इस विषय में कुछ विचित्र-सा है। एक ओर तो वे गद्य के अभाव को हिन्दी नाटक के अभाव का गौण[२] कारण मानते हैं और दूसरी ओर उनका कथन है कि—

> **"परोक्ष दृष्टि से देखा जाये तो सिद्धान्त रूप में भी यह बात मान्य नहीं है। संस्कृत का अतुल नाटक-साहित्य अधिकांश में कवितामय है; उसके शकुन्तला और उत्तररामचरित में कितना गद्य का अंश है, जिसके कारण ये नाटक इतने ऊँचे समझे जाते हैं! क्या अंग्रेज़ी के प्रसिद्ध कवि शेक्सपियर के नाटकों का मान उनमें पाये जाने वाले नगण्य गद्य पर स्थिर है?"[३]**

हम मानते हैं कि संस्कृत नाटकों में कविता की प्रचुरता है, परन्तु साथ ही हमें यह भी नहीं भूलना चाहिए कि संस्कृत के सम्पूर्ण नाटक-साहित्य में एक भी ऐसा नाटक नहीं मिलेगा जो सारे का सारा केवल पद्य में हो। दूसरे, यदि 'शकुन्तला' तथा 'उत्तररामचरित' आदि में कविता का समावेश है, तो इन नाटकों का गद्यांश भी कम महत्त्वपूर्ण और शक्तिशाली नहीं है। केवल कविता का प्राचुर्य होने के कारण ये नाटक साहित्य में अमर नहीं हो गये। काव्य-तत्त्व के समावेश से निस्संदेह इन नाटकों की सौंदर्य-वृद्धि हुई है परन्तु यदि उनके गद्यांश का सर्वथा बहिष्कार कर दिया जाय, तो न केवल इनका नाटकीय सौंदर्य ही नष्ट हो जायेगा, बल्कि ये नाटक-साहित्य में अपने अमर पद से गिर जायेंगे। 'उत्तररामचरित' में कविता की जितनी मात्रा इस समय है, उसको लेकर ही आज के कई विद्वान्[४] उसे नाटक की अपेक्षा काव्य नाम देना अधिक उपयुक्त समझते हैं। अतः यह मानना पड़ेगा कि सफल नाटक-रचना के लिए एकमात्र कविता ही पर्याप्त नहीं है, नाटक की सौन्दर्य-वृद्धि कविता द्वारा भले ही हो जाय।

शेक्सपियर के नाटकों पर विचार करते समय भी हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि वे मुक्त छंद (Blank Verse) में लिखे गये हैं, जिनमें गद्य की विशेषताएँ भी निहित हैं। केवल शेक्सपियर के नाटक ही क्या, हमारे आज के गीतिरूपक[५]

---

१. आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास, १९४२, पृष्ठ १९३। २. हिन्दी-नाटक-साहित्य का इतिहास, द्वितीय संस्करण पृष्ठ २४ तथा २७। ३. हिन्दी-नाटक-सा० इति० पृष्ठ २४। ४. कीथ—संस्कृत ड्रामा, १९२३, पृष्ठ १९५। ५. कीथ—संस्कृत ड्रामा, बाईसवां अध्याय।

भी एकांततः पद्य में लिखे गये हैं। परन्तु यहाँ भी मुक्त छन्द को ही अपनाया गया है। यथार्थ रूप में देखा जाय तो इस कविता में गद्य तथा पद्य दोनों की विशेषताएँ सन्निहित हैं, जैसाकि इन पंक्तियों से स्पष्ट है—

'ठीक है समाज का प्रवाद अति दारुण है
किन्तु है समाज का विधान तो मनुज-कृत ;
छिन्न कर देता वही जो इसे बनाता कभी
मानव की प्रेरणा का फल ही नियम है।'[1]

अथवा—

'जब किसी अपेक्षित बात के निर्णय का
समय समीप आता, होती दारुण दशा
जाते मास, जाते वर्ष, परन्तु घटिकाएं,
जो रहतीं शेष, वे अशेष जान पड़तीं।'[2]

इसके अतिरिक्त नाटक कविता के समान साहित्य का केवल एक अङ्ग-मात्र ही नहीं है। इसके उद्गम एवं विकास के लिए सदा रंगमंच का सहयोग अपेक्षित है। नाटक के अध्ययन-मात्र से यद्यपि सजीव और सूक्ष्म कल्पना-शक्ति वाले कतिपय लोगों को संतोष मिल सकता है, फिर भी जनता के लिए अभिनय के बिना नाटक निष्प्राण-सा रहता है। अभिनय ही नाटक का प्राण है और अभिनीत होने में ही नाटक की सच्ची सार्थकता है। बंगला का नाटक हिन्दी के नाटक से अधिक पुराना है, और इसका एक प्रमुख कारण यह है कि बंगाल में रंगमंच की स्थापना हिन्दी की अपेक्षा कुछ पहले हो गई थी। नाटक की उन्नति में रंगमंच के महत्त्व को भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने भली प्रकार समझ लिया था और इसी कारण हिंदी रंगमंच की स्थापना उन्होंने अपने जीवन-काल में कर दी थी। यदि भारतेन्दु से पूर्व रंगमंच का ऐसा अभाव हमारे यहां न होता, तो संभवतः पूर्व-भारतेन्दुकाल में हिंदी नाटक-साहित्य का इतना अभाव न होता।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल[3], बाबू ब्रजरत्नदास[4], डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय[5] तथा शिखरचन्द्र जैन[6] ने भी हिन्दी रंगमंच के अभाव को हिन्दी नाटक के विलम्ब

---

१. उदयशंकर भट्ट कृत 'मत्स्यगंधा', द्वितीय संस्करण, पृष्ठ ३२। २. सेठ गोविंददास कृत 'स्नेह या स्वर्ग', प्रथम संस्करण, पृष्ठ १०। ३. हिंदी साहित्य का इतिहास (पंजाब संस्करण), पृष्ठ ३८५। ४. हिंदी-नाट्य-साहित्य, पृष्ठ ४३। ५. आधुनिक हिंदी साहित्य, पृष्ठ २२३। ६. हिंदी-नाट्य-चिंतन, पृष्ठ २५।

का कारण माना है। डा० सोमनाथ गुप्त का मत इस विषय में थोड़ा भिन्न है। डाक्टर महोदय ने रंगमंच को नाटक की उन्नति में गौण[1] कारण माना है। परन्तु साथ में उन्होंने यह भी कहा है—

> **"परन्तु उनके (अभिनयशालाओं के) न होने से किसी भी साहित्य में नाट्यकला का विकास रुका हो ऐसी बात नहीं है। उदाहरण के लिए संस्कृत साहित्य को लीजिए। संस्कृत का नाटक-साहित्य इतना सुसम्पन्न होने पर भी प्रेक्षागृहों के संबंध में कोरा जैसा ही है। संस्कृत में प्रेक्षागृहों की मात्रा कितनी थी जिसके आधार पर उस साहित्य का विकास हुआ? स्वयं हिन्दी ही को ले लीजिए। आज इसका जितना नाटक-साहित्य है उस दृष्टि से उसमें कितनी अभिनयशालाएँ हैं? क्या वर्तमान साहित्य के विकास का श्रेय अभिनयशालाओं को किसी भी प्रकार दिया जा सकता है?[2]**

हमें खेद के साथ लिखना पड़ता है कि डा० गुप्त का यह कथन अत्यन्त भ्रांतिपूर्ण है। जहां तक संस्कृत के नाटकों का संबंध है, यह कहना सर्वथा असत्य है कि उनके अभिनय के लिए प्रेक्षागृह नहीं थे। संस्कृत नाटकों की रचना अधिकतर अभिनय के उद्देश्यों से ही की जाती थी, और संस्कृत के नाटक, विशेषरूप से कालिदास और भवभूति जैसे सिद्धहस्त लेखकों के नाटक तो निश्चय ही केवल पाठ्य-सामग्री[3] न होकर वास्तव में अभिनीत होते थे। इस प्रकार के रङ्गसंकेत 'नाटयति', 'नाटयन्ति', 'ततः प्रविशतः कुसुमावचयं नाटयन्त्यौ सख्यौ', 'पुष्पोच्चयं रूपयति'[4] इत्यादि जो कि 'शकुन्तला', 'उत्तररामचरित' और प्रायः सभी संस्कृत नाटकों में स्थान-स्थान पर मिलते हैं, इन नाटकों के अभिनीत होने का स्पष्ट प्रमाण हैं। इसके अतिरिक्त भरतमुनि ने अपने नाट्य-शास्त्र में तथा उनके परवर्ती शास्त्रकारों ने अपने-अपने लक्षण-ग्रन्थों में नाट्य-कला का विस्तारपूर्वक विवेचन किया है, जिनमें प्रेक्षागृह के विविध प्रकारों, पात्रों की वेश-भूषा आदि और अभिनय के नियमों का वर्णन इतने सूक्ष्म विस्तार के साथ किया गया है कि कोई भी विद्वान् इनको दृष्टि में रखते हुए इस निष्कर्ष पर पहुँचे बिना नहीं रह सकता कि ये नियम अभिनय के समय निर्देशक एवं पात्रों आदि के दिग्दर्शन और सहायता के लिए ही अभिप्रेत थे। नाटकों के केवल पठन-पाठन के साथ इनका संबंध ही क्या है?

---

१. हिंदी-नाटक-साहित्य का इतिहास, पृष्ठ २० । २. पूर्वोक्त, पृष्ठ २० । ३. कीथ—संस्कृत ड्रामा, पृष्ठ ३५८ । ४. कालिदास कृत 'शकुन्तला' चतुर्थ अंक ।

इसके अतिरिक्त भिन्न-भिन्न संस्कृत नाटकों (उदाहरणार्थ 'शकुन्तला,' 'उत्तररामचरित', 'रत्नावली,' 'मुद्राराक्षस' आदि) की प्रस्तावनाओं से भी उनके अभिनीत होने का प्रमाण मिलता है। संस्कृत नाटकों का प्राय: किसी उत्सव के अवसर पर अभिनय किया जाता था। ये उत्सव अधिकतर या तो धार्मिक होते थे (देखिए 'उत्तररामचरित' की प्रस्तावना) अथवा किसी ऋतु-विशेष से सम्बन्ध रखते थे (देखिए 'शकुन्तला', 'रत्नावली', 'मुद्राराक्षस' की प्रस्तावना) या किसी विजय आदि के उपलक्ष्य में अथवा राजकुमार आदि के विवाह के अवसर पर मनाये जाते थे, और इन नाटकों के अभिनय के केन्द्र प्राय: देवमन्दिर तथा राजभवन होते थे। क्योंकि वे दिन हमारे आधुनिक युग से बहुत भिन्न थे, अत: यह सत्य है कि उस समय के प्रेक्षागृह आज के थियेटरों जैसे नहीं थे जो कि प्राय: व्यावसायिक दृष्टिकोण से चलाये जाते हैं और जहाँ टिकट बेचे जाते हैं। परन्तु राजसभाओं और देवमन्दिरों के प्रेक्षागृह आज के थियेटरों से कई बातों में उत्कृष्ट थे, क्योंकि उनका उद्देश्य व्यावसायिक न होने के कारण एक तो उनका ध्यान धनोपार्जन की अपेक्षा कलात्मकता की ओर अधिक रहता था; दूसरे, राजा लोग हमारी आज की व्यावसायिक तथा अव्यावसायिक नाटक-मंडलियों की अपेक्षा अभिनय की सफलता के लिए अधिक धन आदि व्यय कर सकते थे। इन बातों को देखते हुए यह कहना किसी प्रकार भी युक्तियुक्त नहीं है कि संस्कृत नाटकों के युग में प्रेक्षागृह नहीं होते थे।

अब दूसरा प्रश्न रहा, प्रेक्षागृहों की संख्या का। यह प्रश्न पहले तो विशेष महत्त्व ही नहीं रखता, क्योंकि संख्या (quantity) की अपेक्षा उत्कृष्टता (quality) अधिक महत्त्व की वस्तु है। संस्कृत नाटक प्राय: राजभवनों में अभिजातवर्ग के सुशिक्षित एवं सुरुचिसम्पन्न दर्शकसमाज के समक्ष अभिनीत होते थे, जिनकी कला को परखने की योग्यता साधारण जनता की अपेक्षा बहुत अधिक होती थी। इसके अतिरिक्त अभिनय के दिग्दर्शन के लिए शास्त्रकारों के सूक्ष्म नियम होते थे। इन दो बातों से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि अभिनय का स्तर उन दिनों बहुत ऊँचा रहा होगा[1]। दूसरे, यद्यपि राजसभाओं में स्थित प्रेक्षागृहों की संख्या थोड़ी रही होगी, तथापि देवमंदिरों में स्थापित स्थायी या अस्थायी प्रेक्षागृहों की संख्या अवश्य बहुत अधिक होगी, क्योंकि मंदिरों की संख्या तो राजसभाओं के समान सीमित न थी।

साथ ही ऊपर उद्धृत किये गये कथन में डा० गुप्त ने आधुनिक हिन्दी

नाटक तथा उसकी अभिनयशालाओं का प्रश्न उठाया है। इस विषय में हमें यह कहने की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती कि पूर्वी पंजाब, दिल्ली तथा उत्तर-प्रदेश में (और शायद हिन्दी-भाषी प्रदेश के अन्य भागों में भी) प्रायः हर एक स्कूल और कालिज अपने आप में एक प्रकार का प्रेक्षागृह है, क्योंकि प्रत्येक स्कूल अथवा कालिज में वर्ष में एक-दो या अधिक बार हिन्दी नाटकों के अभिनय होते हैं। इसके अतिरिक्त शिमला, दिल्ली, जालंधर, अमृतसर, इलाहाबाद आदि बड़े-बड़े शहरों में अव्यवसायी अथवा व्यवसायी नाटक-मंडलियाँ भी विद्यमान हैं। कहीं-कहीं तो अभिनय के लिए स्थायी प्रेक्षागृह बने हुए हैं (उदाहरणार्थ 'गेटी थियेटर' शिमला, तथा 'कालीबाड़ी हाल' शिमला इत्यादि), और कहीं-कहीं व्यवसायी नाटक-मंडलियाँ जहाँ जाती हैं, अपना अस्थायी प्रेक्षागृह और रंगमंच स्थापित कर लेती हैं (उदाहरणार्थ 'अशोक नाटक समाज' दिल्ली, तथा पृथ्वीराज कपूर की प्रसिद्ध नाटक-मंडली)। इस प्रकार हम देखते हैं कि आज के हिन्दी नाटक के लिए अभिनयशालाओं का अभाव नहीं। आज के हिन्दी नाटक की समृद्धि और उत्कृष्टता का अधिकांश श्रेय इन नाटक-मंडलियों और क्लबों को ही है। इन्हीं अभिनयों के फलस्वरूप पिछले बारह-पन्द्रह वर्ष के हमारे हिन्दी नाटक अपने पूर्वकालीन नाटकों की अपेक्षा रंगमंच के लिए अधिक उपयोगी और अनुकूल हैं।

इसके अतिरिक्त नाटक की यथेष्ट उन्नति के लिए केवल यही अपेक्षित नहीं कि नाटकों को रंगमंच पर अभिनीत करके इन्हें सार्थक किया जाय। इसके साथ इस बात की भी बड़ी आवश्यकता है कि अभिनेताओं को समाज में मान और प्रतिष्ठा प्राप्त हो। यह स्वाभाविक बात है कि यदि अभिनेताओं को समाज में आदर की दृष्टि से देखा जायेगा तो नाटक की उन्नति होगी। इसके विपरीत यदि समाज उन्हें तिरस्कार और हीनता की दृष्टि से देखेगा तो इसका प्रभाव नाटक के लिए हानिकारक होगा।

हिन्दी साहित्य के मध्यकाल में नटों अर्थात् तत्कालीन अभिनेताओं को समाज में सम्मान का पद प्राप्त नहीं था। अपने संदिग्ध चरित्र एवं कुत्सित जीवन के कारण उनकी ख्याति अच्छी न थी। जैसा कि डाक्टर ए० बी० कीथ[१] ने विस्तारपूर्वक वर्णन किया है—उनका व्यवसाय प्रायः बदनाम हो चुका था और ऊँचे वर्ण वालों के कई एक अधिकारों से भी वे वंचित थे[२]। वास्तव में मध्यकाल में प्रायः मेरासी आदि नीची जातियों के लोग ही इस व्यवसाय को

१. कीथ—संस्कृत ड्रामा, पृष्ठ ३६३। २. याज्ञिक—इंडियन थियेटर, पृष्ठ ५०।

अपनाते थे, जो कि 'स्वांग' और 'नकल' आदि के द्वारा लोगों का मनोरंजन किया करते थे। उनको सभ्य नागरिक नहीं समझा जाता था और न ही उनके आचार-व्यवहार में शिष्टता और परिष्कार का समावेश था। इस कारण बहुत से लोग मनोरंजन के इन हीन साधनों के हृदय से विरोधी थे, और इन्हें शंका और सन्देह की दृष्टि से देखते थे। हिन्दी-साहित्य के मध्यकाल में नाटक के इन पूर्व रूपों का समर्थन करके तत्कालीन नटों को प्रोत्साहित करने वालों की संख्या उनकी निन्दा और विरोध करने वालों की संख्या से बहुत कम थी। अतः मध्यकाल में नटों के प्रति अनादर, उपेक्षा और निन्दा की भावना भी हिन्दी नाटक के मार्ग में बाधा बनी रही।

इसके अतिरिक्त हमें यह बात भी ध्यान में रखनी चाहिए कि नाटक को ठीक से समझने और उसका पूर्णतया रसास्वादन करने के लिए जनता को अधिक सहृदय और सूक्ष्मग्राही होना चाहिए, तथा लोगों की साहित्यिक रुचि अधिक प्रौढ़ और परिष्कृत होनी चाहिए। अशिक्षित समाज के लिए नाटक की अपेक्षा कविता को समझना और रसास्वादन करना अधिक सुगम है, विशेषतः जब कि कविता का संबंध रामायण आदि धार्मिक विषयों के साथ हो। परन्तु भारतेन्दु से कुछ शताब्दियाँ पूर्व, भक्तिकाल तथा रीतिकाल की चेतना (Spirit) के प्रभाव के अधीन जनता धार्मिक कथाओं, साधुओं के उपदेशों, विद्वानों के काव्य-प्रदर्शनों और मुशायरों आदि में अधिक आनन्द का अनुभव करती थी और उनमें नाटक-संबंधी चेतना अभी पूर्णतया जाग्रत और प्रबल नहीं हो पाई थी।

मुसलमानों का शासन भी, जो कि भारतवर्ष में कई शताब्दियों तक बना रहा, हिन्दी नाटक के विकास में बाधक सिद्ध हुआ। प्राचीन नाट्य-परंपरा के प्रभाव से मध्यकाल में जनता के मन में किसी समय नाटकीय प्रवृत्तियों के प्रादुर्भाव की यदि कोई संभावना थी, तो वह भी मुसलमानी शासन के कारण नाटक रूप में प्रस्फुटित न हो सकी। इसके अतिरिक्त पूर्वमध्यकाल में मुसलमानों के आक्रमणों और तदनन्तर उनकी विजय तथा राज्य-स्थापना के फलस्वरूप देव-मंदिरों और राजसभाओं का, जो कि हिन्दू शासनकाल में नाट्य-कला के मुख्य केन्द्र थे, विध्वंस होने लगा। महमूद ग़ज़नवी और मुहम्मदगौरी जैसे आरंभकालीन मुस्लिम आक्रमणकारियों ने ही अपनी धर्मान्धतावश और विजय-गर्व में उन्मत्त होकर इन स्थानों का विध्वंस ही नहीं किया, वरन् उत्तर-मध्यकाल में औरंगज़ेब और उसके कुछ उत्तराधिकारियों ने भी अपनी धार्मिक असहिष्णुता का परिचय इसी रूप में दिया।

इसके अतिरिक्त इस्लाम में नाटक जैसी सभी अनुकरण-प्रधान कलाएँ और मनोरंजन के साधन वर्जित हैं। यद्यपि इस धार्मिक निषेध से प्रत्यक्षरूप में हिन्दी नाटक के मार्ग में विशेष बाधा पड़ने की सम्भावना न थी, तथापि परोक्ष रूप में यह निषेध हिन्दी नाटक के लिए कम हानिकारक सिद्ध नहीं हुआ। प्रजा में यह स्वाभाविक दुर्बलता होती है कि वह प्रायः शासक-वर्ग की रुचि एवं इच्छाओं के अनुकूल आचरण करती है। इसलिए मुसलमानों के शासन-काल में नाटक-जैसी इस्लाम-विरोधी कला की ओर ध्यान देकर जनता मुसलमान शासकों के रोष और अप्रसन्नता का पात्र बनने से घबराती थी। इसके अतिरिक्त यद्यपि हम डा० सोमनाथ गुप्त के साथ इस बात में सहमत हैं कि अकबर और जहाँगीर जैसे मुग़ल-सम्राटों में धार्मिक सहिष्णुता[1] का अभाव न था और वे कला और साहित्य के बड़े प्रेमी थे, परन्तु साथ में हम यह भी नहीं भूल सकते कि इन कलाप्रेमी और धर्मान्धता से प्रायः मुक्त सम्राटों से भी केवल कविता और संगीत आदि ललित कलाओं को ही प्रोत्साहन और संरक्षण प्राप्त हो सका। नाटक के क्षेत्र में इन सम्राटों की ओर से भी प्रोत्साहन अथवा प्रेरणा लेखकों को न मिल सकी। अकबर के दरबार में नवरत्नों का होना निस्संदेह एक ऐतिहासिक सत्य है, परन्तु इसके साथ ही हमें इतिहास-ग्रन्थों में कहीं पर भी ऐसा उल्लेख नहीं मिलता कि अकबर ने उन रत्नों में से कभी किसी को नाटक-रचना के लिए प्रेरित किया हो, या कभी नाटक के विषय में अपनी रुचि या प्रवृत्ति की ओर संकेत किया हो। यदि अकबर कविता और संगीत आदि की भाँति नाटक में भी उतना ही अनुरक्त होता, तो निश्चय ही उसके विद्वान् और कलाकुशल दरबारियों में से कोई-न-कोई नाटक-रचना के लिए उसका संकेत पाकर, अथवा उसकी इस ओर रुचि जानकर साहित्य की इस शाखा की ओर भी अवश्य ध्यान देता। जहाँ अपने स्वामी की रुचि को देखकर अकबर के नवरत्नों ने संगीत और कविता के उत्कर्ष में अपना तन मन लगाया, कितने ही संस्कृत ग्रन्थों के फ़ारसी में रूपान्तर किये, वहाँ क्या वही विद्वान् दरबारी कम-से-कम प्रसिद्ध संस्कृत नाटकों के रूपान्तर या अनुवाद अपने सम्राट् के संकेत पर प्रस्तुत न कर देते, अथवा संस्कृत नाटकों की पद्धति पर ही नये नाटकों की सृष्टि न कर देते? मुग़ल सम्राटों के नाटक-संबंधी इस एकान्त मौन से हम निश्चय ही इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि यद्यपि कला और साहित्य से उन्हें अगाध प्रेम था तथापि यदि कभी उनके मन में नाटक के लिए तृष्णा या चेतना जागृत हुई

१. हिन्दी-नाटक-साहित्य का इतिहास, पृष्ठ २१-२२।

होगी, तो अपने धर्म के पूर्वोक्त निषेध के कारण उनको अपना मुख इस विषय में मुद्रित रखना पड़ा होगा। अन्यथा अकबर जैसा कला का पुजारी सम्राट् अवश्य ही अपने विद्वान् सभासदों को हिन्दी अथवा फ़ारसी आदि में नाटक-साहित्य की नींव रखने के लिए प्रेरित करता।

और जब अकबर और जहाँगीर जैसे सहृदय और उदार मुग़ल-सम्राटों ने भी नाटक के विषय में सर्वथा मौन और निष्क्रिय रहना ही श्रेयस्कर समझा, तो औरंगज़ेब जैसा ललित-कला-द्वेषी सम्राट्, जिसके शासन-काल में मुस्लिम धर्मान्धता और असहिष्णुता विकराल रूप धारण कर चुकी थी, नाटक-जैसी इस्लाम-विरोधी वस्तु का सिर उठाना किस प्रकार सहन कर सकता था। यदि उसके शासनकाल में एक दो नाटक नामधारी रचनाएँ प्रकट हुईं, जैसाकि डा० सोममाथ[1] गुप्त ने संकेत किया है, तो इससे किसी प्रकार यह सिद्ध नहीं होता कि धर्मान्धता का प्रतीक औरंगज़ेब नाटक-रचना के प्रति सहिष्णु था अथवा इस दिशा में वह सहायक या प्रेरक बन सका। इससे केवल इतना ही स्पष्ट होता है कि जब कभी विद्वानों के मन में नाटकीय चेतना प्रबल होती थी, तो वे कभी-कभी इक्के-दुक्के प्रयासों द्वारा अपने मन की क्षुधा को शांत कर लेते थे। और इस प्रकार की नाटकीय रचनाएँ गिनती में नगण्य तथा अप्रसिद्ध होने के कारण औरंगज़ेब की दृष्टि में न आती थीं। परन्तु यदि लेखक भारी संख्या में नाटक लिखकर इस कला का प्रचार करना चाहते, अथवा नाटक के विकास के लिए रंगमंच पर इसे अभिनीत करने का विचार करते, तो अवश्य ही उनके ये प्रयास औरंगज़ेब के ध्यान में आकर उसके क्रोध और दण्ड का पात्र बनते। इस प्रकार उत्तरमध्यकाल में औरंगज़ेब और उसके कुछ असहिष्णु उत्तराधिकारियों के डर के कारण भी लेखकों की नाटकीय प्रतिभा प्रस्फुटित न हो सकी। और न ही भारतीयों को नाटक के क्षेत्र में अपने मुसलमान शासकों के अरबी और फ़ारसी के साहित्य से तनिक भी प्रेरणा मिल सकी। अरबी और फ़ारसी साहित्य में नाटक का एकमात्र अभाव है। उसमें नाटक जैसी कोई वस्तु नहीं है। इस कारण मुसलमानों के लम्बे शासनकाल में हिन्दी के विद्वानों की नाटकीय प्रवृत्तियों को कोई उत्तेजना न मिल सकी, जो कि उन्नीसवीं शताब्दी में अंग्रेज़ों के शासनकाल में पश्चिम के नाटक-साहित्य से उन्हें यथेष्ट मात्रा में प्राप्त हुई। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि मुस्लिम-शासन प्रत्यक्ष एवं परोक्ष रूप में हिन्दी नाटक के उदय एवं विकास में बाधक सिद्ध हुआ।

---

१. हिन्दी-नाटक-साहित्य का इतिहास, पृष्ठ २२।

परन्तु दूसरी ओर जब हम यह देखते हैं कि हिन्दी का सर्वप्रथम नाटक 'इन्दर-सभा' आग़ा हसन 'अमानत' नामक मुसलमान लेखक द्वारा अवध के मुसलमान नवाब वाजिद अली शाह के दरबार में लिखा गया, तो हमें बड़ा आश्चर्य होता है। इसी घटना के आधार पर डा० गुप्त ने यह सिद्ध करने का यत्न किया है कि मुसलमानों का शासन हिन्दी नाटक की उत्पत्ति और विकास में बाधक नहीं बना[1]। परन्तु इस प्रश्न पर गंभीरतापूर्वक विचार करने से डा० गुप्त के तर्क की असत्यता स्पष्ट हो जाती है। इस संबंध में हमें इस बात की ओर ध्यान देना चाहिए कि मुसलमानों में से केवल वही लोग नाटक और अभिनय के विरोधी थे जो कि कट्टर धार्मिक विचारों के थे और शरीयत के आदेशों का दृढ़तापूर्वक पालन चाहते थे। परन्तु 'इन्दर-सभा' के रचना-काल (१८५३ ई०) तक शताब्दियों तक भारतवर्ष में रहने तथा यहाँ के हिन्दुओं के साथ सम्पर्क में आने के परिणामस्वरूप मुसलमान लोग अपने कट्टर स्वभाव तथा धार्मिक असहिष्णुता को बहुत कुछ त्याग चुके थे। इतिहास के ग्रन्थों से इस बात का प्रमाण मिलता है कि नवाब सिराजुद्दौला, मीर जाफ़र और मीर कासिम आदि निस्संकोच हिन्दुओं के होली, दीवाली तथा वसन्त उत्सवों को मनाते थे। अवध के नवाब तो इस्लाम के कट्टर सिद्धान्तों का और भी अधिक परित्याग करके प्रतिदिन यूरोपीय खान-पान, वेश-भूषा, रहन-सहन की ओर उन्मुख हो रहे थे[2]। अतः यद्यपि 'इन्दर-सभा' वाजिद अली शाह के दरबार में अमानत द्वारा लिखा गया, तथापि इस कार्य का मुसलमान शासकों की धर्मान्धता और असहिष्णुता के साथ कोई सम्बन्ध नहीं था, जो कि इस प्रकार के मनोरंजन के साधनों के विरोधी थे।

इसके अतिरिक्त डा० गुप्त का यह कथन भी असत्य[3] है कि 'इन्दर-सभा' की रचना नवाब वाजिद अली शाह के आदेश पर की गई थी, और स्वयं नवाब ने इसके अभिनय में राजा इन्द्र का पार्ट किया था। अपनी कलाप्रियता और विलासिता के होते हुए भी (तथा धर्मान्धता से मुक्त होते हुए भी) नवाब वाजिद अली शाह का यहाँ तक बढ़ने का साहस नहीं हुआ और लखनऊ यूनिवर्सिटी के प्रो० मसूद हसन[4] रज़वी यह प्रमाणित कर चुके हैं कि न तो 'इन्दर-

---

१. हिन्दी-नाटक-साहित्य का इतिहास पृष्ठ २३। २. रामबाबू सक्सेना—ए हिस्टरी ऑव उर्दू लिटरेचर, पृष्ठ ११७-१८ तथा पृष्ठ ३४८-५१। ३. हिन्दी-नाटक-साहित्य का इतिहास, पृष्ठ ९। ४. देखिए रामबाबू सक्सेना कृत—'ए हिस्टरी ऑव उर्दू लिटरेचर' के उर्दू अनुवाद 'तारीखे़ अदबे-उर्दू' के पृष्ठ १४७ पर अनुवादक की पाद-टिप्पणी।

सभा' की रचना उक्त नवाब के आदेश पर की गई और न ही नवाब ने इसके अभिनय में भाग लिया था।

वास्तव में बक्सर के युद्ध (१७६४ ईस्वी) के पश्चात् अवध के दरबार पर धीरे-धीरे पश्चिमी सभ्यता का रंग चढ़ने लग गया। पश्चिमी राजदूत, यात्री, प्रचारक और उपदेशक अवध में आने लगे और उनके साथ सम्पर्क होने के कारण अवध के नवाबों में पश्चिमी सभ्यता, रहन-सहन और मनोरंजन की वस्तुओं के प्रति रुचि बढ़ने लगी। इसी बढ़ते हुए यूरोपियन प्रभाव के अधीन एक फ्रांसीसी[1] के सुझाव पर ही नवाब वाजिद अली शाह के दरबार में 'इन्दर-सभा' की रचना की गई थी। इस बात से यह किसी प्रकार सिद्ध नहीं होता कि मुस्लिम शासकों से नाट्य-कला को किसी प्रकार प्रोत्साहन मिला।

उपरोक्त कारणों के अतिरिक्त हिन्दी नाटक के अभाव का एक और भी प्रबल कारण था। मुग़ल-शासन-काल के आरम्भ में, विशेषतः ईसा की पन्द्रहवीं और सोलहवीं शताब्दियों में भक्ति की चेतना सारे उत्तर भारत में बल पकड़ गई। विदेशी शत्रुओं द्वारा पराजित होकर हिन्दुओं ने अपने मन को शांति देने के लिए भक्ति-मार्ग का अवलम्बन किया। भक्तिकाल के इस मानसिक आन्दोलन ने कबीर, दादू, नानक आदि अनेक सन्त जनों को प्रभावित किया, और उन्होंने अपने-अपने धार्मिक पन्थों का प्रवर्तन किया। यह आन्दोलन बड़ा व्यापक था और क्योंकि इसका सम्बन्ध जनता के साथ था, इसलिए तत्कालीन विचारधारा एवं साहित्य पर इसका गहरा प्रभाव पड़ा। इस काल के सभी सन्त कवियों का निश्चित मत था कि संसार असार है, मिथ्या है, भ्रम है, और इसमें दुःख के सिवाय कुछ नहीं। अपने उपदेशों में इस काल के सन्त कवियों ने जनता को दुःख के साथ युद्ध करने तथा जीवन में संघर्षशील बनकर उसे सुखी बनाने की अपेक्षा आत्मसमर्पण का पाठ पढ़ाया। भाग्यवाद अथवा नियतिवाद के सिद्धान्त का उन्होंने प्रचार किया। दुःखवाद की दुहाई और भाग्यवाद के प्रचार ने लोगों को निष्क्रिय, निराशावादी और आलसी बना दिया। आत्म-समर्पण की भावना की प्रधानता से संघर्ष की भावना उनके मन से तिरोहित हो गई। देखिए, इस काल के एक सन्त मलूकदास ने कितने सरल किन्तु सशक्त ढंग से निष्क्रियता का प्रचार किया है—

अजगर करे न चाकरी, पंछी करें न काम।
दास मलूका कह गये, सब के दाता राम॥

गुरु नानक के निम्नलिखित शब्दों में भी वैराग्य-भावना की प्रेरणा है—

१. रामबाबू सक्सेना—ए हिस्टरी ऑव उर्दू लिटरेचर', पृष्ठ ३५१।

इस दम दा मैनूं की वे भरोसा, आया आया, न आया न आया ।
यह संसार रैन दा सुपना, कहीं देखा, कहीं नाहिं दिखाया ।।

रहीम के इन शब्दों में निष्क्रियता-प्रचारक नियतिवाद की ध्वनि है—

रहिमन चुप ह्वै बैठिये, देखि दिनन को फेर ।
जब नीके दिन आइहैं, बनत न लागै देर ।।

इसके विपरीत नाटक निश्चय ही संघर्षात्मक और प्रगतिशील जीवन का चित्र है। अत: आलस्य और अकर्मण्यता का यह वातावरण, तथा आत्मसमर्पण और वैराग्य की यह भावना भी बहुत हद तक नाटक जैसी प्रगतिशील और संघर्षात्मक वस्तु के उद्गम और विकास के लिए अहितकर सिद्ध हुई ।

इस प्रकार इन सब कारणों ने मिलकर हिन्दी नाटक के उदय को चिरकाल तक रोके रखा । इनमें से कोई भी एक कारण स्वतन्त्र रूप में हिन्दी नाटक के अभाव का एकमात्र कारण नहीं कहा जा सकता । परन्तु सम्मिलित रूप से इन सभी कारणों के सामूहिक प्रभाव के कारण हिन्दी नाटक का उदय कई शताब्दियों तक रुका रहा ।

दूसरा अध्याय

हिन्दी-नाटक के पूर्व रूप

संसार के प्रायः सभी देशों में नाटक के आदि रूप का उदय किसी-न-किसी धार्मिक भावना अथवा चेतना के फलस्वरूप हुआ[1]। वीर-पूजा की भावना अथवा धार्मिक आवेश जो कि प्रायः प्राणिमात्र के हृदय में किसी अंश में निहित रहता है, धीरे-धीरे नाटक का रूप धारण कर लेता है[2], यद्यपि अपने आदि रूप में यह नाटक बड़ा ही साधारण और अपरिमार्जित होता है। मध्यकालीन हिन्दू जनता में भी नाटक के पूर्व रूप का उदय विशेष प्रकार की लीलाओं से हुआ, जो कि या तो वीरपूजा की चेतना से प्रेरित होती थीं, अथवा भक्ति की भावना या धार्मिक आवेश उनकी तह में काम करता था। समय के बीतने पर जनता उन धार्मिक लीलाओं के द्वारा केवल अपनी धार्मिक तृष्णा को शान्त करने के अतिरिक्त उन्हीं में मनोरंजन के सुलभ साधनों की खोज करने लगी। ज्यों-ज्यों ये लीलाएँ परिष्कृत और प्रौढ़ होती गईं, त्यों-त्यों नाटक के तत्त्व भी इनमें धीरे-धीरे अंकुरित होते गये। निस्संदेह इन लीलाओं का मुख्य उद्देश्य तो धार्मिक ही बना रहा, तथापि इनको अधिक-से-अधिक मनोरंजक और चित्ताकर्षक बनाने का प्रयत्न भी निरन्तर होता रहा।

रामलीला

हिन्दी-भाषी प्रदेश के भिन्न-भिन्न भागों में लोगों की धार्मिक प्रवृत्तियाँ भिन्न-भिन्न थीं और उनको भिन्न-भिन्न देवताओं और महापुरुषों के प्रति श्रद्धा थी। उनकी रुचि तथा धार्मिक प्रवृत्ति की विभिन्नता के अनुसार भिन्न-भिन्न प्रदेशों में विशिष्ट प्रकार की लीलाओं अथवा नाटक के पूर्व रूपों का विकास हुआ। इस प्रकार अवध, मिथिला और काशी में रामलीला का विशेष प्रचार हुआ, यद्यपि राजपूताना, मध्यप्रांत, पश्चिमी उत्तरप्रदेश, पंजाब तथा मैसूर में भी इसका प्रचलन था। उत्तरप्रदेश के पूर्वीय ज़िलों में, जो कि रामलीला के आदि स्थान थे, श्रीराम के जीवन की सभी मुख्य घटनाओं का आश्विन के महीने में नाटक-रूप में प्रदर्शन किया जाता था।

---

1. J.W. Marriot—The Theatre, page 70.
2. Keith—Sanskrit Drama, pages 36-49;

उत्तर भारत में रामलीला को प्रायः वही महत्त्व प्राप्त है जो कि दुर्गा-पूजा को बंगाल में। दोनों का समय भी लगभग एक ही होता है। रामलीला का उत्सव, कम-से-कम अपने वर्तमान रूप में, तुलसीदास के प्रसिद्ध 'रामचरित-मानस' से उदय हुआ माना जाता है। उपरोक्त प्रदेशों के प्रायः प्रत्येक नगर तथा मुख्य ग्राम में आश्विन के महीने में लगभग सम्पूर्ण 'मानस' की कथा की जाती थी, और कहीं-कहीं अब भी की जाती है। जो-जो घटनाएँ अभिनय-योग्य होती हैं, उनका कथा के साथ-साथ नाटकीय प्रदर्शन भी किया जाता है। अभिनय के साथ-साथ दृश्यों और वातावरण को भी यथाशक्ति यथार्थ और स्वाभाविक बनाने का यत्न किया जाता है। उदाहरण के लिए जब कथा के प्रसंगवश गङ्गा या समुद्र की आवश्यकता होती है, तो अभिनय का स्थान किसी नदी या तालाब का तट बना लिया जाता है। विविध उद्यान और वाटिकाएँ कथा में आने वाले वनों और उपवनों का स्थान ले लेती हैं, और मूल कथा में आने वाले राजप्रासादों आदि का प्रतिनिधित्व बड़े-बड़े भवन या देव-मन्दिर करते हैं।

रासलीला

मथुरा, वृन्दावन तथा निकटवर्ती प्रदेश में रासलीला विशेष लोकप्रिय हुई, और आज भी उस प्रदेश में इसका काफ़ी प्रचार है। रासलीला में श्रीकृष्ण की जीवन-लीलाओं, विशेषतः राधा-कृष्ण की प्रेम-लीलाओं का प्रदर्शन किया जाता है। दो छोटे-छोटे लड़के कृष्ण और राधा का स्वरूप धारण करते हैं और शेष गोप-गोपियों का प्रतिनिधित्व करते हैं। जिस प्रकार श्रीराम के श्रद्धालु भक्त रामलीला के समय राम, सीता आदि का स्वरूप बनानेवाले बालकों को उस समय साक्षात् राम सीता आदि मान कर उनकी पूजा-वन्दना करते हैं, उसी प्रकार कृष्ण-भक्त भी रासलीला के समय इतने तल्लीन और आनन्द-विभोर हो जाते हैं कि वे उन बालकों को साक्षात् कृष्ण आदि का अवतार मानकर उनकी पूजा-अर्चना करते हैं। रासलीला का आरम्भ स्वामी वल्लभाचार्य और उनके वंशजों की स्तुति के साथ होता है। इससे यह माना जा सकता है कि रासलीला का उदय श्री वल्लभाचार्य (१४७९–१५३१ ईस्वी) के अनन्तर हुआ होगा।

यद्यपि जीवन के परिवर्तित दृष्टिकोण तथा सिनेमा की लोकप्रियता के कारण रासलीला का प्रचार पहले से कम रह गया है, तथापि रासलीला की परम्परा अभी सर्वथा लुप्त नहीं हुई। वर्षा ऋतु में साधारणतः और सावन के महीने में विशेषतः रासधारी मंडलियाँ मथुरा, वृन्दावन आदि स्थानों में, जिनका

श्रीकृष्ण के जीवन के साथ सम्बन्ध है, रासलीला के काम में बहुत व्यस्त रहती हैं। पूर्वीय पंजाब, दिल्ली तथा देश के अन्य प्रान्तों से आज भी सहस्रों की संख्या में यात्री सावन के महीने में रासलीला देखने मथुरा-वृन्दावन जाते हैं। इतना ही नहीं, आज से कुछ ही वर्ष पूर्व तक रासधारी मंडलियाँ उत्तर में पंजाब, पश्चिम में राजपूताना तथा दक्षिण में हैदराबाद आदि दूर-दूर स्थानों की यात्रा करती थीं और वहाँ रासलीला दिखाती थीं।

नौटंकी

उपर्युक्त दोनों प्रकार की लीलाओं के अतिरिक्त पश्चिमोत्तर संयुक्त प्रान्त, दिल्ली और विशेषतः पंजाब के दक्षिणी भागों में नाटक का एक तीसरा रूप भी प्रचलित था, जिसे 'नौटंकी' या 'सांगीत' कहा जाता था। रासधारी मंडलियों के समान ये नौटंकियाँ भी दूरवर्ती स्थानों की यात्रा करके अपनी कला का प्रदर्शन करती थीं। रासलीला की भाँति इनका भी अपना घरेलू ढंग का काम-चलाऊ-सा रंगमंच होता था। इन 'सांगीतों' में संगीत और पद्य की प्रधानता होती थी, और अधिकतर रामायण, महाभारत तथा पुराणों के महापुरुषों के जीवन की घटनाओं को इन नौटंकियों की लीलाओं का विषय बनाया जाता था। कभी-कभी लौकिक वीरों और प्रसिद्ध व्यक्तियों के जीवन की घटनाओं का प्रदर्शन भी इनमें रहता था। गोपीचन्द, पूरणभगत और हकीकतराय की कहानियाँ, जो कि आज भी पंजाब में बड़ी लोकप्रिय हैं, भी इन नौटंकियों में बहुत प्रचलित थीं।

'नौटंकी' अथवा 'सांगीत' के उदय के विषय में निश्चयपूर्वक कुछ कहा नहीं जा सकता। जैसा कि डा० सोमनाथ गुप्त का विचार[1] है, 'सांगीत' शब्द की व्युत्पत्ति 'संगीत' शब्द में हुई होगी। 'नौटंकी' या 'सांगीत' में संगीत की प्रधानता होने के कारण इस मत की पुष्टि भी हो जाती है। अथवा 'सांगीत' शब्द को 'सांग' (नक़ल) के अर्थों में ग्रहण कर लिया गया होगा। मध्य काल में प्रचलित आमोद-प्रमोद के साधनों में 'सांग', 'स्वांग' या 'नक़ल' का विशेष स्थान था।

इन लीलाओं का हिन्दी-नाटक पर प्रभाव

रामलीला की सब से बड़ी विशेषता उसके शक्तिशाली संवाद हैं। उनमें रंगमंच तथा अन्य नाटकीय तत्त्वों का प्रायः अभाव रहता है। इसके अतिरिक्त रामलीला का विषय इतना विस्तृत है कि वह नाटक के सीमित समय, स्थान और कार्य के अनुकूल नहीं। वास्तव में रामलीला अपनी एकमात्र धार्मिक

१. हिन्दी-नाटक-साहित्य का इतिहास, पृष्ठ १६।

सीमाओं को पार करके पूर्णतया विकसित नाटक का रूप धारण न कर सकी। परिणामतः रामलीला के प्रभाव से जिस प्रकार के नाटकों की हिन्दी में रचना हुई, उनमें पद्य अथवा गद्य के वार्तालाप के अतिरिक्त शेष कुछ न था। भारतेन्दु से पूर्व इस प्रकार के कुछेक नाटक हमें मिलते हैं; हृदयराम का 'हनुमन्नाटक' (ईसा की सत्रहवीं शताब्दी), कृष्ण शर्मा का 'रामलीला विहार नाटक' (ईसा की उन्नीसवीं शताब्दी) तथा हरिराम का 'जानकीरामचरित्र नाटक' (उन्नीसवीं शताब्दी) इत्यादि नाटक वास्तव में रामायण की भिन्न-भिन्न घटनाओं के छन्दोबद्ध वार्तालाप-मात्र से अधिक कुछ नहीं हैं।

इसके विपरीत रामलीला में नाटक का विकास अधिक मात्रा में दृष्टिगोचर होता है। रासलीला में कृष्ण, राधा और गोपियों की प्रेमलीलाओं का प्रदर्शन होता है, और ये लीलाएँ छोटी-छोटी होने के कारण नाटक के सीमित स्थान, समय और कार्य के अधिक अनुकूल रहती हैं। इसके अतिरिक्त रासलीला में रंगमंच का उपयोग भी होता है, यद्यपि यह रंगमंच बड़ा साधारण-सा होता है। इसमें मधुर गीत भी, जो कि अधिकतर सूरदास के अथवा अष्टछाप के अन्य कवियों के मनोहर पद होते हैं, बड़े ही कर्णप्रिय और चित्ताकर्षक होते हैं।

परन्तु रासलीला में भी त्रुटियों का एकमात्र अभाव नहीं। इसमें संवादों की मात्रा बहुत कम होती है, और संवादों से भी कम इसमें कार्य का समावेश होता है। नाटक के इन अत्यावश्यक और परमोपयोगी तत्त्वों के अभाव के कारण रासलीला के प्रभाव से हमारे साहित्य में कोई नाट्य-परंपरा प्रचलित अथवा विकसित न हो सकी। नौटंकी में वार्तालाप का माध्यम पद्य होता था, और यद्यपि कार्य की मात्रा इसमें रासलीला की अपेक्षा अधिक थी, फिर भी वह नाटक के लिए पर्याप्त न थी। वास्तव में यदि रामलीला और रासलीला दोनों के प्रधान तत्त्वों का संतुलित एवं सुचारु समन्वय किसी प्रकार हो पाता, तो इसके फलस्वरूप बड़े सुन्दर और उच्च कोटि के नाटकों की सृष्टि हो जाती। रासलीला में संगीत का सौंदर्य और रस का प्रवाह विशेष रूप में रहता है। दूसरी ओर रामलीला में चरित्र-गाम्भीर्य और प्रभावशाली वार्तालाप की विशेषता थी। दोनों प्रकार की लीलाओं के इन सम्मिलित गुणों के समावेश से निस्संदेह सफल और सम्पूर्ण नाटक का विकास होता। परन्तु दुर्भाग्यवश ऐसा नहीं हो पाया।

अतः वर्तमान अवस्था में हम यही कह सकते हैं कि यद्यपि इन तीनों प्रकार की लीलाओं में से प्रत्येक में नाटक के कुछेक तत्त्व अवश्य विद्यमान थे, तथापि हमारे हिन्दी-नाटक के विकास में इनका कोई महत्त्व अथवा सहयोग नहीं।

मध्य काल से लेकर इनका अपना स्वतन्त्र अस्तित्व और महत्त्व बना रहा है। इनमें अपनी-अपनी सहज स्वाभाविक त्रुटियाँ थीं (जिनकी ओर हम ऊपर संकेत कर चुके हैं), और किसी एक में भी नाटक के सभी आवश्यक तत्त्व यथेष्ट मात्रा में विद्यमान न थे। अतः ये लीलाएँ कभी सुविकसित नाटक को जन्म न दे सकीं। हमारे हिन्दी नाटक का जन्म और ही कारणों से हुआ, जिनका उल्लेख अगले अध्याय में किया जायेगा।

इसके अतिरिक्त उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में पारसी थियेट्रिकल नाटकों का जनता में खूब प्रचार हुआ। इनके अभिनय में आकर्षक वेश-भूषा और मनोहर दृश्य-दृश्यांतरों के अतिरिक्त वैज्ञानिक रंगमंच का उपयोग भी होता था, जो कि इन पारसी कम्पनियों ने पश्चिम से ग्रहण किया था, और जो उपर्युक्त लीलाओं के साधारण, घरेलू ढंग के रंगमंच से बहुत उत्कृष्ट था। इन रंगमंचीय नाटकों का वर्णन अन्यत्र किया जायेगा। जनता को इनके अभिनय में लीलाओं की अपेक्षा बहुत अधिक मात्रा में तथा विविध प्रकार के मनोरंजन की सामग्री प्राप्त ~ई। अतः उपरोक्त लीलाओं से हटकर भारी संख्या में लोग पारसी रंगमंचीय नाटकों की ओर आकृष्ट हुए और चालीस-पचास वर्षों के लिए ये नाटक विशेष लोकप्रिय रहे।

मध्य काल में नाटक के उपर्युक्त तीन प्रधान पूर्व-रूपों के अतिरिक्त देश के भिन्न-भिन्न भागों में स्थानीय रूप से मनोरंजन के कुछ और छोटे-छोटे साधन भी प्रचलित े। भांड़ों के नकल-तमाशे तथा गुजरात में प्रचलित 'भंवाई' आदि इन्हीं के अन्तर्गत हैं। परन्तु हिन्दी-नाटक के इतिहास में अथवा हिन्दी-नाटक का मार्ग प्रशस्त करने में इनका कोई महत्त्व नहीं।

तीसरा अध्याय

पूर्व-भारतेन्दु-काल

संस्कृत-नाटक-साहित्य के अनुशीलन से यह ज्ञात होता है कि संस्कृत के नाटकों की अविरल धारा प्रायः मुसलमानों के भारत में आगमन के साथ टूट गई[1]। यह सत्य है कि मुसलमानों का शासन भारत के कुछ भागों में स्थापित हो जाने के पश्चात् भी नाटक के क्षेत्र में इक्के-दुक्के प्रयास होते रहे, और बारहवीं शताब्दी तथा बीसवीं शताब्दी ईस्वी के बीच के काल में भी भिन्न-भिन्न प्रकार के बहुत-से संस्कृत नाटक लिखे गये[2], तथापि संस्कृत नाटकों की अविरल और अविच्छिन्न परम्परा ग्यारहवीं अथवा बारहवीं शताब्दी में टूट गई।

यद्यपि संस्कृत नाटकों की परम्परा का व्यवस्थित क्रम ग्यारहवीं-बारहवीं शताब्दी में ही लुप्त हो गया था, तथापि हिन्दी नाटक की अविरल और क्रमबद्ध परम्परा कहीं उन्नीसवीं शताब्दी के मध्यकाल से आरम्भ हो सकी। हिन्दी नाटकों की परम्परा अपने व्यवस्थित रूप में भारतेन्दु से आरम्भ होती है जो कि आज तक अबाध गति से चल रही है। इस बीच के काल में हिन्दी-नाटक-साहित्य के अभाव के कारणों का उल्लेख हम प्रथम अध्याय में कर चुके हैं। इसके साथ ही यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि उन्नीसवीं शताब्दी के मध्यकाल में एकदम ही हिन्दी-नाटक का पूर्णतया विकसित रूप हमारे सामने प्रकट नहीं हो पाया। इससे पूर्व भी नाटक के क्षेत्र में कुछेक प्रयास विभिन्न विद्वानों द्वारा किये गये थे, यद्यपि ये घटिया प्रकार के और प्रायः नाट्य-कला-विहीन थे। परन्तु उन्होंने एक प्रकार से हिन्दी-नाटक के मार्ग को प्रशस्त किया, क्योंकि विद्वानों के हृदय में नाटक को कलापूर्ण, उत्कृष्ट और पूर्णतया विकसित रूप देने की अभिलाषा को निहित रूप में उन्होंने बनाये रखा। यहाँ हम पूर्व-भारतेन्दु-काल में लिखे गये कुछ हिन्दी-नाटकों का उल्लेख करेंगे, जो कि या तो रामलीला आदि के प्रभाव से अथवा प्राचीन संस्कृत नाटकों के प्रभाव से लिखे गये।

आरम्भकालीन हिन्दी-नाटक

सबसे पहले हमें प्रसिद्ध मैथिल कवि विद्यापति के दो नाटक 'रुक्मिणी-हरण'

१, २. कीथ—संस्कृत ड्रामा, ग्यारहवाँ अध्याय।

और 'पारिजात-हरण' मिलते हैं जो कि चौदहवीं शताब्दी की रचनाएँ हैं। तदनन्तर सत्रहवीं शताब्दी में कृष्ण-जीवन ने 'करुणाभरन' नाटक लिखा जिसमें श्रीकृष्ण की लीलाओं का वर्णन है। उसी शताब्दी में हृदयराम ने 'हनुनन्नाटक' की रचना की। हृदयराम का लिखा हुआ एक 'रुक्मिणी-मंगल' नाटक भी कहा जाता है, परन्तु यह प्राप्य नहीं।

'प्रबोध-चन्द्रोदय' कृष्णमिश्र का लिखा हुआ संस्कृत का प्रसिद्ध प्रतीकवादी नाटक है, जिसमें श्रद्धा, विवेक, क्रोध आदि मनोभावों का मानवीकरण किया गया है। बहुत-से विद्वानों ने इस प्रसिद्ध संस्कृत नाटक के हिन्दी में अनुवाद किये। इनमें से सबसे प्राचीन अनुवाद जोधपुरनरेश महाराज यशवन्तसिंह का है जोकि सत्रहवीं शताब्दी के मध्यकाल में किया गया। यह अनुवाद अधिकांश पद्य में है, परन्तु पात्रों के प्रवेश और प्रस्थान-विषयक संकेत गद्य में दिये गये हैं, और बीच में भी कहीं-कहीं गद्य की पंक्तियाँ मिलती हैं। अनुवाद में गद्य और पद्य दोनों की भाषा व्रज है। अनुवाद सुन्दर और सफल है।

'प्रबोध-चन्द्रोदय' का एक और सफल अनुवाद अठारहवीं शताब्दी ईस्वी में ब्रजवासीदास ने किया, जोकि वल्लभ-संप्रदाय के वृन्दावन-निवासी वैष्णव थे। यह अनुवाद भी अधिकांश पद्य में है। भाषा पर अनुवादक को अच्छा अधिकार प्राप्त है। नीचे के उद्धरण से इस अनुवाद की भाषा और पद्य-शैली का कुछ परिचय मिल जायगा—

सरधा उवाच

सरधा कही अहै सुख दान। मन की दसा न परत बखान॥
प्रवृत्ती नाम ताकी बर नार। मन को तासों अधिक पियार॥
सो कायादिक बध सुनि कान। सुनत सनेह तजे तिन प्रान॥
ताते मनहिं सोक अधिकाय। चाहिय अब मनहू मरि जाय॥

भक्ति उवाच

होवै याते भलो पुनि कहा जु मन मरि जाय।
सकल काज बिन श्रमहि मन तौ सहजहि बन जाय॥
अरु मनहू बहु कष्ट तें छूट लहै निज रूप।
लीन होय सुख ब्रह्म में जो सब भांति अनूप॥

नेवाज़ कवि ने शाहज़ादा आज़मशाह के आदेश से १६८० ईस्वी में 'शकुन्तला' नाटक लिखा। यह भी व्रजभाषा-पद्य में है। सत्रहवीं शताब्दी की एक और रचना 'देवमाया-प्रपंच-नाटक' है। इसके रचयिता देव हैं, जिन्हें बाबू

ब्रजरत्नदास[1] ने प्रसिद्ध रीतिकालीन कवि देव से भिन्न माना है। इस नाटक में छः अंक हैं, और यह 'प्रबोध-चन्द्रोदय' नाटक वाली प्रतीकवादी परम्परा पर लिखा गया है। उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ में हरिराम ने 'जानकी-राम-चरित्र नाटक' की रचना की, जिसमें राम और सीता के विवाह की कथा है। यद्यपि यह ग्रन्थ पद्य में है, फिर भी कहीं-कहीं खड़ीबोली-गद्य के दर्शन भी हो जाते हैं। पद्य पर भी, जो कि व्रजभाषा में है, खड़ीबोली की स्पष्ट छाप है।

लक्ष्मणशरण के 'रामलीला-विहार-नाटक' का विषय भी राम और सीता का विवाह है। इसमें गद्य और पद्य दोनों का प्रयोग हुआ है। नाटक का रचना-काल नहीं दिया गया। परन्तु भाषा के आधार पर, जो कि परिमार्जित खड़ी-बोली है, इसे उन्नीसवीं शताब्दी की रचना कहा जा सकता है।

उपरिलिखित रचनाओं से कुछ उत्कृष्ट रेवानरेश महाराज विश्वनाथसिंह का 'आनन्द-रघुनन्दन-नाटक' है, जोकि अठारहवीं शताब्दी ईस्वी के आरम्भ में लिखा गया प्रतीत होता है। इसमें सात अंक हैं और श्रीराम के जन्म से लेकर वनवास से लौटने पर किये गये उनके राज्याभिषेक तक की कथा वर्णित है। यह नाटक संस्कृत-नाटकों की पद्धति पर लिखा गया है और उसी के अनुसार इसमें नान्दी, प्रस्तावना, भरतवाक्य आदि का उपयोग है और अंकों का विभाजन भी दृश्यों में नहीं किया गया। भारतेन्दु ने इसे हिन्दी का सर्वप्रथम नाटक माना है[2]।

नाटककार ने रामायण की लगभग सम्पूर्ण कथा को इस नाटक में अपनाने का प्रयत्न किया है, इस कारण यह रचना नाटक रूप में विशेष सफल नहीं बन सकी। पात्रों की संख्या बहुत अधिक होने के कारण चरित्र-चित्रण की ओर भी समुचित ध्यान नहीं दिया जा सका। गद्य और पद्य दोनों के लिए ही अधिकांश व्रजभाषा का प्रयोग किया गया है। परन्तु संस्कृत, फ़ारसी, मराठी, अंग्रेज़ी तक का व्यवहार भी कहीं-कहीं पर किया गया है। इन विविध भाषाओं के प्रयोग से नाटक के प्रभाव अथवा सौंदर्य की वृद्धि तो नहीं हुई, बल्कि कई जगह इनका प्रयोग असंगत और दोषपूर्ण अवश्य है।

कलात्मक दृष्टि से 'आनन्द-रघुनन्दन-नाटक' उच्च कोटि की रचना नहीं है। किन्तु हिन्दी का सर्वप्रथम मौलिक नाटक होने के कारण इस रचना का अपना महत्त्व है।

---

१. हिन्दी-नाट्य-साहित्य, पृष्ठ ४६। २. देखिए 'विद्या-सुन्दर' नाटक की भूमिका।

इन नाटकों की विशेषताएँ

जैसा कि हम प्रथम अध्याय में कह चुके हैं, हिन्दी गद्य को अपना व्यवस्थित और प्रौढ़ रूप प्राप्त किये अभी सौ वर्ष हुए हैं। आलोच्यकाल में (ऊपर के नाटकों के समय तक) हिन्दी गद्य का प्रतिष्ठित रूप विद्वानों के सामने नहीं था। अतः स्वभावतः ही ये नाटक अधिकतर पद्य में लिखे गये और डा० सोमनाथ गुप्त ने इन्हें यथार्थ ही नाटकीय काव्य[1] कहा है।

दूसरे, इन नाटकों की भाषा प्रायः व्रज है। किसी-किसी नाटक में बीच-बीच में खड़ीबोली के कुछ शब्दों का प्रयोग भी मिलता है, परन्तु प्रधानतः इन सभी रचनाओं में व्रजभाषा का ही प्रयोग हुआ है।

तीसरे, इन रचनाओं में नाटक के आवश्यक नियमों का पालन नहीं हुआ, न ही इनमें नाट्यकला के दर्शन होते हैं। ये रचनाएँ केवल इसलिए ही नाटक कहलाती हैं क्योंकि इनके रचयिताओं ने इन्हें नाटक नाम दिया है, अथवा क्योंकि इनमें पद्यात्मक संवादों को कथावस्तु के विकास का साधन बनाया गया है। वार्तालाप को छोड़कर नाटक के अन्य गुणों (चरित्र-चित्रण की शक्ति, वस्तु-संगठन का सौंदर्य आदि) का इन रचनाओं में प्रायः अभाव है। इनमें से कुछेक रचनाओं में तो पात्रों के प्रवेश और प्रस्थान आदि भी नहीं दिये गये, केवल पात्रों के नाम एक ओर लिख दिये गये हैं। न ही ये नाटक अभिनय के योग्य हैं। अधिक-से-अधिक उन्हें छन्दोबद्ध संवाद कहा जा सकता है, जिनमें अधिकतर रामायण की घटनाओं का पद्यात्मक वर्णन है। इसलिए इनको नाटक की अपेक्षा काव्य कहना अधिक उपयुक्त है।

हिन्दी-नाटक का उदय

अभी तक हिन्दी नाटक के क्षेत्र में इक्के-दुक्के प्रयास ही समय-समय पर होते रहे थे। हिन्दी नाटकों की अविरल परम्परा का आरम्भ अभी न हो पाया था। परन्तु सन् १८५९ ईस्वी से (जिस वर्ष गोपालचन्द्र कृत 'नहुष नाटक' की रचना हुई) हिन्दी में नाटकों की एक अविच्छिन्न परम्परा का सूत्रपात हुआ। यहाँ हम उन कारणों का उल्लेख करेंगे जिनके परिणामस्वरूप हिन्दी नाटक के सुविकसित और कलापूर्ण रूप का उदय हुआ। यह बात हम दूसरे अध्याय में कह चुके हैं कि यद्यपि रामलीला आदि में नाटक के कुछ तत्त्व विद्यमान थे, तथापि हमारे विकसित (Full-fledged) हिन्दी-नाटक का जन्म इन लीलाओं से नहीं हुआ। ये लीलाएँ निस्संदेह हिन्दी नाटक का मध्ययुगीय रूप थीं, तथापि

१. हिन्दी-नाटक-साहित्य का इतिहास, पृष्ठ ४ तथा ७।

आज तक इनका स्वतन्त्र अस्तित्व बना रहा, और हिन्दी-नाटक का उदय और विकास इन लीलाओं से नितान्त स्वतन्त्र रूप में हुआ।

भारतवर्ष में ब्रिटिश शासन की स्थापना के फलस्वरूप यहाँ सुख और शांति का साम्राज्य हुआ। प्रतिदिन के पारस्परिक कलह-द्वेष और अशांति के स्थान पर दृढ़ केन्द्रीय शासन की स्थापना के कारण जनता को चिर-शांति और सुख का सौभाग्य प्राप्त हुआ, जिससे नाटक के लिए उपयुक्त वातावरण की सृष्टि हुई। साथ ही पाश्चात्य शासन के अधीन पश्चिम के साहित्य, संस्कृति और विचारधारा के कारण हमारे यहाँ साहित्य के क्षेत्र में जागृति और पुनरुत्थान की चेतना प्रबल हो उठी, जिसने प्रतिष्ठित हिन्दी गद्य की नींव रखने[1] के साथ-साथ हिन्दी नाटक के लिए भी मार्ग प्रशस्त कर दिया।

इसके अतिरिक्त अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध तथा उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में यूरोपियन लोगों ने भारतवर्ष के बड़े-बड़े शहरों में अपने मनोरंजन के हेतु प्रेक्षागृह स्थापित किये हुए[2] थे, जिनमें वे शेक्सपियर के नाटकों का अथवा अन्य अंग्रेज़ी नाटकों-प्रहसनों का अभिनय करते थे, या कभी-कभी प्रसिद्ध संस्कृत नाटकों के अंग्रेज़ी रूपान्तर भी वहाँ अभिनीत होते थे। इससे भारतीय विद्वानों का ध्यान भी नाट्यकला की ओर आकृष्ट हुआ।

लगभग इसी समय पश्चिमी विद्वानों ने संस्कृत साहित्य का गम्भीर आलोचनात्मक अध्ययन आरम्भ किया। यूरोप के देशों में संस्कृत भाषा और साहित्य का प्रचार और आदर बढ़ने लगा और प्रसिद्ध संस्कृत ग्रन्थों के यूरोप की भाषाओं में अनुवाद होने लगे। सर विलियम जोन्स ने कालीदास के शकुन्तला का अंग्रेज़ी में अनुवाद किया और इस नाटक की बहुत प्रशंसा की। जर्मनी के विख्यात कवि और दार्शनिक गेटे (Goethe) ने भी, 'शकुन्तला' नाटक के केवल अनुवाद मात्र से ही प्रभावित होकर उक्त नाटक की मुक्त कंठ से प्रशंसा की।

पाश्चात्य विद्वानों की संस्कृत-साहित्य में प्रतिदिन बढ़ती हुई अभिरुचि और प्रेम को देखकर हमारे साहित्यकारों का ध्यान भी इस भाषा के साहित्य की ओर गया। उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ में हमारे देश में मुद्रण-यन्त्र का प्रचार हो जाने के कारण पुस्तकें तेज़ी के साथ प्रकाशित होने लगीं, और सस्ते दामों मिलने लगीं। इस सुविधा ने हमारे विद्वानों को संस्कृत के प्रसिद्ध ग्रन्थों के हिन्दी अनुवाद प्रकाशित करने के लिए प्रोत्साहित किया। इसके साथ-साथ

1. F.E. Keay—Hindi Literature, page 9-10.
2. R.K. Yajnik—Indian Theatre. Chapter V.

उन्होंने अंग्रेज़ी भाषा और साहित्य के अनुशीलन में भी मन लगाया। अंग्रेज़ी शासन-काल में शासकवर्ग की भाषा और साहित्य की ओर भारतीय विद्वानों का आकृष्ट होना स्वाभाविक ही था। इसके अतिरिक्त प्राचीन भारतीय तथा एलिज़ाबेथन काल की अंग्रेज़ी नाटकीय रचना-पद्धतियों में पर्याप्त समानता[1] होने से भी इस दिशा में प्रोत्साहन मिला। शेक्सपियर प्रभृति विदेशीय नाटक-कारों का अध्ययन होने लगा, और उनके नाटक भी हिन्दी में अनूदित होने लगे। इसके अतिरिक्त नाट्य-परम्परा भारतीयों के लिए कोई नई वस्तु न थी, यद्यपि इसकी धारा बीच में कुछ काल के लिए विच्छिन्न अवश्य हो गई थी। ब्रिटिश शासन-काल में शिक्षा के प्रसार और मानसिक विकास से भी हमारे विद्वानों को अपने साहित्य में नाटक का अभाव खटकने लगा, जिसे पूर्ववत् समृद्ध करने की आकांक्षा उनके मन में प्रबल हो उठी।

इस प्रकार जहाँ उन्नीसवीं शताब्दी में भारतीय विद्वानों के दृष्टिकोण पर प्राचीन संस्कृत साहित्य का प्रभाव बना रहा, वहाँ उसके साथ पश्चिमी शासन, शिक्षा और साहित्य ने भी उनकी विचारधारा को प्रभावित किये बिना न छोड़ा। समय की गति के साथ-साथ आगे बढ़ने की प्रवृत्ति भी अब उनके मन में प्रबल हो रही थी। ऐसे वातावरण के बीच बाबू गोपालचन्द्र उपनाम गिरिधरदास (१८३३–६० ई०) ने पदार्पण किया। ये संस्कृत और हिन्दी के विद्वान् थे और प्रगतिशील विचारों के आदमी थे। भारतेन्दु के कथनानुसार इन्होंने लगभग चालीस ग्रन्थों की रचना की, जिनमें से केवल 'नहुष-नाटक' (१८५१) ही एकमात्र नाटक है। दुर्भाग्यवश हिन्दी का यह बहुमूल्य नाटक पूर्ण रूप में प्राप्त नहीं है, इसका कुछ अंश ही इस समय मिलता है। प्राप्य अंश में नान्दी, प्रस्ता-वना तथा प्रथम अंक मात्र हैं। यद्यपि इस नाटक की पूरी प्रति इस समय उपलब्ध नहीं, तथापि लेखक ने ही इसे अधूरा छोड़ दिया हो, ऐसी बात नहीं। भारतेन्दु ने अपने 'नाटक' नामक निबन्ध में सम्पूर्ण 'नहुष-नाटक' की कथावस्तु का संक्षेप दिया है।

भारतेन्दु के मतानुसार 'नहुष-नाटक' हिन्दी का पहला नाटक है जिसमें प्राचीन संस्कृत नाटकों के नियमों का विधिवत् पालन हुआ है। नाटकों के प्राप्य अंश से ही यह स्पष्ट है कि यह नाटक प्राचीन संस्कृत नाटकों की पद्धति पर लिखा गया है, क्योंकि इसका आरम्भ नान्दी और प्रस्तावना के साथ होता है।

---

1. Keith : Sanskrit Drama, page 355. तथा A.A. Macdonell: A History of Sanskrit Literature, pages 350-351, तथा Yajnik: Indian Theatre, page 35 and page 50.

हमने अभी ऊपर लिखा है कि संस्कृत साहित्य में पाश्चात्य विद्वानों की रुचि को देखकर भारतीय विद्वानों का ध्यान भी उस साहित्य की ओर आकृष्ट हुआ। इसी के परिणामस्वरूप सन् १८६१ में राजा लक्ष्मणसिंह का (कालिदास-कृत) 'शकुन्तला' नाटक का अनुवाद प्रकाशित हुआ। पहले संस्करण में यह अनुवाद सारा गद्य में था, अर्थात् संस्कृत श्लोकों का अनुवाद भी गद्य में किया गया था। लगभग पच्चीस वर्ष बाद जब अनुवादक ने इसका दूसरा संस्करण प्रकाशित कराया, तो उसमें मूल संस्कृत श्लोकों का अनुवाद पद्य में कर दिया गया। आज यह अनुवाद अपने गद्य-पद्यमय रूप में प्रचलित और बहुत लोकप्रिय है, और अनेक विश्वविद्यालयों द्वारा भिन्न-भिन्न परीक्षाओं के लिए पाठ्य-पुस्तक नियत हो चुका है।

इस अनुवाद में गद्य का रूप व्यवस्थित और परिमार्जित खड़ीबोली है जैसा कि नीचे के उद्धरण से अनुमान लगाया जा सकता है—

अनसूया—(हौले प्रियंवदा से) सखी मैं भी इसी सोच-विचार में हूं। अब इससे कुछ पूछूंगी। (प्रगट) महात्मा, तुम्हारे मधुर वचनों के विश्वास में आकर मेरा जी यह पूछने को चाहता है कि तुम किस राजवंश के भूषण हो? और किस देश की प्रजा को विरह में व्याकुल छोड़ यहाँ पधारे हो? क्या कारण है जिससे तुमने अपने कोमल गात को इस तपोवन में आकर पीड़ित किया है?[1]

परन्तु पद्य की भाषा व्रज है जो कि गद्य के समान ही बड़ी सुन्दर और सशक्त है। जैसे—

सरसिज लगत सुहावनो यदपि लियो ढकि पंक।
कारी रेखा कलंक हू लसति कलाधर अंक॥
पहरे बल्कल बसन यह लागति नीको बाल।
कहा न भूषण होइ जो रूप लिख्यो बिधि भाल॥[2]

---

१. अनसूया—सखि ममापि अस्ति कौतूहलम्। प्रक्ष्यामि तावदेनम्। (प्रकाशम्) आर्यस्य मधुरालापजनितो विश्रम्भः मां मन्त्रयते। कतमः आर्येण राजर्षिवंशः अलंक्रियते। कतमो वा विरहपर्युत्सुकजनः कृतो देशः। किं निमित्तं वा सुकुमारतरोऽपि तपोवनपरिश्रमस्य आत्मा पदं उपनीतः।

२. सरसिजमनुविद्धं शैवलेनापि रम्यं
मलिनमपि हिमांशोर्लक्ष्म लक्ष्मीं तनोति।
इयमधिकमनोज्ञावल्कलेनापि तन्वी
किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम्॥

अथवा

हिमांशू चन्दा सों कुसुमशर तोसों कहत क्यों।
नहीं सांचे दोऊ इन गुनन मोसे जनन को॥
खरी छोड़े ज्वाला वह किरिन पाला संग धरी।
तुहू बज्राकारी निज सुमन के बानन करे॥[1]

जैसा कि ऊपर के उद्धरणों से स्पष्ट है, राजा साहब का भाषा पर अधिकार और उनकी कवित्व-शक्ति सराहनीय हैं। यदि ऊपर दिये गये अनुवाद के उद्धरणों का मूल संस्कृत अंशों के साथ मिलान किया जाय (जिनको हमने नीचे पाद-टिप्पणियों में उद्धृत किया है) तो इस बात में कोई सन्देह नहीं रह जाता कि राजा साहब को अपने अनुवाद में मूल के भाव और शक्ति को बनाये रखने में बड़ी सफलता मिली है। उनके अनुवाद में मूल के समान रोचकता और सरसता भरी हुई है। चूंकि राजा साहब शुद्ध हिन्दी के पक्षपाती थे, इसलिए उन्होंने अपने अनुवाद में फ़ारसी के शब्दों का बड़ी सावधानी के साथ बहिष्कार किया है।

साहित्यिक नाटकों के अतिरिक्त एक दूसरे प्रकार के नाटक का विकास भी साथ-ही-साथ हो चुका था। ये दूसरे प्रकार के नाटक साहित्य की वस्तु न होकर अधिकतर रंगमंच की सामग्री थे, और इनका उद्देश्य कलात्मकता और साहित्यिकता के स्थान पर जनता का अधिक-से-अधिक मनोरंजन करना था। ये रंगमंचीय नाटक भिन्न-भिन्न थियेट्रिकल कम्पनियों द्वारा अपनाये गये। इनका प्राचीनतम उदाहरण 'इन्दर-सभा' है जो कि आग़ा हसन 'अमानत' द्वारा लिखा गया और जिसका अभिनय १८५३ ईस्वी में अवध के नवाब वाजिद अली शाह के दरबार में हुआ था।

वास्तव में इस नाटक की भाषा शुद्ध हिन्दी नहीं है, बल्कि हिन्दी की अपेक्षा यह उर्दू अधिक कही जा सकती है। इसी कारण इस कृति को उर्दू भाषा का भी सर्वप्रथम नाटक माना गया है[2]। परन्तु साधारणतया इसकी भाषा बहुत कठिन उर्दू नहीं है, वरन् हिन्दी-उर्दू का सम्मिश्रण-सा है, अतः इसे हिन्दी नाटकों की सूची के अन्तर्गत भी रखा जा सकता है। 'इन्दर-सभा' एक 'ऑपेरा' (गीति-नाटक) है जिसका दो-तिहाई भाग गानों से भरा पड़ा है।

---

१. तव कुसुमशरत्वं शीतरश्मित्वमिन्दोर्–
द्वयमिदमयथार्थं दृश्यते मद्विधेषु।
विसृजति हिमगर्भैरग्निमिन्दुर्मयूखै–
स्त्वमपि कुसुमबाणान् वज्रसारीकरोषि॥

2. R.B. Saksena : A History of Urdu Literature, pages 350-51.

शेष तिहाई भाग भी, जिसमें संवादों का समावेश है, पद्य-प्रधान है। जब कोई पात्र प्रथम बार रंगमंच पर प्रवेश करता है, तो पहले वह दर्शकमंडल को अपना परिचय देता है। उदाहरण के लिए राजा इन्द्र अपनी सभा में आकर अपना परिचय इस प्रकार देते हैं—

राजा हूँ मैं क़ौम का और इन्दर मेरा नाम।
बिन परियों के दीद के मुझे नहीं आराम॥ इत्यादि।

पुखराज परी भी रंगमंच पर आकर अपना परिचय इसी प्रकार देती है—

गाती हूँ मैं और नाच सदा काम है मेरा।
आफ़ाक़ में पुखराज परी नाम है मेरा॥ इत्यादि।

अन्य पात्र भी इसी प्रकार दर्शक-समाज को अपना परिचय देते हैं। इस नाटक का वस्तु-तत्त्व बड़ा क्षीण है और कार्य में भी विशेष बल नहीं। चरित्र-चित्रण का तो एकमात्र अभाव है।

यह नाटक अपने मधुर गानों, चटक-मटक और विलासितापूर्ण शृंगारिक वातावरण आदि के कारण जनता को बहुत ही पसन्द आया, और चालीस-पचास वर्षों तक यह लोकप्रिय रहा। कितनी ही थियेट्रिकल कम्पनियों ने इसे अनेकों बार खेला। इसकी लोकप्रियता को देखकर मदारीलाल ने भी इसी के आधार पर एक और 'इन्दर-सभा' की रचना की और 'मुछन्दर-सभा', 'बन्दर-सभा' आदि बहुत से अनुकरण 'इन्दर-सभा' के लिखे गये। इस गीति-नाटक की कीर्ति इतनी फैल गई कि बहुत-सी भाषाओं में इसके अनुवाद हुए। 'इण्डिया आफ़िस लायब्रेरी' में 'इन्दर-सभा' के चालीस से अधिक संस्करण सुरक्षित हैं[1]।

इन रंगमंचीय नाटकों की, जिनका प्राचीनतम रूप हमें 'इन्दर-सभा' में मिलता है, परम्परा की रक्षा अधिकतर पारसी थियेट्रिकल कम्पनियों द्वारा की गई। इन रंगमंचीय नाटकों का वर्णन विस्तार के साथ अलग अध्याय में किया जायगा। अतः इस विषय पर यहाँ और कुछ लिखने की आवश्यकता नहीं। इस सम्बन्ध में केवल इतना ही लिख देना काफ़ी है कि चूंकि थियेट्रिकल कम्पनियों का चरम लक्ष्य केवल धनोपार्जन ही था, अतः उन्होंने जनता की भद्दी और असंस्कृत रुचि का परिष्कार करने की बजाय उनकी रुचि को भरसक सन्तुष्ट करने के लिए उन्हें कुरुचिपूर्ण और कलाहीन सामग्री भेंट की। उनके नाटकों में वास्तविक नाट्य-कला का, शुद्ध वातावरण और साहित्यिकता का अभाव था। इन्हीं बातों से खिन्न होकर भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने प्राचीन साहित्यिक नाटकों की लुप्त हुई परम्परा को फिर से प्रचलित करने का निश्चय किया।

1. Saksena : A History of Urdu Literature, pages 352-3.

चौथा अध्याय

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र

हिन्दी नाटक के जन्मदाता भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र का जन्म ६ सितम्बर सन् १८५० ई० को बनारस में हुआ। जब ये केवल पाँच वर्ष के थे, इनकी माता का देहान्त हो गया, और अभी यह ग्यारह वर्ष के भी न हो पाये थे कि इनके पिता भी स्वर्ग सिधार गये। इस कारण हरिश्चन्द्र उच्च शिक्षा प्राप्त न कर सके। परन्तु अल्प-शिक्षा-प्राप्त होने पर भी इनकी प्रतिभा विलक्षण थी, जिसका परिचय इनकी रचनाओं में यथेष्ट रूप से मिलता है। भारतेन्दु का उदय उस काल में हुआ जब कि प्राचीन और नवीन विचारधाराओं के बीच संघर्ष चल रहा था। जहाँ एक ओर ऐसे लोगों की संख्या दिनोंदिन बढ़ती जा रही थी जो प्राचीनता और भारतीयता को तुच्छ और हेय समझते थे, वहाँ दूसरी ओर ऐसे लोगों की भी कमी न थी जो नवीनता और पाश्चात्त्यता के घोर विरोधी थे। विद्वानों के मस्तिष्क इस समस्या में उलझे हुए थे कि हिन्दी भाषा और साहित्य का कौनसा रूप लोकप्रिय हो सकेगा, और हिन्दी-साहित्य को किस प्रकार बँगला साहित्य के समान समृद्ध और समुन्नत बनाया जा सकेगा।

ऐसे कठिन समय में, जब कि विलक्षण प्रतिभा और साहस की विशेष आवश्यकता थी, भारतेन्दु ने उदित होकर सारी परिस्थिति का सावधानी के साथ निरीक्षण किया और अपने कर्तव्य को निश्चित करके वे उसकी पूर्ति में दत्तचित हो गये। हिन्दी साहित्य में साधारणतः और हिन्दी नाटक में विशेषतः उन्होंने प्राचीन और अर्वाचीन गुणों का, भारतीय और पाश्चात्त्य तत्त्वों का समन्वय स्थापित किया, जैसा कि हम आगे चलकर स्पष्ट करेंगे। और एक बार जब भारतेन्दु ने हिन्दी नाटक के अवरुद्ध मार्ग को खोलकर उस पर दृढ़ता से पदार्पण कर दिया, तो उनके अनेक[1] समकालीन एवं परवर्त्ती विद्वानों ने उनके पथ-प्रदर्शन से सहारा लेकर उस मार्ग में अच्छी ख़ासी भीड़ लगा दी। जिस साहित्यिक परम्परा का उन्होंने सूत्रपात किया, उसको अन्य विद्वानों ने प्रचलित और प्रतिष्ठित कर दिया।

हिन्दी साहित्य के विविध अंगों की भारतेन्दु ने बहुमूल्य सेवा की। किन्तु

१. देखिए पाँचवां और छटा अध्याय।

नाटक के क्षेत्र में हिन्दी साहित्य को नितान्त शून्य देखकर उन्हें विशेष खेद और आश्चर्य हुआ। बँगला में नाटक के विकास को वे देख चुके थे, और संस्कृत तथा अंग्रेज़ी के नाटकों का अनुशीलन भी उन्होंने किया था। अतः दृढ़ संकल्प के साथ, अपनी प्रतिभा, कार्यकुशलता और साहित्यिक रुचि के बल पर उन्होंने हिन्दी नाटक को जीवन के नये मार्ग पर लाकर खड़ा करने का प्रयत्न किया।

भारतेन्दु के नाटक

भारतेन्दु ने कुल मिलाकर अठारह नाटकों की रचना की। इनमें से 'प्रवास-नाटक' अपूर्ण है, और आज वह अपूर्ण नाटक भी प्राप्य नहीं। शेष सत्रह नाटकों में दस मौलिक हैं और सात अनूदित, जिनमें चार नाटक संस्कृत से, एक प्राकृत से, एक बँगला से तथा एक अंग्रेज़ी से अनूदित हैं। नाटककार के रूप में भारतेन्दु का रचनाकाल सन् १८६८ से आरम्भ होता है। इस वर्ष उन्होंने 'विद्या-सुन्दर', 'रत्नावली' और 'प्रवास-नाटक' की रचना की। तदनन्तर चार वर्षों में भारतेन्दु ने किसी नाटक की रचना नहीं की। फिर १८७२ में 'पाखण्ड-विडम्बन' लिखा गया। १८७३ में 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' तथा 'धनंजय-विजय' की रचना हुई। १८७४ में भारतेन्दु ने 'प्रेम-जोगिनी' की रचना की। १८७५ में 'सत्य-हरिश्चन्द्र' प्रणीत हुआ तथा 'मुद्राराक्षस' अनूदित हुआ। १८७६ में 'कर्पूर-मंजरी', 'विषस्य विषमौषधम्', 'श्रीचन्द्रावली' तथा 'भारत-दुर्दशा' की रचना हुई। अगले तीन वर्षों में 'भारत-जननी' के अनुवाद-संशोधन के अतिरिक्त अन्य कोई नाटक नहीं रचा गया। १८८० में 'नीलदेवी' लिखा गया तथा शेक्सपियर के 'मर्चेंट ऑव वेनिस' का 'दुर्लभ-बन्धु' शीर्षक से अनुवाद किया गया। १८८१ में 'अंधेर नगरी' नामक प्रहसन की रचना हुई और १८८४ में 'सती-प्रताप' लिखा गया, जिसे उन्होंने अपूर्ण छोड़ दिया। उसी वर्ष उन्हों ने अपना 'नाटक' शीर्षक निबंध समाप्त किया। जनवरी १८८५ में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का देहावसान हो गया।

भिन्न-भिन्न नाटकों के रचनाकाल पर दृष्टिक्षेप करने से यह जान पड़ता है कि भारतेन्दु स्वतन्त्र विचार एवं व्यवहार के व्यक्ति थे। यद्यपि हिन्दी नाटक की समृद्धि के लिए वे सदा सचेष्ट रहे, तथापि उन्होंने अपने नाटकों की रचना यन्त्रवत् लेखिनी चलाकर उसका भंडार भरने के ढंग से नहीं की, वरन् अपनी इच्छा और अन्तःप्रेरणा के अनुसार ही उन्हों ने नाटकों की रचना की। इसी कारण कभी तो एक ही वर्ष में उन्होंने चार नाटक लिख डाले, और कभी चार वर्षों में एक भी नाटक लिखने का प्रयास नहीं किया।

भारतेन्दु के नाटक दो मुख्य वर्गों में विभाजित किये जा सकते हैं—मौलिक नाटक और अनूदित नाटक। मौलिक नाटकों की संख्या और महत्त्व अधिक होने के कारण उन पर पीछे विचार किया जायगा। पहले हम भारतेन्दु द्वारा अनूदित नाटकों को लेते हैं।

भारतेन्दु के अनूदित नाटक

भारतेन्दु ने अपनी नाटकीय रचनाओं का श्रीगणेश सन् १८६८ में 'प्रवास-नाटक' से किया, परन्तु उनका पहला प्राप्य नाटक हर्षकृत 'रत्नावली' का अनुवाद है। भारतेन्दु के विचार में कालिदास के 'शकुन्तला' को छोड़कर 'रत्नावली' ही संस्कृत के नाटकों में सबसे अधिक सुन्दर और रोचक है। अपने अनुवाद की भूमिका में वे लिखते हैं—

> **"शकुन्तला के सिवाय और सब नाटकों में रत्नावली नाटिका बहुत अच्छी और पढ़ने वालों को आनन्द देने वाली है, इस हेतु से मैंने पहिले इसी नाटिका का तर्जुमा किया है, और जो ईश्वरेच्छा अनुकूल है और आप गुणग्राहकों की अनुग्रह-दृष्टि है तो धीरे-धीरे कुछ नाटकों का तर्जुमा कर प्रकाशित होता जायेगा।"**

भारतेन्दु के इन शब्दों से ऐसा प्रतीत होता है कि उन्होंने सम्पूर्ण नाटिका का अनुवाद किया। परन्तु आजकल इस अनुवाद का केवल एक अंश ही प्राप्त है, जिनमें नान्दी, प्रस्तावना और विष्कंभक मात्र ही हैं।

'विद्यासुन्दर' (१८६८) चौर कवि[1] की संस्कृत रचना 'चौरपञ्चाशिका' के आधार पर लिखा गया है, परन्तु यतीन्द्रमोहन ठाकुर[2] के बँगला नाटक की छाया भी इस पर पूर्णरूप से पड़ी है। मूल बँगला नाटक के उपलब्ध न होने के कारण यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि भारतेन्दु की रचना मूल बँगला नाटक का अनुवाद है अथवा रूपान्तर। नाटक पूर्ण है और इसमें क्रमशः ४, ३ और ३ दृश्यों के तीन अंक हैं। इनमें वर्द्धमान की राजकुमारी विद्या और काँचीपुर के राजकुमार सुन्दर के प्रेम और गान्धर्व-विवाह की रोचक कथा है। इस नाटक में प्रस्तावना नहीं है, और न ही पद्य की बहुलता है।

कला की दृष्टि से नाटक उच्च कोटि का नहीं है। आरम्भकाल की रचना होने के कारण भारतेन्दु की प्रौढ़ रचनाओं में इसकी गणना नहीं हो सकती। कथावस्तु के संगठन और घटना-क्रम सम्बन्धी कुछ दोष इस नाटक में मिलते हैं। परन्तु मूल बंगला नाटक के अप्राप्य होने के कारण हम निश्चय के साथ यह नहीं कह

---

१ तथा २. देखिए 'विद्या-सुन्दर' की भूमिका।

सकते कि कहाँ तक भारतेन्दु स्वयं इन त्रुटियों और दोषों के लिए उत्तरदायी हैं।

'पाखंड-विडम्बन' (१८७२) कृष्णमिश्र के प्रसिद्ध प्रतीकवादी संस्कृत नाटक 'प्रबोध-चन्द्रोदय' के तीसरे अंक का अनुवाद है। इस नाटक में श्रद्धा, करुणा और शान्ति आदि अमूर्त भावों का पात्रों के रूप में मानवीकरण है, और इस नाटक का उद्देश्य वैष्णव धर्म की उत्कृष्टता स्थापित करना है। भारतेन्दु का अनुवाद मूल के अनुसार गद्य और पद्य में है, और इसकी भाषा 'विद्या-सुन्दर' की भाषा की अपेक्षा प्रौढ़ है।

सन् १८७३ में भारतेन्दु ने काञ्चन कवि के संस्कृत नाटक 'धनंजय-विजय-व्यायोग' का हिन्दी में अनुवाद किया। इस नाटक में पाण्डवों के अज्ञात-वास के अन्त में कौरवों और अर्जुन के बीच हुए युद्ध का वर्णन है, और अर्जुन की विजय तथा राजा विराट् द्वारा अपनी पुत्री उत्तरा का विवाह अभिमन्यु के साथ करने के निश्चय तक की कथा है। भारतेन्दु ने अपने अनुवाद में मूल गद्य के स्थान पर गद्य और पद्य के स्थान पर पद्य रखा है। केवल नान्दी और भरत-वाक्य में मूल से थोड़ा अन्तर कर दिया गया है। मूल नाटक में नान्दी तीन श्लोकों में है, पर भारतेन्दु ने केवल एक श्लोक में ही नान्दी दी है। अन्त में भरत-वाक्य में भी थोड़ा परिवर्तन कर दिया गया है। यह अनुवाद भारतेन्दु की इससे पहले की सभी अनूदित रचनाओं से अधिक सफल है।

सन् १८७५ में विशाखदत्त के सुप्रसिद्ध संस्कृत नाटक 'मुद्राराक्षस' का भारतेन्दु ने अनुवाद किया। सारे संस्कृत-नाटक-साहित्य में अपने ढंग का एकमात्र नाटक होने के कारण 'मुद्राराक्षस' का विशिष्ट स्थान और महत्त्व है। मूल संस्कृत नाटक तथा भारतेन्दु के अनुवाद के तुलनात्मक अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि इस लम्बे और क्लिष्ट राजनीतिक नाटक का अनुवाद करने में भारतेन्दु को स्तुत्य सफलता प्राप्त हुई है। अनुवाद में मूल नाटक के प्रभाव, शक्ति और रोचकता की रक्षा हुई है, और यदि यह स्वतन्त्र रूप से पढ़ा जाय तो यह अनुवाद मौलिक-सा ही प्रतीत होता है। अपने अनुवाद में भारतेन्दु ने कहीं-कहीं छोटे-मोटे परिवर्तन और परिवर्द्धन कर दिये हैं। उदाहरण के लिए मूल संस्कृत[1] नाटक में भारतेन्दु के अनुवाद के नान्दी के निम्नलिखित पद के लिए कोई श्लोक नहीं है—

१. निर्णय सागर प्रेस द्वारा प्रकाशित तथा काशीनाथ त्रिम्बक तेलंग द्वारा सम्पादित 'मुद्राराक्षस' (आठवाँ संस्करण) का तुलना के लिए उपयोग किया गया है।

भरित नेह नव नीर नित, बरसत सुरस अथोर।
जयति अपूरब घन कोऊ, लखि नाचत मन मोर॥

'प्रेमजोगिनी' और 'कर्पूर-मंजरी' के अनुवादों में भी भारतेन्दु ने इस पद्य का प्रयोग किया है। इससे यह स्पष्ट है कि भारतेन्दु ने अनुवादों में यह पद अपनी ओर से बढ़ाया है।

अनुवाद का अगला पद्य मूल संस्कृत श्लोक का बड़ा सुन्दर और अविकल अनुवाद है, जैसा कि मिलान करने से देखा जा सकता है—

'कौन है सीस पै?' 'चन्द्रकला', 'कहा याको है नाम ? यही त्रिपुरारी।'
'हां यही नाम है, भूल गई किमि जानत हू तुम प्रान-पियारी॥'
'नारिहिं पूछत चंद्रहि नाहिं' 'कहै विजया जदि चंद्र लबारी।'
यों गिरिजै छलि गंग छिपावत ईस हरौ सब पीर तुम्हारी॥

भारतेन्दु के ऊपर के अनूदित पद के लिए मूल संस्कृत का श्लोक इस प्रकार है—

धन्या केयं स्थिता ते शिरसि शशिकला किं नु नामैतदस्या
नामैवास्यास्तदेतत्परिचितमपि ते विस्मृतं कस्य हेतोः।
नारीं पृच्छामि नेन्दुं कथयतु विजया न प्रमाणं यदीन्दु-
र्देव्या निह्नोतुमिच्छोरिति सुरसरितं शाठ्यमव्याद्विभोर्वः॥

इसके अतिरिक्त मूल नाटक में छठे अंक का अन्त इस श्लोक के साथ होता है—

राक्षसः—(स्वगतम्) अहो दुर्बोधश्चाणक्यबटोर्नीतिमार्गः। कुतः,
यदि च शकटो नीतः शत्रोर्मतेन ममान्तिकं
किमिति निहतः क्रोधावेशाद्वधाधिकृतो जनः।
अथ न कृतकं तादृक्कष्टं कथं नु विभावये-
दिति मम मतिस्तर्कारूढा न पश्यति निश्चयम्॥
(विचिन्त्य) नायं निस्त्रिंशकालः प्रथममिह कृते पातकानां विघाते,
नीतिः कालान्तरेण प्रकटयति फलं किं तया कार्यमत्र।
औदासीन्यं न युक्तं प्रियसुहृदि गते मत्कृतामेव घोरां
व्यापत्तिं ज्ञातमस्य स्वतनुमहमिमां निष्क्रयं कल्पयामि॥
(इति निष्क्रान्ताः सर्वे)

भारतेन्दु ने इस अंश का अनुवाद इस प्रकार किया है—

राक्षस—(आप-ही-आप) उस चाणक्य वटु का नीतिमार्ग कुछ समझ नहीं पड़ता, क्योंकि—

सकट बच्यौ जो ता कहे तो क्यों घातक-घात ।
जाल भयो का खेल मैं कछु समुझ्यौ नहिं जात ॥

(सोचकर)

नहिं शस्त्र को यह काल यासों मीत जीवन जाइहै ।
जौ नीति सोचें या समय तो व्यर्थ समय नसाइहै ॥
चुप रहनहु नहिं जोग जब मम हित बिपति चंदन परयौ ।
तासों बचावन प्रियहि अब हम देह निज विक्रय करयौ ॥

(तलवार फेंककर जाता है)

जैसा कि तुलना करने से ज्ञात होता है, भारतेन्दु द्वारा किया हुआ इस खण्ड का अनुवाद, विशेषतः पहले श्लोक का अनुवाद, ठीक मूल के अनुसार नहीं है । इसमें केवल मूल के भाव की रक्षा हुई है । इसी प्रकार सातवें अंक के आरम्भ में मूल संस्कृत नाटक में चाण्डाल द्वारा प्राकृत के दो श्लोक कहलाये गये हैं, परन्तु भारतेन्दु ने जहाँ दूसरे श्लोक का अनुवाद तो पद्य में ही किया है, वहाँ प्रथम श्लोक का अनुवाद गद्य में दिया है । इसी प्रकार सातवें अंक के अन्त में भी मूल और अनुवाद में बड़ा अन्तर है ।

मूल संस्कृत नाटक तथा भारतेन्दु के अनुवाद में इस भांति के अन्तर भारी संख्या में मिलते हैं, परन्तु ये विशेष महत्त्व के नहीं । यहाँ भी यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि भारतेन्दु ने यह परिवर्तन जान बूझकर किये हैं अथवा उन्हों ने संस्कृत नाटक के किसी अन्य संस्करण का अनुवाद किया है, जिसमें यह मूल भाग भारतेन्दु के अनुवाद के अनुसार ही रहे हों (क्योंकि 'शकुन्तला' आदि संस्कृत नाटकों के भिन्न-भिन्न संस्करणों में भारी अन्तर पाया जाता है) । कुछ भी हो, भारतेन्दु का यह अनुवाद बड़ा सफल, सजीव और सुन्दर है, जैसा कि ऊपर दिये गये उदाहरणों से तथा निम्नलिखित उद्धरण से स्पष्ट है—

उपजे आछे खेत में मूरखहू के धान ।
सघन होन में धान के चहिय न गुनी किसान ॥

इस अनुवाद के लिए मूल संस्कृत श्लोक यह है—

चीयते बालिशस्यापि सत्क्षेत्रपतिता कृषिः ।
न शालेः स्तम्बकरिता वप्तुर्गुणमपेक्षते ॥[1]

ग्रन्थ की भूमिका में भारतेन्दु ने नाटक की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि दे दी है और परिशिष्ट में कुछ गीत दिये हैं जो कि दो अंकों के बीच में अथवा अन्य

१. प्रथम अंक का तीसरा श्लोक ।

उपयुक्त स्थलों पर गाये जा सकते हैं, जिससे सामाजिकों को नाटक के षड्यन्त्रों और युद्ध-विग्रह के वातावरण से विश्राम मिल सके।

राजशेखर का 'कर्पूरमंजरी' भी संस्कृत साहित्य में अपने ढंग का एक ही नाटक है। यह सारे का सारा प्राकृत में है, और इसमें कुल चार अंक हैं। शृंगार की प्रधानता के साथ-साथ इसमें हास्य रस का भी काफ़ी पुट है। भारतेन्दु ने इस नाटक का अनुवाद सन् १८७६ में किया, जो कि बड़ा सुन्दर और सजीव बन पड़ा है। अनुवाद मूल का अक्षरशः अनुसरण नहीं करता; इसमें देव, पद्माकर आदि प्रसिद्ध कवियों के कुछेक छन्दों का भी प्रयोग किया गया है।

संस्कृत, प्राकृत तथा बँगला के नाटकों के अनुवादों में पर्याप्त सफलता प्राप्त करने के अनन्तर भारतेन्दु ने अपना ध्यान अंग्रेज़ी नाटक की ओर दिया और सन् १८८० में शेक्सपियर के प्रसिद्ध नाटक 'मर्चेंट ऑव वेनिस' का 'दुर्लभ बन्धु' शीर्षक से हिन्दी में अनुवाद किया। इस नाटक का अनुवाद भारतेन्दु ने अपने एक ग्रेजूएट मित्र बालेश्वरप्रसाद की सहायता से किया, और साथ में बँगला नाटक 'सुर लता' को भी अपने अनुवाद का आधार बनाया। परन्तु फिर भी न जाने किस कारण से उन्होंने इस अनुवाद को अपूर्ण ही छोड़ दिया। तदनन्तर पं० रमाशंकर व्यास और बाबू राधाकृष्णदास ने इसे समाप्त किया। इस अनुवाद पर हम छठे अध्याय में अन्य अनुवादों के साथ विचार करेंगे।

सारांश यह कहा जा सकता है कि भारतेन्दु-कृत अनुवादों का मूल नाटकों को सामने रखकर सावधानी के साथ अध्ययन करने से भारतेन्दु द्वारा इस क्षेत्र में प्राप्त सफलता निस्संदेह सिद्ध हो जाती है। अनुवादों में छोटी-छोटी त्रुटियों के रहते हुए भी सामूहिक रूप में भारतेन्दु की योग्यता और अनुवाद-कुशलता को मानने से इन्कार नहीं किया जा सकता। अनुवादों की सफलता से भारतेन्दु का हिन्दी, संस्कृत और प्राकृत आदि भाषाओं पर यथेष्ट अधिकार स्वतः सिद्ध हो जाता है। यदि सच देखा जाय तो मौलिक नाटक लिखने की अपेक्षा किसी नाटक का सफल अनुवाद करना अधिक कठिन काम है, जिसमें मूल के अर्थों के साथ सरलता और रोचकता की रक्षा भी हो सके। अतः जहाँ सामान्य रूप में भारतेन्दु का अनुवाद के क्षेत्र में साहस और परिश्रम सराहनीय है, वहाँ 'मुद्राराक्षस' जैसे क्लिष्ट और जटिल संस्कृत नाटक के सुन्दर सफल अनुवाद से विशेषतः भारतेन्दु की कीर्ति-वृद्धि हुई है।

भारतेन्दु के मौलिक नाटक

भारतेन्दु के मौलिक नाटकों की संख्या दस है, और ये चार उपवर्गों में बाँटे

जा सकते हैं—(१) पौराणिक नाटक, (२) सामाजिक तथा सामाजिक-राजनीतिक नाटक, (३) ऐतिहासिक नाटक, तथा (४) प्रहसन ।

'सत्य-हरिश्चन्द्र' (१८७५) जो कि भारतेन्दु की उत्कृष्ट रचनाओं में से है, उनका पहला पौराणिक नाटक है। यह नाटक सत्यवादी राजा हरिश्चन्द्र की प्रसिद्ध पौराणिक कथा के आधार पर लिखा गया है, परन्तु क्षेमीश्वर के संस्कृत नाटक 'चण्डकौशिक'[1] की छाया भी इस पर पड़ी है । आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इस नाटक को अनूदित मानते हुए लिखा है—

"सत्यहरिश्चन्द्र मौलिक समझा जाता है, पर हमने एक पुराना बँगला नाटक देखा है जिसका यह अनुवाद कहा जा सकता है।"[2]

परन्तु शुक्ल जी ने उस बँगला नाटक अथवा उसके प्राप्तिस्थान आदि के विषय में कुछ नहीं लिखा। इसलिए उनका यह मत आलोचनात्मक दृष्टि से विशेष उपयोगी और महत्त्वपूर्ण नहीं है। दूसरी ओर बाबू श्यामसुन्दरदास[3] का विचार है कि 'चण्डकौशिक' तथा 'सत्यहरिश्चन्द्र' के मूल आधार तथा उद्देश्य में भारी अन्तर होने के कारण एक को दूसरे का अनुवाद कहना अनुचित है । इस प्रकार बाबू जी के मतानुसार 'सत्यहरिचन्द्र' को मौलिक रचना मानना अधिक उपयुक्त होगा। बाबू ब्रजरत्नदास[4] का मत भी यह है कि "सत्यहरिश्चन्द्र चण्डकौशिक का अनुवाद कहा ही नहीं जा सकता, क्योंकि कथा-वस्तु में घटना-परिवर्तन कर दिया गया है।"

स्वयं भारतेन्दु ने अपने नाटक के विषय में भूमिका में इस प्रकार लिखा है—"राजा हरिश्चन्द्र सूर्यवंश का अट्ठाईसवाँ राजा···था ।···इसकी कथा शास्त्रों में बहुत प्रसिद्ध है और संस्कृत में राजा महिपालदेव के समय में आर्य क्षेमीश्वर कवि ने चण्डकौशिक नाटक उन्हीं हरिश्चन्द्र के चरित्र में बनाया है।"

इस प्रकार जहाँ भारतेन्दु ने क्षेमीश्वर के 'चण्डकौशिक' का नाम लिया है, वहाँ इस भूमिका में अथवा अन्यत्र कहीं पर भी अपने नाटक को उपर्युक्त संस्कृत नाटक का अनुवाद नहीं कहा या माना। यदि 'सत्यहरिश्चन्द्र' अनूदित होता तो भारतेन्दु जैसा सत्यप्रिय और स्पष्टवक्ता विद्वान् इस बात को प्रकट करने में संकोच न करता। जब अन्य अनूदित नाटकों को अनुवाद मानने में

---

१. देखिए 'सत्यहरिश्चन्द्र' की भूमिका। २. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पंजाब संस्करण, पृष्ठ ३९२–९३ । ३. बाबू श्यामसुन्दरदास द्वारा सम्पादित 'भारतेन्दु-नाटकावली' भूमिका, पृष्ठ ५२–५३ । ४. बाबू ब्रजरत्नदास द्वारा संपादित 'भारतेन्दु-नाटकावली' प्रथम भाग, पृष्ठ ४३ ।

उन्होंने संकोच नहीं किया तो इस नाटक के विषय में उन्हें सत्य को छिपाने की क्या आवश्यकता थी ?

इसके अतिरिक्त भारतेन्दु के 'सत्य-हरिश्चन्द्र' तथा क्षेमीश्वर-रचित 'चण्डकौशिक' के सूक्ष्म तुलनात्मक अध्ययन से भी यही निष्कर्ष निकलता है कि भारतेन्दु का नाटक किसी प्रकार भी क्षेमीश्वर के नाटक का अनुवाद नहीं। अपितु उपरोक्त दोनों नाटकों की विभिन्नताएँ इनकी परस्पर समानताओं की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण और स्पष्ट हैं। उदाहरण के लिए जहाँ क्षेमीश्वर के नाटक का उद्देश्य विश्वामित्र के चरित्र को महत्त्व देना है, वहाँ भारतेन्दु के नाटक का लक्ष्य हरिश्चन्द्र के चरित्र को उज्ज्वल और गौरवान्वित करना है। फिर 'चण्डकौशिक' में पाँच अंक हैं जब कि 'सत्य-हरिश्चन्द्र' में केवल चार ही अंक हैं। इसके अतिरिक्त 'चण्डकौशिक' की कई एक घटनाओं और प्रसंगों का 'सत्यहरिश्चन्द्र' में अभाव है, और 'सत्यहरिश्चन्द्र' में वर्णित कई एक घटनाओं का क्षेमीश्वर के नाटक में उल्लेख नहीं है। डा० सोमनाथ गुप्त भी दोनों नाटकों के कथानक, चरित्र-चित्रण और कार्य-व्यापार आदि पर विस्तारपूर्वक विचार करने के पश्चात् इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं—

"अतएव कथावस्तु, चरित्र-चित्रण, उद्देश्य और इन सब के विकास एवं प्रतिपादन को देखकर यही निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि 'सत्यहरिश्चन्द्र' मौलिक रचना न होकर रूपान्तरित रचना है, जिसमें लेखक की मौलिकता अधिक है और अनुवाद की मात्रा कम।"[1]

जैसा कि स्वयं भारतेन्दु ने नाटक की भूमिका में संकेत किया है, यह नाटक विशेष रूप से बालकों के लिए अभिप्रेत है। अतः शृंगार रस का इसमें सर्वथा अभाव है। विश्वविद्यालयों द्वारा समय-समय पर यह नाटक विभिन्न परीक्षाओं के लिए पाठ्य-पुस्तक नियत किया जा चुका है। इस नाटक में भारतेन्दु ने सत्य के आदर्श और उसको परास्त करने की भावना के संघर्ष का चित्रण किया है। नाटक के नायक राजा हरिश्चन्द्र अपने आदर्श सत्यव्रत का पालन करने के लिए अपने राज्य-वैभव, सुख-समृद्धि, यहाँ तक कि पत्नी और पुत्र का भी परित्याग कर देते हैं। स्वयं अनेक कष्टों और यातनाओं को सहन करते हैं और अन्त में इस कठिन परीक्षा में सफलता-सहित उत्तीर्ण होते हैं। विरोधी पात्र विश्वामित्र नायक को अपने आदर्श से विचलित करने के लिए उसे कष्ट-पर-कष्ट देता है, परन्तु अन्त में अपनी हार मानकर और राजा के दृढ़ सत्य-व्रत, सहनशीलता और धैर्य-

१. हिन्दी-नाटक-साहित्य का इतिहास, पृष्ठ ४९

शालिता से प्रसन्न होकर उसका राज्य-वैभव उसको सहर्ष लौटा देता है।

स्पष्टतः इस नाटक के प्रमुख पात्रों का अपना विशिष्ट व्यक्तित्व नहीं है। वे भिन्न-भिन्न भावनाओं के प्रतीक मात्र बनकर रह गये हैं। उदाहरण के लिए राजा हरिश्चन्द्र सत्यप्रियता और प्रण-पालन के आदर्श के प्रतीक हैं। विश्वामित्र भी अपने व्यक्तित्व को खोकर केवल उस आदर्श को परास्त करने की उद्दाम भावना के प्रतीक मात्र बन कर रह गये हैं। इसी प्रकार शैव्या भी एक आदर्श पतिपरायणा सती पत्नी के रूप में आने के कारण अपनी विशिष्टता से प्रायः रहित है।

नाटक का आरम्भ नान्दी तथा प्रस्तावना के साथ होता है, और अंकों का विभाजन भी दृश्यों में नहीं किया गया। इन बातों में प्राचीन नाट्य-पद्धति का पालन हुआ है। परन्तु इसमें केवल चार ही अंक हैं, जिससे कदाचित् पाश्चात्त्य प्रभाव का संकेत मिलता है। दूसरे, प्रचलित नियमों के अनुसार नाटक के अंक आकार में क्रमशः छोटे होने चाहिएं परन्तु प्रस्तुत नाटक का अन्तिम अंक शेष सब अंकों की अपेक्षा लम्बा है। इसके अतिरिक्त नाटक में एक स्थान पर काल-दोष भी दृष्टिगोचर होता है। तृतीय अंक में नाटककार ने गङ्गा का वर्णन बड़े सुन्दर ढंग से किया है। परन्तु उसका ध्यान इस बात की ओर नहीं गया कि राजा हरिश्चन्द्र गङ्गा नदी को इस पृथ्वी पर लाने वाले राजा भगीरथ के पूर्वज थे। तब हरिश्चन्द्र के काल में गङ्गा की कल्पना और उसका वर्णन करना किस प्रकार ठीक माना जा सकता है।

'श्रीचन्द्रावली' (१८७६) भारतेन्दु का दूसरा पौराणिक नाटक है। इसमें भी चार अंक हैं और नाटक का आरम्भ प्राचीन नाट्य-पद्धति के अनुसार नान्दी, प्रस्तावना और विष्कंभक के साथ होता है। नाटक में शृंगार रस की प्रधानता है; परन्तु शृंगार के वियोग पक्ष का ही वर्णन है, संयोग केवल अन्त में ही दिखाया गया है। नाटक की नायिका चन्द्रावली है जो कि अपने प्रियतम भगवान् कृष्ण से मिलने के लिए उत्कंठित है परन्तु उसका प्रेम आध्यात्मिक है, वासना-जन्य नहीं है जैसा कि नाटककार ने स्वयं 'समर्पण' में लिखा है—"इसमें तुम्हारे उस प्रेम का वर्णन है, इस प्रेम का नहीं जो संसार में प्रचलित है।"

नाट्यकला की दृष्टि से यह रचना विशेष सफल या निर्दोष नहीं कही जा सकती। इसके अत्यन्त लम्बे भाषण (उदाहरण के लिए प्रथम अंक के विष्कंभक में शुकदेव का लम्बा स्वगत भाषण, दूसरे और तीसरे अंकों में चन्द्रावली के लम्बे प्रकट तथा स्वगत भाषण इत्यादि) अधिकांश सरल और

सरस होने पर भी नाटकीय प्रभाव को नष्ट करते हैं। दूसरे, नाटिका में केवल शृंगार का ही प्रतिपादन होने के कारण कार्य की विविधता या अनेकरूपता के दर्शन नहीं होते। इसमें कथा-वैचित्र्य कुछ भी नहीं है, यद्यपि नीरसता का परिहार सरस शब्दावली से हो जाता है। हरिश्चन्द्र के गङ्गा-वर्णन की भाँति ललिता द्वारा यमुना-वर्णन भी सुन्दर और काव्योपयोगी होते हुए भी नाटक के लिए उपयुक्त नहीं कहा जा सकता। 'सत्यहरिश्चन्द्र' की भाँति इस नाटिका में भी भारतेन्दु ने न तो संस्कृत नाट्य-शास्त्र के नियमों का दृढ़ता से पालन किया है, और न ही पाश्चात्त्य नाट्य-विधान का पूर्णतया अनुसरण किया है। इन दोनों के अतिरिक्त 'चन्द्रावली' पर रासलीला का प्रभाव भी स्पष्ट लक्षित है। नाटकीय दृष्टिकोण से दोषयुक्त होने पर भी भक्ति-भाव की प्रधानता एवं उत्कृष्टता के कारण यह नाटिका भगवत्प्रेमियों और श्रद्धालु जनों में बहुत सम्मानित रही है, और इसका संस्कृत तथा व्रजभाषा में अनुवाद भी हो चुका है।

भारतेन्दु का अगला पौराणिक नाटक 'सती प्रताप' (१८८४) है। यह भारतेन्दु की अंतिम नाटकीय रचना है, जिसे वे चार दृश्य लिखकर अपूर्ण छोड़ गये। बाद में सन् १८९२ में बाबू राधाकृष्णदास ने इसमें तीन दृश्य और जोड़ कर इसको पूर्ण किया। नाटक में सती सावित्री तथा सत्यवान के आदर्श प्रेम का तथा सच्चे प्रेम की मृत्यु पर विजय-प्राप्ति का वर्णन है। धार्मिक प्रवृत्ति के लोगों, विशेषत: स्त्रियों, के लिए यह नाटक विशेष रोचक और उपयोगी है।

भारतेन्दु के पौराणिक नाटकों से निपट कर अब हम उन नाटकों पर विचार करेंगे, जिनमें उन्होंने सामाजिक अथवा राजनीतिक विषयों और समस्याओं का प्रतिपादन किया है। इस वर्ग के नाटकों में 'भारत-दुर्दशा' (१८७६) सर्वोत्कृष्ट है। इस नाटक में भारतेन्दु ने देश की हीन दशा पर शोक और चिन्ता प्रकट की है। यह हिन्दी का सर्वप्रथम नाटक है जिसमें राजनीतिक विषय को नाटक की वस्तु का आधार बनाया गया है। इस नाटक के सभी पात्र प्रतीक हैं और भारत, भारतदुर्दैव, रोग, आलस्य, अंधकार, निर्लज्जता आदि के मानवीकरण हैं। इस नाटक के अध्ययन से लेखक के भाषा पर असाधारण अधिकार और भावों की निर्भीकतापूर्वक अभिव्यक्ति का परिचय मिलता है। लेखक ने नाटक का आरम्भ बड़े सशक्त और प्रभावोत्पादक ढंग से किया है—

रोवहु सब मिलिकै आवहु भारत भाई।
हा हा! भारत-दुर्दशा न देखी जाई॥
सब के पहिले जेहि ईश्वर धनबल दीनो।
सब के पहिले जेहि सभ्य विधाता कीनो॥

सब के पहिले जो रूप-रंग-रस-भीनो।
सब के पहिले विद्याफल जिन गहि लीनो ।।
अब सब के पीछे सोई परत लखाई।
हा हा ! भारत-दुर्दशा न देखी जाई ।।

चौथे अंक में नाटककार ने प्रतीक पात्रो के रूप में देश की भिन्न-भिन्न कुरीतियों और दोषों का वर्णन किया है, जिनमें रोग, आलस्य, मदिरा, निर्धनता और अविद्या प्रमुख हैं। नाटककार ने यह दिखाया है कि ये दोष-रूपी पात्र देश के भाग्य को दबाये रखने में प्रयत्नशील हैं। नाटक के अन्तिम अंक में लेखक ने बड़ी ओजपूर्ण शैली में भारत के अतीत गौरव और महिमा का तथा वर्तमान पीड़ित और शोचनीय अवस्था का तुलनात्मक चित्र प्रस्तुत किया है। इसका अभिप्राय दर्शकों और पाठकों के मन में देशप्रेम की भावना को जागृत करना है। सोये हुए भारतवासियों को जगाने तथा उनके हृदय में देश-भक्ति की ज्वाला को प्रचण्ड करने के इसी उद्देश्य से नाटककार ने जान बूझकर नाटक का अन्त दु:खमय किया है।

नाटक यद्यपि विशेष लम्बा नहीं है, तथापि नाटककार ने इसका विभाजन छः[1] अंकों में किया है। परन्तु यह छः अंक बिना किसी विशेष आपत्ति के छः दृश्य माने जा सकते हैं, और 'भारत-दुर्दशा' छः दृश्यों का सुन्दर एकांकी माना जा सकता है। इस नाटक में कई एक लम्बे भाषण हैं (उदाहरण के लिए छटे अंक में भारत-भाग्य का भाषण तथा चौथे अंक में आलस्य और मदिरा के संभाषण), जो कि नाटकीय प्रभाव के बाधक हैं। बीच-बीच में दर्शकों को प्रभावित करने के लिए तथा कहीं-कहीं उन्हें उपदेश अथवा चेतावनी देने के उद्देश्य से प्रभावशाली पद्यमय वर्णन भी जोड़ दिये गये हैं।

१८७७ ई० में भारतेन्दु ने 'भारत-जननी' की रचना की। यह नाटक बँगला के 'भारतमाता' के आधार पर रचा गया है। कहा जाता है[2] कि यह नाटक मूल रूप में भारतेन्दु के किसी मित्र द्वारा लिखा गया था, और संशोधन के लिए भारतेन्दु को सौंपा गया था। परन्तु यह इतना निकृष्ट था कि भारतेन्दु ने इसका संशोधन करते-करते इसे सर्वथा बदल डाला। इस प्रकार प्रधानतया भारतेन्दु की रचना होने के कारण यह नाटक भारतेन्दु-कृत ही कहलाया।

---

१. इस नाटक में छः अंक हैं, दस नहीं, जैसा कि डा० इन्द्रनाथ मदान ने भूल से अपने 'माडर्न हिन्दी लिटरेचर' के पृष्ठ ६५ पर लिख दिया है।

२. बाबू ब्रजरत्नदास : हिन्दी-नाट्य-साहित्य, पृष्ठ ६४

'भारत-जननी' छोटा-सा ऑपेरा (गीति-नाट्य) है और इसमें केवल एक ही दृश्य है। इसमें भी भारतवर्ष की खण्डित तथा करुण दशा का वर्णन है, जिसका कारण अधिकांश में भारतवासियों की परस्पर ईर्ष्या और द्वेष है। अन्त में देशवासियों से देश-भक्ति तथा एकता के लिए अनुरोध किया गया है—

धैर्य—···हे भ्रातृगण ! अब उठो और जननी के दुःखानल के निर्वाण का प्रयत्न करो। अभिमान, लोभ, अपमान, आत्म-समाज-प्रशंसा, परजाति-निन्दा, इन सबका सावधानपूर्वक परित्याग करो, धैर्य का अवलंबन करो, सब कोई धैर्य को धारण करो, भाई अवश्य तुम लोगों की कांक्षा पूरी होगी, धीरज धरो, धीरज धरो।"

संस्कृत नाटकों के भरत-वाक्य के ढंग पर भारत-माता अन्त में भगवान् से देश के खोये हुए गौरव और उन्नति को फिर से स्थापित करने की प्रार्थना करती है—

भारत-माता—बल कला कौशल अमित विद्या वत्स मेरे नित लहैं।
पुनि हृदय-ज्ञान-प्रकाश तें अज्ञान-तम तुरतहिं दहैं॥
तजि द्वेष ईर्ष्या द्रोह निन्दा देश उन्नति सब चहैं।
अभिलाष यह जिय पूर्ववत् धन धन्य मोहि सबही कहैं॥

'प्रेम-जोगिनी' (१८७४) भी एक छोटा-सा अपूर्ण नाटक है, जिसमें कुल चार दृश्य हैं। इसमें भारतेन्दु ने अपने समय के बनारस नगर का यथार्थ चित्र अंकित किया है, और विशेष रूप से धार्मिक तथा अभिजात वर्ग के लोगों के व्यसनों और बुराइयों का उद्घाटन किया है। नाटक की प्रस्तावना में लेखक के व्यक्तिगत जीवन की कुछ झलक मिलती है। सूत्रधार के अधोलिखित भाषण में भारतेन्दु ने अपने हृदय के दुःखोद्गारों को निकालने का अवसर पाया है—

"सूत्रधार—···क्या सारे संसार के लोग सुखी रहें और हम लोगों का परम-बन्धु, पिता-मित्र-पुत्र सब भावनाओं से भावित, प्रेम की एकमात्र मूर्ति, सत्य का एकमात्र आश्रय, सौजन्य का एकमात्र पात्र, भारत का एकमात्र हित, हिन्दी का एकमात्र जनक, नाटकों का एकमात्र जीवनदाता हरिश्चन्द्र ही दुःखी हो। (नेत्र में जल भर कर)—हा ! सज्जन-शिरोमणे ! कुछ चिन्ता नहीं, तेरा तो बाना है कि 'कितना ही दुःख हो उसे सुख ही मानना।' लोभ के परित्याग के समय नाम और कीर्ति तक का परित्याग कर दिया है······स्मरण रखो, ये कीड़े ऐसे ही रहेंगे और तुम लोक-बहिष्कृत होकर भी इनके सिर पर पैर रखकर विहार करोगे। क्या तुम अपना वह कवित्त भूल गये—"कहैंगे सबै ही नैन नीर

भरि भरि पाछे प्यारे हरिचंद की कहानी रहि जायगी।" मित्र मैं जानता हूँ कि तुम पर सब आरोप व्यर्थ हैं" इत्यादि।

सूत्रधार के उपर्युक्त वक्तव्य का पूर्व भाग तो नाटककार की आत्मश्लाघा मात्र है। परन्तु उत्तर भाग में लेखक के पारिवारिक जीवन के कटु अनुभव तथा सम्बन्धी जनों द्वारा भारतेन्दु के तिरस्कार और उत्तराधिकार से वंचित करने आदि का स्पष्ट संकेत निहित है।

इस नाटक में कोई सुसम्बद्ध कथावस्तु नहीं है। अलग-अलग चार दृश्यों में बड़े रोचक और प्रभावोत्पादक ढंग से नाटककार ने काशी के लोगों तथा स्थलों के चार भिन्न-भिन्न चित्र अंकित किये हैं। अपूर्ण होते हुए भी इस नाटक की उत्कृष्टता का परिचय अनायास ही पाठक को हो जाता है। तत्कालीन काशी का निर्भीकता के साथ यथार्थ चित्रण करने के कारण यह नाटक हिन्दी का सर्वप्रथम यथार्थवादी नाटक कहा जा सकता है।

ऐतिहासिक विषय को लेकर भारतेन्दु ने केवल एक ही नाटक 'नीलदेवी' (१८८०) की रचना की। संक्षेप में इसकी कथावस्तु इस प्रकार है :— अब्दुश्शरीफ़ नामक मुसलमान शासक सूर्यदेव नामक क्षत्रिय राजकुमार को सम्मुख युद्ध में परास्त न कर सकने पर सहसा रात्रि में आक्रमण करके बन्दी बना लेता है, और तदनन्तर उसका वध कर देता है। सूर्यदेव की पत्नी नीलदेवी नर्तकी के वेश में शत्रु के शिविर में अपने पति का शव लेने तथा शत्रु से प्रतिशोध लेने के उद्देश्य से जाती है। अब्दुश्शरीफ़ खाँ उसके सौंदर्य तथा कला-कौशल पर मुग्ध हो जाता है, और जिस समय वह मस्ती की हालत में होता है, नीलदेवी उसकी छाती में छुरा घोंप कर उसकी हत्या कर देती है। इस प्रकार वह अपने पति के वध का बदला भी ले लेती है और अपने सतीत्व की रक्षा भी कर लेती है।

हिन्दी साहित्य में 'नीलदेवी' सर्वप्रथम ऐतिहासिक नाटक है। पहली बार ऐतिहासिक सामग्री को लेकर सफल नाटक लिखने के कारण भारतेन्दु का प्रयास विशेष प्रशंसनीय है। इसके अतिरिक्त यह हिन्दी का दूसरा दुःखान्त नाटक है। पहला दुःखान्त नाटक श्रीनिवासदास-रचित 'रणधीर और प्रेममोहिनी' है जो १८७७ में प्रकाशित हुआ था। भारतेन्दु का यह दुःखांत नाटक उसके दो तीन वर्ष पश्चात् लिखा गया। कुछ विद्वानों ने भूल से 'नीलदेवी' को ही हिन्दी का सर्वप्रथम दुःखांत नाटक मान लिया है। उन्होंने दोनों नाटकों के रचनाकाल पर ध्यान देने का कष्ट नहीं किया। इस नाटक में वीर, करुण तथा हास्य रस का अच्छा समन्वय हुआ है। सूर्यदेव और अब्दुश्शरीफ़ के अतिरिक्त नीलदेवी

का चरित्र भी बड़ी कुशलता से चित्रित किया गया है, जिससे 'अबला' कहाने वाली भारतीय ललनाओं के हृदय में वीरता और निर्भीकता का संचार करके उन्हें देश की दासता को दूर करने के लिए कटिबद्ध होने की प्रेरणा दी गई है। यह नाटक विशेषत: भारतीय स्त्रियों के लिए लिखा गया है। नाटक की भूमिका में भारतेन्दु ने लिखा है—

> **"......इससे यह शंका किसी को न हो कि मैं स्वप्न में भी यह इच्छा करता हूँ कि इन गौरांगी युवती-समूह की भाँति हमारी कुल-लक्ष्मी-गण भी लज्जा को तिलांजलि देकर अपने पति के साथ घूमें; किन्तु और बातों में जिस भाँति अंग्रेज़ी स्त्रियाँ सावधान होती हैं, पढ़ी-लिखी होती हैं, घर का काम-काज सम्भालती हैं, अपने सन्तानगण को शिक्षा देती हैं, अपना स्वत्व पहचानती हैं, अपनी जाति और अपने देश की सम्पत्ति-विपत्ति को समझती हैं, उसमें सहायता देती हैं, और इतने समुन्नत मनुष्य-जीवन को व्यर्थ गृहदास्य और कलह ही में नहीं खोतीं, उसी भाँति हमारी गृह-देवता भी वर्तमान हीनावस्था को उल्लंघन करके कुछ उन्नति प्राप्त करें, यही लालसा है।"**

इसी लक्ष्य को ध्यान में रखते हुए भारतेन्दु ने इस नाटक की रचना की। नीलदेवी के प्रतिशोध की अवतारणा करके नाटककार ने इसके कथानक को अधिक उपयोगी और मनोरंजक बना दिया है। जब नीलदेवी अपने कपटी शत्रु से प्रतिशोध लेने के विचार से कपट का वेश धारण करती है और 'शठे शाठ्यं समाचरेत्' के अनुसार आचरण करती है, तो वह न केवल अपने सतीत्व की रक्षा करती तथा शत्रु से बदला लेती है, अपितु संकेत रूप से भारत की स्त्रियों को अपनी मातृ-भूमि के शत्रुओं को यथोचित दण्ड देने तथा अपने देश तथा सतीत्व की रक्षा के लिए शस्त्र उठाने की प्रेरणा देती है। नाटक में स्त्री-चरित्र के आदर्श को महानता देकर अबला कहाने वाली जाति को सबला बनकर काम करने की भावना से प्रभावित करने का यत्न किया गया है।

भारतेन्दु के प्रहसन

सन् १८७३ में भारतेन्दु ने अपना पहला प्रहसन 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' लिखा। कहने की आवश्यकता नहीं कि यह हिन्दी का पहला प्रहसन है। इस प्रहसन में लेखक ने यह दिखाने का प्रयास किया है कि किस प्रकार लोग अपनी इन्द्रियों की तृप्ति के लिए मांसभक्षण, मदिरापान, परस्त्री-गमन आदि अनेक व्यसनों को करते हैं, और शास्त्रों के मनमाने उदाहरण देकर तथा

अर्थ निकाल कर उन व्यसनों को शास्त्र-विहित तथा अपने को निर्दोष सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं। इस प्रहसन का व्यंग्य बड़ा शिष्ट और सजीव है। नाटक में जगह-जगह पर संस्कृत के वाक्य मिलते हैं, जोकि अधिकतर शास्त्रों और तन्त्रों से उद्धृत किये गये हैं, और जिनको मांसभक्षी तथा व्यभिचारी लोग अपने दुष्कर्मों के समर्थन में प्रस्तुत करते हैं।

भारतेन्दु का दूसरा प्रहसन 'विषस्य विषमौषधम्' (१८७५-६) है। १८७५ में बड़ौदा के गायकवाड़-नरेश मल्हारराव को उसके अत्याचारों और कुशासन के कारण गद्दी से उतार कर उसके स्थान पर उसके पुत्र सयाजीराव को गद्दी पर बिठाया गया था। इसी घटना को लेकर भारतेन्दु ने इस प्रहसन की रचना की। इसमें उन्होंने छोटे-छोटे राज्यों के असन्तोषजनक तथा दोषपूर्ण शासन के मुक़ाबले में सुदृढ़ तथा सुयोग्य केन्द्रीय शासन का चित्र उपस्थित किया है। नाटककार ने बुरे शासक के राज्य-च्युत किये जाने पर हर्ष प्रकट किया है और ब्रिटिश शासन की उसके सुप्रबन्ध तथा शान्ति एवं सुरक्षा की व्यवस्था करने के कारण प्रशंसा भी की है। यह प्रहसन एकपात्री है, और केवल भण्डाचार्य ही आरम्भ से अन्त तक इसमें बोलता जाता है। प्रहसन का अन्त नीचे लिखे भरतवाक्य के साथ होता है, जिसमें भारतेन्दु के मनोभावों और अभिलाषा का स्पष्टीकरण हो जाता है—

परतिय परधन देखि न नृपगन चित्त चलावैं।
गाय दूध बहु देहिं मेघ सुभ जल बरसावैं॥
हरिपद में रति होइ, न दुख कोऊ कहुँ व्यापै।
अंगरेज़न को राज ईस इत थिर करि थापै॥
श्रुति पंथ चलैं सज्जन सबै सुखी होंहि तजि दुष्ट-भय।
कवि बानी थिर रस सों रहै भारत की नित होइ जय॥

भारतेन्दु का तीसरा प्रहसन 'अंधेर-नगरी' (१८८१) है। इसमें छोटे-छोटे छः अंक हैं जोकि छः दृश्य माने जा सकते हैं। इसमें व्यंग्य का कठोर कशाघात एक ऐसे राजा पर किया गया है, जिसके शासन में कोई व्यवस्था और प्रबन्ध नहीं, न्याय-अन्याय में भेद नहीं, अच्छे-बुरे की परख नहीं है। जहाँ सब चीज़ टके सेर बिकती है। इस प्रहसन में लोभ तथा विवेकहीनता के दुष्परिणामों की ओर संकेत करके विनोदपूर्ण ढंग से बहुत-सी प्रचलित बुराइयों पर आक्षेप किये गये हैं। परन्तु राजा का चरित्र, जैसा कि इस प्रहसन में अंकित किया गया है, सर्वथा अस्वाभाविक और अतिरंजित है।

कलात्मक दृष्टि से ये प्रहसन विशेष ऊंचे स्तर के नहीं हैं। फिर भी 'वैदिकी

हिंसा' और 'अंधेर नगरी' अच्छे प्रहसन कहे जा सकते हैं। इन दोनों का हास्य शिष्ट और संयत है और व्यंग्य में यथेष्ट शक्ति और तीखापन है। हिन्दी नाटक के क्षेत्र में प्रहसन लिखने की प्रथा चलाने वाले पहले व्यक्ति भारतेन्दु थे, इसलिए इस दिशा में उनका प्रयास स्तुत्य है और पथ-प्रदर्शन सराहनीय है।

भारतेन्दु के नाटकों का कला-विधान

सफल नाटककार बनने के लिए लेखक का कुशल अभिनेता अथवा निर्देशक होना बहुत उपयोगी और सहायक सिद्ध होता है। यदि लेखक अभिनेता या निर्देशक न भी हो, तो भी कम-से-कम उसे अभिनय तथा निर्देशन-संबंधी नाटकीय सिद्धान्तों और आवश्यकताओं का ज्ञान अवश्य होना चाहिए। अन्यथा उसकी रचना में बहुत-से अभिनय तथा रंगमंच-विषयक दोष आ जायेंगे। भारतेन्दु के उदाहरण से इस बात की विशेष पुष्टि हो जाती है। वे स्वयं उच्च कोटि के नाटककार होने के अतिरिक्त कुशल अभिनेता भी थे, और अपने नाटकों के अभिनय तथा निर्देशन में सदा सक्रिय भाग लिया करते थे। फलस्वरूप हम देखते हैं कि उनके नाटक अभिनेयता के विचार से प्रायः निर्दोष हैं, यद्यपि नाटकीय प्रभाव को क्षति पहुँचाने वाली कुछेक बातें (उदाहरण के लिए अति लम्बे संभाषण) उनके नाटकों में अवश्य मिलती हैं।

निस्संदेह इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि भारतेन्दु के नाटक कला की दृष्टि से सर्वश्रेष्ठ नहीं हैं। वे कालिदास अथवा शेक्सपियर के नाटकों की श्रेणी में रखने के योग्य भी नहीं। परन्तु इतना मानने के साथ ही हमें यह बात भी ध्यान में रखनी चाहिए कि आज, भारतेन्दु से लगभग एक सौ वर्ष पश्चात्, भी कालिदास तथा शेक्सपियर के नाटकों से टक्कर लेने वाले नाटक हिन्दी में कितने हैं ? उच्चतम कोटि के नाटकों के इस अभाव के कई कारण हैं। इनमें से एक प्रमुख कारण सुव्यवस्थित और नियमित रंगमंच का अभाव है। दूसरी बात यह है कि कालिदास तथा शेक्सपियर के समय में संस्कृत तथा अंग्रेज़ी अपने-अपने देश की राजभाषाएँ थीं। उनको तथा उनके साहित्य को राज्य तथा जनता की ओर से सभी प्रकार का प्रोत्साहन मिलता था। परन्तु हिन्दी को भारतेन्दु के समय तक वह प्रतिष्ठा प्राप्त न हो सकी थी। जनता भी दासवृत्ति तथा मुसलमानी शासन के शेष प्रभाव के कारण हिन्दी भाषा और साहित्य में विशेष रुचि न रखती थी। इसलिए शासन तथा प्रजा दोनों ही दिशाओं से प्रोत्साहन न पा सकने के कारण हिन्दी में नाटक की इतनी श्रीवृद्धि न हो सकी जितनी कि कालिदास और शेक्सपियर के काल में संस्कृत तथा

अंग्रेज़ी के नाटक की हो पाई। जब तक हिन्दी को पूर्णतया वही प्रतिष्ठित पद प्राप्त नहीं हो जाता और उसका सुव्यवस्थित रंगमंच स्थापित नहीं हो जाता तब तक हिन्दी में उच्च कोटि के बहुत से नाटकों की आशा करना व्यर्थ है।

इतना ही नहीं। भारतेन्दु के मार्ग में और भी अनेकों बाधाएँ और कठिनाइयाँ थीं। वास्तव में वे स्वयं ही हिन्दी नाटक के जन्मदाता थे। उनसे पूर्व न तो हिन्दी नाटक की कोई परम्परा ही थी, न ही हिन्दी नाटक का साहित्य उनके सामने था, जिसकी त्रुटियों को दूर करके वे उसे सर्वथा निर्दोष और उत्कृष्ट बना देते। हिन्दी नाटक के मार्ग को स्वयं प्रशस्त करके जितना अधिक सुन्दर रूप वे उसे दे सके, उन्हों ने दिया। आरम्भकालीन रचनाओं में प्रायः उतनी उत्कृष्टता के दर्शन नहीं हो सकते, जितना कि उनकी त्रुटियों को जानकर बाद में लिखी गई रचनाओं में। बिना किसी पूर्व आदर्श या दिग्दर्शन के पहली बार रचना करना कठिन होता है, बाद में सुधार करके उसे उत्कृष्ट और निर्दोष बना देना सरल होता है।

भारतेन्दु के सामने हिन्दी नाटक की आधारशिला रखने तथा स्वयं ही उस पर भवन निर्माण करने का भारी तथा कठिन काम था। ऐसी परिस्थिति में जितना काम वे नाटक के क्षेत्र में कर गये हैं, वही कम साहस और परिश्रम का नहीं है। उन्हों ने अनेक प्रकार के (पौराणिक, ऐतिहासिक, सामाजिक, राजनीतिक) मौलिक नाटकों की पहली बार रचना की। प्रहसन लिखने की परम्परा का सूत्रपात किया, तथा अनेक भाषाओं से नाटकों को अनूदित करने का परिश्रम किया। इसके साथ ही उन्होंने हिन्दी रंगमंच को भी प्रचलित करने की कोशिश की।

भारतेन्दु तत्कालीन जनता की भद्दी रुचि से भली भाँति परिचित थे। उस समय की जनता 'इन्दर-सभा' जैसे नाटकों के पीछे पागल हो रही थी। एक बार भारतेन्दु किसी पारसी थियेटर में 'शकुन्तला' नाटक का अभिनय देखने के लिए गये। संस्कृत के अमर कवि कालिदास के जगत्प्रसिद्ध नाटक 'शकुन्तला' के नाम पर दिखाये जाने वाले उस थियेटर के कुरुचिपूर्ण और कलाविहीन अभिनय को देखकर उनका कलाप्रेमी हृदय बड़ा खिन्न हुआ। और उन्होंने हिन्दी में भी साहित्यिक नाटकों की परम्परा का फिर से प्रचार करने का दृढ़ निश्चय किया।

---

१. 'भारतेन्दु-नाटकावली' संपादक बाबू ब्रजरत्नदास, द्वितीय भाग, पृष्ठ ४८०–४८१।

इस लक्ष्य को ध्यान में रखकर भारतेन्दु ने भारतीय नाट्यशास्त्र के ग्रन्थों का अनुशीलन किया। परंतु प्राचीन नियमों का उन्होंने शीघ्रता अथवा आवेश में अंधानुकरण नहीं किया। केवल जो कुछ उनके अपने समय के वातावरण तथा तत्कालीन रुचि को ग्राह्य था, वही उन्होंने प्राचीन नाट्य-सिद्धान्तों से ग्रहण किया। साथ में पाश्चात्य नाट्यकला से भी वे प्रभावित हुए। वास्तव में उन्हों ने प्राचीन नाट्य-विधान को अपनी नाट्य-कला का मूल आधार बनाया, और उसमें उचित अनुपात में पाश्चात्य तत्त्वों का समावेश किया। इसी के फलस्वरूप हम देखते हैं कि उनके कई नाटकों, उदाहरण के लिए 'सत्य-हरिश्चन्द्र', 'श्रीचन्द्रावली', 'प्रेम-जोगिनी' आदि में प्राचीन नियमों के अनुसार नान्दी तथा प्रस्तावना का उपयोग हुआ है। दूसरी ओर 'नीलदेवी', 'भारत-दुर्दशा', 'सती-प्रताप', 'अंधेर नगरी' आदि नाटकों में नान्दी तो किसी-न-किसी रूप में दे दी गई है, परन्तु प्रस्तावना का बहिष्कार कर दिया गया है। संस्कृत नाटकों का 'भरतवाक्य' भी 'भारतजननी', 'सत्यहरिश्चन्द्र', 'श्री-चन्द्रावली' आदि कुछ नाटकों में मिलता है जबकि 'नीलदेवी', 'भारतदुर्दशा' तथा 'अंधेरनगरी' आदि नाटकों में इसका अभाव है। इसके अतिरिक्त जिस प्रकार संस्कृत नाटकों में अंकों का विभाजन दृश्यों में (आधुनिक अर्थों में) नहीं होता, उसी प्रकार भारतेन्दु ने भी 'सत्य-हरिश्चन्द्र', 'श्रीचन्द्रावली', 'भारतदुर्दशा' आदि नाटकों में अंकों का विभाजन दृश्यों में नहीं किया। परंतु पाश्चात्य प्रभाव के अधीन 'प्रेमजोगिनी' और 'नीलदेवी' जैसे दो एक नाटकों में दृश्य-विभाजन भी कर दिया गया है। भारतीय नाट्य-शास्त्र में चुम्बन-आलिंगन, मृत्यु-वध, स्नान-यात्रा और युद्ध आदि दृश्यों का रंगमंच पर प्रदर्शन निषिद्ध माना गया है। भारतेन्दु ने भी अधिकतर इन निषेधों का पालन किया है, परंतु कहीं-कहीं पाश्चात्य नाटकों के प्रभाव के परिणामस्वरूप उनका उल्लंघन भी कर दिया है। उदाहरण के लिए 'नीलदेवी' में अब्दुश्शरीफ़ का वध रंगमंच पर ही दिखाया गया है और 'सत्यहरिश्चन्द्र' में रोहित का मृत शरीर भी रंगमंच पर ही लाया गया है। इसके अतिरिक्त 'नीलदेवी' नाटक को भारतीय सिद्धान्तों के विरुद्ध दुःखांत बनाकर भारतेन्दु ने पाश्चात्य प्रभाव का परिचय दिया है।

सारांश यह है कि यद्यपि भारतेन्दु के नाटकों पर प्रधान रूप से भारतीय नाट्यशास्त्र का ही प्रभाव दृष्टिगोचर होता है, तथापि पाश्चात्य नाट्य-विधान ने भी उनकी रचनाओं को कुछ मात्रा में प्रभावित किया है। इन दोनों के अतिरिक्त 'श्रीचन्द्रावली' पर रासलीला का तथा 'नीलदेवी' पर नौटंकी का प्रभाव भी लक्षित है।

कथावस्तु

भारतीय नाट्य-शास्त्र के अनुसार नाटक के तीन प्रधान तत्त्व माने गये हैं—कथावस्तु, नायक (व्यापक अर्थों में प्रमुख पात्रों का चरित्र-चित्रण) और रस। भारतेन्दु ने प्राचीन नियमों का अधिकांश पालन करते हुए भी इनके संबंध में अपनी मौलिकता और सृजनशक्ति का परिचय दिया है। कथावस्तु के विषय में हम देखते हैं कि संस्कृत के अधिकतर प्रसिद्ध नाटकों में (उदाहरण के लिए 'शकुन्तला', 'उत्तररामचरित', 'महावीरचरित', 'मुद्राराक्षस', 'स्वप्न-वासवदत्ता', 'वेणीसंहार' आदि) नाटककारों ने प्रख्यात वस्तु को ही अपनाया है। उत्पाद्य कथावस्तु के बहुत ही थोड़े उदाहरण संस्कृत-नाटक-साहित्य में मिलते हैं ('चारुदत्त', 'मृच्छकटिक' इत्यादि)।

दूसरे, संस्कृत नाटकों में वस्तु की अनेकरूपता या विविधता के दर्शन नहीं होते। वहां बार-बार राजाओं, रानियों, राजकुमारियों अथवा अन्य उच्च कुल के पात्रों पर ही कथावस्तु का आधार दृष्टिगत होता है। इस चलन के विपरीत भारतेन्दु ने अपने नाटकों की सामग्री जीवन के सभी क्षेत्रों से संकलित की है। 'सत्यहरिश्चन्द्र' और 'श्रीचन्द्रावली' आदि दो-एक नाटकों को छोड़कर भारतेन्दु के अधिकांश नाटकों के कथानक उत्पाद्य हैं, नाटककार की अपनी कल्पना से उद्‌भूत हैं। निश्चय ही भारतेन्दु ने अपनी कल्पनाशक्ति को विशाल और व्यापक क्षेत्र में विचरने का अवकाश देकर अपने नाटकों के लिए रंग-बिरंगे कथानकों की सृष्टि की है। इस प्रकार कथावस्तु के चुनाव में भारतेन्दु ने केवल परम्परागत नियमों के सीमित क्षेत्र का ही उल्लंघन नहीं किया, अपितु वे इस बात में अपने पूर्वकाल की नाटक नामधारी रचनाओं से भी बहुत आगे बढ़ गये हैं। जैसाकि हम तृतीय अध्याय में लिख चुके हैं, भारतेन्दु के पूर्वकाल के हिन्दी नाटकों की कथावस्तु अधिकतर धार्मिक अथवा पौराणिक होती थी। परन्तु भारतेन्दु-कृत नाटकों में से केवल तीन नाटकों ('सत्य-हरिश्चन्द्र', 'सतीप्रताप' और 'श्रीचंद्रावली') के कथानक इस पद्धति का अनुसरण करते हैं। इसके अतिरिक्त भारतेन्दु ने ऐतिहासिक विषयों पर, समसामयिक सामाजिक विषयों पर, राजनीतिक विषयों पर नाटक लिखे, तथा प्रहसनों की पहली बार रचना की, जिनमें व्यंग्य के साधन का पहली बार प्रयोग किया गया है। भारतेन्दु ने प्राचीन परंपरा की नियमित और सीमाबद्ध परिधि का उल्लंघन करके अपने समकालीन तथा परवर्ती लेखकों के सामने कथानकों की विविधता उपस्थित कर दी।

---

१. वस्तु नेता रसस्तेषां भेदकः।

चरित्र-चित्रण

भारतेन्दु ने अपने नाटकों में केवल कथानक के क्षेत्र को ही व्यापक नहीं बनाया, वरन् पात्रों के संकलन एवं चित्रण में भी विशाल और उदार दृष्टिकोण से काम लिया है। भारतीय नाट्यशास्त्र के नियमानुसार नाटक का नायक एक सर्वगुणसम्पन्न आदर्श पात्र होना चाहिए, जैसा कि 'दशरूपक' में दी गई इस परिभाषा से स्पष्ट है—

नेता विनीतो मधुरस्त्यागी दक्षः प्रियंवदः।
रक्तलोकः शुचिर्वाग्मी रूढवंशस्थिरो युवा॥
बुद्ध्युत्साहस्मृतिप्रज्ञाकलामानसमन्वितः ।
शूरो दृढश्च तेजस्वी शास्त्रचक्षुश्च धार्मिकः॥

उत्कृष्ट गुणों से सम्पन्न होने के अतिरिक्त नेता के लिए उच्चकुलोत्पन्न होना तथा ऊंचे सामाजिक स्तर का होना आवश्यक था। इस कारण संस्कृत के अधिकतर विख्यात नाटकों ('शकुन्तला', 'मालविकाग्निमित्र', 'विक्रमोर्वशीय', 'उत्तररामचरित', 'मुद्राराक्षस', 'वेणीसंहार' इत्यादि) में हमें बार-बार एक ही वर्ग के पात्र मिलते हैं। उनमें बहुधा राजाओं, रानियों, राजकुमारियों, मन्त्रियों, सेनापतियों तथा अन्य राजकर्मचारियों, पुरोहित तथा विदूषक आदि की ही पुनरावृत्ति मिलती है। परंतु भारतेन्दु ने इस प्राचीन परंपरा के प्रतिकूल अपने पात्रों का संकलन जीवन के सभी विभिन्न क्षेत्रों से किया है। राजाओं और अन्य कुलीन पात्रों के अतिरिक्त भारतेन्दु के नाटकों में साधारण स्थिति के तथा साधारण गुण-दोषों के पात्र भी भारी संख्या में मिलते हैं। राजाओं के चुनाव में भी भारतेन्दु ने केवल आदर्श व्यक्तियों को ही ग्रहण नहीं किया, उनके नाटकों में जहाँ एक ओर धर्मात्मा और आदर्श सत्यवादी हरिश्चन्द्र जैसे राजा के दर्शन होते हैं, वहाँ दूसरी ओर अब्दुश्शरीफ़ जैसे धूर्त और लम्पट अमीर के तथा 'अंधेरनगरी' जैसे विवेकहीन मूर्ख राजा के वर्णन भी मिलते हैं। इस प्रकार पात्रों के चुनाव में भारतेन्दु का दृष्टिकोण आदर्शवाद का कुछ प्रभाव रहते हुए भी यथार्थवादी और व्यापक है।

यद्यपि साधारण पात्रों का चित्रण भारतेन्दु ने यथार्थवादी ढंग से किया है, तथापि प्रमुख पात्रों का चित्रण प्रायः आदर्शवादी ही है। उदाहरण के लिए 'सत्यहरिश्चन्द्र' का नायक राजा हरिश्चन्द्र सत्य और धर्म का उच्चादर्श है। अपने विषय में वह स्वयं कहता है—

चंद टरै सूरज टरै, टरै जगत ब्यौहार।
पै दृढ़ श्रीहरिचंद को, टरै न सत्य विचार॥ (द्वितीयांक)

कड़ी परीक्षाएँ, दारुण दुःख और बड़े-से-बड़े कष्ट भी नायक के साहस और चरित्र-बल को विचलित करने में व्यर्थ सिद्ध होते हैं। इसी प्रकार विश्वामित्र भी क्रोध, अभिमान और निष्ठुरता की मूर्त्ति है। शैव्या भी आदर्श सती पत्नी है। वह दुःख-सुख में एक समान, अटल साहस और दृढ़ पति-भक्ति के साथ विपत्ति में पति का साथ देती है। पति के आदर्श सत्य-व्रत का वह बिना विमर्श के सहर्ष अनुमोदन करती है। अपने आदर्श पातिव्रतधर्म का पालन करने में उसे असह्य कष्टों और मानसिक वेदनाओं को सहन करना पड़ता है। अपने प्राण-प्यारे पुत्र की मृत्यु के हृदय-विदारक आघात को सहन करने पर भी उसके मुख से अपने पति के विरुद्ध एक कटु शब्द तक नहीं निकलता।

'श्रीचन्द्रावली' की नायिका चन्द्रावली भी अपने निःस्वार्थ प्रेम और भक्ति के कारण आदर्श प्रेमिका के रूप में उपस्थित होती है। वह अपने निष्ठुर प्रेमी के विरह में स्वयं दुःखी और पीड़ित रहना पसन्द करती है, परन्तु भगवान् से प्रार्थना करती है कि उसका प्रेमी श्रीकृष्ण उसके वियोग के कारण दुःखी न हो—

चन्द्रावली—(लम्बी सांस लेकर) सखी ! मैं जब आरसी में अपना मुँह देखती और अपना रंग पीला पाती थी, तब भगवान् से हाथ जोड़कर मनाती थी कि भगवान् मैं उस निर्दयी को चाहूँ पर वह मुझे न चाहे।" (प्रथम अंक)

दूसरे शब्दों में यह सच्चे प्रेम की पराकाष्ठा है जो कि वास्तव में आत्म-बलिदान का ही दूसरा नाम है। इसी प्रकार 'नीलदेवी' में यद्यपि नीलदेवी का चरित्र यथार्थवादी है (क्योंकि वह दुष्ट के साथ दुष्टता और धूर्तता का व्यवहार करती है), तो भी उसका पति सूर्यदेव आदर्श की भावना से प्रेरित है। वह कहता है—

सूर्य०—हे प्यारी, वे अधर्म से लड़ें, हम तो अधर्म नहीं कर सकते। हम आर्यवंशी लोग धर्म छोड़कर लड़ना क्या जानें।...... इत्यादि। (तीसरा दृश्य)

इस प्रकार जहां भारतेन्दु का चरित्र-चित्रण कुछ हद तक यथार्थवादी है, वहां उनके प्रमुख पात्र यथार्थवादी न होकर आदर्शवादी हैं। यह बताने की आवश्यकता नहीं कि चरित्र-चित्रण में आदर्शवाद की यह प्रवृत्ति भारतेन्दु पर संस्कृत नाटक के प्रभाव की द्योतक है। संस्कृत नाटकों का चरित्र-चित्रण और वातावरण आदर्शवादी है, और भारतेन्दु पर संस्कृत नाटक का प्रभाव

१. कीथ : संस्कृत ड्रामा, पृष्ठ २७८–२८२।

पर्याप्त मात्रा में पड़ा है। हिन्दी नाटकों में यथार्थवाद की प्रवृत्ति का पूर्ण विकास बीसवीं शताब्दी के दूसरे चरण में हुआ।[1]

रस

संस्कृत नाटकों में कथावस्तु और चरित्र-चित्रण के साथ रस-निष्पत्ति की ओर भी विशेष ध्यान दिया जाता था। परंतु भारतेन्दु के नाटकों में रस-निष्पत्ति की ओर इतना अधिक ध्यान नहीं दिया गया, न ही नाटक में रस की एकता अथवा प्रधानता के महत्त्व को ही उन्होंने स्वीकार किया है। संस्कृत साहित्य में नाटक को काव्य का एक भेद (दृश्य काव्य) मानने के कारण इसमें रस को विशेष महत्त्व दिया गया था। परन्तु भारतेन्दु ने अपने नाटकों को रोचक और अभिनयानुकूल बनाने की ओर अधिक ध्यान दिया है, रस-निष्पत्ति की ओर नहीं।

तथापि भिन्न-भिन्न रसों के वर्णन भारतेन्दु के नाटकों में अनेक स्थलों पर मिलते हैं। उदाहरण के लिए 'सत्यहरिश्चन्द्र' के चतुर्थांक में रोहित की मृत्यु पर शैव्या के मर्मभेदी हृदयविदारक विलाप से हृदय में अनायास ही करुण रस का संचार हो जाता है। इसी प्रकार श्मशान के इस वर्णन में भयानक रस का कैसा प्रभावोत्पादक वर्णन है—

हरिश्चन्द्र—वर्षा में नदी का भयंकर प्रवाह, सांझ होने से श्मशान के पीपल पर कौओं का एक संग अमंगल शब्द से कांव-कांव करना और रात के आगमन से सन्नाटे का समय चित्त में कैसी उदासी और भय उत्पन्न करता है। अंधकार बढ़ता ही जाता है। वर्षा के कारण इन श्मशानवासी मंडूकों का टर-टर करना भी कैसा डरावना मालूम होता है—

रुआ चहुंदिसि ररत डरत सुनि के नर-नारी।
फटफटाई दोउ पंख उलूकहु रटत पुकारी॥
अंधकारबस गिरत काक अरु चील करत रव।
गिद्ध-गरुड-गड़गिल्ल भजत लखि निकट भयद रव॥
रोअत सियार, गरजत नदी, स्वान भूंकि डरपावहीं।
संग दादुर झींगुर रुदन-ध्वनि मिलि स्वर तुमुल मचावहीं॥

('सत्यहरिश्चन्द्र', चतुर्थ अंक)

इस भयानक वर्णन के अनन्तर ही बीभत्स रस का वर्णन मिलता है। नीचे का वर्णन बीभत्स रस का उपयुक्त चित्र उपस्थित करता है—

---

१. देखिए, इक्कीसवां अध्याय।

"इस समय ये चिता भी कैसी भयंकर मालूम पड़ती है। किसी का सिर चिता से नीचे लटक रहा है, कहीं आंच से हाथ-पैर जलकर गिर पड़े हैं, कहीं शरीर आधा जला है, कहीं बिल्कुल कच्चा है······किसी का मुंह जल जाने से दांत निकला हुआ भयंकर हो रहा है" इत्यादि।

वीर, करुण, शांत आदि अन्य रसों का परिपाक भी भारतेन्दु के नाटकों में अच्छा हुआ है, और उनके उपयुक्त उदाहरण कई स्थलों पर मिलते हैं। हास्य रस की अवतारणा भी भारतेन्दु के नाटकों में प्रचुर मात्रा में हुई है। 'अंधेरनगरी' और 'वैदिकी हिंसा' जैसी हास्य-प्रधान रचनाओं के अतिरिक्त 'नीलदेवी', 'प्रेमजोगिनी' और 'भारत-दुर्दशा' आदि अन्य नाटकों में भी हास्य का अभाव नहीं है।

कथोपकथन

भारतेन्दु ने अपने कथोपकथन को यथासंभव यथार्थ और जनसाधारण का प्रतिदिन का वार्तालाप बनाने की चेष्टा की है। उनके कथोपकथन न पांडित्यपूर्ण हैं, न ही अलंकारों के बोझ से उनको भारी किया गया है। भारतेन्दु के पात्र प्रायः सरल तथा स्पष्ट ढंग में बातचीत करते हैं, और उनके संभाषण सजीव, सशक्त और गतिशील हैं, शिथिल अथवा भारी नहीं हैं। उदाहरण के लिए 'सत्यहरिश्चन्द्र' के प्रथमांक में इन्द्र और नारद का वार्तालाप, 'श्रीचन्द्रावली' के प्रथमांक में चन्द्रावली और ललिता का संभाषण, और प्रेम-जोगिनी' के प्रथम दृश्य में भिन-भिन्न पात्रों का संवाद—शक्ति, प्रवाह तथा विशदता के गुणों से युक्त हैं। परन्तु कहीं-कहीं पर भारतेन्दु के संभाषण बहुत लम्बे और अनाटकीय हो गये हैं। उदाहरण के लिए 'श्रीचन्द्राम्वली' के द्वितीयांक में शुकदेव का स्वगत-भाषण, 'सत्यहरिश्चन्द्र' के चतुर्थांक में पुत्र की मृत्यु पर शैव्या का विलाप, तीसरे और चौथे अंकों के आरंभ में हरिश्चन्द्र के स्वगत-भाषण आदि अपनी लम्बाई के कारण किसी प्रकार भी नाटकोचित नहीं कहे जा सकते। अपने-आप में प्रभावशाली और सरस होने पर भी ऐसे लम्बे भाषण नाटकीय प्रभाव में बाधक होते हैं।

भारतेन्दु के पात्रों के केवल स्वगत-भाषण ही बहुत लम्बे नहीं हैं, उनके संवादों में भी भारतेन्दु ने कई जगह लम्बे भाषण भरने से संकोच नहीं किया। उदाहरण के लिए 'प्रेमजोगिनी' के तीसरे दृश्य में सुधाकर का वक्तव्य आठ पृष्ठों तक चलता है। यद्यपि काशी का यह वर्णन बड़ा विशद, चित्रोपम और सजीव है, तथापि नाटक के दृष्टिकोण से यह अवश्य दोष ही माना जायेगा।

भाषा

नाट्य-विधान की भाँति भाषा के प्रयोग में भी भारतेन्दु ने मध्यवर्ती मार्ग का अवलम्बन किया है। भारतेन्दु से पूर्व जहाँ एक ओर राजा लक्ष्मणसिंह संस्कृत-मिश्रित शुद्ध हिन्दी के प्रयोग के पक्षपाती थे, वहाँ दूसरी ओर राजा शिवप्रसाद आदि विद्वान् उर्दू-प्रधान हिन्दी के प्रयोग पर ज़ोर देते थे। भारतेन्दु ने विवेक से काम लेते हुए इन दोनों के बीच के मार्ग को अपना कर फ़ारसी-अरबी के कठिन शब्दों का बहिष्कार किया किन्तु उर्दू के प्रचलित और उपयोगी शब्दों का उन्होंने निःसंकोच प्रयोग किया है। इसी प्रकार संस्कृत के कठिन शब्दों को भी उन्होंने अपनी रचनाओं में कम ही आने दिया है। उनकी भाषा प्रायः अवसरानुकूल और पात्रानुकूल होती है। कई अवसरों पर सरल शब्दों के छोटे-छोटे भावुकतापूर्ण वाक्य पाठक के हृदय पर मार्मिक प्रभाव डालते हैं, जैसा कि शैव्या के इस विलाप में—

> **"हाय बेटा! अरे आज तुझे किसने लूट लिया! हाय, मेरी बोलती चिड़िया कहाँ उड़ गई! हाय, अब मैं किसका मुख देखकर जीऊँगी। हाय, मेरी अंधी की लकड़ी कौन छीन ले गया। हाय, मेरा सुन्दर खिलौना किसने तोड़ डाला।"** इत्यादि।

बोलचाल के सरल शब्दों से स्वाभाविक ढंग पर बनाये गये ये छोटे-छोटे वाक्य पाठक और श्रोता के हृदय में करुणा के भाव को अनायास ही जागृत कर देते हैं। जहाँ इन छोटे-छोटे सरल वाक्यों से करुणा अपने आप फूट पड़ती है, वहाँ कठिन तथा पाण्डित्यपूर्ण शब्द तथा जटिल वाक्य इस प्रभाव को नष्ट कर देते हैं। इसी प्रकार भिन्न-भिन्न रसों के उदाहरणरूप जो उद्धरण ऊपर दिये गये हैं, उनसे भी भारतेन्दु के भाषा पर यथेष्ट अधिकार का परिचय मिल जाता है। मुहावरों के उपयुक्त प्रयोग से भारतेन्दु की भाषा और भी सजीव हो गई है।

भारतेन्दु ने अपने नाटकों में पद्य का प्रयोग भी बहुलता के साथ किया है। इस प्रवृत्ति के दो मुख्य कारण हैं। एक तो संस्कृत नाटकों में पद्य का प्रयोग प्रचुरता से किया गया है। दूसरे तत्कालीन पारसी रंगमंचीय नाटकों में भी पद्य का स्वच्छन्दता के साथ प्रयोग होता था। अधिकांश स्थलों पर भारतेन्दु द्वारा किया गया पद्य का प्रयोग महत्त्वपूर्ण और सार्थक है। संस्कृत नाटकों की भाँति इसके प्रयोग से वर्णन में सौन्दर्य और प्रभाव की वृद्धि होती है। परन्तु कई स्थलों पर[1] भारतेन्दु का पद्य-प्रयोग बिल्कुल व्यर्थ और अनावश्यक है। उससे

१. उदाहरण के लिए 'प्रेम-जोगिनी' के दूसरे दृश्य का पद्य-भाग।

किसी सौंदर्य या प्रभाव की वृद्धि नहीं होती। केवल तत्कालीन पारसी नाटकों की पद्य-प्रधान प्रवृत्ति के अनुकरण-मात्र में उसका समावेश कर दिया गया है। भारतेन्दु के पद्य की भाषा व्रज है, परन्तु वह विशेष कठिन या विकृत न होकर सरल, विशद और संस्कार-गुण से युक्त है।

गीत

पद्य के प्रयोग के अतिरिक्त भारतेन्दु ने अपने नाटकों में बहुत से गीतों की भी अवतारणा की है। उनमें से कुछ गीत तो बहुत ही सुन्दर तथा भावुकता-पूर्ण हैं। उनसे परिस्थिति के प्रभाव तथा सौन्दर्य की वृद्धि होती है और नीरसता का परिहार हो जाता है। उदाहरण के लिए 'नीलदेवी' के पाँचवें दृश्य में देवीसिंह के इस गीत को लीजिए—

प्यारी बिन कटत न कारी रैन,
पल छिन न परत जिय हाय चैन ।।
तन पीर बढ़ी सब छुट्यौ धीर,
कहि आवत नहिं कछु मुखहु बैन ।।
जिय तड़फड़ात सब जरत गात,
टप टप टपकत दुख भरे नैन ।।
परदेस परे तजि देस हाय,
दुख मेटनहारो कोउ है न ।। इत्यादि।

माधुर्य के अतिरिक्त यह गीत देवीसिंह के हृदय में छिपे हुए भावों की कोमलता को सुन्दरता और स्वाभाविकता से अभिव्यक्त करता है। यद्यपि वह परदेस गया हुआ है, तथापि रात्रि के मधुर समय में उसे अपनी प्रेयसी की कोमल स्मृति पीड़ित करती है, जिससे यह प्रकट हो जाता है कि उसके कठोर सैनिक हृदय में भी एक कोमल कोना है। इसी प्रकार 'भारतदुर्दशा' का पहला गीत 'रोवहु सब मिलिकै आवहु भारत भाई' इत्यादि, न केवल देश की शोचनीय दशा के कारण लेखक के मन की वेदना का परिचय देता है, वरन् नाटक के उद्देश्य और वस्तु की ओर भी संकेत करता है।

प्रेम-सिद्धांत

प्रेम एक व्यापक शब्द है और व्यापक अर्थों में ही इसका प्रयोग होता है। वास्तव में स्नेह, प्रणय, देशभक्ति, भगवद्भक्ति, मित्रता और वात्सल्य आदि भावनाएँ इसी के अन्तर्गत आ जाती हैं। भारतेन्दु के जीवन में दो प्रकार के प्रेम की भावना मिलती है—(१) भगवत्प्रेम अथवा धर्म-प्रेम की, और (२)

देश-प्रेम की। उनके नाटकों में यह प्रेम की भावना किसी-न-किसी रूप में अवश्य मिलती है। शुद्ध वासना-जन्य प्रेम की अभिव्यंजना उन्होंने किसी नाटक में नहीं की। जहाँ 'श्रीचन्द्रावली' में भगवत्प्रेम की प्रधानता है, 'सत्यहरिश्चन्द्र' में धर्म-प्रेम या सत्य-प्रेम का अधिकार है, वहाँ 'भारत-दुर्दशा' और 'नीलदेवी' में भारतेन्दु ने अपने देश-प्रेम की दृढ़ भावना को उद्गारित किया है।

उदाहरण के लिए भगवत्प्रेम का परिचय 'श्रीचन्द्रावली' में शुकदेव जी इस प्रकार देते हैं—

"जो परम प्रेम अमृतमय एकान्त भक्ति है, जिसके हृदय में उदय होते ही अनेक प्रकार के आग्रह-स्वरूप ज्ञान-विज्ञानादि अंधकार का नाश हो जाता है और जिसके चित्त में आते ही संसार का निगड़ आप-से-आप खुल जाता है—वह किसी को नहीं मिली"......"इनका (व्रज की गोपियों का) कैसा विलक्षण प्रेम है कि अकथनीय और अकरणीय है क्योंकि जहाँ माहात्म्य-ज्ञान होता है वहाँ प्रेम नहीं होता और जहाँ पूर्ण प्रीति होती है वहाँ माहात्म्य-ज्ञान नहीं होता। ये धन्य हैं कि इनमें दोनों बातें एक संग मिलती हैं।"

भारतेन्दु की देश-प्रेम की भावना की अभिव्यक्ति भी बड़े सशक्त ढंग से 'भारत-दुर्दशा' तथा 'भारत-जननी' में हुई है। देश के अतीत गौरव और समृद्धि को याद करके देश की वर्तमान हीन अवस्था को देखकर भारतेन्दु मर्माहत हो जाते हैं। उनके निम्नलिखित शब्दों में निश्चय ही एक शोक-पीड़ित हृदय के उद्गारों की वेदना है—

"हाय ! यह वही भूमि है जहाँ साक्षात् भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र के दूतत्व करने पर भी वीरोत्तम दुर्योधन ने कहा था "सूच्यग्रं नैव दास्यामि विना युद्धेन केशव' और आज हम उसी भूमि को देखते हैं कि श्मशान हो रही है। अरे, यहाँ की योग्यता, विद्या, सभ्यता, उद्योग, उदारता, धन, बल, मान, दृढ़चित्तता, सत्य सब कहाँ गये।" (दूसरा अंक, 'भारत-दुर्दशा')

बड़े सशक्त और प्रभावोत्पादक शब्दों में नाटककार ने भारत के अतीत गौरव का चित्र खींचा है—**"हाय, यह वही भारत है जो किसी समय सारी पृथ्वी का शिरोमणि गिना जाता था ?"**

भारत के भुज-बल जग-रच्छित।
भारत विद्या लहि जग सिच्छित ॥
भारत तेज जगत विस्तारा।
भारत भय कंपत संसारा॥

जाके तनिकहिं भौंह हिलाए।
थर थर कंपत भूप डरपाए॥
भारत किरिन जगत उजियारा।
भारत जीव जिश्रत संसारा॥
('भारत-दुर्दशा', छटा श्रंक)

अन्त में लेखक हताश होकर कहता है—

तुममें जल नहिं जमुना गंगा।
बढ़हु वेग करि तरल तरंगा॥
धोवहु यह कलंक की रासी।
बोरहु किन झट मथुरा कासी॥
श्रहो भयानक भ्राता सागर।
तुम तरंग निधि अति बल-आगर॥
... ...
... ...
बढ़हु न बेगि धाई क्यों भाई।
देहु भारत भुव तुरत डुबाई॥
(छटा श्रंक)

प्राकृतिक वर्णन

संस्कृत साहित्य में साधारणत: और कालिदास और भवभूति की रचनाओं में विशेषत: प्राकृतिक वर्णनों की प्रचुरता है। प्रकृति के सभी प्रकार के वर्णन—ललित और कोमल तथा भयानक और रोमहर्षकारी—संस्कृत के काव्यों और नाटकों में जगह-जगह मिलते हैं। प्रकृति के साथ प्रेम और साहचर्य का भाव प्राचीन काल के संस्कृत कवियों के मन में सदा निहित रहता था, और भाँति-भाँति के प्राकृतिक दृश्यों के वर्णन में उनकी रुचि रहती थी। परन्तु प्रकृति-प्रेम का यह भाव परवर्त्ती कवियों में धीरे-धीरे कम होता गया। आठवीं-नवीं शताब्दी के पश्चात् संस्कृत साहित्य में प्राकृतिक वर्णनों का अपेक्षाकृत अभाव होने लगा, और उनमें व्यापकता और स्वाभाविकता के स्थान पर कृत्रिमता आने लगी। इसका प्रधान कारण शायद यह था कि प्राचीन काल में उच्च कोटि के कवि अपने जीवन का काफ़ी समय प्रकृति के खुले आँगन में व्यतीत करते थे। यद्यपि उनमें कई एक कवि राजाश्रित होते थे, तथापि वे अपने-आपको राजसभा और वहाँ के वातावरण में ही बन्दी न बनाकर प्रकृति से विशेष मोह

बनाये रखते थे और अपना अधिकांश समय प्रकृति के बीच किसी नदी आदि के तट पर बिताते थे। प्रकृति के विराट् रूप का दर्शन करने, उससे प्रेम और परिचय बढ़ाने तथा उसके विविध रूपों का अपनी रचनाओं में यथास्थान वर्णन करने में उन्हें आनन्द मिलता था। परन्तु बाद के कवियों ने कवि के जीवन में प्रकृति के महत्त्व और उसकी उपयोगिता को भुलाकर उसकी उपेक्षा करना आरम्भ कर दिया। प्रकृति के विशाल असीम आँगन को त्याग कर वे अधिकतर बड़े-बड़े शहरों में रहने लगे। इस कारण प्रकृति के सुन्दर स्वाभाविक चित्रण का उनकी रचनाओं में अभाव होने लगा।

भारतेन्दु का जीवन भी शहरों में बीता था। इसलिए उनको प्रकृति के व्यापक तथा विशाल स्वरूप का परिचय कम था। अतः जहाँ वे बड़े उत्कृष्ट ढंग से प्रकृति के उस रूप और उन विषयों का वर्णन कर सकते हैं जिनसे वे नगर-वास के कारण परिचय पा सके थे, वहाँ प्रकृति के स्वाभाविक उन्मुक्त रूप का वर्णन उनके नाटकों में कम मिलता है। उदाहरण के लिए 'सत्य-हरिश्चन्द्र' के तृतीय अंक में उन्होंने गंगा का अति सुन्दर वर्णन किया है—

नव उज्ज्वल जलधार हार हीरक-सी सोहति।
बिच-बिच छहरति बूंद मध्य मुक्तामनि पोहति॥
लोल लहर लहि पवन एक पै इक इमि आवत।
जिमि नर-गन-मन विविध मनोरथ करत मिटावत॥

... ...
... ...

कहुँ सुन्दरी नहात नीर कर-जुगल उछारत।
जुग अंबुज मिलि मुक्त गुच्छ मनु सुच्छ निकारत॥
सुन्दरि-ससि-मुख नीर-मध्य इमि सुन्दर सोहत।
कमलबेलि लहलही नवल कुसुमन मन मोहत॥ इत्यादि।

'श्रीचन्द्रावली' के चतुर्थ अंक में यमुना का वर्णन भी कम सुन्दर नहीं। परन्तु प्रकृति के विशाल, वन्य और पर्वतीय दृश्यों का वर्णन भारतेन्दु के नाटकों में प्रायः नहीं मिलता।

पाँचवां अध्याय

उन्नीसवीं शताब्दी के अन्य नाटककार (क)

जैसा कि हम पहले देख चुके हैं, हिन्दी नाटक का उद्गम कई कारणों से चिरकाल तक रुका रहा[1], और यद्यपि भारतेन्दु से पूर्व काल में भी दो-एक अच्छे नाटक रचे गये, तथापि भारतेन्दु को ही हिंदी नाटक का जन्मदाता कहा जा सकता है। परंतु इसके साथ ही हमें यह देखकर विशेष हर्ष होता है कि नाटक के क्षेत्र में उस प्रतिभाशाली लेखक के पथप्रदर्शन से अनेक विद्वान् लेखकों ने लाभ उठाया, जिसके फलस्वरूप भारतेन्दु द्वारा प्रशस्त किया हुआ मार्ग शीघ्र ही बहुत से छोटे-बड़े नाटककारों से भर गया। इस काल में हिन्दी नाटक की द्रुतगति के साथ जो समृद्धि हुई, उसके कारण प्रायः वही हैं, जिनका उल्लेख हम तीसरे अध्याय में हिन्दी नाटक के उदय के संबंध में कर चुके हैं।

प्रमुख नाटककार

नाटक के क्षेत्र में भारतेन्दु के मार्गानुवर्त्ती अनेक लेखक हुए। उनमें से सामान्य नाटककारों का वर्णन हम पीछे करेंगे। उन्नीसवीं शताब्दी के प्रमुख नाटककारों में भारतेन्दु के पश्चात् लाला श्रीनिवासदास का नाम सर्वप्रथम उल्लेखनीय है। लालाजी एक प्रतिभाशाली और धनसम्पन्न व्यक्ति थे। इन्हें हिन्दी भाषा से अगाध प्रेम और हिंदी साहित्य में विशेष रुचि थी। ये भारतेन्दु के घनिष्ठ मित्र थे और दुर्भाग्यवश इनका देहान्त भी भारतेन्दु के समान छोटी आयु में ही हो गया।

लाला जी ने 'प्रह्लादचरित', 'तप्ता-संवरण', 'रणधीर और प्रेममोहिनी' तथा 'संयोगिता-स्वयम्वर' नामक चार नाटकों की रचना की। इनका पहला नाटक 'प्रह्लाद-चरित' हिरण्यकशिपु और प्रह्लाद के प्रसिद्ध पौराणिक आख्यान के आधार पर लिखा गया है। इसमें ग्यारह दृश्य हैं। कला की दृष्टि से यह नाटक सर्वथा निकृष्ट और असफल रचना है। न तो लेखक ने कथावस्तु का विकास ठीक ढंग से किया है, न ही चरित्र-चित्रण में कुशलता का परिचय दिया है। कथोपकथन भी प्रायः नाटकीय गुणों से रहित हैं तथा भाषा में भी यथेष्ट बल नहीं है।

---

१. देखिए पहला अध्याय।

श्रीनिवासदास का दूसरा नाटक 'तप्ता-संवरण' है जो पहले सन् १८७४ में हरिश्चन्द्र मैगज़ीन में छपा और फिर सन् १८८३ में प्रथम बार पुस्तकाकार प्रकाशित हुआ। यह पाँच अंकों का शृंगारिक नाटक है और इसमें सूर्यपुत्री तप्ता तथा संवरण के प्रेम और विवाह का वर्णन है। कलात्मक दृष्टि से यह नाटक भी विशेष सफल नहीं कहा जा सकता, यद्यपि 'प्रह्लाद-चरित' की अपेक्षा इसमें कुछ प्रौढ़ता अवश्य दृष्टिगोचर होती है। संस्कृत नाटकों की पद्धति के अनुसार इस नाटक का नामकरण नायक और नायिका के नाम पर किया गया है, प्रस्तावना का उपयोग किया गया है, तथा अंकों का विभाजन दृश्यों में नहीं किया गया। नाटककार पर संस्कृत के महाकवि कालिदास का प्रभाव स्पष्ट रूप से लक्षित है, क्योंकि दूसरे अंक में गौतम ऋषि का शाप तथा तीसरे अंक में तप्ता का अपने प्रेमी को पत्र लिखना—ये दोनों प्रयोग सीधे 'शकुन्तला' नाटक से लिये गये हैं।

लाला जी का तीसरा नाटक 'रणधीर और प्रेममोहिनी' (१८७७) है। यह भी पाँच अंकों का शृंगारिक नाटक है, जिसके कथानक का आधार पाटन के राजकुमार रणधीर तथा सूरत की राजकुमारी प्रेममोहिनी का प्रेम और शोकपूर्ण अन्त है। लाला जी के नाटकों में यह रचना सर्वोत्कृष्ट है। इसका कथानक सुसंगठित है। रणधीर, प्रेममोहिनी तथा रिपुदमन के चरित्रों का चित्रण भी अच्छा हुआ है। कथोपकथन में परिस्थिति के अनुकूल शक्ति, मृदुता अथवा करुणा का गुण विद्यमान है[1]। भाषा प्रायः पात्रों के अनुकूल है, परन्तु कहीं-कहीं व्यर्थ ही फ़ारसी के क्लिष्ट शब्दों का प्रयोग भी किया गया है (यथा सुखवासीलाल के भाषणों में)। प्रादेशिक भाषाओं का प्रयोग भी कुछेक पात्रों के लिए किया गया है, जिससे नाटक में स्वाभाविकता के वातावरण की वृद्धि हो गई है—

नत्थूराम—(रोनी सूरत बनाकर) बाप जी, हूँ तो मारियो गयो. कुत्तारी मौत मारियो गयो। म्हारी शगरी उघराणी डूब जासी, नौकर जठारो जठै माल दबा बीमारी पैड़ा गैणा; गाठारो, लेन-देन, माल-तालरो धन्दो, आडतियांरा काम काज कुण भुगतासी ?

नाटक में शृंगार, वीर तथा करुण रसों का सुन्दर सम्मिश्रण है। बीच-

१. उदाहरण के लिए देखिए तीसरे अंक के पाँचवें गर्भांक में रणधीर और प्रेममोहिनी का संवाद, तीसरे अंक के प्रथम गर्भांक में प्रेममोहिनी तथा मालती का संभाषण, दूसरे अंक के तृतीय गर्भांक में रणधीर का संवाद।

बीच में हास्य की अवतारणा भी की गई है। थोड़ी-सी काट-छाँट के पश्चात् नाटक रंगमंच पर सफलतापूर्वक अभिनीत हो सकता है। इस नाटक पर पाश्चात्य नाट्य-विधान का प्रभाव विशेष रूप से पड़ा है। एक तो इसका आरम्भ प्रस्तावना से न होकर सीधे राजमहल में नायिका और उसकी सखी के संभाषण से होता है। दूसरे इसका अन्त दुःखमय है। बीच-बीच में इस नाटक में नीति और सांसारिक व्यवहार की बातें बड़े सुन्दर ढंग से पद्यों में कही गई हैं, जैसे—

(१) **सज्जन तजत न नीतिपथ, यद्यपि प्राण तज देत।**
भूखो रहत मृगेन्द्र तउ तृण न कबहूं मुख लेत॥

(२) **बड़े लहत सुख सम्पदा, बड़े सहत दुख द्वन्द।**
उड़गण घटत न बढ़त कहुं, बढ़त घटत नित चन्द॥ (पाँचवां अंक)

कितने सुन्दर ढंग से प्रेममोहिनी पातिव्रतधर्म के आदर्श का परिचय देती है—

प्रेम०—सखी! रणधीरसिंह मेरे सर्वस्व हैं, चन्द्रमा और चाँदनी की तरह मैं अपना प्राण उनके अधीन समझती हूँ। परन्तु रण से विमुख होकर प्राणप्यारे फूलों की सेज पर सोवें, तो उसके बदले रण में बैरी के हाथ उनका शरशय्या पर सोना मुझको अच्छा लगता है; मैं तत्काल तन तज कर प्यारे प्राणपति की सेवा में चली जाऊँगी।

(पाँचवां अंक)

और कितने मर्मस्पर्शी हैं चम्पा के ये शब्द, जो उसने नायक और नायिका की मृत्यु पर कहे हैं—

चम्पा—जैसे सूर्य चन्द्रमा के मिलन से (अमावस को) अधिक अंधेरी होती है, तैसे आज इन दोनों के मिलने से दशा हुई। ये दोनों क्या इस लायक थे? (पाँचवां अंक)

नीचे के शब्दों में भी करुणा अनायास उमड़ी पड़ती है—

सूरतपति—···**हाय! मेरी जन्म भर की कमाई पल भर में लुट गई। ये विवाह का सामान इनके क्रियाकर्म में काम आवेगा! मोहिनी! तू अपने दुखिया बाप से एक बात कहे बिना उसको दुखसागर में छोड़कर कहाँ चली गई**···इत्यादि।

मालती—(चम्पा से रोकर) सखी! हमारे भाग्य में क्या दुष्ट दैव ने यही लिख दिया था कि रणधीर और प्रेममोहिनी के लिए फूलों की सेज के बदले चन्दन की चिता बनायें। (पाँचवां अंक)

लाला जी का अन्तिम नाटक 'संयोगिता-स्वयंवर' (१८८५) है। इसमें भी पाँच अंक हैं और इसकी कथावस्तु चन्दकृत 'पृथ्वीराजरासो' में वर्णित संयोगिता-स्वयंवर से सम्बन्ध रखती है। नाट्य-कला की दृष्टि से यह नाटक भी निकृष्ट और असफल रचना है। नाटक का कथानक रासो पर आधारित होने के कारण इसमें ऐसी बातों का भी समावेश कर दिया गया है, जिनकी पुष्टि इतिहास से नहीं होती।

'रणधीर और प्रेममोहिनी' के अतिरिक्त शेष तीनों नाटकों में श्रीनिवासदास ने प्राचीन नाटकों की प्रथा के अनुसार प्रस्तावना का उपयोग किया है। इसके अतिरिक्त लाला जी के सभी नाटकों में 'स्वगत' तथा पृथक् भाषण की योजना भी अनेक बार की गई है। कथोपकथन अधिकतर सजीव, सशक्त तथा गतिशील हैं, परन्तु कई स्थलों पर ये बहुत लम्बे और अनाटकीय हो गये हैं (जैसे पाँचवें अंक के प्रथम गर्भांक में सूरतपति तथा पाटनपति के भाषण, दूसरे अंक के चतुर्थ गर्भांक के आरम्भ में रणधीर तथा रिपुदमन के संभाषण इत्यादि)। भाषा के विषय में लाला जी ने प्रायः मध्यवर्ती मार्ग का अवलंबन किया है और फ़ारसी तथा संस्कृत के क्लिष्ट शब्दों का प्रायः बहिष्कार किया है। इसके अतिरिक्त हिन्दी में दुःखांत नाटक की रचना भी सर्वप्रथम लाला श्रीनिवासदास ने ही की। उनका 'रणधीर और प्रेममोहिनी' हिन्दी का पहला दुःखान्त नाटक है। भारतेन्दु का 'नीलदेवी' भी, जिसका उल्लेख हम चौथे अध्याय में कर चुके हैं, दुःखान्त नाटक है। परन्तु वह नाटक १८८० में अर्थात् 'रणधीर और प्रेममोहिनी' से तीन वर्ष बाद लिखा गया था।

राधाकृष्णदास

बाबू राधाकृष्णदास भारतेन्दु के फुफेरे भाई थे और भारतेन्दु के समान इन्हें भी देशभक्ति और साहित्य-सेवा की सच्ची लगन थी। भारतेन्दु द्वारा अधूरा छोड़े हुए 'सती प्रताप' नाटक को इन्होंने बड़ी कुशलता के साथ पूरा किया, तथा चार नाटक और लिखे। उनमें से पहला नाटक 'दुःखिनी बाला' छः दृश्यों का एकांकी है। यह सारा गद्य में है और इसमें प्रस्तावना तथा भरतवाक्य की भी अवतारणा की गई है। इसमें अनमेल विवाह तथा विवाह-सम्बन्धी प्रचलित कुरीतियों का विरोध किया गया है। कलात्मक दृष्टि से यह नितान्त साधारण रचना है। इसमें नाटककार ने वस्तु-संगठन और चरित्र-चित्रण आदि आवश्यक नाटकीय तत्त्वों की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया। इसका कारण यह है कि एक तो यह नाटककार की पहली कृति है और दूसरे

वह इस नाटक में प्रचलित सामाजिक कुरीतियों के विरोध में अधिक दत्तचित्त रहा है। यह नाटक सन् १८८० में पहली बार प्रकाशित हुआ था। दो वर्ष पश्चात् इसका दूसरा संस्करण निकला, जिसमें कुछेक परिवर्तन और संशोधन कर दिये गये।

राधाकृष्णदास का दूसरा नाटक 'महारानी पद्मावती' (१८८३) है। इसमें कुल छः अंक तथा उन्नीस दृश्य हैं। यह ऐतिहासिक नाटक है जो कि मेवाड़ की विख्यात रानी पद्मिनी की कथा को लेकर लिखा गया है। पद्मावती के अद्भुत सौंदर्य की प्रशंसा सुनकर दिल्ली के सुलतान अलाउद्दीन का चित्तौड़ पर आक्रमण करना, हारकर संधि का बहाना करके चित्तौड़ आना, धोखे से राणा रत्नसेन को बन्दी कर लेना, पद्मावती का कुशलता के साथ राणा को शत्रु-बन्धन से मुक्त कराना, अलाउद्दीन द्वारा चित्तौड़ का घेरा, घमासान युद्ध तथा अन्त में राजपूत रमणियों के साथ पद्मावती का सती होना आदि सभी प्रसिद्ध घटनाओं का इस नाटक में समावेश है।

पहली रचना के मुकाबले में यह नाटक विशेष प्रौढ़ और उत्कृष्ट है। पद्मावती तथा अलाउद्दीन का चरित्र-चित्रण सफलता से किया गया है। नाटक में वीर रस के वातावरण की सृष्टि करने में लेखक काफ़ी सफल हुआ है। भाषा में प्रायः परिस्थिति के अनुकूल उतार-चढ़ाव मिलता है। पुस्तक की भूमिका में लेखक ने कुछ विस्तार के साथ मेवाड़ का इतिहास भी दे दिया है।

बाबू जी की तीसरी रचना 'धर्मालाप' (१८८५) वास्तव में एक लम्बा वार्तालाप है जिसमें कोई अंक अथवा दृश्य नहीं है। सनातन धर्म बीच में बैठा है और वेदान्ती, वैष्णव, शैव, शाक्त, आर्यसमाजी, ब्राह्मो आदि उसके चारों ओर बैठे हैं। धर्म के सम्बन्ध में बातचीत चल रही है, और अन्त में इस निर्णय पर ज़ोर दिया जाता है कि ईश्वर एक है और भिन्न-भिन्न मत वहाँ तक पहुँचने के विविध उपाय हैं। नाटकीय दृष्टि से इस रचना का कोई महत्त्व नहीं है।

राधाकृष्णदास का अन्तिम और सर्वोत्कृष्ट नाटक 'महाराणा प्रतापसिंह या राजस्थान-केसरी' (१८९७) है। इसमें सात अंक तथा छत्तीस दृश्य हैं। नान्दी, प्रस्तावना और भरतवाक्य का प्रयोग भी इस नाटक में हुआ है। यह उच्च कोटि का ऐतिहासिक नाटक है परन्तु महाराणा प्रताप और सम्राट् अकबर के ऐतिहासिक कथानक के साथ-साथ इसमें मालती और गुलाबसिंह के प्रेम तथा देशभक्ति का गौण कथानक भी चलता है। यद्यपि नाटक का कथानक बहुत लम्बा है तथा गौण कथानक से समन्वित है, तथापि नाटककार ने इसे बड़ी

कुशलता और सावधानी के साथ संभाला है। महाराणा प्रताप, अकबर, पृथ्वीराज तथा उसकी रानी के चरित्रों का चित्रण भी बड़े स्वाभाविक और सुन्दर ढंग से किया गया है। महाराणा वीरता, धीरता, त्याग एवं उत्साह के अवतार हैं। संक्षेप में वे अपने स्वभाव का परिचय इस प्रकार देते हैं—

जब लौं तन मैं प्राण न तब लौं मुख को मोड़ौं।
जब लौं कर मैं शक्ति न तब लौं शस्त्रहिं छोड़ौं॥
जब लौं जिह्वा सरस दीन वच नाहिं उचारौं।
जब लौं धड़ पर सीस झुकावन नाहिं विचारौं॥

(अंक ७ दृश्य ५)

अकबर के चरित्र का चित्रण भी सफलतापूर्वक किया गया है। वह बहुत कुशल राजनीतिज्ञ है, परन्तु साथ ही सच्चा गुणज्ञ और यथार्थदर्शी है। शत्रु के धैर्य और वीरता आदि गुणों का वह अपने मन में यथोचित आदर करता है। कुसंगति ने उसे विलासी बना दिया है, परन्तु पृथ्वीराज की रानी की एक बार की भर्त्सना से ही प्रभावित होकर वह विलासिता के व्यसन को सदा के लिए त्याग देने का वचन देता है। पहले हम अकबर को नौरोज़ के दिन अपने उपभोग के लिए छल से लाई गई सुन्दरियों की प्रतीक्षा में अधीर देखते हैं—

अकबर—हाय ! मैं इतना बड़ा शाहनशाह, मेरे यहाँ दुनियां भर के ऐशो-आराम के सामान मुहय्या, मगर मेरे दिल को एक दम भी राहत नहीं; शबोरोज फ़िक्र, लहजः बलहजः तरद्दुदात, रोज नई ख्वाहिशें, रोज नये हौसले और हाय ! इन गुलबदनों की चाह ने तो मुझे पागल बना दिया है। कितनी देर से कितने कामों का हर्ज करके बावला-सा यहाँ घूम रहा हूँ······मालूम होता है, बी नसीबन हमारे गुले मुराद को लिये आ रही है। (अंक २ दृश्य ३)

परन्तु इस बार कोई साधारण सुन्दरी नहीं बल्कि आदर्श राजपूत रमणी, पृथ्वीराज की वीर रानी, धोखे से वहाँ लाई जाती है। परन्तु ज्यों ही अकबर उसको स्पर्श करना चाहता है, वह सिंहनी के समान गर्ज उठती है और अकबर को कड़ी डाँट बताती है। यहाँ तक कि उस व्यभिचारी को प्राणदण्ड देने के लिए तलवार खींच लेती है, तब अकबर सौंदर्य-लोलुपता के अपने उस व्यसन को सदा के लिए छोड़ने की क़सम खाता है। ऊपर के उद्धरण में दिखाई गई अधीर अवस्था के कुछ ही क्षण पश्चात् अकबर के व्यवहार में निम्नलिखित परिवर्तन बड़ा मनोरंजक है—

अकबर—(रानी से) मैं अपने गुनाहों के लिये सख़्त नादिम

हुआ, मेरा कसूर मुआफ़ करो, मेरी जां-बख़्शी करो, मैं ख़ुदा की कसम खाकर कहता हूँ, मुझे मेरी उम्र नातजुर्बाकार और दुनियावी यारों ने धोखा दिया। मैं अब तक इस पाकदामनी, इस बहादुरी, इस नेकचलनी को कभी ख्वाब में भी न सोच सकता था।······अब किसी के साथ ऐसा क़सूर सरज़द न होगा।······ (अंक २ दृश्य ३)

चरित्र-चित्रण की सफलता के अतिरिक्त भाषा पर भी नाटककार को अच्छा अधिकार प्राप्त है। उसकी भाषा—चाहे वह गद्य हो अथवा पद्य—ओजपूर्ण और अवसरानुकूल है। उसमें यथेष्ट शक्ति और प्रवाह है। मुसलमान पात्र उर्दू बोलते हैं और बहुधा फ़ारसी के कठिन शब्दों का प्रयोग भी करते हैं, जैसा कि अकबर के ऊपर उद्धृत किये गये दो संवादों से स्पष्ट है। कथोपकथन भी प्रायः सजीव और सशक्त हैं। इसके अतिरिक्त नाटककार ने महाराणा की मृत्यु का दृश्य अपने नाटक में उपस्थित न करके नाटक को दुःखांत होने से बचा लिया है।

परन्तु यद्यपि यह नाटक बाबू राधाकृष्णदास के शेष तीनों नाटकों से उत्कृष्ट है तथापि नाट्य-कला और विधान की दृष्टि से वह सर्वथा दोष-रहित नहीं है। नाटक के पहले दृश्य में ही टेकनीक की एक भारी भूल दिखाई पड़ती है। इस दृश्य में जब पर्दा उठता है तो महाराणा का दरबार लगा हुआ है। इतने में नेपथ्य में गाने की आवाज़ सुनाई देती है और जब तक नेपथ्य-गान समाप्त नहीं हो जाता, तब तक महाराणा तथा अन्य पात्र रंगमंच पर बिना किसी चेष्टा, गति या कार्य के मौन धारण किये बैठे रहते हैं। कला और टेकनीक के विचार से यह बड़ा अस्वाभाविक और भद्दा जान पड़ता है कि पात्रों को रंगमंच पर लाकर उपस्थित तो कर दिया जाये, परन्तु साथ में उन्हें 'नेपथ्य-गान' के रुकने की प्रतीक्षा में नितान्त निश्चेष्ट बनाये रखा जाये। उपयुक्त तो यह था कि या तो गाने को भी 'नेपथ्य' से हटाकर प्रकट रूप में रंगमंच पर लाया जाता, अथवा नाटक का परदा ठीक उस समय उठाया जाता जबकि गाने की अंतिम पंक्ति समाप्त होने को होती। पात्रों को रंगमंच पर बिठाकर इसी प्रकार के नेपथ्य-गीतों की अवतारणा नाटककार ने अन्य दृश्यों में भी की है (उदाहरण के लिए दूसरे अंक के तृतीय दृश्य में, तीसरे अंक के प्रथम दृश्य में तथा पाँचवें अंक के प्रथम दृश्य में)। परन्तु जहाँ अन्य दृश्यों में 'नेपथ्य-गान' और साथ में पात्रों का रंगमंच पर निश्चेष्ट बैठे रहना सर्वथा अस्वाभाविक, अनाटकीय और भद्दा लगता है, वहाँ दूसरे अंक के तीसरे दृश्य में यही योजना बड़ी सार्थक, नाटकोपयोगी और प्रभावोत्पादक बन गई है। इस दृश्य में भी यद्यपि

नेपथ्य-गान की अवतारणा की गई है, परन्तु साथ में रंगमंच पर उपस्थित पात्र अकबर को अशान्ति, उद्विग्नता तथा अधीरता के साथ इधर-उधर घूमता हुआ दिखाया गया है। इसके अतिरिक्त नेपथ्य-गीत का भाव भी अकबर की अशांत मुद्रा और अधीरमनस्कता के साथ बड़ा मेल खाता है, जिससे इस दृश्य का नाटकीय प्रभाव और भी तीखा हो गया है।

दूसरे, इस नाटक के प्रथम दृश्य में कवि राजा द्वारा प्रताप के वंश का पद्य-बद्ध स्तुति-गान नाटक के लिए बहुत लम्बा हो गया है। सातवें अंक के पाँचवें दृश्य में पृथ्वीराज का प्रताप के नाम पत्र भी नाटक की दृष्टि से बहुत लम्बा और नाटकीय प्रभाव में बाधक है। प्रताप[1] और अकबर[2] के कुछेक संभाषण भी बहुत लम्बे बन गये हैं। स्वगत का बार-बार प्रयोग भी कोई सुन्दर और सन्तोषजनक बात नहीं है।

तीसरा, भारी दोष हमें नाटक के पाँचवें अंक के छटे दृश्य में मिलता है। एक तो इस दृश्य में यथेष्ट शक्ति और नाटकीय प्रभाव का अभाव है। सक्ता (शक्तिसिंह) जी चिरकाल के पश्चात् अपने भाई प्रताप से मिलते हैं और वह भी विशेष संकट की स्थिति में। भाई-भाई का चिरकाल के मनोमालिन्य के पश्चात् अकस्मात् इस तरह मिलन बड़े ही भावपूर्ण, सशक्त तथा प्रभावोत्पादक ढंग से दिखाया जा सकता था, परन्तु नाटककार दोनों भाइयों के हृदय की गहराई में नहीं उतर सका। इस कारण इस दृश्य में यथोचित शक्ति, स्पन्दन और भावुकता का संचार नहीं हो सका। शायद अपनी इसी दुर्बलता को जानते हुए नाटककार ने दोनों भाइयों को विशेष बातचीत का अवसर न देकर तुरन्त चेतक की मृत्यु को उपस्थित करके भाइयों के संभाषण को बीच में ही काट दिया है।

परन्तु चेतक की मृत्यु पर भी नाटककार यथोचित करुणा और मार्मिक मनोवेदना के भाव भरने में सफल नहीं हो सका। चेतक की मृत्यु पर किया गया प्रताप का विलाप केवल चेतक के गुणों और सेवाओं का तटस्थ-सा अनुस्मरण मात्र है। उसमें भावों की ऊष्मा, हृदय के स्पंदन तथा मर्मवेदना का अभाव-सा है—

१. देखिए पहिले अंक का तीसरा दृश्य, पाँचवें अंक का चतुर्थ दृश्य, छटे अंक का दूसरा दृश्य, सातवें अंक का तीसरा दृश्य। २. देखिए दूसरे अंक का चतुर्थ दृश्य, दूसरे अंक का तृतीय दृश्य इत्यादि।

प्रताप—(अत्यन्त करुण स्वर में)—

विपति सँघाती धीर, स्वामिभक्त साँचो सुहृद ।
चल्यो होइ बेपीर, रे चेतक परताप तजि ।।
सहे अनेकन घाव, चढ़ि सलीम-गज-सीस पै ।
पीछे दियो न पाय, अब क्यों भाजत मोहि तजि ।।
रतन अमोलक तौल, सहस गुनो जो वारिए ।
तौह लहै न मोल, रे चेतक तुव सामुहै ।।
करिके ऋनिया मोहि, हाहा चेतक चलि बस्यो ।
सहि नहिं सकत विछोह, अब जीवन लागत वृथा ।।

(अंक ५ दृश्य ६)

इसके अतिरिक्त इस नाटक में एक और भी दोष है। सक्ता जी के दर्शन इस नाटक में प्रथम और अन्तिम बार (केवल एक ही बार) इसी दृश्य में (अंक ५ दृश्य ६) में होते हैं। इससे पूर्व अथवा पश्चात् नाटककार ने क्षण-भर को भी सक्ता जी को रंगमंच पर लाना आवश्यक अथवा उचित नहीं समझा। यहाँ तक कि महाराणा प्रताप से भी इस दृश्य की भेंट के पश्चात् एक बार भी, यहाँ तक कि नाटक के अन्तिम दृश्य में भी, सक्ता जी या उनकी सेवाओं की ओर संकेत तक भी नहीं कराया।

कुछ छोटे-छोटे अन्य दोष भी नाटक के वस्तु-विन्यास में पाये जाते हैं। परन्तु इन दोषों और त्रुटियों के रहते हुए भी जब हम इस नाटक की तुलना उन्नीसवीं शताब्दी के अन्य नाटकों के साथ करते हैं तो इसे उनमें सर्वोत्कृष्ट पाते हैं। राधाकृष्णदास के पश्चात् ऐसी प्रतिभा और नाटकीय कौशल का परिचय हमें पहली बार जयशंकर प्रसाद के नाटकों में मिलता है। इस नाटक का अनेक बार सफल अभिनय भी हो चुका है।

अयोध्यासिंह उपाध्याय

उपाध्याय जी हिन्दी के उच्च कोटि के कवि हैं। हिन्दी-जगत् में आज उनका नाम कविरूप में ही विशेष प्रसिद्ध है। परन्तु अपने साहित्यिक जीवन के आरम्भकाल में उन्होंने नाटक-रचना में भी रुचि दिखाई थी, और 'प्रद्युम्न विजय' तथा 'रुक्मिणी-परिणय' नामक दो नाटकों की रचना की थी।

इनका 'प्रद्युम्न-विजय' (१८९३) भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र के संस्कृत से अनूदित 'धनंजय-विजय' व्यायोग[1] की छाया लेकर लिखा गया है। नाटक की

१. देखिए 'प्रद्युम्न-विजय' की भूमिका।

कथावस्तु का सार यह है कि निकुम्भ नामक दैत्य वसुदेव को तथा आचार्य ब्रह्मदत्त को धमकी देता है कि यदि उसे यज्ञ में भाग न दिया गया तो वह ब्रह्मदत्त की पाँच सौ कन्याओं को हर लेगा और यादवों को बन्दी कर लेगा। यज्ञ में भाग न मिलने पर वह ऐसा ही करता है। इस पर प्रद्युम्न उसके साथ युद्ध करके शत्रु-दल को परास्त करके ब्राह्मण-कन्याओं को छुड़ा लाते हैं।

प्राचीन नाट्य-शास्त्र के नियमानुसार उपाध्याय जी ने इस नाटक में नान्दी तथा प्रस्तावना का उपयोग किया है। पद्य भी पर्याप्त मात्रा में प्रयुक्त किया गया है। युद्ध का दृश्य रंगमंच पर न दिखलाकर केवल वार्तालाप में ही उपस्थित कर दिया गया है। नाटक में वीर रस प्रधान है, परन्तु वीर रस का प्रभाव उत्पन्न करने के लिए भाषा का रूप कई जगह विकृत कर दिया गया है।

उपाध्याय जी के दूसरे नाटक 'रुक्मिणी-परिणय' (१८९४) का आरम्भ भी नान्दी तथा प्रस्तावना के साथ होता है। इसमें नौ अंक तथा एक अतिरिक्त अंक है। राजसभा में रुक्मिणी का विवाह शिशुपाल के साथ निश्चित होता है और शिशुपाल तदर्थ निमन्त्रित किया जाता है। परन्तु रुक्मिणी श्रीकृष्ण के गुणों को सुनकर उनमें अनुरक्त हो चुकी थी। एक ओर रुक्मिणी के पिता के निमन्त्रण पर शिशुपाल बरात लेकर आता है, और दूसरी ओर रुक्मिणी की प्रार्थना पर श्रीकृष्ण वहाँ पहुँच जाते हैं। दोनों पक्षों में युद्ध छिड़ जाता है और श्रीकृष्ण सभी राजाओं को परास्त करके रुक्मिणी समेत सकुशल द्वारिका पहुँच जाते हैं। अतिरिक्त अंक में श्रीकृष्ण और रुक्मिणी की प्रेम-लीला का वर्णन है।

यद्यपि वस्तु-संगठन और चरित्रांकन में नाटककार को कुछ सफलता मिली है, तथापि भाषा और कथोपकथन नाटक के लिए उपयुक्त नहीं हैं। भाषा क्लिष्ट शब्दों की भरमार से बोझल हो गई है, और कथोपकथन भी प्रायः लम्बे, शिथिल और निर्जीव हैं। स्वगत का प्रयोग भी बहुत अधिक हुआ है। दोनों नाटक न तो अभिनय के अनुकूल हैं, न ही पाठकों के लिए विशेष मनोरंजक हैं।

किशोरीलाल गोस्वामी

किशोरीलाल गोस्वामी के 'मयंक-मंजरी' (१८९१) में पाँच अंक हैं, और इसमें अवन्तिपुर के मन्त्री की पुत्री मयंक तथा उसी प्रदेश के राजकुमार वीरेन्द्रसिंह के प्रेम तथा विवाह का वर्णन है। मयंक का पिता अपनी पुत्री का विवाह एक अन्य विवाहित और चरित्रहीन राजकुमार वसन्तदेव के साथ करना

चाहता है। मयंक और वीरेन्द्र के विरुद्ध कई षड्यन्त्र रचे जाते हैं, और उनके मार्ग में अनेक बाधाएं उपस्थित की जाती हैं। किन्तु अपने साहस, विवेक और धैर्य के कारण वे सब पर विजय पाते हैं और अन्त में उनका विवाह हो जाता है। मयंक की दो सखियों का विवाह भी वीरेन्द्र के दो मित्रों के साथ हो जाता है।

नाटक पर संस्कृत नाट्य-शास्त्र का प्रभाव स्पष्ट है। इसमें प्रस्तावना तथा भरतवाक्य का उपयोग किया गया है। अंकों का विभाजन दृश्यों में नहीं किया गया। संवादों के बीच पद्य का प्रयोग प्रचुरता से किया गया है। परन्तु इसमें नाट्यशास्त्र के नियमों का उल्लंघन भी स्पष्ट ही दृष्टिगोचर होता है। पहले तो पाँच अंकों के नाटक को 'महानाटक' की संख्या दी गई है। दूसरे, मयंक तथा वीरेन्द्र के चुम्बन तथा दुर्जनबन्धु की मृत्यु आदि के दृश्य जो इस नाटक में दिखाये गये हैं, भारतीय नाट्यशास्त्र के नियमानुसार रंगमंच के लिए वर्जित हैं। नाटक में शृंगार तथा वीर रस की प्रधानता है। कलात्मक दृष्टि से नाटक का विशेष महत्त्व नहीं है। मयंक के माता-पिता तथा कुछ अन्य पात्रों के संभाषणों में नाटककार का सुधारक रूप अवश्य मुखरित हो उठा है।

गोस्वामी जी के दूसरे नाटक 'नाट्य-संभव' (१९०४) में नाटक के उत्पत्तिविषयक परम्परागत मत को नाटक का रूप दिया गया है। परम्परागत मतानुसार नाट्यशास्त्र के रचयिता भरतमुनि को स्वर्गलोक से संसार में नाट्य-कला का प्रचार करने का काम सौंपा गया था। यद्यपि इस नाटक के संवादों में कुछ प्रौढ़ता है, फिर भी इसमें वस्तु-विकास और चरित्र-चित्रण अधिक नहीं है।

इन दो नाटकों के अतिरिक्त किशोरीलाल गोस्वामी ने 'चौपट चपेट' नामक प्रहसन की रचना की। इसका उल्लेख अगले अध्याय में किया जायगा।

बालकृष्ण भट्ट

भट्ट जी बड़े प्रतिभाशाली लेखक तथा उच्च कोटि के विद्वान् थे। इन्हों ने छः सात मौलिक नाटकों की रचना की, तथा माइकल मधुसूदनदत्त के 'पद्मावती' और 'शर्मिष्ठा' बँगला नाटकों का तथा संस्कृत के नाटक 'मृच्छकटिक' का हिन्दी में अनुवाद किया। इसके अतिरिक्त 'कलिराज की सभा', 'रेल का विकट खेल' और 'बाल-विवाह' आदि प्रहसन भी लिखे।

'दमयन्ती-स्वयंवर' नामक इनका सुन्दर मौलिक नाटक अगस्त १९४२ में इनके पुत्र धनंजय भट्ट 'सरल' के संपादन में हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन प्रयाग

द्वारा प्रकाशित किया गया। इसमें दस अंक हैं और इसका आरम्भ प्राचीन पद्धति के अनुसार नान्दी और प्रस्तावना से होता है। नाटक नल-दमयन्ती के प्रसिद्ध पौराणिक आख्यान को लेकर लिखा गया है। बीच-बीच में संस्कृत के श्लोक भी दे दिये गये हैं। कथोपकथन में प्रायः भावुकता और वेग है तथा भाषा पर भी लेखक का अच्छा अधिकार है।

सन् १९४७ में 'भट्ट-नाटकावली' नामक ग्रन्थ 'नागरी-प्रचारिणी सभा' काशी द्वारा प्रकाशित किया गया। इसमें भट्ट जी के तीन नाटक 'वृहन्नला' 'वेणुसंहार' तथा 'जैसा काम वैसा परिणाम' संगृहीत हैं। इनमें से 'वृहन्नला' नाटक में केवल कौरवों तथा वृहन्नला-वेशधारी अर्जुन के युद्ध का वर्णन है। नाटक का आरंभ नान्दी से होता है परन्तु प्रस्तावना का इसमें अभाव है। इसमें कुल चार अंक हैं जो कि दृश्यों में विभाजित हैं। स्वगत की योजना अनेक स्थलों पर की गई है, और कई एक संवाद बहुत लम्बे हो गये हैं (उदाहरण के लिए प्रथमांक के तृतीय दृश्य में अश्वत्थामा का संभाषण, दूसरे अंक के प्रथम दृश्य में ब्राह्मण का स्वगत-भाषण, दूसरे दृश्य में सैरंध्री का स्वगत-भाषण तथा तीसरे दृश्य में भीष्म का संभाषण इत्यादि)। भाषा पर लेखक का अच्छा अधिकार है और इसका प्रयोग सफलतापूर्वक पात्र और परिस्थिति के अनुकूल किया गया है।

नाटक के अंतिम दृश्य में जब पाण्डव अपने वास्तविक रूप में प्रकट होते हैं तो राजा विराट् युधिष्ठिर को अपने सिंहासन पर बैठा देखकर क्रोध से पागल हो जाता है, और उन्हें मारने के लिए तलवार निकाल लेता है। राजा विराट् के क्षोभ का वर्णन थोड़े से शब्दों में लेखक ने बड़ी सुन्दरता से किया है—

> **विराट्—(तलवार निकाल कर) रे पिशाच कंक, तेरे प्रतिपालन का अन्त में हमें यही फल मिला। हाय ! हमने विष-वृक्ष का आरोपण किया। काल-सर्प को दूध पिलाया। रे पामर नीच, तेरे योग्य यह सिंहासन है !**

'वेणु-संहार' भी भट्ट जी का एक छोटा-सा रूपक है। इसमें नान्दी, प्रस्तावना तथा तीन अंक हैं। यह नाटक एक पौराणिक कथा के आधार पर लिखा गया है। इसमें राजा वेणु के चरित्र का वर्णन है, जिसका अपनी दुष्टता, अत्याचार तथा ब्राह्मणों और ऋषियों के अपमान के कारण संहार होता है। इस नाटक में न तो वस्तु-विकास ही ठीक ढंग से हुआ है, और न ही चरित्र-चित्रण की ओर किंचिन्मात्र भी ध्यान दिया गया है। स्वयं नाटक का नायक

राजा वेणु पहली बार नाटक के अंतिम दृश्य में रंगमंच पर आता है। नाटक के अध्ययन से ऐसा प्रतीत होता है कि नाटककार ने पौराणिक कथा को लेकर वास्तव में विदेशी राज्य के अत्याचारों से पीड़ित तत्कालीन पराधीन भारतवर्ष का चित्र अंकित करने के उद्देश्य से इस नाटक की रचना की है। इस नाटक में स्थान-स्थान पर संस्कृत के श्लोक दिये गये हैं और हिन्दी में भी पद्य का पर्याप्त मात्रा में प्रयोग किया गया है। 'स्वगत' का प्रयोग भी इस नाटक में बहुलता के साथ किया गया है, और कई स्वगत बहुत लंबे[1] बन पड़े हैं। संवादों में भावुकता और गति है, यद्यपि कई संवाद बहुत लंबे हैं। भाषा पर नाटककार का अधिकार स्तुत्य है।

यद्यपि नाटक का कथानक पूर्व-महाभारत-काल[2] से संबंध रखता है, फिर भी लेखक ने स्वच्छंदतापूर्वक पात्रों से संवादों के बीच उर्दू तथा अंग्रेज़ी के शब्द कहलाये हैं, जैसा कि इन उद्धरणों से स्पष्ट है—

तरुणी—······यहां तक तो है कि सभ्यता की इस नई चलन में बेटा बाप को मूर्ख और गँवार कहता है So wise we are born we call our fathers fools. **इसके आगे आप जानते ही होंगे।······परदा-परदा चिल्लाने वालों से कहो बैठे-बैठे सिर धुनें, उन्हें क्या मालूम कि यह सभ्यता और आज़ादगी का ज़माना है और आने वाला है।**

ज़माना आ लगा आज़ादगी का,
चहो सो कर लो भैया अपने जी का।
······················
करें भोजन मज़े से होटलों में,
मज़ा चख लें बेराण्डी और टी का।
मटन बिस्कुट और ह्विस्की भी उड़ायें,
नहीं इसमें इजारा है किसी का।
जो डूबे नाम पुरखों का तो डूबे,
भला क्या ज़िक्र है नेकी बदी का। इत्यादि।

अंग्रेज़ी औ' उर्दू के शब्दों का इस प्रकार स्वच्छन्द प्रयोग 'जैसा काम

१. देखिए प्रथम अंक का पहला तथा दूसरा दृश्य, दूसरे अंक का तीसरा दृश्य, तथा तीसरे अंक का पहला दृश्य। २. देखिए नाटक का कथा-प्रसंग।

वैसा परिणाम' जैसे प्रहसनों में भले ही उचित और सुन्दर जान पड़े, परन्तु पूर्व-महाभारत-युग के पात्रों के मुँह से उर्दू और अंग्रेज़ी के शब्द और वाक्य कहलाना सर्वथा अनुचित और दोषपूर्ण है। इतना ही नहीं, नाटक का समस्त वातावरण ही कुछ ऐसा है कि पूर्व-महाभारत-काल का चित्रण करने की अपेक्षा यह नाटक लेखक के समसामयिक समाज को प्रतिबिंबित करता है।

सामान्य नाटककार

भारतेन्दु के पथ-प्रदर्शन से प्रोत्साहित और उनकी नाट्यकला से प्रभावित इन प्रमुख नाटककारों के अतिरिक्त बहुत-से सामान्य नाटककार भी उन्नीसवीं शताब्दी में हुए। उन्होंने भी भारतेन्दु द्वारा चलाई हुई हिंदी नाटक की परम्परा को आगे बढ़ाने में योग दिया। परंतु उनकी रचनाओं में साहित्यिकता तथा नाटकोचित प्रतिभा का इतना अधिक समावेश नहीं जितना कि भारतेन्दु अथवा उपरिलिखित अधिकांश प्रमुख नाटककारों की रचनाओं में। दूसरे, इन सामान्य नाटककारों की रचनाओं में जनसाधारण के मनोरंजन अथवा समाज-सुधार आदि की विशेषता अधिक मिलती है। कला की कसौटी पर ये नाटक पूरे नहीं उतरते।

यद्यपि ऐसे सामान्य नाटककारों की संख्या बहुत अधिक है, परन्तु उनमें से बहुत-से लेखकों की रचनाएं अति साधारण (अथवा अप्राप्य) होने के कारण उनका उल्लेख यहाँ नहीं किया जायगा। इनमें से कुछ प्रमुख नाटक-कारों का ही यहां उल्लेख किया जा सकेगा।

सबसे पहले हम बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' को लेते हैं। ये भारतेन्दु के समकालीन थे। इनका 'भारत-सौभाग्य' (१८८८) भारतेन्दु के 'भारत-दुर्दशा' के अनुकरण में लिखा गया है। इसमें प्रस्तावना तथा छः अंक हैं और पात्रों की संख्या लगभग एक सौ है। नाटक का नायक भारत है और प्रति-नायक बद-इक़बालए-हिन्द है। प्रतिनायक निरंतर नायक के अनिष्ट-साधन में प्रयत्नशील रहता है और नायक दूसरों की सहायता के सहारे अपनी रक्षा करता है। अन्त में दूसरे का आश्रित बना रहने में ही अपना सौभाग्य समझता है।

वस्तु-विन्यास, चरित्र-चित्रण, कथोपकथन, भाषा तथा अभिनय आदि सभी दृष्टियों से यह नाटक बड़ा शिथिल और असफल है। भारतेन्दु के 'भारत-दुर्दशा' नाटक के मुक़ाबले में यह बहुत निम्न कोटि की रचना है।

'प्रेमघन' जी का दूसरा नाटक 'प्रयाग-रामागमन' (१६०४) है, जिसमें

श्रीराम के सीता और लक्ष्मण के साथ प्रयाग जाने और भरद्वाज मुनि का आतिथ्य स्वीकार करने का वृत्त है। वस्तु-संगठन और चरित्र-चित्रण का प्रायः अभाव होने पर भी 'भारत-सौभाग्य' की अपेक्षा यह नाटक साधारणतया अच्छा बन पड़ा है। जिस प्रकार संस्कृत नाटकों में शिक्षित पुरुष पात्र संस्कृत बोलते हैं, परन्तु स्त्री-पात्रों की भाषा प्रायः प्राकृत होती है, इसी प्रकार इस नाटक में राम आदि पुरुष पात्र खड़ीबोली का व्यवहार करते हैं, परन्तु सीता व्रजभाषा में बातचीत करती है। नाटक का पद्य भी संतोषजनक है।

इन दो रूपकों के अतिरिक्त 'प्रेमघन' जी ने 'वारांगना-रहस्य' नामक अपूर्ण नाटक तथा 'वृद्ध-विलाप' नामक छोटे-से सामान्य नाटक की रचना की।

राधाचरण गोस्वामी की सात नाटकीय रचनाएँ मिलती हैं। उनमें से 'सती चन्द्रावली' (१८६०) 'अमर राठौर' (१८६४) तथा 'श्रीदामा' (१६०४) मौलिक नाटक हैं। 'बूढ़े मुँह मुँहासे' (१८८७) 'तन मन धन गोसाईं जी के अर्पण' (१८६०) और 'भंग-तरंग' (१८६२) प्रहसन हैं, तथा 'सरोजिनी' अनुवाद है।

'सती चन्द्रावली' सात दृश्यों की छोटी-सी ऐतिहासिक नाटिका है और इसका वृत्त औरंगज़ेब के शासन-काल से सम्बन्ध रखता है। अशरफ़ ख़ाँ पानी भरने गई हुई चन्द्रावली को ज़बरदस्ती पकड़ कर अपने ख़ेमे में भेज देता है और उसके साथ निकाह करना चाहता है। परन्तु वह सती बड़े साहस के साथ उसका विरोध करती है। इस घटना का समाचार पाकर हिन्दू रईस औरंगज़ेब के पास चंद्रावली को छोड़ देने के लिए प्रार्थना करते हैं, परन्तु उन्हें निराश लौटना पड़ता है। इस पर हिन्दू जनता उत्तेजित होकर विद्रोह कर देती है और अशरफ़ ख़ाँ का मकान लूट लिया जाता है। इस पर औरंगज़ेब क़त्ले-आम का हुक्म देता है। अन्त में चन्द्रावली व्यर्थ का रक्तपात रोकने के लिए आत्महत्या कर लेती है और इस प्रकार नाटिका का अन्त दुःखमय होता है। नाटिका की कथा-वस्तु में रोचकता है और भाषा तथा भावों को लेखक ने अच्छी तरह संभाला है।

'अमरसिंह राठौर' भी ऐतिहासिक नाटक है जिसमें वीर रस की प्रधानता है। यह जोधपुर के राजा गजसिंह के वीर पुत्र अमरसिंह के वृत्त को लेकर लिखा गया है। इसमें पन्द्रह दृश्य हैं और इसमें अमरसिंह के स्वाभिमान, असीम साहस और अनुपम वीरता एवं निर्भीकता का सुन्दर ढंग से चित्रण किया गया है। नाटक की भाषा में ओज तथा संवादों में यथेष्ट शक्ति है। 'श्रीदामा' नाटक में प्रस्तावना तथा पाँच दृश्य हैं। इसमें श्रीकृष्ण द्वारा अपने

ब्राह्मण मित्र सुदामा के दारिद्रय को दूर करने का वृत्त है। यह साधारण कोटि का सुन्दर नाटक है।

इन छोटे-छोटे रूपकों में, जो कि वास्तव में एकांकी कहे जा सकते हैं, दृश्यों का परिवर्तन बड़ी शीघ्रता के साथ होता है। एक दृश्य में प्रायः एक घटना को रखा गया है। नाटककार ने अपने पात्रों के चरित्र का विकास पूर्ण रूप से नहीं किया, क्योंकि उसने चरित्र-चित्रण की अपेक्षा घटनाओं की ओर अधिक ध्यान दिया है। गोस्वामी जी के प्रहसनों पर अगले अध्याय में विचार किया जायगा।

प्रतापनारायण मिश्र का 'भारत-दुर्दशा' (१६०२) भारतेन्दु के 'भारत-दुर्दशा' का अनुकरण मात्र है। इसमें तीन अंक हैं और कलात्मक दृष्टि से यह साधारण-सी रचना है। मिश्र जी के 'कलिकौतुक रूपक' में नान्दी तथा चार दृश्य हैं, प्रस्तावना का अभाव है। इसमें घरेलू जीवन तथा सार्वजनिक जीवन के दोषों और दुराचारों का वर्णन है। इनका 'हठी हमीर' ऐतिहासिक नाटक है, जिसमें राणा हमीर तथा अलाउद्दीन के युद्ध का वर्णन है। राणा हमीर ने अलाउद्दीन के एक सरदार को शरण दी थी, इस पर अलाउद्दीन ने राणा पर चढ़ाई कर दी। परन्तु स्वाभिमानी और प्रणवीर हमीर ने अपने वचन को अन्त तक निभाया। इसी वृत्त को लेकर बाद में हरिकृष्ण प्रेमी ने 'आहुति'[1] नामक नाटक की रचना की। मिश्र जी का 'गोसंकट' नामक (१८८६) बड़ी साधारण-सी कृति है। इसमें गोरक्षा पर ज़ोर दिया गया है।

नाट्यकला की दृष्टि से प्रतापनारायण मिश्र के नाटक ऊँचे स्तर पर नहीं पहुँच पाते। फिर भी कहीं-कहीं लेखक की प्रतिभा, कवित्वशक्ति और शिष्ट परिहास का परिचय मिल जाता है। मुहावरों और प्रचलित कहावतों के प्रयोग से इनकी शैली में सजीवता आ गई है।

देवकीनन्दन त्रिपाठी ने भी अनेक सामान्य नाटकों की रचना की। उनके 'सीता-हरण' (१८७६) में प्रस्तावना तथा पाँच अंक हैं और इसमें सीता-हरण की कथा है। 'रुक्मिणी-हरण' (१८७६) तथा 'कंसवध' (१६०६) के कथानक श्रीकृष्ण के जीवन-चरित से लिये गये हैं। 'नन्दोत्सव' (१८८०) में कृष्ण-जन्म का वर्णन है और इसमें प्रस्तावना सहित चार अंक हैं। नन्द, यशोदा और रुक्मिणी आदि खड़ीबोली का प्रयोग करते हैं और गोप-गोपियाँ व्रजभाषा में बातचीत करती हैं। 'बाल-विवाह नाटक' (१८८१) बाल-विवाह की समस्या को लेकर

---

१ देखिए उन्नीसवाँ अध्याय।

लिखा गया है और इसमें दृश्यों में विभाजित तीन अंक हैं। 'प्रचण्ड-गोरक्षण' (१८८१) का विषय गोहत्या से सम्बन्ध रखता है। गोहत्या के प्रश्न पर हिन्दुओं और मुसलमानों में झगड़ा होता है। दोनों पक्ष कचहरी में जाते हैं, जहाँ पर हिन्दुओं के पक्ष में निर्णय दिया जाता है। त्रिपाठी जी के 'लक्ष्मी-सरस्वती-मिलन' नाटक (१८८१) तथा 'गोवध-निषेध' (१८८१) भी सामान्य-सी कृतियाँ हैं।

इन नाटकों के अतिरिक्त देवकीनन्दन त्रिपाठी ने 'जयनारसिंह की' 'होली खगेश' आदि प्रहसनों की भी रचना की। उन पर अगले अध्याय में विचार किया जायगा। त्रिपाठी जी के नाटक प्रायः साहित्यिक न होकर रंगमंचीय अधिक हैं।

शालिग्राम ने भी बहुत-से नाटक लिखे हैं, परन्तु कलात्मक दृष्टि से उनका कोई महत्त्व नहीं है। उनका 'अभिमन्यु-वध' (१८९६) जयद्रथ-वध पर समाप्त होता है। कथानक में आवश्यक ओज का अभाव है, और संवादों में भी यथेष्ट बल और वेग नहीं है। 'पुरु-विक्रम' (१९०६) में पोरस और सिकन्दर के युद्ध को नाटक का विषय बनाया गया है। वस्तु-संगठन और चरित्र-चित्रण का प्रायः अभाव है। कथोपकथन में भी शक्ति नहीं है, और भाषा भी ठीक ढंग की नहीं है। 'मोरध्वज' (१८९०) नाटक में प्रसिद्ध कृष्ण-भक्त राजा मोरध्वज की कथा वर्णित है। युधिष्ठिर के अश्वमेध यज्ञ के घोड़े को राजा मोरध्वज का पुत्र रोक लेता है और युद्ध में अर्जुन समेत सब को परास्त कर देता है। अन्त में अर्जुन के कहने पर श्रीकृष्ण साधुवेश धारण करके अपने भक्त की परीक्षा लेते हैं और वह उस परीक्षा में सफल होता है।

शालिग्राम के 'अर्जुन-मद-मर्दन', 'लावण्यवती-सुदर्शन' (१८९२) तथा 'माधवानल कामकन्दला' (१९०४) आदि अन्य नाटक भी बहुत साधारण हैं। इनके सब नाटकों में 'मोरध्वज' को ही अपेक्षाकृत उत्कृष्ट कहा जा सकता है। अन्यथा नाटककार कहीं भी अपनी नाटकीय प्रतिभा अथवा कला-कौशल का परिचय नहीं दे सका। न वह वस्तु-संगठन अथवा चरित्र-चित्रण में सफल हो सका है, न ही उसके संवादों में यथेष्ट शक्ति और वेग है।

अंबिकादत्त व्यास ने भी बहुत से रूपक लिखे हैं जिनमें से चार-पांच उल्लेखनीय हैं। 'भारत-सौभाग्य' (१८८७) में लेखक ने भारतवर्ष में ब्रिटिश राज्य की प्रशंसा की है। 'गोसंकट नाटक' (१८८६) में गोहत्या का विषय है। बकरीद के दिन गोहत्या का समाचार सुनकर हिन्दू जनता उत्तेजित होकर बादशाह अकबर के पास जाकर फ़र्याद करती है, जिस पर अकबर अपने

राज्य में गोहत्या बन्द करने की आज्ञा देता है। इसमें तीन अंक हैं। 'ललिता नाटिका' (१८८३) भी चार अंकों की छोटी-सी रचना है। यह व्रजभाषा में है और रासलीला के उद्देश्य से लिखी गई प्रतीत होती है। 'मन की उमंग' (१८८६) भी व्यास जी की एक साधारण-सी नाटकीय कृति है। इन मौलिक रचनाओं के अतिरिक्त अंबिकादत्त व्यास ने भट्टनारायण के 'वेणीसंहार' नाटक का हिन्दी में अनुवाद किया। व्यास जी के नाटकों में वस्तु-संगठन तथा चरित्र-चित्रण आदि आवश्यक नाटकीय तत्त्वों का प्रायः अभाव है। भाषा भी विशेष प्रभावोत्पादक और सबल नहीं है। 'गोसंकट नाटक' और 'ललिता नाटिका' में कहीं-कहीं हास्य का पुट है।

बांकीपुर (पटना) के विख्यात खड्ग-विलास प्रेस के संस्थापक लाल खड्ग-बहादुरमल्ल ने भी अनेक रूपकों की रचना की है। उनका 'रति-कुसुमायुध' (१८८५) पाँच दृश्यों का छोटा-सा शृङ्गारिक नाटक है। 'महारास' (१८८५) का कथानक भागवत पुराण के २६-३२ अध्यायों से लिया गया है। यह भी शृङ्गाररस-प्रधान रूपक है और इसमें नान्दी तथा प्रस्तावना सहित चार अंक हैं। 'हर-तालिका' (१८८७) में केवल चार दृश्य हैं और इसमें पार्वती जी के व्रत का वर्णन है। 'कल्प-वृक्ष' (१८८७) की वस्तु हरिवंश पुराण के ११७-१२८ अध्यायों से ली गई है। इसमें श्रीकृष्ण की पत्नी सत्यभामा के गर्व का खण्डन दिखाया गया है। इसमें शृङ्गार, वीर, रौद्र और बीभत्स आदि रसों का समावेश है। 'भारत-ललना' भी साधारण-सी रचना है। नाट्य-कला के विचार से इनमें से किसी नाटक का भी महत्त्व नहीं है।

बलदेवप्रसाद मिश्र का 'मीराबाई' (१८६७) भक्तिरस से पूर्ण सुन्दर नाटक है, जिसमें भक्तिभाव से परिपूर्ण मीरा के पदों का भी बीच-बीच में उपयोग किया गया है। इनके 'प्रभास-मिलन' नाटक (१६०३) में श्रीकृष्ण और वसुदेव आदि तथा नन्द-यशोदा और गोप-गोपियों के तीर्थ-यात्रा करते हुए प्रभास-क्षेत्र में मिलने का वर्णन है। दुर्गाप्रसाद मिश्र ने भी इसी नाम का एक और नाटक लिखा है जोकि बँगला के 'प्रभास-यज्ञ' नामक नाटक का रूपान्तर कहा जा सकता है।

तोताराम के 'विवाह-विडम्बन' (१६००) में बाल-विवाह तथा विवाह के अवसर पर अपव्यय का दुष्परिणाम दिखाया गया है। नाटक में चार अंक हैं। निम्न कोटि के पुरुष पात्र और स्त्रियाँ व्रजभाषा का प्रयोग करते हैं। शेष पात्रों की भाषा खड़ीबोली है। कृष्णदेवशरणसिंह 'गोप' ने भारतेन्दु की 'श्रीचन्द्रावली' का व्रजभाषा में रूपान्तर किया। उक्त नाटिका के अनुकरण में उन्होंने 'माधुरी

रूपक' (१८८८) की रचना की। यह एक छोटा-सा रूपक है और इसकी भाषा व्रजमिश्रित खड़ीबोली है। इसमें श्रीकृष्ण के विरह से पीड़ित माधुरी की दशा का चित्रण है। जहाँ भारतेन्दु-रचित 'श्रीचन्द्रावली' में अन्त में चन्द्रावली का कृष्ण के साथ मिलन हो जाता है, वहाँ इस रूपक के अन्त में माधुरी विरह-वेदना से मूर्च्छित होकर गिर पड़ती है। यह रूपक भारतेन्दु की नाटिका के स्तर तक नहीं उठ सका। इसमें भावों के तीखापन और सच्ची अनुभूति का अभाव है।

अमानसिंह गोटिया का 'मदनमंजरी' नाटक (१८८४) भारतेन्दु के 'विद्या-सुन्दर' नाटक की पद्धति पर लिखा गया है। इसमें शृंगार रस की प्रधानता है। राजकुमार मदनमोहन तथा राजकुमारी मंजरी में परस्पर अनुराग हो जाता है। यह जानकर मंजरी का पिता राजकुमार को बन्दी कर लेता है। प्रेमी और प्रेमिका विरह से दुःखी होते हैं। अन्त में राजकुमार का पिता अपनी सेना के बल से पुत्र को बंधन से मुक्त कराता है और मदन तथा मंजरी का विवाह हो जाता है। कला की दृष्टि से नाटक साधारण है, परन्तु भाषा का रूप उस समय के लिए परिमार्जित है।

दामोदर शास्त्री का 'रामलीला नाटक' (१८८८-८९) एक बृहदाकार नाटक है जिसमें रामायण की संपूर्ण कथा को लेकर नाटक का रूप देने का प्रयास किया गया है। इस रचना में नाटकोचित विकास का अभाव है। केवल अलग-अलग अंकों में रामायण के सातों काण्डों की मुख्य घटनाओं का उल्लेख है। इटावा के रत्नचन्द ने भी 'न्यायसभा नाटक' (१८९२) 'प्रपंच-नाटक' तथा 'हिन्दी-उर्दू-नाटक' (१८९०) आदि कुछ सामान्य से नाटकों की रचना की। 'भ्रमजालक' शीर्षक से इन्हों ने शेक्सपियर के नाटक Comedy of Errors का हिन्दी में अनुवाद भी किया।

ज्वालाप्रसाद मिश्र ने 'सीता-बनवास' (१८९५) नाटक लिखा तथा भट्ट-नारायण के 'वेणीसंहार' तथा कालिदास के 'शकुन्तला' का हिन्दी में अनुवाद किया। काशीनाथ खत्री ने भी साधारण से कुछ रूपक लिखे हैं। इनके 'ग्राम-पाठशाला तथा निकृष्ट नौकरी' में दो छोटे-छोटे स्वतन्त्र रूपक हैं। पहले में ग्राम-पाठशालाओं में अध्यापकों की बुरी दशा का चित्रण है। दूसरे रूपक में यह दिखाया गया है कि नौकरी प्राप्त करने के लिए कितनी कठिनाइयाँ सहन करनी पड़ती हैं और नौकरी मिल जाने पर भी कितनी दुर्दशा होती है। नाटकीय गुणों के दर्शन तो इन रूपकों में नहीं होते, परन्तु तत्कालीन नौकरी तथा ग्राम-अध्यापकों की दुर्दशा दिखाने के लेखक के ढंग में पर्याप्त शक्ति और रोचकता है।

इनका दूसरा ग्रन्थ 'तीन ऐतिहासिक रूपक' (१८८४) है जिसमें छोटे-छोटे तीन स्वतन्त्र रूपक संगृहीत हैं। इनमें से पहले रूपक 'सिन्धु देश की राजकुमारियाँ' में मुसलमानों द्वारा सिन्ध प्रदेश पर आक्रमण का तथा सिन्धु-नरेश दाहर की पुत्रियों की वीरता और साहस का वर्णन है। दूसरे नाटक 'गुन्नौर की रानी' में गुन्नौर (भूपाल) के पराजित राजा की विधवा रानी का वृत्तांत है। 'लवजी का स्वप्न' कालिदास के 'रघुवंश' की एक कथा के आधार पर रचा गया है। इसका कथानक श्रीराम के पुत्र लव से सम्बंधित है। यद्यपि रोचकता की मात्रा इस संग्रह के नाटकों में पहले संग्रह की अपेक्षा कुछ अधिक है, तथापि वस्तु-संगठन और चरित्र-चित्रण आदि में इस संग्रह के रूपक भी उतने ही निराशाजनक हैं।

ऊपर वर्णन किये गये सामान्य नाटककारों के संबंध में संक्षेप से यह कहा जा सकता है कि इनकी रचनाओं में पारसी रंगमंच का प्रभाव न्यूनाधिक मात्रा में अवश्य दिखाई देता है। देश-प्रेम की भावना और समाज-सुधार के उद्देश्य से अपने नाटकों की रचना करते हुए इन नाटककारों ने इस बात का ध्यान रखा है कि जहाँ इनके नाटकों से राष्ट्र, जाति तथा समाज का कुछ सुधार और कल्याण हो, वहाँ साथ में 'इन्दर-सभा', 'गुल-बकावली' तथा 'लैला मजनूँ' जैसे पारसी रंगमंचीय नाटकों का-सा मनोरंजन भी कुछ अंश में उनकी रचनाओं में बना रहे। इस उद्देश्य के फलस्वरूप इन सामान्य नाटककारों की रचनाओं में अधिकतर न तो वैज्ञानिक ढंग से वस्तु का संगठन ही किया गया है, न चरित्र-चित्रण की ओर ही यथोचित ध्यान दिया गया है। नाटकीय गुणों के विचार से ये रचनाएँ अति साधारण अपितु निकृष्ट हैं। जहाँ इस अध्याय के प्रमुख नाटककारों ने अपनी रचनाओं में प्रायः साहित्यिकता की ओर विशेष ध्यान दिया है, वहाँ सामान्य नाटककारों ने अधिकतर विषय आदि की दृष्टि से भारतेन्दु से प्रेरणा ग्रहण करके प्रचलित रंगमंच के लिए तथा मनोरंजन के उद्देश्य से नाटक-रचना की।

छटा अध्याय

उन्नीसवीं शताब्दी के अन्य नाटककार (ख)

(अ) प्रहसन

साहित्यिक तथा सामान्य नाटकों के अतिरिक्त, जिनका उल्लेख पिछले अध्याय में किया गया है, उन्नीसवीं शताब्दी में बहुत से प्रहसनों की रचना भी हुई। हास्य रस को संस्कृत नाटकों में विशेष स्थान प्राप्त था और इस रस की सृष्टि के लिए प्राय: प्रत्येक संस्कृत नाटक में विदूषक की अवतारणा की जाती थी। रूपक के दस भेदों में प्रहसन हास्य-प्रधान है। परन्तु संस्कृत के प्रहसनों तथा हिंदी के प्रहसनों के उद्देश्य में विशेष अन्तर इस बात में दिखाई देता है कि जहाँ संस्कृत के प्रहसनों का मुख्य उद्देश्य केवल हास्य-विनोद ही होता था, वहाँ हिंदी के प्रहसनों में हास्य-विनोद का उपर्युक्त उद्देश्य गौण हो गया और उनका मुख्य उद्देश्य तत्कालीन सामाजिक, धार्मिक अथवा राजनीतिक दोषों और कुरीतियों पर व्यंग्य करना हो गया। इस विशेषता में हिंदी प्रहसन पर पाश्चात्य साहित्य का प्रभाव पड़ा है। पाश्चात्य साहित्य की 'कामेडी' और 'फ़ार्स' से प्रभावित होकर भारतीय लेखकों ने अपने प्रहसनों में हास्य के साथ-साथ व्यंग्य का समावेश करने की प्रथा निकाली।

हिंदी साहित्य में प्रहसन लिखने की प्रथा सबसे प्रथम भारतेन्दु ने चलाई। उनका 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' (१८७३) हिंदी का पहला प्रहसन है। तदनन्तर उन्होंने १८८० में 'अंधेर नगरी' नामक प्रहसन लिखा। इन दोनों प्रहसनों का उल्लेख चौथे अध्याय में किया जा चुका है।

भारतेन्दु के पश्चात् प्रहसनों की परम्परा हिंदी साहित्य में पूरे वेग के साथ चल पड़ी, और इनकी लोकप्रियता भी बहुत बढ़ गई। साधारण लोग साहित्यिक नाटकों की अपेक्षा प्रहसनों में अधिक आनन्द लेने लगे। धीरे-धीरे प्रहसनों के विषय और वस्तु का क्षेत्र भी बहुत विशाल और व्यापक हो गया, और उनमें अनेक प्रकार की सामाजिक कुरीतियों, धार्मिक तथा घरेलू कुप्रथाओं आदि पर व्यंग्य-प्रहार किया जाने लगा। उन्नीसवीं शताब्दी के प्रहसनों के प्रमुख विषय निम्नलिखित हैं—बाल-विवाह, अनमेल विवाह, बहुविवाह, द्यूत-क्रीड़ा, वेश्या-वृत्ति, स्त्रियों की दासता और हीन दशा, मांसाहार, मदिरापान, धनाढ्यों की धन-लोलुपता, साधु-संतों का पाखण्ड, स्वार्थ और कपट, पाश्चात्य सभ्यता

और फ़ैशन का अन्धानुकरण इत्यादि। उन्नीसवीं शताब्दी के प्रहसनों में बार-बार इन्हीं विषयों को लेकर व्यंग्य-बाणों की वर्षा की गई है।

बालकृष्ण भट्ट ने सन् १८७७ में 'जैसा काम वैसा परिणाम' नामक प्रहसन लिखा। इसमें भट्ट जी ने बड़े मनोरंजक परन्तु प्रभावोत्पादक ढंग से मदिरापान और वेश्यागमन के बुरे परिणाम को दिखाया है। यह इस काल के उत्कृष्ट प्रहसनों में से है। प्रहसन का नायक रसिकलाल वेश्यागमन तथा मदिरापान में मग्न होकर अपनी सती पत्नी से विमुख हो जाता है। इसी व्यसन में वह अपने धन का अपव्यय भी करता है। परन्तु उसकी परम प्रेयसी वेश्या, जिसके प्रेम में वह पागल हो रहा था, अन्त में उसका धन समाप्त हो जाने पर उसका अपमान और तिरस्कार करके उसे अपने घर से बाहर निकाल देती है। प्रहसन में भट्ट जी ने बड़े सजीवरूप में वेश्या के प्रेम की अस्थिरता और उसके हृदय की चंचलता और परिवर्तनशीलता का चित्रण किया है। रसिकलाल की प्रेयसी वेश्या 'मोहिनी' स्वयं इन शब्दों में वेश्या के चरित्र और व्यवहार का यथार्थ चित्रण करती है—

मोहिनी—...हम लोग बाज़ार की बैठने वाली हैं, जिसे हम चाहें उसके लिये प्राण तक दे डालें, सिर्फ़ जी आना चाहिए। और जिसे हम बिगाड़ा चाहें उसका निस्तार भी कहीं नहीं है। हमारे स्वभाव को नहीं जानता, सुन—

मनसे करें और को ध्यान, दृग से करें और को मान।
अन्य पुरुष से करें विहार, तन से करें और को प्यार॥

(चौथा दृश्य)

रसिकलाल की पतिपरायणा पत्नी 'मालती' अपने पति के इस व्यसन को छुड़ाने के लिए एक विचित्र चाल चलती है। एक रात अपने पति के लौटने के समय वह अपनी दासी को पुरुष-वेश पहनाकर उसके साथ प्रेमालाप करने का स्वांग रचती है। रसिकलाल में भला इतनी क्षमता कहाँ। क्रोध से पागल होक वह मालती को मारने के लिए उद्यत होता है। तब मालती बड़ी ि कता के साथ उत्तर देती है —

मालती—क्यों नहीं, क्या हमारा आदमी का चोला नहीं है? या कि हमारी देह लोहू मांस की नहीं है? क्या हमारे मन नहीं है? क्या हमारे इन्द्रियाँ नहीं हैं? क्या हमको सुख दुःख का ज्ञान नहीं है? हम तो कोई चीज़ ही न ठहरीं, और फिर तुम हमारा बड़ा सत्कार जो करते हो न!　　　　(पाँचवां दृश्य)

पत्नी की इस फटकार पर रसिकलाल अपने व्यसन को सदा के लिए छोड़ देने का प्रण करता है और प्रहसन का अन्त इस भरतवाक्य के साथ होता है—

होहिं एक पत्नीव्रत-रत सब भारत नरवर।
तजहिं कुपथ, पथ गहहिं धर्मकर दुर्मति तजकर॥
तजि वेश्या-संग रमन करहिं श्रद्धा निज तिय पर।
जासों सुधरहिं दशा दीन भारत कै सत्वर॥

भाषा पर भट्ट जी का यथेष्ट अधिकार है। इस प्रहसन में भी उन्होंने बहुत से अंग्रेज़ी शब्दों और वाक्यांशों का प्रयोग किया है, जिनको समझना अंग्रेज़ी से अपरिचित पाठकों और दर्शकों के लिए कठिन होगा।

भट्ट जी के बाद हिंदी साहित्य में प्रहसनों की बाढ़-सी आ गई। देवकीनन्दन त्रिपाठी ने निम्नलिखित प्रहसनों की रचना की—'रक्षाबंधन' (१८७८) 'एक एक के तीन तीन' (१८७६), 'स्त्रीचरित्र' (१८७६), 'वेश्याविलास', 'बैल छः टके को', 'जय नारसिंह की' (१८८३), 'सैकड़े में दस दस', तथा 'कलजुगी जनेऊ' (१८८५)। 'रक्षाबंधन' में मदिरापान तथा वेश्यागमन के दोषों पर प्रकाश डाला गया है। 'एक एक के तीन तीन' में रुपया उधार देने वालों की बेइमानी का वर्णन है। 'स्त्रीचरित्र' में त्रिया-चरित्र का चित्र प्रस्तुत किया गया है। 'जयनारसिंह की' में जादू-टोना वालों के व्यवहार का वर्णन है। अन्य प्रहसनों में भी सामाजिक कुरीतियों और घरेलू व्यसनों आदि पर व्यंग्य की सृष्टि की गई है। त्रिपाठी जी उन्नीसवीं शताब्दी के प्रमुख प्रहसनकारों में से हैं और भारतेन्दु तथा बालकृष्ण भट्ट की भाँति इनके व्यंग्य में भी कठोरता और तीखापन है।

लाल खड्गबहादुरमल्ल के 'भारत-आरत' (१८८८) में दुःखी और दरिद्र भारतवर्ष का वर्णन है। इसमें केवल चार दृश्य हैं। 'बूढ़े मुँह मुँहासे' (१८८७) में राधाचरण गोस्वामी ने उन धूर्त लोगों को अपने व्यंग्य का लक्ष्य बनाया है, जो ऊपर से तो अपने-आपको बड़ा भक्त तथा धार्मिक दिखाने की चेष्टा करते हैं परंतु वास्तव में उनके हृदय पर वासना, लोभ और मोह का अधिकार होता है। गोस्वामी जी का 'तन, मन, धन गोसाईं जी के अर्पण' (१८९०) भी एक सुन्दर प्रहसन है। इसमें लेखक ने उन श्रद्धालु भक्तों का उपहास किया है जो दुराचारी गुरुओं में अंधविश्वास रखकर अपनी बहू-बेटियों और पत्नियों को उनके पास भेजते हैं और उनसे उनकी प्रतिष्ठा लुटवाते हैं। 'भंग-तरंग' (१८९२) भी राधाचरण गोस्वामी का छोटा सा प्रहसन है।

'चौपट चपेट' (१८९१) में किशोरीलाल गोस्वामी ने मद्यपान और

द्यूतक्रीड़ा आदि व्यसनों की निन्दा की है। नायिका चम्पकलता अपने सतीत्व पर दृढ़ है। मदनमोहन नामक एक लंपट उसको फुसलाने का प्रयत्न करता है, परन्तु चम्पकलता उसकी अच्छी ताड़ना करती है। देवकीनंदन तिवारी के 'कलजुगी विवाह' में बाल-विवाह, विवाहों में अपव्यय करने तथा भद्दे गीत गाने की निन्दा की गई है। गोपालराम गहमरी के 'जैसे को तैसा' में वृद्ध-विवाह के दोषों को दिखाया गया है। नवलसिंह के 'वेश्यानाटक' में वेश्यावृत्ति के दोष तथा वेश्यागामियों के अपमान का वर्णन है। विजयानन्द त्रिपाठी ने भारतेन्दु की शैली पर 'महा अंधेरनगरी' (१८९२) की रचना की, तथा देवदत्त शर्मा ने 'अति अंधेर-नगरी' (१८९५) नामक प्रहसन लिखा। बलदेव-प्रसाद मिश्र ने सन् १९०० में 'लल्लाबाबू' प्रहसन लिखा। इनके अतिरिक्त कुछ और भी छोटे-छोटे साधारण कोटि के प्रहसन आलोच्य काल में रचे गये।

आलोचनात्मक दृष्टि से यदि इस शताब्दी के प्रहसनों की परीक्षा की जाय तो भारतेन्दु के पश्चात् केवल देवकीनंदन त्रिपाठी और बालकृष्ण भट्ट के प्रहसन ही उत्कृष्ट हैं। इन दोनों प्रहसनकारों का, तथा कुछ हद तक राधाचरण गोस्वामी का हास्य उच्च कोटि का और शिष्ट है और इनके व्यंग्य में भी तीखापन और शक्ति है। शेष प्रहसनकारों की रचनाएँ प्रायः असफल और निराशाप्रद हैं। उनके हास्य में स्वाभाविकता नहीं, कृत्रिमता है, बनावटीपन है। भद्दे, अशिष्ट और अश्लीलतापूर्ण वार्तालाप भरने में भी उन्होंने संकोच नहीं किया। परिस्थिति से उत्पन्न हास्य इन प्रहसनों में बहुत कम मिलता है। व्यंग्य में भी यथेष्ट शक्ति और तीखापन नहीं है। इसके अतिरिक्त लेखकों ने बार-बार उन्हीं विषयों को लेकर प्रहसनों की रचना की है। विषयों के संकलन में मौलिकता, नई सूझ या सूक्ष्म प्रतिभा का परिचय इन लेखकों ने बहुत कम दिया है। न ही विषयों के प्रतिपादन में प्रतिभा अथवा कौशल का प्रमाण दिया है। कलात्मक दृष्टि से ये प्रहसन अधिकतर निम्न कोटि के और सामान्य हैं। केवल एक बात को ध्यान में रखते हुए हमें इस काल के सामान्य प्रहसन-कारों से संतोष हो सकता है, कि यह हिन्दी नाटक या प्रहसन-रचना का आरंभ-काल था, इसलिए प्रौढ़ तथा कलात्मक दृष्टिकोण और विषय-प्रतिपादन की विशेष कुशलता से ये प्रहसनकार प्रायः वंचित थे। इनके समय में प्रहसन-रचना अपनी पहली अवस्था अथवा शैशव में थी। इसलिए यौवनोचित विकास, उन्नति और उत्कृष्टता के दर्शन इनकी रचनाओं में प्रायः नहीं होते। परन्तु अपने युग की घरेलू, सामाजिक, धार्मिक अथवा राजनीतिक परिस्थितियों का यथार्थ चित्रण अधिकतर प्रहसनों में अवश्य मिलता है।

(आ) अनुवाद

जैसा कि हम तीसरे अध्याय में लिख चुके हैं, उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य-काल के आसपास यूरोपियन विद्वानों ने संस्कृत-साहित्य का सावधानी के साथ आलोचनात्मक अनुशीलन आरंभ किया। इङ्गलैंड तथा अन्य पाश्चात्त्य देशों का ध्यान संस्कृत भाषा तथा साहित्य के गौरव की ओर आकृष्ट हुआ, तथा संस्कृत के मुख्य ग्रन्थों के पाश्चात्त्य भाषाओं में अनुवाद होने लगे। इस दिशा में सर्व-प्रथम परिश्रम करने वाले सर विलियम जोन्स थे। उन्होंने कालिदास के 'शकुन्तला' का अंग्रेज़ी में अनुवाद किया। तदनन्तर अन्य पाश्चात्त्य विद्वान् भी संस्कृत साहित्य के अनुशीलन और आलोचना में प्रवृत्त हुए, और सर मोनियर विलियम्स, रॉथ, प्रिन्सेप, मैक्सम्यूलर, बोह्तलिक, मैकडानल, विन्टरनिट्ज़ और कीथ आदि विद्वानों ने बड़ी तत्परता के साथ संस्कृत-साहित्य पर काम किया। प्रसिद्ध जर्मन कवि और दार्शनिक गेटे ने कालिदास के 'शकुन्तला' तथा 'मेघदूत' की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की।

यद्यपि पाश्चात्त्य विद्वानों के प्रेम और परिश्रम से पश्चिमी देशों में संस्कृत भाषा और साहित्य का गौरव बहुत कुछ प्रतिष्ठित हो गया, तो भी भारतवासी अभी तक संस्कृत-साहित्य के मूल्य तथा महत्त्व के प्रति सचेत न हो पाये थे। अपने प्राचीन ग्रन्थों का ठीक से मूल्यांकन वे अभी तक न कर सके थे। वस्तुतः जागृति की लहर भारतवर्ष में सामान्यतः और उत्तर-भारत में विशेषतः आर्य-समाज के आंदोलन के फलस्वरूप हुई। आर्यसमाज के संस्थापक महर्षि स्वामी दयानन्द सरस्वती के अनथक परिश्रम और उनकी निःस्वार्थ निर्भीक सेवा से, उनके विद्वत्तापूर्ण व्याख्यानों एवं ज्ञानोपदेशों के प्रभाव से भारतीयों का ध्यान भी अपने उज्ज्वल अतीत और उसके गौरवशाली साहित्य की ओर आकृष्ट हुआ। शताब्दियों की दासता और अविद्या के कारण जिस प्राचीन गौरव की याद धूमिल हो रही थी, उसी प्राचीन सभ्यता और संस्कृति, साहित्य और इतिहास पर अब भारतवासी गर्व करने लगे।

जब भारतीय विद्वान् अपनी प्राचीन सभ्यता और साहित्य के गौरव और महत्त्व को पहचानने लगे तो धीरे-धीरे उनके मन में प्रमुख संस्कृत ग्रन्थों को हिंदी में अनूदित करने का विचार जागृत हुआ। इस दिशा में सबसे पहला प्रयास कालिदास के 'शकुन्तला' नाटक का राजा लक्ष्मणसिंह द्वारा किया हुआ सुन्दर और सफल अनुवाद है। इस पर तृतीय अध्याय में विचार किया जा चुका है। राजा साहब से पूर्व भी कुछ लेखकों ने संस्कृत नाटकों के हिन्दी अनुवाद अथवा

रूपांतर प्रस्तुत करने का प्रयास किया था, परन्तु ये सफल अथवा सुन्दर अनुवाद न थे। इन सबका उल्लेख तीसरे अध्याय में किया जा चुका है।

राजा लक्ष्मणसिंह के पश्चात् अनुवादकों की सूची में भारतेन्दु का नाम आता है। भारतेन्दु ने 'रत्नावली', 'विद्यासुन्दर', 'पाखण्ड-विडंबन', 'मुद्राराक्षस' नाटक संस्कृत से और 'कर्पूरमंजरी' प्राकृत से अनूदित किये। चतुर्थ अध्याय में इन सब पर विचार किया जा चुका है। इसके अतिरिक्त देवदत्त तिवारी ने भवभूति के 'उत्तररामचरित' का १८७१ में अनुवाद किया। नन्दलाल विश्वनाथ ने भी 'उत्तररामचरित' (१८९६) का तथा 'शकुन्तला' (१८८८) का हिन्दी में अनुवाद किया। रामेश्वर भट्ट ने हर्ष की 'रत्नावली' का १८९५ में अनुवाद किया। बालमुकुन्द गुप्त ने १९०२ में (बाबू राधाकृष्णदास के साथ) 'रत्नावली' के भारतेन्दुकृत अपूर्ण अनुवाद को सम्पूर्ण किया। ज्वालाप्रसाद मिश्र ने 'वेणी-संहार' का तथा 'शकुन्तला' का अनुवाद किया। शीतलाप्रसाद ने कृष्ण मिश्र के 'प्रबोधचन्द्रोदय' (१८७९) का अनुवाद किया। शूद्रक के 'मृच्छकटिक' के भी गदाधर भट्ट तथा दामोदर शास्त्री आदि अनेक विद्वानों ने हिन्दी में अलग-अलग अनुवाद किये। अंबिकादत्त व्यास ने भी 'वेणीसंहार' का अनुवाद किया।

रायबहादुर लाला सीताराम ने भी बहुत से संस्कृत नाटकों को हिन्दी में अनूदित किया। उन्होंने भवभूति के तीनों नाटकों 'महावीरचरित' (१८९७) 'उत्तररामचरित' (१८९७) और 'मालतीमाधव' (१८९८) का अनुवाद किया। कालिदास के 'मालविकाग्निमित्र' (१८९८) का, शूद्रक के 'मृच्छकटिक' (१८९८) का तथा हर्ष के 'नागानन्द' (१९००) का भी अनुवाद किया। शालिग्राम ने भी 'मालतीमाधव' (१८८१) का अनुवाद किया। इनके अतिरिक्त कुछ दूसरे सामान्य अथवा अज्ञात लेखकों द्वारा भी संस्कृत के कतिपय नाटक हिन्दी में अनूदित हुए।

ऊपर दी हुई सूची में कुछेक अनुवाद (उदाहरण के लिए ला० सीताराम कृत 'मालविकाग्निमित्र' का अनुवाद, बालमुकुन्द गुप्त का 'रत्नावली' का अनुवाद तथा अंबिकादत्त व्यास कृत 'वेणीसंहार' का अनुवाद) बड़े सफल और सुन्दर हैं। उनमें मूल नाटकों का सौंदर्य, प्रभाव और शक्ति बहुत कुछ सुरक्षित रह सकी है। किन्तु कुछ अनुवाद (उदाहरण के लिए ज्वालाप्रसाद मिश्र का 'शकुन्तला' का अनुवाद) बहुत घटिया और सर्वथा असफल है। इनमें मूल नाटकों के सौंदर्य और रोचकता को नष्ट कर दिया गया है। संस्कृत नाटकों के इन अनुवादों से केवल इतना ही लाभ हुआ कि जो लोग संस्कृत से अनभिज्ञ थे, वे इन अनुवादों की सहायता से संस्कृत नाटकों का कुछ रसास्वादन करने में समर्थ हो गये।

जहाँ हमारे विद्वानों ने अपने नाटक-साहित्य को अनेक संस्कृत नाटकों के अनुवादों से समृद्ध किया, वहाँ उन्होंने बँगला नाटक से लाभ उठाने में भी संकोच नहीं किया। बँगला के कुछ सुन्दर नाटकों के हिन्दी में अनुवाद प्रस्तुत करके उन्होंने बँगला से अनभिज्ञ लोगों को उस भाषा के नाटकों की कला और मनोरंजन से लाभ उठाने का अवसर दिया। बाबू रामकृष्ण वर्मा ने राजकिशोर दे के 'पद्मावती' (१८८८) नाटक का, द्वारिकानाथ गंगूली के 'वीरनारी' (१८८६) का तथा माइकल मधुसूदनदत्त के 'कृष्ण-कुमारी' (१८६६) का हिन्दी में अनुवाद किया। 'पद्मावती' में विदर्भ के राजा इन्द्रनील और पद्मावती की प्रेम-कथा है और इसमें पाँच अंक हैं। देवर्षि नारद ने कुबेर की स्त्री मुरजा तथा रति में से अधिक सुन्दर को इनाम फल देने का वचन दिया। विदर्भ के राजा इन्द्रनील ने दोनों में से रति के अधिक सुन्दर होने का निर्णय दिया और फल उसको दे दिया गया। अब मुरजा ने राजा से अपने अपमान का बदला लेने का निश्चय किया। उधर रति भी राजा की सहायता को तत्पर हो गई। महेश्वरपुरी के राजा यज्ञसेन की पुत्री पद्मावती तथा राजा इन्द्रनील में स्वप्नदर्शन द्वारा प्रेम अंकुरित हुआ। मुरजा ने दोनों के मिलन के मार्ग में अनेक बाधाएँ उपस्थित कीं, परन्तु अन्त में रति की सहायता से इन्द्रनील और पद्मावती का मिलन तथा विवाह संपन्न हो गया।

'वीर नारी' में सिन्धु देश के राजा दाहर के मुसलमानों के हाथों से युद्ध में मारे जाने पर उनकी वीर रानी के शत्रु के साथ युद्ध करने का वर्णन है। 'कृष्णा-कुमारी' में मेवाड़ की सुन्दर राजकुमारी कृष्णा के बलिदान की कथा है। मेवाड़ की राजकुमारी कृष्णा अपने अनुपम सौंदर्य के लिए विख्यात थी। उसके साथ विवाह करने की लालसा से जोधपुर के राजा ने मेवाड़पति भीमसिंह के पास सन्देश भेजा। दूसरी ओर जयपुर के राजा ने भी इसी आशय का सन्देश मेवाड़-नरेश को भेजा। कृष्णा के पिता गहरी चिन्ता में पड़ गये। दोनों याचकों में से जिसको निराश किया जायगा, वही मेवाड़ पर आक्रमण कर देगा। अन्त में युद्ध से बचने तथा सेना के रक्तपात को रोकने के लिए अमीरखाँ पिंडारा की सम्मति से कृष्णा की हत्या कर दी गई। इसी कथावस्तु में कुछ परिवर्तन करके हरिकृष्ण प्रेमी ने भी बाद में 'विषपान' नाटक की रचना की।

ये तीनों अनुवाद बड़े सफल और सुन्दर हैं। इनमें मूल जैसी सजीवता, प्रवाह और शक्ति है। भाषा पर भी वर्मा जी का अच्छा अधिकार है। इनसे वर्मा जी की अनुवाद-कुशलता का यथेष्ट परिचय मिलता है।

बालकृष्ण भट्ट ने भी बंगला के 'पद्मावती' और 'शर्मिष्ठा' नामक नाटकों के

अनुवाद किये, परन्तु उनके अनुवाद अपूर्ण हैं। मुंशी उदितनारायणलाल ने 'अश्रुमती नाटक' (१८९५) का, 'दीप-निर्वाण' का तथा 'सती नाटक' (१८८९) का अनुवाद किया। पं० व्रजनाथ ने माइकल मधुसूदनदत्त के प्रसिद्ध प्रहसन 'एकी की बोले सभ्यता' का 'क्या इसी को सभ्यता कहते हैं' (१८८८) शीर्षक से अनुवाद किया। इस प्रहसन में लेखक ने अंग्रेज़ी शिक्षा के दुष्परिणामों पर व्यंग्य किया है।

इन अनुवादों के अतिरिक्त केशवराम भट्ट ने दो बँगला नाटकों को हिन्दी में रूपान्तरित किया। उन्होंने बँगला के 'शरत् और सरोजिनी' के आधार पर 'सज्जाद सुम्बुल' की (१८७७) और 'सुरेन्द्र-विनोदिनी' के आधार पर 'शमशाद सौसन' (१८८०) की रचना की। दोनों नाटक प्रेमाख्यानों को लेकर लिखे गये हैं। दोनों में सभी प्रमुख पात्र मुसलमान हैं, किन्तु उनकी भाषा में कठिन उर्दू शब्दों की बहुलता होते हुए भी सरसता और प्रवाह है। इन नाटकों से उस समय की सामाजिक और राजनीतिक जागृति का परिचय मिलता है। इन नाटकों के प्रमुख पात्र प्रगतिशील दृष्टिकोण रखते हैं, और समाज की रूढ़ियों के विरोधी हैं। भट्टजी को अपनी रचनाओं में बड़ी सफलता मिली है। उनके नाटकों में मौलिकता तथा प्रौढ़ता दोनों के दर्शन होते हैं। कलात्मक दृष्टि से ये दोनों नाटक उत्कृष्ट हैं।

इनके अतिरिक्त दुर्गाप्रसाद मिश्र ने बँगला नाटक 'प्रभास-यज्ञ' का 'प्रभास-मिलन' शीर्षक से १८९९ में हिन्दी रूपांतर किया। यह रचना भी एक सफल प्रयास है।

यद्यपि बँगला नाटकों के इन अनुवादों और रूपांतरों से हिन्दी पाठकों को बहुत-सी रोचक सामग्री प्राप्त हो गई, तथापि हिन्दी नाटक पर इनका कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ सका। इतना अवश्य हुआ कि इनके प्रभाव से हिन्दी नाटक में भी किंचित् नूतनता की छाप दृष्टिगोचर होने लगी। बँगला नाटक में पाश्चात्त्य नाटक के प्रभाव से जो नूतनता आ चुकी थी, वही नूतनता इस प्रभाव के कारण हिन्दी नाटक में भी कुछ मात्रा में आ गई।

हिन्दी विद्वानों ने अंग्रेज़ी-नाटक-साहित्य की भी उपेक्षा नहीं की। संस्कृत तथा बँगला के अनुवादों के साथ-साथ उन्होंने अंग्रेज़ी के कुछ सुन्दर नाटकों को भी हिन्दी में अनूदित किया। जब अंग्रेज़ी भारतवर्ष की राजभाषा घोषित कर दी गई तो स्कूलों और कालिजों में अंग्रेज़ी का पढ़ना अनिवार्य कर दिया गया, और अंग्रेज़ी के नाटक भी पाठ्य-क्रम में रखे जाने लगे। शिक्षितवर्ग में शेक्स-पियर के नाटकों का विशेष प्रचार हुआ और हिन्दी के नाटककारों का ध्यान अनायास ही अंग्रेज़ी नाटकों की ओर खिंच गया।

हिन्दी में अंग्रेज़ी नाटक का सबसे पहला अनुवाद बाबू तोताराम वर्मा का 'केटोकृतान्त नाटक' है, जो कि जोसेफ़ ऐडीसन के Cato नामक नाटक का सरस अनुवाद है। रोम नगर का निवासी केटो नामक धार्मिक पुरुष स्वदेश के शत्रु सीज़र की शरण में जाने की अपेक्षा आत्महत्या को श्रेयस्कर समझता है, इसी का इस नाटक में वर्णन है। इस नाटक में अनेक दृश्यों सहित पाँच अंक हैं। भाषा व्रजमिश्रित खड़ीबोली है। अनुवादक ने यथासंभव मूल रचना का अविकल अनुवाद करने की चेष्टा की है। नाम आदि भी बदले नहीं गये, जैसा कि अनूदित नाटक के शीर्षक से ही स्पष्ट है।

शेक्सपियर के Comedy of Errors का अनुवाद इटावा के रत्नचन्द ने 'भ्रमजालक' (१८८९) शीर्षक से किया। अनुवाद में अंग्रेज़ी नामों, स्थानों और उपाधियों आदि को उपयुक्त भारतीय नामों, स्थानों आदि में बदल दिया गया है। उदाहरण के लिए युगल भाइयों को छोटा हिंडोल, बड़ा हिंडोल, छोटा यज्ञदत्त और बड़ा यज्ञदत्त नाम दिये गये हैं। युगल यज्ञदत्तों के माता-पिता का नाम देवदत्त और पद्मावती रखा गया है। पाश्चात्य रीति-रिवाजों को भी भारतीय वातावरण के अनुकूल बनाने के लिए उनमें आवश्यक फेर-बदल कर दिया गया है। यह स्वतन्त्र अनुवाद है परन्तु कथावस्तु प्रायः मूल के अनुसार ही रखी गई है।

शेक्सपियर के Merchant of Venice का कई विद्वानों ने हिन्दी में अनुवाद किया। १८८० में भारतेन्दु ने 'दुर्लभबन्धु' शीर्षक से इस नाटक का अनुवाद किया। भारतेन्दु ने अपने अनुवाद में मूल नाटक के कथानक में कोई परिवर्तन नहीं किया, न ही नाटक के विदेशीय वातावरण को भारतीय रंग देने की चेष्टा की है। परन्तु पात्रों और स्थानों के नाम अवश्य बदल दिये हैं। उदाहरण के लिए मूल नाटक के Antonio, Bassanio, Portia, Shylock अनुवाद में क्रमशः अनन्त, बसन्त, पुरश्री और शैलाक्ष बन गये हैं। ईसाइयों और यहूदियों का स्थान अनुवाद में आर्य और जैन को दे दिया गया है।

सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो भारतेन्दु को इस अनुवाद में उतनी सफलता नहीं मिली जितनी रत्नचंद को Comedy of Errors के अनुवाद में। रत्नचंद ने नाटक की कथावस्तु, पात्रों और वातावरण को कुशलता के साथ भारतीय आवरण दे दिया है। परन्तु भारतेन्दु ने पात्रों और स्थानों आदि के नाम तो बदल दिये हैं, परन्तु घटनाओं, रीति-रिवाज, आचार-विचार और वातावरण को अधिकांश विदेशीय रूप में ही रहने दिया है। इसके फलस्वरूप भारतेन्दु के अनुवाद में वातावरण की अस्वाभाविकता और गड़बड़ी-सी पैदा हो

गई है। ठीक तो यह था कि यदि भारतेन्दु ने नाटक के वातावरण को विदेशीय ही रखना था तो शेक्सपियर के मूल नाटक का अविकल अनुवाद करते और पात्रों, स्थानों, जातियों के नामों को विदेशी ही बना रहने देते। यदि पात्रों और स्थानों आदि के नामों में परिवर्तन किया था तो वातावरण को पूर्णतया भारतीय बनाने का यत्न करते।

जबलपुर की आर्या नामक लेखिका ने भी १८८० में Merchant of Venice का 'वेनिस का व्यापारी' शीर्षक से अनुवाद किया। अनुवाद अविकल और सफल है। बाबू बालेश्वरप्रसाद तथा ठाकुर हरदयालुसिंह ने भी इसी नाटक के अनुवाद 'वेनिस का सौदागर' शीर्षक से किये। जयपुर के पुरोहित गोपीनाथ ने शेक्सपियर के As you like it का 'मनभावन' (१८९६) तथा Romeo and Juliet का 'प्रेमलीला' (१८९७) शीर्षक से अनुवाद किया। ये अनुवाद पूरे गद्य में हैं परन्तु मूल के भाव और आशय की अधिकांश रक्षा की गई है।

मिर्ज़ापुर के मथुराप्रसाद उपाध्याय ने शेक्सपियर के Macbeth का 'साहसेन्द्र साहस' (१८९३) शीर्षक से स्वतन्त्र अनुवाद किया। कथा को भारतीय आवरण दे दिया गया है। अंग्रेज़ी नाटकों के इन अनुवादों से अंग्रेज़ी न जानने वाले लोगों को अंग्रेज़ी नाटकों का कुछ रसास्वादन हो गया, शेक्सपियर की कला का कुछ परिचय हो गया। परन्तु मौलिक हिन्दी नाटकों की रचना में इन अनुवादों का विशेष प्रभाव नहीं पड़ सका। बीसवीं शताब्दी के दूसरे चरण में हिन्दी नाटकों पर पाश्चात्य नाटकों का तथा उनके टेकनीक का विशेष रूप से प्रभाव पड़ा। परन्तु वह प्रभाव मूल अंग्रेज़ी नाटकों के भारी संख्या से हिन्दी विद्वानों द्वारा पढ़े जाने के कारण पड़ा। अनुवादों का प्रभाव आलोच्य काल या उसके कुछ बाद के हिन्दी नाटकों पर दृष्टिगोचर नहीं होता।

सातवां अध्याय

रंगमंचीय नाटक

हम यह पहले कह आये हैं कि भारतेन्दु-धारा के नाटक पारसी रंगमंच के भद्दे, कलाविहीन और कुरुचिपूर्ण नाटकों की प्रतिक्रिया के कारण लिखे गये। किंतु सामान्य लोगों की रुचि में उन दिनों शिष्टता और परिष्कार का प्रायः अभाव था। अतः वे पारसी थिएट्रिकल नाटकों को बहुत पसन्द करते थे। भारतेन्दु-स्कूल के प्रमुख नाटकों में जनता के मनोरंजन की अपेक्षा साहित्यिकता की ओर अधिक ध्यान दिया जाता था। उनके रचयिताओं का उद्देश्य जनता की रुचि को समुन्नत और सुसंस्कृत बनाकर साहित्यिक नाटकों का प्रचार करना था। इस कारण उन नाटकों का प्रचार जनता में अधिक न हो सका। इन साहित्यिक नाटकों को केवल उन थोड़े-से सुशिक्षित, सभ्य तथा सुरुचिसम्पन्न लोगों से प्रोत्साहन मिलता था जो पारसी रंगमंचीय नाटकों के कलुषित वातावरण से घृणा करते थे। अन्यथा जनता तो अधिकतर रंगमंचीय नाटकों के पीछे पागल हो रही थी।

अंग्रेज़ लोग उन्नीसवीं शताब्दी के आरंभ तक भारतवर्ष के बड़े-बड़े शहरों में बस चुके थे। अपने मनोरंजन के लिए उन्होंने अपने घरेलू थिएटर भी स्थापित कर लिये थे, जिनमें वे प्रसिद्ध पाश्चात्त्य नाटकों और प्रहसनों का अभिनय करते थे। कभी-कभी कालिदास के 'शकुन्तला' आदि प्रसिद्ध संस्कृत नाटकों के अंग्रेज़ी अनुवाद भी इन अभिनयशालाओं में खेले जाते थे। शीघ्र ही इन अभिनयों का प्रभाव कलाप्रेमी और सहृदय पारसियों तथा अन्य भारतवासियों पर भी पड़ा। फलतः अंग्रेज़ों की घरेलू और कुछ व्यावसायिक कंपनियों के अनुकरण में सबसे पहले पारसियों ने बम्बई, कलकत्ता और देहली जैसे बड़े-बड़े नगरों में अपनी नाटक मंडलियां बनाईं। हो सकता है कि आरंभ में कदाचित् नाटक-कंपनियों के मालिकों और हिस्सेदारों का उद्देश्य धन कमाने और लोगों का मनोरंजन करने के अतिरिक्त नाट्य-कला को समुन्नत और सुविकसित करना भी रहा हो, परन्तु बहुत शीघ्र ही इनके स्वामियों ने अपनी कंपनियों को केवल अधिकाधिक धनोपार्जन करने का साधन मात्र बना लिया।

अपने ढंग की सबसे पहली व्यावसायिक नाटक-कंपनी पेस्टनजी फ़ामजी की 'ओरिजिनल थिएट्रिकल कंपनी' थी जो कि सन् १८७० में बम्बई में विद्यमान

थी। इस कंपनी के सभी प्रमुख अभिनेता पारसी थे, जिनमें खुरशेदजी बल्लीवाला, कॉवसजी खटाऊ, सोहराबजी तथा जहांगीरजी विशेष उल्लेखनीय हैं। महमूद मियां 'रौनक़' बनारसी इस कंपनी के लिए नाटक लिखते थे, और इनका लिखा हुआ नाटक 'इन्साफ़े महमूद' बहुत लोकप्रिय हुआ।

रौनक़ बनारसी के अतिरिक्त हुसैन मियाँ ज़रीफ़ भी इस कंपनी के नाटककार थे। इन्होंने लगभग तीस नाटक लिखे, जिनमें 'शीरीं-फ़रहाद' 'लैलामजनूं', 'गुलबकावली', 'इशरतसभा', 'अलीबाबा', 'चांद-बीबी', 'खुदादोस्त', 'हवाई मजलिस' और 'हातिम ताई' विशेष उल्लेखनीय हैं। इस कंपनी के अभिनयों के द्वारा जनता में नाटक का बहुत प्रचार हुआ, और रासलीला और नौटंकी आदि मनोरंजन के अन्य साधनों में लोगों की रुचि कम होने लगी। पेस्टनजी की मृत्यु के पश्चात् यह कंपनी टूट गई और इसके दो प्रमुख अभिनेताओं—बल्लीवाला और कॉवसजी—ने अपनी-अपनी अलग कंपनियां खोल लीं।

सन् १८७७ में खुरशेदजी बल्लीवाला ने दिल्ली में अपनी 'विक्टोरिया थिएट्रिकल कंपनी' खोली। इस कंपनी के प्रमुख अभिनेता स्वयं बल्लीवाला तथा रुस्तमजी थे। इनके अतिरिक्त मिस खुरशीद और मिस मेहताब तथा एक अंग्रेज़ महिला 'मेरी फ़ैन्टन' भी इस कंपनी में काम करती थीं। बल्लीवाला हास्यपूर्ण अभिनय (Comic Acting) के लिए विशेष विख्यात थे। ये अपनी कंपनी को विलायत भी ले गये, परन्तु वहां कंपनी को काफ़ी घाटा उठाना पड़ा। इस कंपनी के प्रमुख नाटककार मुंशी विनायकप्रसाद 'तालिब' थे। 'लैलो निहार', 'दिलेर दिलशेर' आदि उर्दू नाटकों के अतिरिक्त तालिब ने 'विक्रम-विलास', 'गोपीचंद', 'हरिश्चन्द्र' आदि प्रसिद्ध हिन्दुस्तानी नाटक भी लिखे। इन नाटकों की भाषा मिली-जुली उर्दू और हिन्दी है। बल्लीवाला के देहान्त के बाद यह कंपनी भी टूट गई।

सन् १८७७ के लगभग ही कॉवसजी खटाऊ ने भी 'एल्फ़्रेड थिएट्रिकल कंपनी' के नाम से अपनी स्वतन्त्र नाटक-कंपनी स्थापित की। कॉवसजी करुणापूर्ण अभिनय (Tragic Acting) के लिए बहुत प्रसिद्ध थे। ये भारतवर्ष के Irving कहे जाते थे। इन्होंने शेक्सपियर के Romeo and Juliet में रोमियो का तथा Hamlet में हैमलेट का अभिनय अपूर्व सफलता के साथ किया था। इस कंपनी के दूसरे प्रमुख अभिनेता मनछेरशाह, गुलज़ारखां, माधोराम, मास्टर मोहन, मिस ज़ोहरा और मिस गौहर आदि थे। कॉवसजी की सन् १९१४ में लाहौर में मृत्यु हो जाने पर उनके पुत्र जहांगीरजी ने चार वर्षों तक कंपनी का संचालन किया। तदनन्तर यह कंपनी मिस्टर मदन के पास

बेच दी गई, जिनकी सन् १९२३ में मृत्यु हो गई। लखनऊ के सैयद महदी हसन 'एहसान' इस कंपनी के लिए नाटक-रचना करते थे। उन्होंने कई मौलिक नाटक लिखे और शेक्सपियर के कुछ नाटकों के अनुवाद और रूपांतर किये। 'एहसान' के पश्चात् पं० नारायणप्रसाद 'बेताब' इस कंपनी के नाटककार बने। 'बेताब' का 'क़त्ले नज़ीर' नामक उर्दू नाटक बहुत लोकप्रिय हुआ। इसकी प्रसिद्धि का कारण कुछ हद तक यह भी था कि उन्हीं दिनों दिल्ली की प्रसिद्ध वेश्या नज़ीर की हत्या हुई थी और लोगों में उसकी चर्चा थी। परन्तु 'बेताब' की ख्याति का सब से बड़ा कारण उनका हिन्दी नाटक 'महाभारत' था, जिसकी कई वर्षों तक धूम रही। बेताब के 'कृष्णसुदामा' और 'पत्नी-प्रताप' नाटक भी विशेष लोकप्रिय हुए।

जब इन पारसी कंपनियों को अपने नाटकों के अभिनय से प्रभूत धन की प्राप्ति होने लगी तो कुछ हिन्दुओं तथा मुसलमानों ने भी उनके अनुकरण में धनोपार्जन के लिए नाटक-कंपनियां खोलने का विचार किया। फलतः मुहम्मद अली 'नाखुदा' ने 'एल्फ़्रेड थिएट्रिकल कंपनी' के ढंग पर एक स्वतन्त्र कंपनी की स्थापना की और उसका नाम 'न्यू एल्फ़्रेड कंपनी' रखा। इस कंपनी के मैनेजिंग डायरेक्टर सोहराबजी थे जो कि स्वयं बड़े कुशल अभिनेता थे। बाद में ये कंपनी के हिस्सेदार बन गये। आग़ा मुहम्मद हश्र काश्मीरी और पं० राधेश्याम 'कथावाचक' इस कंपनी के लिए नाटक लिखते थे। आग़ा हश्र ने बहुत से नाटक लिखे जिनमें कुछ मौलिक थे और कुछ अंग्रेज़ी नाटकों की छाया लेकर लिखे गये थे। 'मीठी छुरी', 'तुरकी हूर', 'ख़ूबसूरत बला', 'शहीदे नाज़' आदि प्रसिद्ध उर्दू नाटकों के अतिरिक्त हश्र के 'सूरदास', 'गंगा-औतरण', 'श्रवणकुमार', 'सीता-बनवास', 'भीष्म-प्रतिज्ञा' आदि हिंदी नाटक भी बहुत लोकप्रिय हुए।

हश्र को उर्दू स्टेज का मार्लो[1] कहा गया है और वस्तुतः उनकी रचनाओं में मार्लो के ही गुण-दोष पाये जाते हैं। कोमलता के स्थान पर कठोरता, हल्के प्रभाव के स्थान पर तीखापन और प्रबल वैषम्य उपस्थित करना उनकी कला की विशेषताएँ हैं। अपने नाटकों में हश्र बड़े-बड़े भयानक कार्यों तथा बीभत्स घटनाओं को रंगमंच पर ही घटती दिखाते हैं। ये बातें कोमल और परिष्कृत रुचि के दर्शकों के मन पर आघात करती हैं। हश्र में दूसरा दोष यह पाया जाता है कि मूल कथानक में गौण कथानक को जोड़कर वे नाटकीय प्रभाव की एकता को नष्ट कर देते हैं। इसके अतिरिक्त नाटक के कार्य-व्यापार की अपेक्षा

1. R. B. Saxena—A History of Urdu Literature, page 357.

पद्यमय कथोपकथन को अधिक महत्त्व दिया जाता है, और कई बार तो व्यर्थ ही पद्य का प्रयोग किया जाता है। कहीं-कहीं इनका हास्य भी बहुत भद्दा और शिथिल होता है, जिससे दृश्य का सौंदर्य और परिस्थिति का प्रभाव बिगड़ जाता है। परन्तु हश्र के नाटकों में गुणों का भी अभाव नहीं है। उनकी भाषा में शक्ति, प्रवाह और ओज है। कथोपकथन भी प्रायः सरस, सजीव और सशक्त होते हैं। चरित्रचित्रण यथार्थ होते हुए भी आदर्शोन्मुख होता है। इसमें कोमलता के साथ-साथ कठोरता का समावेश रहता है।

पं० राधेश्याम 'कथावाचक' ने भी भिन्न-भिन्न नाटक-कंपनियों के लिए अनेकों रंगमंचीय नाटकों की रचना की। उनका पहला प्रसिद्ध नाटक 'वीर अभिमन्यु' सन् १९१४ में न्यू एल्फ़्रेड कंपनी के लिए लिखा गया था। पारसी थिएटर में खेला जाने वाला यह पहला हिंदी नाटक था। यद्यपि अन्य पारसी रंगमंचीय नाटकों के सदृश इस नाटक में भी पद्य-भाग काफ़ी है, फिर भी कलात्मक दृष्टि से यह नाटक काफ़ी सुन्दर बन पड़ा है। 'वीर अभिमन्यु' के अतिरिक्त 'कथा-वाचक' ने 'मशरिक़ी हूर' (१९२६), 'परिवर्तन' (१९२५), 'श्रीकृष्णावतार' (१९२६), 'रुक्मिणीमंगल' (१९२७), 'श्रवणकुमार' (१९२८), 'ईश्वरभक्ति' (१९२९), 'द्रौपदी-स्वयम्वर' (१९२९) आदि अनेकों नाटक लिखे, जिनमें से अधिकांश न्यू एल्फ़्रेड कंपनी के रंगमंच पर खेले गये। काठियावाड़ की श्री सूरविजय कंपनी के लिए 'कथावाचक' ने १९२८ में 'उषा-अनिरुद्ध नाटक' लिखा।

कथावाचक के अधिकांश नाटकों के कथानक पुराणों तथा महाभारत से लिये गये हैं। इन्होंने थियेट्रिकल नाटकों के वातावरण को शुद्ध करने तथा उनके नैतिक स्तर को ऊंचा उठाने का भी प्रयत्न किया। किन्तु रंगमंचीय नाटकों की अन्य विशेषताएं—जैसे रोमांचकारी दृश्यों, पद्यप्रधान संवादों, अतिप्राकृतिक तथा अतिनाटकीय प्रसंगों का उपयोग आदि—इनके नाटकों में भी समानरूप से मिलती हैं।

'न्यू एल्फ़्रेड कंपनी' को छोड़ने के पश्चात् हश्र ने 'शेक्सपियर थिएट्रिकल कंपनी' के नाम से अपनी अलग कंपनी स्थापित कर ली। परन्तु थोड़े ही समय के बाद यह कंपनी स्यालकोट में समाप्त हो गई। इस समय तक बहुत-सी और नाटक-कंपनियां भी मैदान में आ चुकी थीं। 'ओल्ड पारसी थिएट्रिकल कंपनी' लाहौर में, 'जुबिली थिएट्रिकल कंपनी' दिल्ली में, और 'लाइटनिंग ऑफ़ इंडिया कंपनी', 'इम्पीरियल थिएट्रिकल कंपनी', 'अलेग्ज़ैण्ड्रिया कंपनी' इत्यादि अनेकों नाटक-कंपनियां स्थापित हुईं। परन्तु थोड़े ही दिनों चलकर वे धन के अथवा सुव्यवस्थित संचालन के अभाव के कारण नष्ट हो गईं।

उपर्युक्त व्यवसायी थिएट्रिकल कंपनियों के अतिरिक्त दो और व्यवसायी नाटक-मंडलियां भी उल्लेखनीय हैं। ये थीं, काठियावाड़ की 'श्रीसूरविजय कंपनी' तथा मेरठ की 'व्याकुल भारत कंपनी'। यद्यपि इन कंपनियों में भी पारसी रंगमंच की बहुत-सी विशेषताएं समान रूप में विद्यमान थीं, तथापि इनका वातावरण पारसी कंपनियों के भद्देपन, अश्लीलता और कुरुचि से मुक्त था। जनता में पारसी नाटक-कंपनियों के अभिनयों के प्रभाव से बढ़ती हुई भद्दी, अपरिष्कृत रुचि को परिमार्जित करने की ओर इन दोनों कंपनियों ने ध्यान दिया। इन कंपनियों की दूसरी विशेषता यह थी कि इन्होंने केवल हिंदी नाटकों को ही अपनाया। 'श्रीसूरविजय कंपनी' ने राधेश्याम कथावाचक के प्रसिद्ध 'उषा-अनिरुद्ध नाटक' के सफल अभिनय से बड़ी ख्याति पाई और 'व्याकुल भारत कंपनी' ने अपने संस्थापक विश्वंभरनाथ 'व्याकुल' के सुन्दर नाटक 'बुद्धदेव' तथा जनेश्वरप्रसाद 'मायल' के 'सम्राट् चन्द्रगुप्त' के अभिनयों के कारण विशेष प्रसिद्धि प्राप्त की।

रंगमंचीय नाटकों का कला-विधान

यद्यपि इन थिएट्रिकल कंपनियों के मालिक भिन्न-भिन्न व्यक्ति थे, तथापि इन सब के नाट्य-विधान, कला तथा वातावरण में बहुत कुछ समानता थी। प्रायः प्रत्येक कंपनी का अपना नाटककार होता था जो कंपनी के लिए न केवल नाटक लिखा करता था, अपितु अधिकतर उन नाटकों के निर्देशन और अभिनय में भी सक्रिय भाग लेता था। इस प्रकार अभिनय तथा रंगमंच से संबंधित सभी ज्ञातव्य बातों से भली भांति परिचित होने के कारण ये नाटककार सदा इस प्रकार के नाटकों का सृजन करते थे, जिनका अभिनय रंगमंच पर सफलता-पूर्वक किया जा सके। परन्तु इन नाटककारों के मार्ग में एक बड़ी बाधा यह थी कि नाटक लिखते समय इनको सदैव कंपनी के मालिकों की रुचि एवं आदेश के अनुसार चलना पड़ता था। कंपनी के मालिकों का चरमोद्देश्य अधिक-से-अधिक धन कमाना ही होता था, इसलिए बेचारे नाटककारों को अपनी इच्छा के अनुकूल अथवा प्रतिकूल सदा ऐसी सामग्री अपने नाटकों में भरने की चिन्ता रहती थी जिससे जनता का अधिक-से-अधिक मनोरंजन हो सके और कंपनी के मालिकों को अधिकाधिक धन की प्राप्ति। जनता की रुचि का सुधार करने की तो बात ही क्या, इन नाटककारों का ध्यान वस्तुसंगठन की वैज्ञानिकता तथा चरित्रचित्रण आदि के महत्त्व और कौशल की ओर भी कम जाता था। अधिकतर इन नाटककारों को अतिनाटकीय एवं रोमांचकारी दृश्यों की सृष्टि करने में ही अपनी प्रतिभा का अधिकांश व्यय करना पड़ता था।

ये नाटककार अपने नाटकों के कथानक प्रायः फ़ारसी की प्रेमकथाओं से (उदाहरण के लिए 'लैला मजनूं' 'शीरीं फ़रहाद' 'अली बाबा' आदि नाटकों में) पुराणों की कथाओं से, रामायण-महाभारत, तथा अन्य मनोरंजक आख्यानों से (उदाहरण के लिए 'हरिश्चन्द्र' 'सतीसावित्री', 'सीताबनबास', 'गंगा औतरण', 'भक्त प्रह्लाद' 'वीर अभिमन्यु', 'श्रवणकुमार', 'महाभारत', 'भीष्म-प्रतिज्ञा' आदि नाटकों में), अंग्रेज़ी के प्रसिद्ध नाटकों से (उदाहरण के लिए 'रोमियो और जूलियट', 'हैमलेट', 'दिल-फ़रोश' आदि नाटकों में) तथा जनता में प्रचलित कथाओं से (उदाहरण के लिए 'पूरण भगत', 'गोपीचंद' आदि नाटकों में) चुनते थे। इन नाटकों का वातावरण अधिकतर शोख़ी, छेड़छाड़, और विलासिता से पूर्ण होता था। अश्लील हाव-भाव-प्रदर्शन और उत्तेजक सामग्री की इनमें भरमार होती थी। नैतिकता, सुरुचि और शिष्टता का प्रायः इनमें अभाव रहता था। जिस प्रेम का चित्रण इन नाटकों में होता था वह प्रायः स्वच्छन्द, वासनाजनित और बाज़ारू ढंग का होता था। इनका हास्य भद्दा, अशिष्ट तथा अधिकतर अश्लील होता था। इन नाटकों में घटना-वैचित्र्य और रोमांचकारी दृश्यों को ही अधिक महत्त्व दिया जाता था।

संवादों में गद्य और पद्य दोनों का ही प्रयोग इन नाटकों में किया गया है। पात्र गद्य में बात करते-करते एकदम पद्य में फूट पड़ते हैं और बीच-बीच में बेढंगे गीत भी गाने लग जाते हैं। इतना ही नहीं, इन नाटकों में गद्य को भी लययुक्त बनाने की कोशिश की गई है। सुरुचिसम्पन्न और कला-प्रेमी दर्शकों को पद्यमय तथा लययुक्त गद्यमय अस्वाभाविक वार्तालाप बहुत खटकता था, परंतु दर्शकों का अधिकांश सुरुचि तथा नाट्यकला के गुण-दोषों की सूक्ष्म परीक्षा करने की योग्यता न रखता था। गढ़े हुए लययुक्त गद्य के कृत्रिम वाक्यों तथा घटिया पद्य के प्रयोग से वे बहुत प्रभावित और प्रसन्न होते थे।

इसके अतिरिक्त उन्नीसवीं शताब्दी और बीसवीं शताब्दी के पहले पन्द्रह बीस वर्षों में भी पारसी रंगमंचीय नाटकों की भाषा प्रधानतया उर्दू ही रही। पद्य के प्रचुरता के साथ प्रयोग और उर्दू की प्रधानता का कारण कदाचित् यह था कि रंगमंचीय परंपरा के सर्वप्रथम नाटक 'इन्द्रसभा' में भी पद्य की भरमार थी और उसकी भाषा पर भी उर्दू का अधिकार था। क्योंकि वह पहला थिएट्रिकल नाटक 'इन्द्रसभा' बहुत ही लोकप्रिय हुआ था, इसलिए पारसी थिएट्रिकल कंपनियों के मालिकों ने भी वे सभी बातें अपने नाटकों में यथाशक्ति भरने का प्रयास किया, जिनके कारण 'इन्द्रसभा' की इतनी प्रसिद्धि हुई थी। 'इन्द्र-सभा' के समान ही अपने नाटकों में उन्होंने शृङ्गारपूर्ण वातावरण तथा

उत्तेजक सामग्री प्रस्तुत करने का यत्न किया। इन्होंने वेश-भूषा की चटक-भड़क, मनोहर दृश्य-दृश्यान्तर और बाहरी आकर्षण की ओर ध्यान दिया। रंगमंचीय नाटकों के संवादों में अधिकतर शक्ति, सरसता और वेग अवश्य होता था, परंतु वे बहुधा अनुचित आवेग से भरे हुए, अस्वाभाविक तथा आडंबर-पूर्ण होते थे। इनके अभिनयों में अशिक्षित जनता को प्रभावित करने वाला अतिरंजिता (Over-acting) का दोष भी पाया जाता था।

इसके अतिरिक्त इन नाटकों में नायक और नायिका शीघ्र ही अपने नैतिक स्तर से नीचे गिर जाते हैं और तुरंत बाज़ारू प्रेमियों की-सी बातें करने लगते हैं। यह दोष साधारण पात्रों और नायक-नायिकाओं में ही नहीं पाया जाता, बड़े-बड़े प्रसिद्ध पौराणिक पात्रों तथा रामायण-महाभारत के बड़े-बड़े व्यक्तियों के वार्तालाप और व्यवहार में भी कोई अन्तर नहीं है। उदाहरण के लिए 'नज़ीर' के रामलीला नाटक में श्रीराम सीता के रूप का वर्णन इस ढंग से करते हैं—

परमेश्वर ने क्या सूरत है सँवारी,
सीता ने जिगर पै नैन कटारी मारी।
अलबेली बांकी तिरछी बिरछी चितवन,
चलते में लचके कमर हिचकती कामन॥

श्रीकृष्ण 'हसरत' के 'गंगावतरण' नाटक में लक्ष्मी-सरस्वती के संवाद में भी ऐसी ही झलक है। लक्ष्मी सरस्वती को इस प्रकार उपालम्भ देती है—

हँस के दिल लेना तुम्हें आता नहीं,
बोसा भी देना तुम्हें आता नहीं।

इन नाटकों की एक और विशेषता यह है कि प्रायः इन सभी का आरम्भ कोरस से होता है। अधिकांश नाटकों में यह कोरस संस्कृत नाटकों के नान्दी-पाठ के ढंग का है, और इसमें भी नान्दी की भाँति देवी-देवताओं की स्तुति और अनुग्रह-याचना की गई है। रंगमंचीय नाटकों में गीतों की भी भरमार है। यह प्रवृत्ति भी 'इन्दरसभा' से उधार ली गई प्रतीत होती है। इन गीतों में न तो उत्कृष्ट गीति-तत्त्व ही है, न ही हृदय के अन्तर्तम के सूक्ष्म और गहन भावों का इनमें चित्रण होता है। अधिकतर ये गीति-तत्त्व से विहीन तुकबंदियाँ मात्र ही हैं।

सच पूछा जाय तो शिष्ट, संस्कृत तथा साहित्यिक रुचि के लोगों के लिए इन नाटकों का सारा वातावरण ही कलुषित और कुरुचिपूर्ण था। इन नाटकों में कला के अभाव, तथा छेड़छाड़ और भद्दे मनोरंजन की प्रधानता के कारण

ही भारतेन्दु और उनके प्रतिभाशाली साथियों ने जनता में साहित्यिक नाटकों का प्रचार करने का प्रयत्न किया।

उन्नीसवीं शताब्दी में रंगमंचीय नाटकों की यह अवस्था थी, जिसका विवरण संक्षेप में हमने ऊपर दिया है। बीसवीं शताब्दी के पहले बीस वर्षों में भी इनका वातावरण और इनकी विशेषताएँ बहुत कुछ वैसी ही बनी रहीं। फिर भी उन्नति के अंकुर इनमें बीसवीं शताब्दी में प्रस्फुटित होने लगे। सर्वप्रथम तो वर्तमान शताब्दी में इन नाटकों की भाषा में सुधार किया गया। अभी तक पारसी रंगमंच पर उर्दू का ही अधिकार था। परन्तु बीसवीं शताब्दी में राधेश्याम कथावाचक और नारायणप्रसाद 'बेताब' ने सरल हिन्दी को रंगमंच पर प्रतिष्ठित किया। उन्होंने अपने नाटकों—विशेषतः पौराणिक नाटकों—में हिन्दी भाषा का प्रयोग किया, जिसमें हिन्दी के साथ उर्दू के सरल और सुबोध शब्द भी व्यवहृत होते थे। भाषा के इस परिवर्तन अथवा सुधार के कारण इन नाटकों की लोकप्रियता का क्षेत्र भी विस्तृत हो गया। अब ये नाटक अधिक लोगों को अच्छी तरह समझ और पसन्द आने लगे।

बीसवीं शताब्दी में इस दिशा में एक और महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुआ। उन्नीसवीं शताब्दी में रंगमंचीय नाटकों के कथानक अधिकतर फ़ारसी की प्रेम-कथाओं से लिये जाते थे। परन्तु बीसवीं शताब्दी में अधिकतर रंगमंचीय नाटकों के कथानक पुराणों, रामायण तथा महाभारत के आख्यानों से लिये जाने लगे। ऐसा करने का श्रेय कुछ अंश में राधेश्याम कथावाचक और नारायणप्रसाद 'बेताब' को ही है, परन्तु इसका बड़ा कारण था जनता की माँग। रंगमंचीय कम्पनियों के मालिकों को यह ज्ञात हो गया कि भारतीय जनता में सबसे अधिक प्रचार पौराणिक कथानकों का हो सकता है। पौराणिक आख्यानों को लेकर रचे हुए नाटक जनता के बहुत बड़े भाग में लोकप्रिय हो सकते हैं। परन्तु जनता का एक बड़ा भाग घटिया मनोरंजन तथा शृंगारिकता के वातावरण में रुचि रखता था, इसलिए पौराणिक कथानकों में ही इन कम्पनियों ने साथ में विलासिता के वातावरण को और घटिया मनोरंजन की सामग्री को प्रस्तुत किया, जिससे अधिक-से-अधिक लोगों में उनका प्रचार होकर उनको अधिकाधिक धन की प्राप्ति हो सके।

इसी बीच हमारे देश में सिनेमा का प्रचार होने लगा। बड़े-बड़े शहरों में स्थायी सिनेमाघर बन गये और छोटे नगरों में जहाँ स्थायी सिनेमाघर नहीं थे, वहाँ भ्रमण करने वाली कम्पनियाँ (touring talkies) घूम-घूम कर सिनेमा के फ़िल्म दिखाती थीं। थिएट्रिकल कम्पनियों के मुक़ाबले में इन सिनेमा-चित्रों

में लोगों को आकर्षित करने वाली तथा उनका मनोरंजन करने वाली सामग्री अधिक थी। थिएटरों की अपेक्षा सिनेमा के साधन अधिक व्यापक और वैज्ञानिक थे। इनके अतिरिक्त सिनेमा के अभिनेताओं और अभिनेत्रियों के अद्‌भुत मेक-अप, सिनेमा के हृदयहारी दृश्य-दृश्यांतर, अतिनाटकीय प्रसंगों तथा बढ़िया हास्य आदि के प्रभाव से लोग शीघ्र ही सिनेमा की ओर आकृष्ट होने लगे। अब पारसी थिएट्रिकल कम्पनियों को चिन्ता हुई। सिनेमा के साथ जमकर मुक़ाबला करने के साधन तो उनके पास न थे। फिर भी उन्होंने सिनेमा की उन बातों और विशेषताओं का यथाशक्ति अपने नाटकों और अभिनयों में उपयोग करने का प्रयास किया, जिनके कारण लोग थिएटरों को छोड़कर सिनेमा की ओर खिच रहे थे। इस होड़ में सफल होने के लिए अब रंगमंचीय नाटकों में अति-नाटकीय, अतिप्राकृतिक तथा रोमांचकारी दृश्यों और प्रसंगों की ओर भी भरमार होने लगी। रंगमंचीय नाटककार विशेष परिश्रम से ऐसे दृश्यों की खोज करके अपने नाटकों में उनकी योजना दुगने कौशल के साथ करने लगे। उदा-हरण के लिए कृष्णचन्द्र 'ज़ेबा' के 'भारत-दर्पण' का यह दृश्य देखिए—

(शब्द—दृश्य-परिवर्तन—एक बड़ा-सा चर्ख़ा दृष्टिगोचर होता है, चर्ख़ा कठिन कृपाण के रूप में परिवर्तित हो जाता है, तलवार पर 'राष्ट्रीय अस्त्र' (क़ौमी तलवार) यह शब्द अंकित हैं। एक शब्द होता है और योरोपीय व्यापार एक राक्षस के रूप में प्रकट होता है। पुनः शब्द होता है और भारत माता प्रवेश करती है। माता चर्ख़ा के समान आकार वाले उसी कठिन कृपाण को लेकर तीव्रगति से राक्षस को दिखाती है। योरोपीय व्यापार नामधारी राक्षस का हृदय भयभीत और शरीर कंपित होता है।)

अथवा 'कथावाचक' के 'वीर अभिमन्यु' का निम्नलिखित दृश्य लीजिए—

(सीन बदलना। वृद्धक्षत्र का तपस्या करते हुए दिखाई देना, उसकी गोद में जयद्रथ का कटा हुआ शीष पहुँचना। वृद्धक्षत्र का उठना और उनके शीष का भी टुकड़े-टुकड़े होकर गिरना।)

यद्यपि थिएट्रिकल कम्पनियों के पास सिनेमा-जैसे सुन्दर, शक्तिशाली और प्रभावोत्पादक दृश्य प्रस्तुत करने की क्षमता और साधन न थे, फिर भी ऊपर-जैसे दृश्यों की अवतारणा करके ये नाटककार सिनेमा के आदर्श का अनुकरण करने का प्रयास करते रहे। इस प्रकार के अद्‌भुत, चमत्कारपूर्ण तथा अतिप्राकृतिक प्रसंगों का लोगों पर गहरा प्रभाव होता था और वे इनसे मन्त्रमुग्ध हो जाते

थे। सामान्य श्रेणी के इन लोगों में आरंभ में ही कला की परीक्षा करने तथा नाटक के गुण-दोषों की सूक्ष्म विवेचना करने की योग्यता नहीं के बराबर होती थी। उस पर इस प्रकार के अतिप्राकृतिक और रोमांचकारी दृश्य उनके रहे-सहे विवेक और नाटक सम्बन्धी समीक्षा-शक्ति को भी अपनी बाढ़ में बहा ले जाते थे।

इसके अतिरिक्त बीसवीं शताब्दी में थिएट्रिकल नाटकों में एक और बड़ा परिवर्तन हुआ। उन्नीसवीं शताब्दी के रंगमंचीय नाटकों का हास्य प्रायः अश्लील, भद्दा और अशिष्ट होता था, परन्तु बीसवीं शताब्दी में हास्य की अधिक व्यवस्थित और विशिष्ट अवतारणा नाटकों में की जाने लगी। नई योजना के अनुसार नाटककार अपनी रचनाओं में दो स्वतन्त्र कथानकों की योजना करने लगे। ये दोनों कथानक नाटक में साथ-साथ चलते थे। इनमें से एक कथानक मुख्य और गम्भीर होता था और दूसरा हास्यपूर्ण और गौण। नाटक में दो कथानकों की अवतारणा की प्रथा पहले-पहल आग़ा हश्र काश्मीरी ने आरम्भ की। कला की दृष्टि से ये हास्योत्पादक कथानक बड़े भद्दे और कुरुचिपूर्ण होते थे। उनका मुख्य उद्देश्य दर्शकों को मुख्य कथानक की गम्भीरता के बीच विश्राम के क्षण उपस्थित करना था, अथवा एक दृश्य के समाप्त होने पर दूसरे दृश्य को रंगमंच पर जमाने के लिए कुछ समय निकाल लेना था। थोड़े ही काल में यह ज्ञात हो गया कि दर्शकों का अधिकांश गंभीर कथानक की अपेक्षा कॉमिक देखने में अधिक रुचि रखता है। अधिकांश लोग थिएटर में कॉमिक का आनन्द लेने ही जाते थे, यहाँ तक कि कई एक तो गम्भीर कथानक के पात्रों को कोसने लगते थे जोकि उनके मनोरंजन में बाधा डालते थे। यह देखकर डबल प्लॉट (दो कथानकों) की प्रथा एक नियम-सा बन गई और जो नाटककार अपने नाटकों के लिए कॉमिक लिखने में असमर्थ होते थे, वे किसी दूसरे के प्रहसन अथवा कॉमिक को अपने गंभीर कथानक के बीच जोड़ देते थे।

धीरे-धीरे कुशल नाटककारों ने गम्भीर कथानक और कॉमिक को अलग-अलग रखने की बजाय उन दोनों में परस्पर सम्बन्ध स्थापित करना आरम्भ किया। कथावाचक और हश्र ने अपने नाटकों में दोनों कथानकों को एक दूसरे से सम्बन्धित करने का काम किया; किन्तु नारायणप्रसाद 'बेताब' इनसे भी आगे निकल गये। इन्होंने हास्य की दूसरे कथानक के द्वारा अवतारणा न करके उसे मुख्य गम्भीर कथानक के बीच में ही उचित रूप से प्रस्तुत कर दिया। इस प्रकार अब हास्य और व्यंग्य का पुट मूल कथानक के पात्रों के संवादों, क्रियाओं और प्रसंगों आदि में ही दिया जाने लगा।

सारांश यह कहा जा सकता है कि यद्यपि पारसी व्यवसायी कम्पनियों के

रंगमंचीय नाटक बीसियों वर्षों तक असंख्य लोगों में अतिप्रचलित और लोकप्रिय बने रहे, तथापि कला, सुरुचि एवं नैतिकता के विचार से ये नाटक अच्छे अथवा ऊँचे न बन सके। अधिक-से-अधिक धन कमाने के लोभ में इन व्यवसायी कम्पनियों ने जनता की भद्दी रुचि से लाभ उठाकर लोगों को वही चीज़ दी जिसमे उनका अधिकाधिक मनोरंजन होता था। उन्हों ने न तो जनता की रुचि का सुधार करने का ध्यान किया, न अपने नाटकों में नाट्यकला के उत्कर्ष के लिए चेष्टा की, न ही कथावस्तु, चरित्र-चित्रण, कथोपकथन आदि नाटकीय तत्त्वों के महत्त्व को पूर्णतया जानने की चिन्ता की।

फिर भी थिएट्रिकल कम्पनियों से हिन्दी-नाटक को एक बड़ी आवश्यक और उपयोगी वस्तु मिल गई, और वह था रंगमंच। इनसे पूर्व रासलीला और नौटंकी आदि में रंगमंच का उपयोग होता था, किन्तु वह रंगमंच बहुत सादा, घरेलू ढंग का और अवैज्ञानिक होता था। परन्तु इन कम्पनियों ने हमें व्यवस्थित और वैज्ञानिक ढंग का रंगमंच दिया, जोकि इन्होंने भारतवर्ष के बड़े-बड़े नगरों में विद्यमान अंग्रेज़ी नाटकघरों से लिया था। भारतेन्दु-स्कूल ने भी अपने साहित्यिक नाटकों के लिए इन्हीं से रंगमंच को ग्रहण किया। दूसरे, यद्यपि इन थिएट्रिकल कंपनियों ने जनता को केवल मनोरंजन की सामग्री दी, उनकी घटिया कला और दूषित वातावरण ने जनता पर बुरा प्रभाव डाला और लोगों की रुचि को और भी दूषित बना दिया, तथापि बहुत-से अच्छे नाटककारों को आश्रय और प्रोत्साहन देने का श्रेय भी इन कम्पनियों को है। इन थिएट्रिकल कम्पनियों की लोकप्रियता और धनसम्पन्नता के कारण ही कथावाचक, हश्र और बेताब जैसे प्रतिभाशाली नाटककार इस ओर आकृष्ट हुए; अन्यथा पारसी थिएटर के सभी नाटककारों में शायद बहुत-से अन्य व्यवसाय को अपना लेते और इनमें से केवल थोड़े से विशेष धैर्यशील, कलाप्रेमी और साहित्यिक रुचिवाले नाटककार ही भारतेन्दु-धारा के अनुयायी बन पाते।

वास्तव में यदि थिएट्रिकल कम्पनियाँ धन कमाने और जनता के मनोरंजन की ओर ध्यान देने के साथ-साथ तनिक लोगों के रुचि-परिष्कार की ओर भी ध्यान देतीं और अपने नाटकों की कला और वातावरण को ऊंचा और शुद्ध बनाने की चेष्टा करतीं तो इससे हिन्दी नाटक का विशेष हित-साधन होता। नाट्यकला की दृष्टि से इनके नाटक भारतेन्दु-स्कूल के अधिकांश नाटकों से हीन न थे। शिक्षित समाज को जो बात इन कम्पनियों में विशेष खटकती थी, वह इनका दूषित वातावरण, अश्लील और भौंडा हास्य तथा नैतिकता का अभाव था।

आठवां अध्याय

हिन्दी नाटक का ह्रास

पिछले अध्यायों में हमने देखा कि यद्यपि हिन्दी नाटक का उदय बहुत देर से हुआ, तथापि अपने उदय के पश्चात् इसने बड़ी तेज़ी के साथ उन्नति की। स्वयं भारतेन्दु ने अनेक प्रकार के मौलिक नाटकों की रचना की, तथा अन्य भाषाओं से अनेक नाटकों को हिन्दी में अनूदित तथा रूपान्तरित किया; और हिन्दी नाटक की जिस परम्परा का प्रचलन भारतेन्दु ने किया, उसे बड़ी तत्परता के साथ अन्य नाटककारों ने आगे बढ़ाया।

परन्तु जिस प्रकार भारतेन्दु के जीवनकाल में हिन्दी नाटक का द्रुतगति के साथ उत्थान हुआ, उसी वेग से उनकी मृत्यु के पश्चात् हिन्दी नाटक का पतन भी हो गया। वास्तव में सन् १८८५ (जिस वर्ष भारतेन्दु की मृत्यु हुई) से सन् १९१२ के बीच हमें उच्च कोटि के बहुत थोड़े मौलिक हिन्दी नाटक मिलते हैं। बाबू राधाकृष्णदास के 'महाराणा प्रताप' (१८९७) जैसी एकाध उत्कृष्ट नाटकीय रचना यद्यपि इस काल में दृष्टिगोचर हो जाती है, तथापि इस विषय में यह बात ध्यान देने योग्य है कि इस काल (सन् १८८५–१९१२) में लिखे गये उच्च कोटि के ये विरले नाटक वास्तव में भारतेन्दु के समकालीन लेखकों द्वारा ही लिखे गये। भारतेन्दु का रचनाकाल उनकी अल्पायु के कारण शीघ्र ही समाप्त हो गया, परन्तु राधाकृष्णदास का रचनाकाल भारतेन्दु के प्रायः साथ ही आरम्भ होकर उनकी मृत्यु के कुछ वर्ष बाद तक चलता गया। अन्यथा भारतेन्दु के पश्चात् इस अन्तरिम काल (१८८५–१९१२) में उच्च कोटि की मौलिक नाटकीय रचनाएँ नहीं हुईं।

हिंदी नाटक के इस पतन का उल्लेख करते हुए किशोरीलाल गोस्वामी ने अपने 'चौपट चपेट' (१८९१) नामक प्रहसन में लिखा है :—

> **हिंदी के अभाग्यवश जब से भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र जी परलोक सिधारे हैं तब से साहित्य की बड़ी दुर्दशा हो रही है। गद्य तो जो है सो हुई है पर पद्य की दशा ऐसी भयानक हो रही है कि देखते ही शरीर कांप उठता है। बहुत से मूर्खाधिराज कविता का श्राद्ध करने पर उतारू भये हैं, अस्तु, और नाटक-विद्या को तो कदाचित् बाबू साहिब अपने संग ही ले गये हों, उनके पीछे दो एक रूपक कि जिनसे घण्टा**

भर जी लगे, छोड़ के और आज तक कोई नाटक नहीं बने जिससे हिंदी भाषा की पुष्टि होय, यह अभाग्य नहीं तो क्या है ?"

अपने 'मयंक-मंजरी' नाटक (१८६१) में भी गोस्वामी जी ने हिंदी नाटक के पतन पर शोक प्रकट करते हुए लिखा है:—

"·········जिस देश में विद्या का प्रथम २ प्रचार भया, और संगीत-साहित्य परिपक्व होकर पृथ्वी भर में व्याप गये, आज वहां के निवासी नाटक का नाम तक नहीं जानते, यदि है तो इन्द्रसभा पारसियों के शतरंजी मसाल वाले भ्रष्ट खेल ही पर नाटकों की इतिश्री है, लिखना तो दूर रहा, जो नाटक रचे या अभिनय करे, वह हास्यास्पद समझा जाता है।"

वास्तव में हिंदी नाटक के उद्भव तथा समृद्धि दोनों बातों का श्रेय भारतेन्दु को है। हिंदी नाटक के उदय में शायद और भी विलंब हो जाता, यदि भारतेन्दु ने अपनी असाधारण मेधा, अपूर्व प्रतिभा और अनथक परिश्रम को इस काम में न लगाया होता। उन्होंने स्वयं नाटक लिखे, दूसरे विद्वानों को नाटक लिखने के लिए प्रेरित और प्रोत्साहित किया, तथा नाटकों के अभिनय में तत्परता और रुचि के साथ भाग लेकर उनमें प्राण फूँकने तथा उनको लोकप्रिय बनाने का यत्न किया।

परंतु जहां स्वयं भारतेन्दु बड़े प्रतिभाशाली और सिद्धहस्त नाटककार थे, दुर्भाग्यवश उनके परवर्ती नाटककारों में अधिकतर उनके गुणों और क्षमताओं का अभाव था। श्रीनिवासदास, राधाकृष्णदास, बालकृष्ण भट्ट आदि कतिपय नाटककारों को छोड़कर भारतेन्दु के समकालीन तथा परवर्ती नाटककारों में कोई भी विशेष प्रतिभा, और नाटकीय कुशलता से सम्पन्न न था (जैसा कि छटे तथा सातवें अध्यायों के अध्ययन से स्पष्ट है)। दूसरी ओर वह काल ऐसा था जब कि उच्च कोटि के सिद्धहस्त साहित्यिक नाटककारों की विशेष आवश्यकता थी। कारण यह था कि उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम चरण में पारसी रंगमंचीय नाटक अपने भद्दे मनोरंजन के कारण बहुत लोकप्रिय हो रहे थे। जनता उनके पीछे पागल हो रही थी। केवल प्रतिभाशाली और योग्य नाटककार ही पारसी रंगमंचीय नाटकों से टक्कर ले सकते थे, और जनता को उनके भद्दे कलाविहीन मनोरंजन से हटाकर अपने उत्कृष्ट और अनेक-गुण-सम्पन्न साहित्यिक नाटकों की ओर आकर्षित करने में सफल हो सकते थे। परन्तु भारतेन्दु के परवर्ती अधिकांश नाटककारों में यथेष्ट प्रतिभा, योग्यता और नाटकीय शक्ति का अभाव था। फलस्वरूप भारतेन्दु के पश्चात् साधारण कोटि

के साहित्यिक हिंदी नाटक जनता में अत्यन्त प्रिय एवं प्रचलित रंगमंचीय नाटकों के प्रभाव से अभिभूत हो गये और लोग साहित्यिक नाटकों की उपेक्षा करके रंगमंचीय नाटकों का आदर करने लगे।

इस प्रकार साहित्यिक हिन्दी नाटक की क्षति विशेषकर पारसी थिएट्रिकल नाटकों के कारण हुई। रंगमंचीय नाटकों की अत्यन्त लोकप्रियता के कारण ही साहित्यिक नाटकों का सबसे अधिक अहित हुआ। दुर्भाग्यवश उन्नीसवीं सदी में जनता की रुचि बड़ी कुत्सित और अशिष्ट थी। पारसी रंगमंचीय नाटकों से उनको अपने मनोरंजन की यथेष्ट सामग्री मिल जाती थी। इसके विपरीत एक तो भारतेन्दु के बाद उत्कृष्ट साहित्यिक नाटकों का अभाव हो गया। दूसरे साहित्यिक नाटकों में जनता के मनोरंजन की ओर विशेष ध्यान न दिया गया। इसके परिणाम से रंगमंचीय नाटकों ने साहित्यिक नाटकों के लिए दर्शक और पाठक न छोड़े।

केवल यही बात नहीं कि रंगमंची नाटकों की लोकप्रियता ने साहित्यिक नाटकों के लिए दर्शक और पाठक न छोड़े, प्रत्युत नाटककार स्वयं भी पारसी रंगमंचीय नाटकों की आश्चर्यजनक लोकप्रियता और उन कंपनियों के अतुल धनोपार्जन से प्रभावित हुए बिना न रह सके। यह सर्वथा स्वाभाविक है कि रंगमंचीय नाटक लिख कर ख्याति, धन और मान पाने के विचार ने बहुत-से नाटककारों को साहित्यिक नाटकों की रचना के विचार से विमुख कर दिया हो। साहित्यिक नाटकों की रचना करके न तो उनको इतना धन मिल सकता था, और न ही इतनी आसानी से यश की तथा जनता के साधुवाद की प्राप्ति हो सकती थी, जितनी रंगमंचीय नाटक लिख कर। इसलिए उन्होंने साहित्यिक नाटकों के लिए व्यर्थ तन मन लगाने की अपेक्षा थिएट्रिकल कंपनियों के लिए रंगमंचीय नाटक लिखना अधिक लाभदायक समझा। कुछेक प्रतिभाशाली नाटककार दृढ़तापूर्वक साहित्यिक नाटकों की उन्नति के लिए कटिबद्ध होने के कारण ही रंगमंचीय नाटक लिखने के लोभ का संवरण कर सके। किन्तु अनेक नाटककार जो भावुकता तथा साहित्य-सेवा की भावना के कारण साहित्यिक नाटकों के लिए अपना तन-मन-धन और प्रतिभा लगाने का दृढ़ संकल्प नहीं कर चुके थे, वे अवश्य ही पारसी रंगमंच की ओर आकर्षित हुए होंगे।

ऊपर कही गई बात निम्नलिखित उदाहरण से स्पष्ट हो जायगी। अभी कुछ वर्ष पूर्व अंग्रेज़ी पढ़ने वालों के मुक़ाबले में हिन्दी पढ़ने वालों की संख्या बहुत कम होती थी। इसका मुख्य कारण यह था कि लोग इस बात को जानते थे कि यदि वे उतना ही समय, परिश्रम और धन अंग्रेजी पढ़ने और अंग्रेज़ी

की उपाधियां प्राप्त करने में व्यय करेंगे तो उनको हिन्दी पढ़ने और हिन्दी की उपाधियां प्राप्त करने की अपेक्षा बहुत अधिक धनादि की प्राप्ति हो सकेगी, क्योंकि उस समय सभी सरकारी और बहुत-सी दूसरी नौकरियों और पदों के लिए अंग्रेज़ी के ज्ञान तथा उपाधियों की आवश्यकता थी, हिन्दी की नहीं। साधारण लोगों की बात तो क्या, कई ऐसे लोग जिनको हिन्दी से किंचित् प्रेम भी था और हिन्दी पढ़ने में जिनका मन भी लगता था, उनको भी हिन्दी के द्वारा यथेच्छ जीविका और धन-मान आदि न प्राप्त कर सकने की निराशा के कारण विवशता से अंग्रेज़ी की ओर झुकना पड़ता था। केवल थोड़े से कट्टर हिन्दी-प्रेमी और निःस्वार्थ हिन्दी-सेवी विद्वान् ही हिन्दी में अपना तन-मन-धन लगाते थे।

नाटक के क्षेत्र में भी आलोच्यकाल में ऐसी ही अवस्था थी। जब रंगमंचीय नाटक इतने लोकप्रिय थे तो उदीयमान और महत्त्वाकांक्षी नाटककारों का यश और धन की प्राप्ति के लिए उनकी ओर आकर्षित होना स्वाभाविक ही था। दूसरी ओर साहित्यिक नाटकों की रचना करके, जिनको शिक्षित तथा परिष्कृत रुचि वाले थोड़े-से लोग ही अपनाते थे, उनको कितने धन और यश की प्राप्ति हो सकती थी ? यदि रंगमंचीय नाटक इतने अधिक लोकप्रिय न होते, जनता में उनकी इतनी मांग न होती, तो यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि कथावाचक, बेताब, हसरत, ज़ेबा आदि कुशल नाटककारों में से कुछेक लेखक साहित्यिक नाटकों की रचना में उतना ही योग देते, जितना कि उन्होंने रंगमंचीय नाटकों की रचना में दिया। अपनी कला में आवश्यक परिवर्तन और सुधार करके साहित्यिक नाटकों की रचना में भी संभवतः ये उतना ही नाम पाते। इस प्रकार थिएट्रिकल नाटकों की लोकप्रियता के कारण केवल जनता का ही नहीं, अच्छे नाटककारों का भी साहित्यिक नाटकों की रचना के क्षेत्र में अभाव हो गया।

इसके अतिरिक्त हिन्दी नाटक के ह्रास के कुछ और भी कारण थे। उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम चरण में देश में जागृति की लहर फैल गई। इंडियन नैशनल कांग्रेस तथा आर्यसमाज के आन्दोलनों ने सभी देशवासियों को थोड़ा-बहुत प्रभावित किया। शिक्षितवर्ग पर इन आन्दोलनों का विशेष प्रभाव पड़ा, और उनकी दृष्टि देश में फैली हुई विविध सामाजिक, राजनीतिक और धार्मिक कुरीतियों पर पड़ी। नाटककारों पर भी तत्कालीन परिस्थितियों और आन्दोलनों का पर्याप्त प्रभाव पड़ा। अतः उन्होंने नाटक को उन कुरीतियों और दोषों के विरुद्ध प्रचार करने का साधन बनाने की सोची। परन्तु प्रचार एवं

सुधार की भावना से उनके मन और मस्तिष्क इतने अभिभूत हो रहे थे कि उनकी रचनाएं उत्कृष्ट और शुद्ध साहित्यिक नाटक न रहकर जाने अथवा अनजाने में प्रचार, उपदेश और सुधार का साधन-मात्र बन गईं। इस प्रवृत्ति के कारण नाट्यकला का विशेष ह्रास हुआ।

सामयिक समस्याओं आदि के पक्ष में अथवा विरुद्ध प्रचार करने के उद्देश्य से प्रेरित नाटककार यदि अपनी रचनाओं में इस उद्देश्य के साथ-साथ नाटकीय तत्त्वों और गुण-दोषों का भी यथोचित ध्यान रखते, अपनी रचनाओं को सफल तथा निर्दोष नाटक बनाने की ओर उनका ध्यान अधिक और प्रचार तथा उपदेश आदि की तरफ़ कम होता, तो उनका प्रयास निःसंदेह श्लाघनीय होता। परन्तु इन दोनों बातों को सफलतापूर्वक एक साथ निभाने के लिए विशेष योग्यता और प्रतिभा की अपेक्षा थी। भारतेन्दु इस असाधारण योग्यता और प्रतिभा से संपन्न थे, अतः अपने 'भारतदुर्दशा' और 'भारतजननी' आदि नाटकों में उन्होंने सफलतापूर्वक नाटक के माध्यम द्वारा सुधार और प्रचार आदि का काम भी किया। परन्तु इस दिशा में उनका अनुकरण करने वाले बहुत-से नाटककार उस नाटकीय कुशलता और औचित्य-विवेक से वंचित थे। प्रचार के आवेश में वे उचित सीमा का अतिक्रमण कर गये। उन्होंने वस्तु-संगठन, चरित्र-चित्रण और नाटकोचित कथोपकथन आदि की उपेक्षा करके अपना अधिकांश ध्यान सुधार या प्रचार के उद्देश्य की पूर्ति में लगा दिया। ऐसे नाटककार अपने सुधारक अथवा प्रचारक रूप में तो बहुत कुछ सफल हो गये, किन्तु नाटक के कला-पक्ष की ओर से विमुख होने के कारण उनसे साहित्यिक नाटकों का बड़ा अहित हुआ। उनकी इस दुर्बलता के कारण साहित्यिक नाटकों का कलात्मक स्तर बहुत नीचे गिर गया और उनके पतन का कारण बना।

इधर पश्चिम के साथ सम्पर्क भी इन वर्षों में अधिक घनिष्ठ होता गया। देश में पाश्चात्य शिक्षा का प्रचार हो चुका था। पश्चिमी विचारधारा, साहित्य और सभ्यता के रहस्य और विशेषताएं शीघ्रतापूर्वक लोगों के सामने प्रकाशित हो रही थीं और लोग उनसे नई-नई बातों और विचारों को तत्परता के साथ ग्रहण करने लगे थे। पश्चिमी विचारधारा, शिक्षा और सभ्यता की बाढ़ ने यहां के लोगों के मानसिक सन्तुलन और एकता को बहुत कुछ भंग कर दिया। लोगों की नई और विदेशी वस्तुओं तथा विचारों को ग्रहण करने की क्षमता बाहर से प्राप्त होने वाली सामग्री के वेग का मुकाबला न कर सकी। बाह्य प्रभाव के साथ उनकी आभ्यन्तरिक क्षमता का सामंजस्य न हो सका। इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि नये विचारों और नई शिक्षा, सभ्यता

आदि के प्रचार से पहले कुछ वर्षों तक लोगों की मानसिक व्याकुलता एवं अशांति की ही वृद्धि होती है। आरंभ में लोग नई चीज़ों की ओर सहसा आकृष्ट तो हो जाते हैं, परन्तु इस बात का निश्चय नहीं कर पाते कि कहां तक वे वस्तुएं या विचार ग्रहण किये जायें और वे जानने तथा ग्रहण करने योग्य भी हैं या नहीं। इस मानसिक हलचल का साहित्य पर भी प्रभाव पड़ा। यहां के लोगों की विचारधारा आन्दोलित हो उठी और उनकी मानसिक एकता भंग हो गई। अपनी मानसिक एकता को पुनः स्थापित करने में उन्हें कई वर्ष लग गये।

यहां के लोगों को जो कुछ पाश्चात्य सभ्यता और शिक्षा से आरंभ में मिला, उसे आत्मसात् करने तथा देशीय एवं विदेशीय विचारधाराओं में समन्वय स्थापित करने के प्रयत्नकाल में वे साहित्य के क्षेत्र में साधारणतः और नाटक के क्षेत्र में विशेषतः कोई ठोस रचनाकार्य न कर सके, यद्यपि विरली कलात्मक रचनाएं बीच-बीच में प्रणीत होती रहीं।

और हम देखते हैं कि जब कुछ वर्षों के मानसिक असन्तुलन, अशांति और दुविधा के पश्चात् लोगों ने पूर्वीय और पाश्चात्त्य विचारधाराओं में समन्वय स्थापित करके मानसिक एकाग्रता और दृढ़ता को फिर से प्राप्त कर लिया, तब उन्होंने नाटक के क्षेत्र में अविराम गति के साथ उन्नति करनी शुरू की; और १९१२ से आज तक हम हिन्दी नाटक के वट-वृक्ष की उत्तरोत्तर वृद्धि एवं समृद्धि देख रहे हैं।

नवां अध्याय

उन्नीसवीं शताब्दी का नाट्य-विधान

भारतेन्दु-धारा के नाटक पारसी रंगमंच के भद्दे कलाविहीन नाटकों की प्रतिक्रिया की भावना से प्रेरित होकर लिखे गये थे। अतः भारतेन्दु तथा उनकी धारा के साहित्यिक नाटककारों ने भरत मुनि के नाट्यशास्त्र तथा धनंजय के दशरूपक आदि ग्रन्थों के नाटक-सम्बन्धी नियमों और सिद्धान्तों को विशेष रूप से ग्रहण किया; परन्तु फिर भी उन्होंने प्राचीन भारतीय नाट्य-सिद्धान्तों का अन्धानुसरण नहीं किया। अपने नाटकों में मुख्य रूप से संस्कृत नाटकों की परंपरा तथा भारतीय सिद्धान्तों का पालन करने के साथ-साथ उन्होंने अपने समय के परिवर्तित वातावरण, आवश्यकताओं और लोकरुचि के अनुकूल पश्चिमी नाटकों की कुछ आवश्यक और उपयोगी विशेषताओं को भी धीरे-धीरे ग्रहण किया। इस प्रकार उन्नीसवीं शताब्दी के साहित्यिक हिन्दी नाटकों के नाट्य-विधान (टेकनीक) में प्रधान रूप से प्राचीन भारतीय नाट्य-सिद्धान्तों का तथा गौण रूप में पाश्चात्य नियमों का पालन हुआ है। इसके अतिरिक्त 'श्रीचन्द्रावली' और 'नीलदेवी' आदि कुछेक नाटकों पर रासलीला और नौटंकी आदि मध्यकालीन रूपों की छाप भी झलकती है।

संस्कृत नाटकों का आरम्भ प्रायः नान्दी (मंगलाचरण) से होता है। नान्दी में कवि अपने इष्टदेव की स्तुति, उसकी अनुग्रह-याचना तथा लोगों की मंगल-कामना आदि किया करता है। एक तो संस्कृत नाटक का उद्भव ही धार्मिक क्रियाओं और अनुष्ठानों से हुआ है। दूसरे, प्राचीन काल में भारतवासी धर्म की महत्ता, शक्ति और पवित्रता में अधिक विश्वास रखते थे। इसलिए अन्य आवश्यक कार्यों की भाँति नाटक का आरम्भ भी वे ईश्वर की वन्दना-स्तुति आदि से करते थे। किन्तु उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में पाश्चात्य शिक्षा और विचारों के प्रभाव के फलस्वरूप भारतवासियों के मन में ईश्वर तथा धर्म के प्रति श्रद्धा क्षीण हो रही थी। इसके अतिरिक्त हिन्दी के नाटककारों ने अंग्रेज़ी के नाटकों में इस प्रकार की धार्मिक प्रार्थना अथवा मंगलाचरण का अभाव देखा। इन कारणों से उन्नीसवीं शताब्दी के हिन्दी नाटककारों ने अपनी रचनाओं में नांदी-पाठ की प्रथा का दृढ़ता से पालन नहीं किया। कुछ नाटकों (उदाहरण के लिए भारतेन्दु-कृत 'सत्यहरिश्चन्द्र', 'श्रीचन्द्रावली' और 'प्रेमजोगिनी',

राधाकृष्णदास-कृत 'महाराणा प्रताप' तथा 'पद्मावती', श्रीनिवासदास-कृत 'तप्ता-संवरण' आदि) में नान्दी की व्यवस्था कर दी गई है, परन्तु अन्य नाटकों (उदाहरण के लिए भारतेन्दु-कृत 'नीलदेवी', राधाकृष्णदास-कृत 'दुःखिनी बाला', श्रीनिवासदास-कृत 'रणधीर और प्रेममोहिनी', केशवराम भट्ट-कृत 'सज्जाद सुम्बुल' और 'शमशाद सौसन' आदि) में नान्दी का अभाव है।

नान्दी के अनन्तर संस्कृत नाटकों में प्रस्तावना की योजना होती थी। नान्दी की अपेक्षा यह नाटक का अधिक महत्त्वपूर्ण और उपयोगी अंग था। प्रस्तावना के द्वारा ही नाटककार दर्शकगण को अपना परिचय देता था, तथा अपने व्यक्तित्व और नाटक के कथानक आदि के सम्बन्ध में सूचना देता था। संस्कृत साहित्य में रूपक की गणना काव्य के अन्तर्गत होने के कारण संस्कृत नाटकों में रस-निष्पत्ति की ओर विशेष ध्यान दिया जाता था। दर्शकों को रस का भली भाँति आस्वादन कराने के लिए यह उपयोगी एवं आवश्यक-सा जान पड़ता था कि नाटक के कथानक की ओर आरम्भ में ही संकेत कर दिया जाय। परन्तु उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में अवस्था बहुत बदल चुकी थी। आलोच्य-काल में कुछ नाटककारों ने अपने नाटकों के पूर्व में भूमिकाएँ और आमुख आदि लिखने की प्रथा निकाल ली, जिनमें नाटक के कथानक आदि पर यथेष्ट प्रकाश डाल दिया जाता था। दूसरे, इस काल में मुद्रणकला के प्रचार से छपाई सस्ती हो गई, और नाटक-कम्पनियाँ प्रायः नाटक का अभिनय आरम्भ होने से पूर्व दर्शकों में अपने नाटक का परिचय और उसके कथानक और पात्रों आदि का संक्षिप्त विवरण बांट देती थीं। इस प्रकार संस्कृत नाटकों की प्रस्तावना का उद्देश्य पूरा हो जाता था।

साथ ही आलोच्य-काल में नाटक में रसोद्रेक की अपेक्षा घटना-वैचित्र्य और कथानक के सौन्दर्य को अधिक महत्त्व दिया जाने लगा। रस के स्थान में कौतूहल को प्रधानता दी जाने लगी। इस परिवर्तन के कारण भी प्रस्तावना अनावश्यक-सी हो गई। इन कारणों से आलोच्यकाल के कतिपय नाटकों में प्रस्तावना की अवतारणा नहीं की गई (उदाहरण के लिए भारतेन्दु-कृत 'नील-देवी' और श्रीनिवासदास-कृत 'रणधीर और प्रेममोहिनी' आदि नाटकों में)। परन्तु अधिकांश नाटकों में संस्कृत नाटकों की पद्धति के अनुसार प्रस्तावना रखी गई है (उदाहरण के लिए भारतेन्दु-कृत 'सत्यहरिश्चन्द्र', 'श्रीचन्द्रावली', 'प्रेम-जोगिनी', राधाकृष्णदास-कृत 'महाराणा प्रताप' तथा श्रीनिवासदास-कृत 'संयो-गिता-स्वयंवर' आदि नाटकों में)।

भारतीय नाट्यशास्त्र के नियमानुसार नाटक में पाँच से दस तक अंक हो

सकते थे और साधारणतया सात अंकों के नाटकों का ही अधिक प्रचलन था। 'शकुन्तला', 'उत्तररामचरित' तथा 'मुद्राराक्षस' आदि संस्कृत के प्रसिद्ध नाटकों में सात-सात अंक ही हैं। 'वेणी-संहार' में छः अंक हैं, तथा मृच्छकटिक में दस अंक हैं। आलोच्यकाल में अंकों की संख्या के इस नियम की प्रायः अवहेलना की गई है। सात अंकों के नाटक इस काल में बहुत ही कम मिलते हैं (उदाहरण के लिए राधाकृष्णदास-कृत 'महाराणा प्रताप')। अन्यथा अंकों की संख्या अधिकतर पाँच ही रखी गई, जो कि शायद शेक्सपियर के नाटकों के अनुकरण का फल है। कहीं-कहीं नाटकों में चार अथवा तीन ही अंक रखे गये हैं।

संस्कृत नाटकों में अंकों का विभाजन दृश्यों में नहीं किया जाता था। इस का मुख्य कारण यह था कि रसनिष्पत्ति के हेतु स्थायी भाव की रक्षा करने के लिए दृश्य-परिवर्तन अनावश्यक एवं अनभिप्रेत था। उसके लिए लम्बे निर्बाध वातावरण की सृष्टि उपयुक्त होती थी, अतः एक ही अंक दृश्य-परिवर्तन की बाधा के बिना देर तक चलता जाता था। परन्तु आलोच्यकाल में पाश्चात्य प्रभाव के फलस्वरूप घटना-वैचित्र्य की प्रधानता होने के कारण दृश्यों का शीघ्रतापूर्वक परिवर्तन उपयोगी एवं आवश्यक बन गया। इसके अतिरिक्त अंग्रेज़ी नाटकों में भी अंकों का विभाजन दृश्यों में किया जाता था। इस कारण से हमारे नाटककारों ने भी धीरे-धीरे अपने नाटकों में अंकों को दृश्यों में बाँटने की पाश्चात्य प्रथा का अनुकरण करना शुरू किया। फिर भी इस काल में दृश्य-विभाजन केवल थोड़े-से नाटकों में ही (उदाहरण के लिए 'रणधीर और प्रेममोहिनी' तथा 'महाराणा प्रताप' आदि में) किया गया है। सामान्य रूप से प्राचीन नाट्य-परंपरा के अनुसार अधिकतर नाटकों में अंकों को दृश्यों में विभाजित नहीं किया गया (उदाहरण के लिए भारतेन्दु-कृत 'सत्यहरिश्चन्द्र', 'श्रीचन्द्रावली', 'भारतदुर्दशा' आदि नाटकों में)।

इसके अतिरिक्त इस काल के नाटकों में स्वगत-भाषण (soliloquy) तथा पृथग् भाषणों (asides) की बहुत भरमार है। कई नाटकों में तो स्वगत-भाषण बहुत लम्बे, उकताने वाले तथा अनाटकीय हो गये हैं, जैसा कि हम पाँचवें, छटे तथा सातवें अध्यायों में कई जगह संकेत कर चुके हैं। स्वयं भारतेन्दु के नाटक भी इस दोष से मुक्त नहीं हैं। स्वगत-भाषणों की बहुलता के अतिरिक्त दो या दो से अधिक पात्रों के बीच संभाषण और कथोपकथन में भी उन्नीसवीं शताब्दी के अधिकांश नाटककारों ने विशेष कुशलता का परिचय नहीं दिया। इनके कथोपकथन बहुधा यथार्थता से दूर, अस्वाभाविक और निरर्थक जान पड़ते हैं। इस काल के अधिकतर नाटककारों ने कथोपकथन की

उपयोगिता, महत्त्व तथा सार्थकता को नहीं पहचाना। भारतेन्दु, राधाकृष्णदास, बालकृष्ण भट्ट तथा श्रीनिवासदास को छोड़कर बहुत थोड़े नाटककार अपने कथोपकथन को सजीव, सशक्त तथा समयानुकूल बनाने के अतिरिक्त वस्तु-विकास और चरित्र-चित्रण का यथार्थ साधन बना सके हैं। छोटे-छोटे, गठे हुए और सारगर्भित संभाषणों का उनके नाटकों में प्रायः अभाव है।

इस काल के कथोपकथन की एक और विशेषता है—संवादों के बीच पद्य का प्रचुरता से प्रयोग। निस्संदेह पद्य का प्रयोग संस्कृत के नाटकों में भी प्रचुरता के साथ किया गया है। परन्तु संस्कृत नाटकों में व्यवहृत पद्य-भाग कोरा पद्य ही नहीं हैं, प्रत्युत उसमें विशेष कवित्व-सौंदर्य निहित है तथा वह रस एवं भाव से परिपूर्ण है। संस्कृत साहित्य में नाटक की गणना काव्य के अन्तर्गत होने के कारण संस्कृत नाटकों में पद्य का प्रयोग कवित्वमय वातावरण की सृष्टि करने के लिए किया जाता था। इस बात की पुष्टि 'शकुन्तला', 'उत्तररामचरित' आदि नाटकों में प्रयुक्त हुए पद्यों से भली भाँति हो जाती है। वहाँ पद्य का प्रयोग बड़े उपयुक्त तथा प्रभावोत्पादक ढंग से किया गया है। किन्तु उन्नीसवीं शताब्दी के हिन्दी नाटकों में पद्य का प्रयोग अधिकतर व्यर्थ और अनुपयुक्त है। नाटककारों ने निस्संकोच और निरुद्देश्य, अवसर-अनवसर की परीक्षा किये बिना जगह-जगह पर कथोपकथन में पद्य का प्रयोग किया है।

वास्तव में हिन्दी के साहित्यिक नाटकों में पद्य के प्रयोग की प्रवृत्ति प्राचीन संस्कृत नाटकों से ग्रहण नहीं की गई। यह स्पष्ट रूप से पारसी रंगमंचीय नाटकों के प्रभाव का फल है। रंगमंचीय नाटकों के पद्य की भांति इन नाटकों के पद्य भी अधिकतर व्यर्थ, भद्दे और अनाटकीय हैं। इनमें संस्कृत के पद्यों-जैसे कवित्व-गुण, भावात्मकता तथा प्रभाव नहीं हैं। भारतेन्दु, श्रीनिवासदास, राधाकृष्णदास आदि श्रेष्ठ नाटककारों तक की रचनाओं में पद्य का प्रयोग प्रचुरता से किया गया है। परन्तु उनके पद्य प्रायः इतने व्यर्थ, भद्दे, अस्वाभाविक और अनुपयुक्त प्रतीत नहीं होते जितने कि सामान्य नाटककारों के नाटकों में।

इसके अतिरिक्त आलोच्यकाल के कुछ नाटकों में भिन्न-भिन्न प्रादेशिक बोलियों तथा उपभाषाओं का प्रयोग भी किया गया है। संस्कृत नाटकों में भी राजा, राजकर्मचारी, ब्राह्मण तथा अन्य शिक्षित और कुलीन पुरुष-पात्र संस्कृत बोलते हैं, किन्तु प्रायः सभी स्त्री-पात्र तथा निम्न जाति के अथवा अशिक्षित पुरुष-पात्र प्राकृत का प्रयोग करते हैं। संभवतः संस्कृत नाटकों के इसी भाषा-भेद से प्रेरणा लेकर कुछ हिन्दी नाटककारों ने भी खड़ीबोली के साथ कहीं-कहीं व्रजभाषा का तथा कई पात्रों के लिए उनकी प्रादेशिक भाषाओं का

प्रयोग किया है। उदाहरण के लिए राधाकृष्णदास के 'महाराणा प्रताप' में राणा प्रताप तथा अन्य हिन्दू पात्र हिन्दी बोलते हैं, अकबर आदि मुसलमान पात्र उर्दू का प्रयोग करते हैं। उसी नाटक में पुर्तगीज़ पात्र एक विशेष प्रकार से हिन्दुस्तानी का उच्चारण करता है, जैसे—

पोर्तुगीज़—खोडावंड, अम पोर्तुगीज़ है, अमारा नाम अगस्टाइन है। अमारा गोआ के गवर्नर ने अमको हज़ूर के लिये बहुत सा नज़र देकर भेजा ठा, राह में उदयपुर के राजा ने अमको लूट लिया, बोला अमारे सिवाय बाडशाह कौन है, यह नज़र अमारा है।

(चौथा अंक, तृतीय गर्भांक)

इसी प्रकार श्रीनिवासदास के 'रणधीर और प्रेममोहिनी' में भी कुछ पात्र प्रादेशिक बोलियों का उपयोग करते हैं, जैसे—

नत्थूराम—(कुछ तेज़ होकर) अन्दाता जी, या बात आपका फ़ुर्मावा लायक नही छै, गांव गोठांरा बोरा में कोई धरम हार इश्यों काम भला ही कर लो, म्हे लोग मरता मरता श्यां तो, पण म्हासैं खोटो कागद कदे नहीं बणायो जासी···इत्यादि। (पहला अंक, तृतीय गर्भांक)

इसी प्रकार बलदेवप्रसाद मिश्र के 'प्रभास-मिलन' में कृष्ण, वसुदेव और नन्द आदि खड़ीबोली में वार्तालाप करते हैं जब कि राधा, यशोदा और गोप-गोपियां आदि व्रजभाषा का प्रयोग करते हैं। भारतेन्दु ने भी प्रादेशिक भाषाओं तथा स्थानीय बोलियों का प्रयोग 'भारत-दुर्दशा' के पंचम अंक में तथा 'प्रेम जोगिनी' में किया है। परन्तु उन्नीसवीं शताब्दी के अधिकांश नाटककारों ने भाषा-भेद की प्रथा का पालन न करके अपने नाटकों में एक ही भाषा से काम लिया है। पारसी रंगमंचीय नाटकों में भी सभी पात्रों—उच्च तथा नीच, पुरुष तथा स्त्री—के लिए एक ही भाषा का प्रयोग किया गया है। उन्नीसवीं शताब्दी में उनकी भाषा उर्दू-प्रधान हिन्दी थी, परन्तु बीसवीं शताब्दी में उसमें हिन्दी की प्रधानता हो गई।

संस्कृत नाट्य-शास्त्र के नियमानुसार कुछ दृश्यों और घटनाओं का रंगमंच पर प्रदर्शन निषिद्ध था। युद्ध, मृत्यु, हत्या, स्नान, यात्रा, चुम्बन, आलिंगन आदि दृश्यों के प्रदर्शन का रंगमंच के लिए निषेध था। इनमें से कुछ दृश्यों का तो रंगमंच पर सफलतापूर्वक दिखाना असंभव अथवा अति कठिन था, और कुछ दृश्यों से उस काल के सुशिक्षित और शिष्ट सामाजिकों की सुरुचि को आघात पहुँचता था। आलोच्यकाल के नाटकों में इस निषेध का अधिकतर पालन हुआ है, और अधिकांश वर्जित दृश्यों का समावेश उनमें नहीं किया गया। किन्तु

कुछ नाटककारों ने इस प्रतिबन्ध की अवहेलना करने का साहस भी किया है। उदाहरण के लिए किशोरीलाल गोस्वामी के 'मयंक-मंजरी' नाटक में चुम्बन और मृत्यु के दृश्य रंगमंच पर दिखाये गये हैं। भारतेन्दु-कृत 'नीलदेवी' में भी नीलदेवी द्वारा अब्दुश्शरीफ़ की हत्या का दृश्य रंगमंच पर ही दिखाया गया है। श्रीनिवासदास के 'रणधीर और प्रेममोहिनी' में रणधीर और प्रेममोहिनी की मृत्यु भी रंगमंच पर ही दिखाई गई है।

इसके अतिरिक्त संस्कृत नाटक सभी सुखांत होते थे। दुःखांत नाटकों का संस्कृत साहित्य में नितांत अभाव है। इस शताब्दी के हिन्दी नाटककारों ने भी सस्कृत नाटकों की इस प्रथा का पालन किया है, और इस काल के अधिकांश नाटक सुखान्त हैं। परन्तु थोड़े-से नाटककारों ने अपनी रचनाओं को दुःखांत बनाने का भी साहस किया है। दुःखांत की भावना उन्होंने कदाचित् पाश्चात्य नाटक-साहित्य से ली अथवा जीवन के प्रति अपने दृष्टिकोण तथा अनुभव के परिणामस्वरूप ग्रहण की। हिन्दी साहित्य में सर्वप्रथम दुःखान्त नाटक लिखने का श्रेय लाला श्रीनिवासदास को है। उनका 'रणधीर और प्रेममोहिनी' (१८७७) हिन्दी का पहला दुःखांत नाटक है। भारतेन्दु के 'नीलदेवी' (१८८०) का अन्त भी दुःखमय है। राधाचरण गोस्वामी का 'सती चन्द्रावली' (१८९०) भी दुःखांत है। परन्तु सुखांत नाटकों की अपेक्षा इस काल में लिखे गये दुःखांत नाटकों की संख्या बहुत कम है। इससे यह सिद्ध होता है कि इस सम्बंध में भी प्राचीन नाट्य-परंपरा का प्रभाव ही प्रधान रहा।

संस्कृत नाटकों का वातावरण भी प्रायः आदर्शवादी होता था। उनकी पृष्ठभूमि में नैतिक चेतना बलवती होती थी और उनमें सदा अधर्म के ऊपर धर्म की, असत्य के ऊपर सत्य की और पाप के ऊपर पुण्य की विजय दिखाई जाती थी। उनके नायक आदर्श, निर्दोष एवं सर्वगुणसम्पन्न होते थे। वे सामान्य मानुषोचित स्तर से धीरे-धीरे ऊपर उठकर उन्नति और आदर्श के उच्च शिखर पर आरूढ़ नहीं होते थे, वरन् आरंभ से ही आदर्श के उच्च शिखर पर स्थित होते थे। इसी कारण से भारतीय सिद्धान्तों के अनुसार नाटकों का दुःखांत होना वर्जित था। नायक जब तक पापात्मा न होगा तब तक उसकी पराजय कैसे हो सकती है। धर्मपरायण तथा आदर्श नायक की पराजय अथवा मृत्यु आदि दिखाने का अर्थ होगा—पुण्य के ऊपर पाप की विजय, अर्थात् पाप और अधर्म का प्रचार करना। यह बात शास्त्रकारों को अभीष्ट नहीं थी। इसीलिए संस्कृत साहित्य में दुःखान्त नाटकों का अभाव है।

संस्कृत नाटकों में पात्रों का संकलन एक संकुचित घेरे में से किया जाता

था। उनमें प्रायः कुछ विशेष वर्गों के पात्र ही बार-बार लिये जाते थे। आलोच्यकाल के हिन्दी नाटकों में कुछ तो पाश्चात्य प्रभाव के कारण तथा कुछ अंश में लोगों के परिवर्तित नैतिक स्तर के कारण आदर्श पात्रों की ही नहीं, सामान्य पात्रों की भी सृष्टि की जाने लगी। पौराणिक नाटकों के पात्र तो अधिकतर आदर्श व्यक्ति ही रहे, किन्तु शेष नाटकों में पात्र जीवन के सामान्य धरातल से चुने जाने लगे, जो साधारण जनों की भांति दोषपूर्ण अथवा त्रुटियों से युक्त हो सकते थे, और उनका अन्त भी दुःखमय हो सकता था। इसके अतिरिक्त हिन्दी नाटक में सभी वर्गों और श्रेणियों के पात्रों को नाटकों में स्थान दिया जाने लगा। इस प्रकार हिन्दी नाटकों का वातावरण संस्कृत नाटकों की अपेक्षा अधिक यथार्थवादी और लौकिक बन गया।

कथानक और विषय की दृष्टि से भी इस काल के नाटकों में संस्कृत नाटकों से अन्तर पाया जाता है। संस्कृत नाटकों के कथानक प्रायः शृंगारिक अथवा पौराणिक होते थे। उनमें से अधिकतर नाटकों में अतिमानुषिक तथा अति-प्राकृतिक सामग्री का भी उपयोग होता था। परन्तु उन्नीसवीं शताब्दी में नाटक-कारों ने अपने कथानकों को केवल पौराणिक तथा शृंगारिक क्षेत्रों से ही संकलित नहीं किया, पुरानी रूढ़ियों और संकीर्णताओं को तोड़कर उन्होंने जीवन के सभी क्षेत्रों से तथा सभी सामयिक विषयों से अपने नाटकों के लिए कथानक एकत्रित करना शुरू किया। सामाजिक, ऐतिहासिक, राजनीतिक, धार्मिक तथा सभी प्रकार के अन्य लोकप्रिय विषयों पर इस काल में नाटक-रचना होने लगी। प्रहसनों के उद्देश्य में भी आलोच्यकाल में बड़ा अन्तर आ गया। संस्कृत के प्रहसनों का उद्देश्य केवल हास्य की सृष्टि करना होता था। उनमें सुधार, प्रचार अथवा उपदेश की भावना का प्राधान्य न होता था। किन्तु हिन्दी के प्रहसनों का मुख्य उद्देश्य ही प्रचलित सामाजिक, धार्मिक तथा राज-नीतिक बुराइयों पर व्यंग्य करके उनका सुधार करना है।

अन्त में संक्षेप से यह कहा जा सकता है कि यद्यपि उन्नीसवीं शताब्दी में हिन्दी नाटककार धीरे-धीरे पाश्चात्य नाटकों से प्रभावित हो रहे थे, और साथ में सामयिक परिस्थितियों तथा तत्कालीन वातावरण का प्रभाव भी उन पर पड़ रहा था, तथापि उन्होंने अधिकतर प्राचीन संस्कृत नाटकों के विधान को ही अपनाया। इसके साथ ही हमें यह भी मानना पड़ेगा कि यद्यपि उन्नीसवीं शताब्दी के हिन्दी नाटकों पर संस्कृत नाटक और उसके सिद्धांतों का ही अधि-कार रहा, तो भी इस काल में बहुत कम ऐसे नाटक मिलेंगे जिनमें भारतीय नाट्यशास्त्र के नियमों का पूर्णतया पालन हुआ हो अथवा जो सर्वथा प्राचीन पद्धति पर रचे गये हों।

दसवां अध्याय

हिन्दी नाटक बीसवीं शताब्दी में

अभाव-काल (१६००—१६१२ ई०)

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की मृत्यु के पश्चात् हिन्दी नाटक का बड़ी तेज़ी के साथ पतन हुआ। इस पतन के बहुत-से कारण थे, और उनमें से कुछेक का उल्लेख आठवें अध्याय में किया गया है। इनके फलस्वरूप हिन्दी नाटक का अभाव-काल (Sterile period) भारतेन्दु की मृत्यु के बाद से आरम्भ होकर सन् १६१२ तक (बल्कि उसके कुछ वर्ष बाद तक) चलता है। सन् १६१२ ई० में हिन्दी नाटक का पुनरुत्थान आरम्भ हुआ, और दीर्घ विराम के बाद फिर से हिन्दी में उच्च कोटि के साहित्यिक नाटकों की रचना होने लगी। सन् १६१२ में बद्रीनाथ भट्ट का 'कुरुवनदहन' नामक नाटक प्रकाशित हुआ, जोकि अभाव-काल के नाटकों की अपेक्षा बड़ी उत्कृष्ट रचना है। स्वर्गीय जयशंकर प्रसाद के साहित्यिक नाटक भी लगभग इसी समय प्रणीत होने लगे। अभाव-काल में बहुत-से मौलिक नाटकों की रचना हुई, किन्तु कला की कसौटी पर उनमें से दो-एक नाटकों को छोड़कर शायद ही कोई नाटक पूरा उतरता हो। उत्कृष्ट कोटि की नाटकीय रचनाओं का इस काल में अभाव रहा।

मौलिक नाटकों के अतिरिक्त इस काल में अन्य भाषाओं के कुछ नाटक हिन्दी में अनूदित भी हुए। वास्तव में अनुवादों की शृंखला मौलिक नाटकों की भाँति भारतेन्दु से आरम्भ होकर आज तक अविच्छिन्न रूप से चल रही है। किन्तु जिस प्रकार इस अभाव-काल (१६००—१६१२) में उत्कृष्ट मौलिक नाटकों का अभाव रहा, उसी प्रकार सफल सुन्दर अनुवादों का भी इस काल में प्रायः अभाव ही रहा।

मौलिक नाटक

इस काल के मौलिक नाटकों का संक्षिप्त विवरण देने से पूर्व हम एक आवश्यक सूचना दे देना चाहते हैं कि इस काल में लिखे गये कुछ नाटकों का उल्लेख पाँचवें और छटे अध्यायों में किया जा चुका है। कारण यह कि उन्नीसवीं शताब्दी में कुछ नाटककार ऐसे हुए हैं जिनका अधिकांश रचनाकाल उन्नीसवीं शताब्दी में बीता, परन्तु उनकी एकाध नाटकीय रचना इस काल के अन्तर्गत

हुई। इसलिए पाँचवें और छटे अध्यायों में उन्नीसवीं शताब्दी के नाटकों का वर्णन करते हुए उनकी इस काल की एकाध रचना का उल्लेख भी वहीं पर अन्य नाटकों के साथ कर दिया गया है। इस प्रकार किशोरीलाल गोस्वामी-कृत 'नाट्य-संभव' (१९०४), प्रेमघन कृत 'प्रयागरामागमन' (१९०४), राधाचरण गोस्वामी-कृत 'श्रीदामा नाटक' (१९०४) प्रतापनारायण मिश्र-कृत 'भारतदुर्दशा' (१९०२), बलदेवप्रसाद मिश्र-कृत 'प्रभास-मिलन' (१९०३), शालिग्राम-कृत 'पुरु-विक्रम' (१९०६) आदि नाटकों का उल्लेख पिछले अध्यायों में किया जा चुका है, यद्यपि रचनाकाल की वर्ष-संख्या के अनुसार ये नाटक इस अभाव-काल के अन्तर्गत आते हैं।

उपरिलिखित नाटकों के अतिरिक्त जो अन्य मौलिक नाटक इस काल में रचे गये, उनमें से पंजाब के नाटककार सुदर्शनाचार्य का 'अनर्घ-नलचरित' (१९०८) दस अंकों का महानाटक है। इसमें नल-दमयन्ती की कथा, उनके वनवास, वियोग और पुनर्मिलन का वृत्त है। नाटक के बीच में संस्कृत श्लोक भी रख दिये गये हैं। कला की दृष्टि से यह रचना बहुत साधारण है।

उपर्युक्त नाटक की अपेक्षा गंगाप्रसाद का 'रामाभिषेक नाटक' (१९१०) अधिक सुन्दर है। इस नाटक में श्रीराम के वनवास से लौटने के बाद के राज्याभिषेक का वर्णन नहीं। इसके कथानक का सम्बन्ध राम के वनवास से पूर्व दशरथ द्वारा आयोजित राम के अभिषेक से है। नाटक का अन्त दशरथ की मृत्यु पर होता है। नाटक की वस्तु का संगठन सावधानी के साथ किया गया है। इस नाटक में साहित्यिक नाटकों तथा रंगमंचीय नाटकों की प्रवृत्तियों का सम्मिश्रण दृष्टिगोचर होता है। परन्तु नाटक का वातावरण पारसी रंगमंचीय नाटकों की अपेक्षा अधिक शुद्ध और संयत है। थिएट्रिकल नाटकों की भाँति इस नाटक में भी पद्य तथा गीतों की प्रचुरता है। कला की दृष्टि से यह नाटक इस काल के शेष नाटकों से कुछ अच्छा है।

रामायण की कथा के आधार पर रचित अन्य नाटकों में व्रजचन्द का 'रामलीला नाटक' (१९०८), गिरिधरलाल का 'रामवनयात्रा नाटक' (१९१०), नारायणसहाय का 'रामलीला नाटक' (१९११), रामगुलाम का 'धनुष-यज्ञ-लीला' (१९१२) आदि नाटक उल्लेखनीय हैं। कला की दृष्टि से ये सभी नाटक बहुत सामान्य हैं और रामलीला के उद्देश्य से लिखे गये जान पड़ते हैं।

इसके अतिरिक्त महावीरसिंह का 'नलदमयन्ती नाटक' (१९०५), गौरचरण गोस्वामी का 'अभिमन्युवध' (१९०६), लक्ष्मीप्रसाद का 'उर्वशी' (१९१०), शिवनन्दनसहाय का 'सुदामा नाटक' (१९०७), व्रजनन्दनसहाय

का 'उद्धव' (१९०९), रामनारायण मिश्र का 'कंसवध' (१९१०), परमेश्वर मिश्र का 'रूपवती' (१९०७), हरिनारायण का 'कामिनी-कुसुम' (१९०७), आदि नाटक भी कला की दृष्टि से अति साधारण हैं। इनमें विशेष नाटकीय गुणों के दर्शन नहीं होते।

इस काल का एक और मौलिक नाटक राय देवीप्रसाद पूर्ण का 'चन्द्रकला-भानुकुमार' (१९०४) है। यह नाटक आकार में बहुत बड़ा है, और वैसे भी अभिनयोपयोगी नहीं है। नाटक में पद्य की प्रचुरता है, और वस्तु-संगठन तथा चरित्र-चित्रण में भी विशेष कुशलता का परिचय नहीं मिलता।

अनूदित नाटक

इस काल में केवल थोड़े से नाटकों का ही अन्य भाषाओं से अनुवाद किया गया। रायबहादुर ला० सीताराम ने संस्कृत के बहुत-से नाटकों का हिन्दी में अनुवाद किया; किन्तु इनमें से अधिकतर अनुवाद उन्नीसवीं शताब्दी में हुए और उनका उल्लेख छठे अध्याय में कर दिया गया है। १९१३ में उन्होंने शूद्रक के 'मृच्छकटिक' का अनुवाद किया। उसी वर्ष सत्यनारायण कविरत्न का भवभूति-कृत 'उत्तररामचरित' का अनुवाद प्रकाशित हुआ। सदानन्द अवस्थी ने संस्कृत के 'नागानन्द' का अनुवाद किया। लाला सीताराम ने शेक्सपियर के लगभग एक दर्जन नाटकों को भी हिन्दी में अनूदित किया। उनमें से केवल Much Ado About Nothing का १९१२ में 'मनमोहन का जाल' नाम से अनुवाद प्रकाशित हुआ। शेष अनुवाद अगले काल (१९१२—१९३२) में प्रकाशित हुए, अतः उनका उल्लेख आगे[1] किया जायगा।

बँगला से भी एक दो नाटक हिन्दी में अनूदित हुए। व्रजनन्दन के 'सप्तम-प्रतिमा' (१९०६) तथा 'बूढ़ा वर' (१९०९) नामक अनुवाद बड़े सफल और रोचक हैं। गोपालराम गहमरी ने बाबू राजकृष्ण राय के बँगला नाटक के आधार पर 'बनवीर नाटक' (१९१२) की रचना की। इसमें राजपूत वीरांगना 'पन्ना' धाय के अपूर्व बलिदान का वृत्त है। इनमें वीर, भयानक, करुण तथा हास्य रसों का संमिश्रण है। रचना सफल और सुन्दर है।

हिन्दी नाटक का पुनरुत्थान

इस अभाव-काल की दो महत्त्वपूर्ण रचनाएँ जयशंकर प्रसाद का 'करुणा-लय' (१९१२) तथा बद्रीनाथ भट्ट का 'कुरुवनदहन' (१९१२) हैं। 'करुणा-लय' गीतिरूपक है जिसमें राजा हरिश्चन्द्र तथा शुनःशेप का वृत्त है। इस नाटक के सम्बन्ध में आगे चलकर[2] अन्य गीति-नाटकों के साथ लिखा जायगा। किन्तु

१. देखिए सोलहवाँ अध्याय।　　२. देखिए बाईसवाँ अध्याय।

'करुणालय' की अपेक्षा भट्ट जी के 'कुरुवनदहन' का नाटकीय दृष्टि से अधिक महत्त्व है। इस नाटक के साथ हिन्दी-नाटक-साहित्य के इतिहास में नये युग का प्रवर्तन होता है, और अभाव-काल के पश्चात् हिन्दी-नाटक का पुनरुत्थान-काल आरम्भ होता है। यह नाटक अभाव-काल के बाद की पहली उत्कृष्ट रचना है, जिसमें नाट्यकला का विशेष रूप से विकास हुआ है। यह नाटक उन्नीसवीं शताब्दी के नाटकों तथा अगले युग (पुनरुत्थान-काल १९१२—१९३२) के नाटकों के बीच की महत्त्वपूर्ण कड़ी है, क्योंकि यह नाटक अनेक प्रकार से उन्नीसवीं शताब्दी के नाटकों की अपेक्षा उत्कृष्ट है और इस नाटक की कला का पूर्ण विकास अगले काल में दिखाई देता है। उन्नीसवीं शताब्दी में नाट्य-कला के भिन्न-भिन्न तत्त्वों का निर्वाह भिन्न-भिन्न नाटकों में सफलतापूर्वक देखा जा चुका है। उदाहरण के लिए भारतेन्दु के 'नीलदेवी' में कथानक का सौंदर्य मिलता है, 'सत्य-हरिश्चन्द्र' में चरित्र-चित्रण की विशेषता है, 'श्रीचन्द्रावली' में रस का निर्बाध प्रवाह और तन्मयता है और 'अंधेरनगरी' में हास्य की विशेष रूप से अवतारणा हुई है। परन्तु जहाँ इन नाटकों तथा उन्नीसवीं शताब्दी के अन्य नाटकों में केवल एक-एक या दो-दो गुणों और तत्त्वों का यथोचित निर्वाह हो पाया है, वहाँ 'कुरुवनदहन' में नाटक के प्राय: सभी तत्त्वों का समान रूप से निर्वाह हुआ है। इस नाटक में कथानक का सुव्यवस्थित संगठन है, चरित्र-चित्रण की विशेषता है तथा प्रभावशाली और सशक्त संवादों का उपयोग है। बीच-बीच में हास्य रस की अवतारणा भी की गई है।

'कुरुवनदहन' भट्ट नारायण के 'वेणीसंहार' का रूपांतर है। नाटक की भूमिका में भट्ट जी ने लिखा है—

"संस्कृत में 'वेणीसंहार' एक वीररस-प्रधान नाटक है। उसमें महाभारत-युद्ध की कथा है। उसी की सहायता से यह 'कुरुवनदहन' नाटक तैयार किया गया है। इसको यदि 'वेणीसंहार' का रूपांतर कहें तो भी अनुचित न होगा। इसे पढ़ने पर पाठकों को मालूम हो जायगा कि उपर्युक्त संस्कृत नाटक की सहायता से लिखा जाने पर भी इसका नाम बदलना सर्वथा उचित ही हुआ है, क्योंकि उसमें और इसमें बड़ा अन्तर है—कितने ही नये व्यक्ति, कितनी ही नई बातें इसमें सम्मिलित कर दी गई हैं और 'वेणीसंहार' के कितने ही पात्र और कितनी ही बातचीत इसमें नहीं रक्खी गई है; उसमें छ: अंक हैं, इसमें सात हैं; उसमें द्रौपदी के केशों का भीम द्वारा बाँधा जाना ही नाटक की कथा का केन्द्र माना गया है, इसमें यह बात नहीं है।

उसकी और इसकी शैली में भी बड़ा भेद है। यह अंग्रेजी ढंग पर एक्ट

(अंकों) तथा सीन (दृश्यों) में विभक्त किया गया है, जिससे खेलने में भी सुगमता पड़े··· इत्यादि ।

इस प्रकार वस्तु-संगठन, चरित्र-चित्रण के गुणों और हास्य की अवतारणा के अतिरिक्त 'कुरुवनदहन' में मूल रचना में अनेक परिवर्तन और परिवर्धन करके उसे नवीनता देकर उसे आधुनिक रुचि और वातावरण के अनुकूल बनाने का गंभीर प्रयास किया गया है । इस उद्देश्य की पूर्त्ति के लिए संवादों, दृश्यों और पात्रों में कई परिवर्तन और संशोधन किये गये हैं । इसमें पाश्चात्य नाट्य-पद्धति तथा संस्कृत नाट्य-सिद्धान्तों का समन्वय कर दिया गया है । मूल संस्कृत नाटक में अंकों का उपविभाजन दृश्यों में नहीं किया गया पर भट्ट जी ने अपने नाटक में अंग्रेज़ी अथवा पारसी रंगमंचीय नाटकों के अनुकरण में अंकों को दृश्यों में बाँट दिया है । इसके अतिरिक्त अंग्रेज़ी तथा पारसी थिएट्रिकल नाटकों के अनुकरण में 'अंक' तथा 'दृश्य' शब्दों के स्थान पर 'एक्ट' और 'सीन' शब्दों का प्रयोग किया गया है । यद्यपि मूल संस्कृत नाटक में भी पद्य का प्रयोग हुआ है, तथापि भट्ट जी के नाटक की तुकांत पद्य-रचना स्पष्ट रूप से पारसी थिएट्रिकल नाटकों के ढंग पर की गई जान पड़ती है । उसके पद्य पर पारसी नाटकों के पद्य का प्रभाव स्पष्ट है, जैसे—

सहदेव—(क्रोध से) भैया !
मेल मेल की बात सब, धर्मराज का खेल ।
कुटिल कौरवों से कभी, हम न करेंगे मेल । इत्यादि ।

(पहला एक्ट, पहला सीन)

इसके अतिरिक्त इस नाटक में कथानक का पहले नाटकों की अपेक्षा अधिक सन्तुलित और कलापूर्ण विभाजन दृष्टिगोचर होता है । नाटकीय दृष्टि से कम महत्त्व वाली तथा साधारण घटनाओं और प्रसंगों को थोड़ा स्थान दिया गया है । किंतु जो घटनाएँ तथा प्रसंग नाटकीय दृष्टि से अधिक महत्त्वपूर्ण तथा प्रभावोत्पादक हैं, उनका वर्णन विस्तार के साथ किया गया है । उदाहरण के लिए 'कुरुवनदहन' में भीष्म की मृत्यु को एक छोटे-से दृश्य में (दूसरा एक्ट, पहला सीन) दो साधारण पात्रों के वार्तालाप द्वारा सूचित कर दिया गया है । दूसरी ओर जयद्रथ के वध का विस्तार के साथ लम्बे तथा नाटकीय प्रभावोत्पादक संवाद में वर्णन किया गया है (दूसरे एक्ट के पाँचवें सीन में, तथा तीसरे एक्ट के पहले सीन में) । इस प्रकार 'कुरुवनदहन' की नाट्य-कला में निर्देशन-नैपुण्य तथा कलात्मक संयम का सौन्दर्य दृष्टिगोचर होता है ।

'कुरुवनदहन' के संवाद भी प्रायः बड़े सजीव, सशक्त और सवेग हैं। भट्टजी ने बड़ी कुशलता से संवादों को कथानक के विकास तथा चरित्र-चित्रण का सहायक बनाने का प्रयत्न किया है। इसके अतिरिक्त हास्य की अवतारणा भी नाटक में अनेक स्थलों पर की गई है। कई बार तो बड़े गम्भीर वार्तालाप के बीच ही हास्य की सृष्टि कर दी गई है, जो कि सुरुचि के विचार से खटकने वाली बात है। 'कुरुवनदहन' के हास्य का एक उदाहरण नीचे दिया जाता है—

पहला—अब अर्जुन ने प्रतिज्ञा की है कि जयद्रथ को बिना मारे नहीं छोडूंगा।

दूसरा—करने दो, अपनी क्या हानि है ? हम कोई जयद्रथ थोड़े ही हैं सो डरें, मेरी तो, भैया, कपड़े की दुकान है।

पहला—और अर्जुन के रसोइये ने प्रतिज्ञा की है कि जितने लावारसी गधे, घोड़े या ऊंट मिलेंगे, उन सबका सत्यानाश करूँगा।

दूसरा—ओहो !

पहला—सो भाई, इसीलिये मैं भाग आया हूँ कि कहीं मुझे कोई गधा, घोड़ा या ऊंट न समझ ले, क्योंकि क्रोध में मनुष्य को कुछ का कुछ सूझता है। इत्यादि। (एक्ट दूसरा, सीन पहला)

नाटककार ने युद्ध के दृश्यों को रंगमंच पर घटित न दिखा कर, केवल उनकी सूचना उपयुक्त संवादों द्वारा दे दी है। इस प्रकार नाटक अभिनय के लिए बड़ा सरल और सुन्दर हो गया है।

परन्तु जहाँ 'कुरुवनदहन' में अनेक गुण विद्यमान हैं, वहां इसमें अपने ढंग के कुछ दोष भी हैं। हम यह पहले कह चुके हैं कि यह नाटक उन्नीसवीं शताब्दी के तथा पुनरुत्थान-काल के नाटकों के बीच की कड़ी है। अतः जहां यह गत शताब्दी के नाटकों की अपेक्षा कई प्रकार से उत्कृष्ट है, वहां इसमें उत्तरकाल के उत्कृष्ट नाटकों के सभी गुण नहीं मिल सकते। यह सर्वथा स्वाभाविक है। 'कुरुवनदहन' में एक बड़ा दोष यह है कि नाटककार इसमें महाभारत-काल का यथार्थ वातावरण उपस्थित करने में असमर्थ रहा है। पहली बात तो यह है कि उसने नाटक की भाषा को ही उस युग के अनुकूल नहीं बनाया। स्थान-स्थान पर उसने उर्दू तथा अंग्रेज़ी के शब्दों का प्रयोग किया है जो कि सर्वथा दोषपूर्ण और अनुपयुक्त है—

कंचुकी—...जैसा कि कोई पांच रुपये महीने का रंगरूट चपरासी, और सच कहता हूं कि महल में मेरा ही सा सब का हाल है......

(एक्ट दूसरा, सीन दूसरा)

अथवा—

बुद्धिप्रकाश—...देखिये, आपके हाथ में बक्स है इससे प्रत्यक्ष है कि आप मलाई की बर्फ़ बेचते हैं,...और आपके हाथ में कुछ औज़ार हैं इससे विदित होता है कि आप मौक़ा आने पर बढ़ई का काम करने से भी पीछे नहीं हटते...... (तीसरा एक्ट, पहला सीन)

काल की दृष्टि से इस प्रकार के अनुपयुक्त शब्दों के प्रयोग के अतिरिक्त नाटक का वातावरण तथा बातचीत का ढंग भी किसी प्रकार महाभारत-काल को चित्रित नहीं कर पाता। वार्तालाप के बीच नीचे लिखी बातों के उल्लेख से—

बुद्धिप्रकाश—(उंगली से दिखाकर) वह तो रहा कुरुक्षेत्र—वहां क्या मुर्गे लड़ रहे हैं कि जिनका आप इलाज करने गये थे।......

बुद्धिप्रकाश—पर यह तो बतलाइये कि लड़ाई में किसका तीतर अच्छा लड़ा। (तीसरा एक्ट, पहला सीन)

सहज ही भारतीय इतिहास के मुग़लकाल की झलक मिल सकती है, महाभारत-काल के वातावरण की कदापि नहीं, जिस काल से नाटक के कथानक का संबंध है।

इसके अतिरिक्त इस नाटक में पद्य की भी बहुलता है। स्वगत तथा पृथक्-भाषणों की भी भरमार है। जब 'कुरुवनदहन' की रचना में नाटककार ने मूल संस्कृत नाटक में अनेक परिवर्तन किये तथा अन्य कई बातों में मनमानी की, तो वह बड़ी आसानी से स्वगत-भाषणों की बहुलता और विस्तार को भी कम कर सकता था, जिससे यह नाटक नवीन रुचि और सिद्धान्तों के अधिक अनुकूल बन जाता। इस नाटक में एक और दोष यह है कि जहां नाटक के अधिकतर दृश्य छोटे-छोटे अथवा साधारण लम्बाई के हैं, वहां कुछ दृश्य (तीसरे एक्ट का पहला तथा दूसरा सीन, चौथे एक्ट का दूसरा सीन इत्यादि) बहुत अधिक लंबे हैं। छोटे-छोटे दृश्यों के बीच इतने अधिक लंबे दृश्य बड़े भद्दे और दोषपूर्ण प्रतीत होते हैं।

फिर भी 'कुरुवनदहन' उन्नीसवीं शताब्दी के अधिकांश नाटकों की अपेक्षा उत्कृष्ट रचना है। इसके बाद के पुनरुत्थान-काल में नाट्य-कला का और भी स्तुत्य विकास और उत्कर्ष हुआ, और जो दोष 'कुरुवनदहन' में पाये जाते हैं उनका भी बहुत कुछ परिहार कर दिया गया।

ग्यारहवां अध्याय

पुनरुत्थान-काल (१९१२-१९३२ ई०)

प्रमुख प्रवृत्तियां

अभाव-काल को समाप्त करके अब हम हिन्दी नाटक के पुनरुत्थान-काल में पदार्पण करते हैं। इस काल (१९१२–३२ ई०) में हिन्दी-नाटक-साहित्य की अपूर्व समृद्धि तथा विकास हुआ। इसमें अनेक प्रतिभाशाली तथा उच्च कोटि के नाटककारों ने अपनी बहुमूल्य कृतियों से हिन्दी नाटक के भण्डार को भरने का श्लाघनीय कार्य किया। स्वर्गीय श्री जयशंकर प्रसाद के व्यक्तित्व ने इस काल को और भी समुज्ज्वल तथा उनकी अमर कृतियों ने उसे और भी सुसमृद्ध बना दिया। इस काल में साहित्यिक नाटकों की बहुत उन्नति हुई, और इस काल में प्रणीत हुए कई नाटकों पर हम यथार्थ रूप से गर्व कर सकते हैं।

इस काल में रचे गये विविध प्रकार के नाटकों पर विचार करने से पूर्व इस युग की जनता की प्रमुख प्रवृत्तियों की ओर संकेत कर देना उपयुक्त होगा। भिन्न-भिन्न प्रकार की मनोवृत्तियों को ध्यान में रखते हुए इस काल की जनता को स्थूल रूप से निम्नलिखित वर्गों में बाँटा जा सकता है।

पहले वर्ग के अन्तर्गत अधिकतर वे लोग आते हैं जो आधुनिक शिक्षा, संस्कृति और शिष्टाचार के केन्द्र भीड़-भरे शहरों से दूर गाँवों में रहते थे और अधिकतर खेतीबाड़ी और मेहनत-मज़दूरी में अपना जीवन व्यतीत करते थे। इन सरल-हृदय लोगों की शिक्षा और जानकारी प्रायः रामायण, महाभारत और पुराणों आदि के महापुरुषों और वीरों तक ही परिमित थी। ऐसे लोगों की मनोवृत्ति एवं रुचि स्वभावतः धार्मिक थी, और रामलीला, रासलीला, पूरनभगत तथा गोपीचन्द आदि लोकप्रसिद्ध महापुरुषों की धार्मिक तथा लोकप्रिय लीलाओं से वे अपना मनोरंजन कर लेते थे।

दूसरे वर्ग में उन लोगों की गणना की जा सकती है जो यद्यपि रहते तो नगरों में थे परन्तु नागरिक जीवन, शिक्षा और सभ्यता से अधिकांश अनभ्यस्त एवं अप्रभावित थे। उनका दृष्टिकोण कम उन्नत और कम प्रगतिशील था तथा पाश्चात्यता का उन पर विशेष प्रभाव नहीं पड़ा था। इस वर्ग में अधिकतर दुकानदार, व्यापारी, क्लर्क, और शहर के मज़दूर आदि थे जो प्रायः सुस्त आदतों के और घरेलू जीवन में ही घिरे रहने वाले होते हैं तथा प्रायः समय की गति

के साथ नहीं चलते। दिन भर के परिश्रम की थकान को ये लोग सस्ते और घटिया मनोरंजन के साधनों द्वारा दूर करते थे, और ये अधिकतर पारसी रंग-मंचीय नाटकों के विलासितापूर्ण, भद्दे, कलाविहीन प्रदर्शनों और अभिनयों से अपना मनोविनोद करते थे। इस बात में सन्देह नहीं कि इस वर्ग के लोगों की मनोवृत्ति भी मूल रूप में धार्मिक थी। किन्तु उनकी धार्मिक भावना अधिकतर प्रातःकाल घर पर पूजापाठ करने या मन्दिर में जाने से ही सन्तुष्ट हो जाती थी। धर्म को ये लोग अपने मनोविनोद के साधनों में लाकर खड़ा करना पसन्द न करते थे। प्रेम और साहस के अतिमानुषिक और रोमांचकारी दृश्यों, भद्दे हास-परिहास तथा शोखी और छेड़छाड़ के वातावरण से इनका विशेष मनो-रंजन होता था। यह वर्ग संख्या में बहुत बड़ा था और इसने पारसी रंगमंचीय नाटकों को कई वर्षों तक अपनाया।

तीसरे वर्ग के अन्तर्गत वे लोग आते हैं जो शहरों में ही रहते थे, परन्तु उच्च शिक्षा और आधुनिक सभ्यता के प्रभाव से दूर थे। उनकी प्रवृत्ति धार्मिक और विचार कट्टर थे। विलासितापूर्ण नाटकों तथा फ़ारसी के प्रेमाख्यानों के अभिनयों को ये भ्रष्ट और पतनकारी समझते थे। रामायण, महाभारत तथा पुराणों के महापुरुषों के प्रति इनकी अगाध श्रद्धा थी और उन्हीं के चमत्कारों और अति-मानुषिक कृत्यों के रंगमंच पर प्रदर्शन को देखना ये अधिक पसन्द करते थे। इस वर्ग ने पौराणिक नाटकों को अपने मनोरंजन का साधन बनाया। लोगों की संख्या के विचार से यह वर्ग भी काफ़ी बड़ा था।

इन वर्गों के अतिरिक्त कुछ लोग ऐसे भी थे जो शिष्ट और सुशिक्षित थे। उनका दृष्टिकोण कट्टर धार्मिक न होकर अपेक्षाकृत आलोचनात्मक था। इनके मन राष्ट्रीय भावना से आप्लावित थे और इन्हें देश की प्राचीन संस्कृति और अतीत गौरव से विशेष मोह था। पुराणों की अपेक्षा ये देश के प्राचीन इतिहास के गौरव से अधिक प्रभावित थे। देश के अतीत गौरव और सभ्यता की फिर से स्थापना तथा सांस्कृतिक पुनरुत्थान की चेतना इनमें बलवती थी। अन्य वर्गों की अपेक्षा यह वर्ग बहुत छोटा था, परन्तु इस वर्ग के अन्तर्गत अधिकतर मेधावी, सुशिक्षित और राष्ट्रप्रेमी विद्वान् आते हैं। इस वर्ग की ऐतिहासिक नाटकों में रुचि थी और इससे ऐतिहासिक नाटकों को प्रोत्साहन मिला।

ऊपर कहे गये वर्गों के अतिरिक्त एक और वर्ग ऐसे लोगों का था जो अधिक-तर सामाजिक, धार्मिक, साहित्यिक तथा राजनीतिक सुधारों का समर्थक था। देश में होने वाले अनेक आन्दोलनों, उदाहरण के लिए आर्यसमाज के धार्मिक आन्दोलन, इण्डियन नैशनल कांग्रेस के राजनीतिक आन्दोलन, भारतेन्दु तथा

महावीरप्रसाद द्विवेदी के साहित्यिक आन्दोलनों के फलस्वरूप सुधारवादी प्रवृत्ति के लोगों का यह वर्ग उद्भूत हो गया था। इस वर्ग के लोगों ने ऐसे नाटकों को अपनाया जिनमें तत्कालीन सामाजिक या धार्मिक दोषों और बुराइयों पर व्यंग्य करके उनके सुधार की चेष्टा की गई थी। इस वर्ग की संतुष्टि के लिए नाटककारों ने अपनी रचनाओं में हास्य और व्यंग्य का सम्मिश्रण करके सामाजिक, धार्मिक अथवा राष्ट्रीय सुधार का तथा हास्य की सामग्री उपस्थित करने का कार्य किया।

सामयिक, सामाजिक, धार्मिक तथा राजनीतिक बुराइयों पर लिखे गये हास्यपूर्ण नाटकों (प्रहसनों) के अतिरिक्त कुछ गम्भीर नाटक भी सामयिक विषयों पर लिखे गये। प्रहसनों की अपेक्षा ऐसे गम्भीर नाटकों की संख्या इस काल में बहुत कम है किन्तु अगले काल में इनकी संख्या बहुत बढ़ गई। पाश्चात्त्य नाटक के प्रभाव से हिन्दी नाटक में भी यथार्थवादी प्रवृत्ति बल पकड़ गई, और सामयिक समस्याओं पर गम्भीर रीति में लिखे गये इन नाटकों का अगले काल में पाश्चात्त्य प्रभाव के कारण समस्या-नाटकों के रूप में विकास हुआ।

अभी तक हम नाटक के केवल उन्हीं विभिन्न प्रकारों का उल्लेख कर रहे थे जिनकी सृष्टि जनता की भिन्न-भिन्न प्रवृत्तियों के आधार पर हुई। इन सभी प्रकार के नाटकों के लिए लोगों के छोटे या बड़े वर्ग की माँग थी। परन्तु इनके अतिरिक्त एक ऐसे प्रकार के नाटक की रचना भी इस काल में हुई, जिसकी जनता में माँग नहीं थी, और जिसमें रुचि रखने वाला विशेष वर्ग नहीं था। नाटककार ने अपनी प्रतिभा, मौलिकता और सृजन-शक्ति के बल पर ही इस नाटक की रचना की। यहाँ हमारा अभिप्राय प्रतीकवादी नाटक से है। संस्कृत साहित्य में प्रतीकवादी नाटक भारी संख्या[1] में लिखे गये और उनमें 'प्रबोध-चन्द्रोदय' विशेष प्रसिद्ध है। इस काल में जयशंकर प्रसाद का 'कामना' इस पद्धति का सुन्दर नाटक है।

जनता के भिन्न-भिन्न वर्गों की रुचि और प्रवृत्ति का उल्लेख करने के पश्चात् अब हम भिन्न-भिन्न प्रकार के नाटकों पर क्रमशः विचार करते हैं।

रासलीला और रामलीला

मध्यकाल में प्रचलित लोकप्रिय लीलाएँ—रामलीला, रासलीला और सांगीत आदि—जो उन्नीसवीं शताब्दी में विशेष प्रचलित थीं, इस काल में भी काफ़ी लोकप्रिय रहीं। किन्तु इनकी लोकप्रियता और प्रभाव धीरे-धीरे कम होता गया और जनता इनसे हटकर पारसी थिएटरों की ओर आकृष्ट होती गई।

1. Keith—Sanskrit Drama, page 251 ff.

पारसी थिएट्रिकल नाटकों से भी अधिक क्षति इन लीलाओं को सिनेमा से हुई। सिनेमा का प्रचार जनता में बड़ी शीघ्रता के साथ हो गया। लोगों को सिनेमा में मनोरंजन की बहुत अधिक सामग्री मिलने लगी, इसलिए उन्होंने मध्ययुगीन लीलाओं की अपेक्षा सिनेमा के द्वारा अपना मनोरंजन करना शुरू किया। आलोच्यकाल के अन्त तक इन लीलाओं का प्रचलन बहुत कम हो गया। आज जब कि रामलीला का प्रचार तो देश के कुछ भागों में बना हुआ है, रासलीला को व्रजभूमि से बाहर बहुत कम लोग जानते हैं और सांगीत की परंपरा तो सर्वथा लुप्त हो चुकी है।

शृङ्गारी थिएट्रिकल नाटक

पारसी रंगमंचीय शृंगारी नाटक जो उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम चरण में बहुत लोकप्रिय थे, इस काल में और भी अधिक लोकप्रिय हो गये। यद्यपि इस काल में राधेश्याम कथावाचक तथा नारायणप्रसाद बेताब के प्रयत्नों से पारसी रंगमंच पर पौराणिक नाटकों का प्राधान्य होने लगा, तथापि फ़ारसी प्रेमाख्यानों, अंग्रेज़ी के शृङ्गारिक नाटकों और लोगों में प्रचलित शृङ्गारिक दन्त-कथाओं को लेकर लिखे गये नाटकों का प्रचार भी पारसी रंगमंच पर बराबर बना रहा। कई बार नाटककार उन आख्यानों के आदर्श पर अपनी कल्पना से भी रोमांचकारी शृङ्गारिक कथानकों का सृजन कर लिया करते थे। पारसी थिएट्रिकल नाटकों के वातावरण तथा उनकी मुख्य विशेषताओं आदि पर सामान्य रूप से सातवें अध्याय में प्रकाश डाला जा चुका है अतः यहाँ उनका उल्लेख करने की आवश्यकता नहीं। इस काल के शृङ्गारी नाटकों के सम्बन्ध में संक्षेप में इतना और कहा जा सकता है कि इन नाटकों में प्रायः एक-सा कथानक होता था। सभी में अतिनाटकीय प्रसंगों की भरमार होती थी। इनमें बहुधा शोख़ी, छेड़छाड़, प्रेमिका की प्राप्ति के लिए साहस के कार्यों और घटनाओं का वर्णन होता था। नायक और नायिका किसी रमणीय और एकान्त स्थान में मिलते और प्रथम दर्शन में ही उनमें प्रेम हो जाता। तदनन्तर उनके विवाह में अनेक प्रकार की बाधाएँ उपस्थित होतीं। कभी तो प्रेमियों के माता-पिता की शत्रुता के कारण, कभी एक पक्ष के धनवान् और दूसरे पक्ष के निर्धन होने के कारण, कभी दोनों पक्षों के भिन्न-भिन्न धर्मावलंबी होने के कारण प्रेमी और प्रेमिका के विवाह का विरोध किया जाता। प्रेमी और प्रेमिका को अनेक प्रकार की कठिनाइयाँ सहन करनी पड़तीं, कई परीक्षाओं में से गुज़रना पड़ता। विरोधी षड्यन्त्रों को विफल करने के लिए कई बार प्रेमी को विरोधियों से युद्ध भी करना पड़ता किन्तु अन्त में प्रायः सब बाधाएँ दूर होकर

उन दोनों का विवाह हो जाता। कभी-कभी नाटक का अन्त दुःखमय भी होता था (उदाहरण के लिए 'लैला-मजनूं', शीरीं-फ़रहाद', 'रोमियो-जुलियट' आदि नाटकों में)। इन नाटकों में दैवी घटना और संयोग का उपयोग अधिक मात्रा में किया जाता था, जिससे नाटक के वस्तु-विकास और चरित्र-चित्रण में प्राय: अस्वाभाविकता और असंगतता का दोष आ जाता था। इनमें अतिनाटकीय प्रसंगों की, उत्तेजक दृश्यों और रोमांचकारी घटनाओं की प्रचुरता से अवतारणा की जाती थी। प्रमुख पात्र प्राय: प्रकार-विशेष (types) होते थे; उनका अपना विशिष्ट व्यक्तित्व नहीं होता था। वे अधिकतर आदर्श प्रेमी, आदर्श धूर्त, आदर्श मित्र, आदर्श शत्रु आदि के रूप में प्रकट होते हैं। जीवन का जो दृष्टि-कोण इन नाटकों में प्रस्तुत किया गया है वह बड़ा संकीर्ण और अनुदार है। मानव की महान् तथा सूक्ष्म भावनाओं का चित्रण इनमें शायद ही कहीं मिलता होगा। इनमें अधिकतर साधारण, स्थूल, सांसारिक तथा क्षुद्र भावनाओं का (क्रोध, घृणा, वासनाजन्य प्रेम, शत्रुता, ईर्ष्या आदि का) ही प्रदर्शन मिलता है।

सारांश, इन नाटकों में कितने ही दोष हैं। इनमें अस्वाभाविकता है, यथार्थ चरित्र-चित्रण का प्राय: अभाव है, हास्य प्राय: अश्लील और कुरुचिपूर्ण है, अतिनाटकीय तथा अनाटकीय सामग्री की अधिकता है। इनमें प्रेम का प्राय: भद्दा, असंयत और अशिष्ट चित्रण मिलता है, जो भारतीय दृष्टिकोण के अनुकूल न होकर फ़ारसी काव्यों के वर्णन से मिलता है, जिसमें छेड़छाड़, शरारत और शोख़ी की भरमार है।

बारहवां अध्याय

पौराणिक नाटक

मुख्य रूप में हमें आलोच्यकाल में तीन प्रकार के पौराणिक नाटक मिलते हैं। पहले वर्ग में हम पारसी रंगमंच के पौराणिक नाटकों को रख सकते हैं। दूसरे, इस काल में बहुत-से साहित्यिक नाटक मिलते हैं जिनके कथानक पौराणिक हैं। बद्रीनाथ भट्ट के 'कुरुवनदहन' और 'वेनचरित', मैथिलीशरण गुप्त के 'चन्द्रहास' और 'तिलोत्तमा', विश्वंभरनाथ शर्मा 'कौशिक' का 'भीष्म' और माखनलाल चतुर्वेदी का 'कृष्णार्जुन-युद्ध' आदि नाटक इस वर्ग के पौराणिक नाटकों में उल्लेखनीय हैं। तीसरे वर्ग में सुदर्शन-कृत 'अंजना', गोविन्दवल्लभ पंत-कृत 'वरमाला' और जयशंकर प्रसाद-कृत 'नागयज्ञ' आदि थोड़े-से उन नाटकों की गणना की जा सकती है, जिनके कथानक तो पौराणिक आधारों से लिये गये हैं, परन्तु जिनका वातावरण पूर्णतया पौराणिक नहीं है। वास्तव में इनको ऐतिहासिक नाटक कहना अधिक समीचीन है, क्योंकि इनके रचयिताओं ने इन नाटकों में ऐतिहासिक तथा लौकिक वातावरण की सृष्टि की है। अतिमानुषिक घटनाओं तथा अतिप्राकृतिक प्रसंगों का जिनका समावेश पौराणिक नाटकों में नियम से पाया जाता है, इनमें अभाव है।

इन तीन वर्गों के अतिरिक्त कुछ ऐसे नाटक भी इस काल में मिलते हैं, जिनके कथानक तो शुद्ध ऐतिहासिक हैं, पर वातावरण पौराणिक है। उदाहरण के लिए बद्रीनाथ भट्ट का 'तुलसीदास', बलदेवप्रसाद मिश्र का 'शंकर-दिग्विजय' आदि नाटक पौराणिक नहीं कहे जा सकते, क्योंकि तुलसीदास और शंकराचार्य आदि पौराणिक महापुरुष नहीं हैं। ये ऐतिहासिक युग के चरित्र हैं। परन्तु नाटककारों ने अपनी रचनाओं में इनका चित्रण पौराणिक और अतिमानुषिक ढंग से किया है। दूसरे, इतिहास से भी हमें इनके निश्चित जीवन-वृत्त प्राप्त नहीं होते। परम्परागत कथाओं और प्रचलित जनश्रुतियों में इनका चित्रण अतिमानुषिक ढंग में मिलता है। क्योंकि इन नाटकों में इन ऐतिहासिक चरित्रों को पौराणिक स्तर तक ऊँचा उठा दिया गया है, इस कारण इन नाटकों पर भी अन्य पौराणिक नाटकों के साथ ही विचार करना उपयुक्त है।

(क) पारसी रंगमंच के पौराणिक नाटक

इस धारा के प्रमुख नाटककार नारायणप्रसाद 'बेताब', राधेश्याम 'कथा-

वाचक', आग़ा हश्र काश्मीरी, हरिकृष्ण 'जौहर', तुलसीदत्त 'शैदा', श्रीकृष्ण 'हसरत' तथा कृष्णचन्द्र 'ज़ेबा' हैं। इनके पौराणिक नाटकों में भी प्रायः वही गुण-दोष पाये जाते हैं जो अधिकतर पारसी रंगमंच के शृंगारी नाटकों में मिलते हैं। किन्तु इनकी कुछ अपनी विशेषताएं भी हैं। पहले तो हम देखते हैं कि इन पौराणिक नाटकों के पीछे अधिकतर उपदेश की भावना निहित है। प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप में नाटककारों ने इन पौराणिक नाटकों में किसी धार्मिक या नैतिक विषय पर सामाजिकों को उपदेश देने की चेष्टा की है। उदाहरण के लिए अपने 'पत्नी-प्रताप अथवा सती अनुसूया' नाटक की भूमिका में बेताब लिखते हैं कि उनके नाटक का उद्देश्य सती के गौरव की प्रतिष्ठा करना है।

इन नाटकों में केवल उपदेश की भावना ही निहित नहीं है, वरन् कहीं-कहीं पर तो एक ही नाटक में एक से अधिक शिक्षाओं पर ज़ोर दिया गया है। एक ही नाटक में नाटककार सामाजिकों को एक से अधिक उपदेश देता है। उदाहरण के लिए बलदेवप्रसाद खरे ने 'राजा शिवि' की प्रस्तावना में सूचित किया है कि उनके नाटक के दो उद्देश्य हैं—धर्म का उपदेश तथा देश की उन्नति। इसी प्रकार 'भक्त प्रह्लाद' में राधेश्याम कथावाचक एक ओर ईश्वरभक्ति पर ज़ोर देते हैं, दूसरी ओर महात्मा गांधी के अहिंसा और सत्याग्रह के सिद्धांतों का परोक्ष रूप में उपदेश देते हैं और साथ ही स्त्री-शिक्षा का भी प्रचार करते हैं। 'हसरत' ने अपने 'महात्मा कबीर' में हिन्दू-मुस्लिम एकता का उपदेश दिया है। इन नाटकों में बहुत-से अप्रासंगिक दृश्य केवल उपदेश देने की भावना को संतुष्ट करने के लिए ही घुसेड़ दिये गये हैं।

अपने उपदेश को स्पष्ट और प्रभावोत्पादक बनाने के उद्देश्य से ये नाटककार बहुधा एक विचित्र साधन का आश्रय लेते हैं। उपदेश के प्रभाव को तीखा करने के लिए ये नाटककार मूल कथानक के साथ-साथ प्रायः एक या एक से अधिक कल्पित कथानकों को जोड़ लेते हैं। उदाहरण के लिए 'सती अनुसूया' में मूल कथानक तो अनुसूया का है, किन्तु उसके अतिरिक्त नाटक में दो गौण कथानक भी चलते हैं—एक समता के लिए रेवा का जो अपने पातिव्रत धर्म के बल पर सूर्योदय को रोक देती है, और दूसरा विषमता के लिए एक व्यभिचारिणी स्त्री का जो अपने पाप कर्मों के कारण दुःख भोगती है। इस प्रकार समता और विषमता की व्यवस्था करके नाटककार ने अपने ढंग से दर्शकों के मन पर अनुसूया के चरित्र का महत्त्व, गौरव और प्रभाव बढ़ाने का प्रयत्न किया है।

इसी प्रकार गोपालदामोदर तामस्कर के 'राजा दिलीप' में प्रधान कथानक तो राजा दिलीप और उनकी पत्नी सुदक्षिणा का है, जो पुत्र-प्राप्ति के लिए

महर्षि वसिष्ठ की नन्दिनी गाय की भक्तिपूर्वक सेवा करते हैं। इसके अतिरिक्त मूल कथानक के साथ समता दिखाने के लिए नाटककार ने सुताशन और रक्षा की कथा की अवतारणा की है जो कि सन्तान के अभाव से दुःखी और चिंतित हैं और ऋषि कुशिष्ठ के पास उनका आशीर्वाद पाने के लिए जाते हैं। दूसरी ओर विषमता उपस्थित करने के लिए हुताशन और कुदक्षा की कथा कल्पित की गई है जो कि सन्तान की अधिकता के कारण पीड़ित हैं और अपने बच्चों का पालन-पोषण भी बड़ी कठिनाई से कर पाते हैं।

इन नाटकों के मुख्य कथानक पौराणिक होने के कारण प्रसिद्ध तथा प्रख्यात थे; इस कारण नाटककारों को शायद उनमें मौलिकता और प्रतिभा का परिचय देने का विशेष अवकाश दिखाई नहीं पड़ा। शायद इसी कारण उन्होंने उनमें गौण कथानकों की योजना की है, जिनके कल्पित होने के कारण उन्हें अपनी प्रतिभा, सृजनशक्ति और हास्य-व्यंग्य का यथेष्ट परिचय देने का अवसर मिल सके। परन्तु यहां यह प्रश्न उठता है कि नाटककारों ने मूल कथानक को सर्वथा छोड़ ही क्यों नहीं दिया, और केवल कल्पित गौण कथानकों को लेकर उनमें ही अपनी प्रतिभा और नाटकीय कुशलता का परिचय क्यों नहीं दिया ! यदि वे कल्पित कथानक पर ही अपना समस्त अवधान और कौशल केन्द्रित कर देते, तो शायद वे अपने उद्देश्य में अधिक सफल हो सकते।

परन्तु इस संबंध में हमें यह बात याद रखनी चाहिए कि पारसी थिएट्रिकल नाटकों के दर्शकों में भारी संख्या उन लोगों की थी जो धार्मिक और कट्टर विचारों के थे और जो अपने धार्मिक और पौराणिक महापुरुषों को रंगमंच पर देखना अधिक पसन्द करते थे। इसके साथ ही यह बात भी थी कि दर्शकों का यह वर्ग पौराणिक पुरुषों के नाम और दर्शन मात्र से ही प्रभावित और प्रसन्न हो जाता था, उनमें पौराणिक पात्रों के यथार्थ चित्रण और औचित्य-निर्वाह की ध्यानपूर्वक परीक्षा करने की सूक्ष्म बुद्धि और विवेक नहीं था। उदाहरण के लिए यदि गोपालदामोदर तामस्कर के 'राजा दिलीप' नाटक में पौराणिक पात्रों को साधारण कल्पित नाम देकर स्टेज पर ठीक उसी नाटक का अभिनय किया जाता, तो कट्टर विचारों के पौराणिकता-प्रेमी लोगों में से मुश्किल से थोड़े-से लोग उतना ही प्रभावित और प्रसन्न होते जितना पौराणिक पात्रों की योजना करने से। यद्यपि नाटक के कथानक में और घटनाओं आदि में तनिक भी परिवर्तन न किया जाता, तो भी केवल पौराणिक नामों के बदल देने से इस वर्ग के लोग इस नाटक को व्यर्थ और अपने मतलब का न समझकर छोड़ देते, उसे देखने या पढ़ने में रुचि प्रकट न करते।

इससे यह स्पष्ट है कि धार्मिक और कट्टर विचारों के लोगों के मन में रामायण, महाभारत तथा पुराणों के चरित्रों के लिए जो श्रद्धा थी, उसे सन्तुष्ट करने के लिए ही ये नाटककार अपने नाटकों में चतुरता से पौराणिक विषयों और कथानकों का मूल रूप में आश्रय लेते थे। परन्तु इस पर यह दूसरा प्रश्न उठाया जा सकता है कि इन नाटककारों ने अपना सारा ध्यान और कौशल केवल पौराणिक कथानकों पर ही क्यों केन्द्रित नहीं किया, और कल्पित गौण कथानकों का सर्वथा बहिष्कार क्यों नहीं कर दिया। जब ये नाटककार जानते थे कि इनके दर्शकों का अधिकांश कल्पित लौकिक नामों और कथानकों की अपेक्षा पौराणिक कथानकों और नामों में विशेष आकर्षण और मोह रखता है तो उनके लिए केवल पौराणिक कथानकों के विकास में अपने कला-कौशल का प्रदर्शन करना अधिक उपयुक्त और बुद्धि-संगत था। हम जानते हैं कि कालिदास का शकुन्तला एक प्रसिद्ध पौराणिक आख्यान को लेकर ही रचा गया है, परन्तु फिर भी प्रतिभाशाली नाटककार ने अपनी अपूर्व मौलिकता तथा अनुपम नाटकीय योग्यता के द्वारा उस नाटक को संस्कृत का सर्वोत्कृष्ट नाटक बना दिया है।

किन्तु यहां हमें एक और बात की ओर ध्यान देना चाहिए कि जहां पौराणिक कथानक के आधार पर नाटक की रचना करना बड़ा सरल काम है, वहां उसी नाटक में यथेष्ट शक्ति, जीवन और यथार्थता का समावेश करना बड़ा कठिन है। पौराणिक नाटकों को यथार्थरूप में सुन्दर, सफल और कलापूर्ण बनाने के लिए विशेष कौशल तथा असाधारण प्रतिभा अपेक्षित है। पौराणिक नाटकों में यथार्थता का वातावरण उपस्थित करने तथा पौराणिक पात्रों का यथार्थ चित्रण करने के लिए उस काल के इतिहास, सभ्यता और संस्कृति का पूर्ण ज्ञान होना चाहिए। रंगमंचीय नाटककारों में या तो उस प्रतिभा का अभाव था, या ये जानबूझ कर इतना अधिक परिश्रम नहीं करना चाहते थे जिससे उनकी रचनाएं कला और यथार्थता की दृष्टि से उत्कृष्ट बन सकें। अतएव अपनी नाटकीय योग्यता का केवल मुख्य कथानक में परिचय देने के दुष्कर कार्य की अपेक्षा उन्होंने गौण कथानकों की अवतारणा के सुगम साधन को अपनाया।

इसके अतिरिक्त गौण कथानकों की योजना करके इन नाटककारों ने एक तीर से दो लक्ष्यों को बेधने का काम किया। ये नाटककार जानते थे कि जहां जनता का एक बड़ा भाग पौराणिक कथानकों में आनन्द लेता था, वहां जनता का उतना ही बड़ा भाग ऐसा था जिसका दृष्टिकोण मनोरंजन के विषय में इतना कट्टर और धार्मिक नहीं था, और जिसका मनोरंजन पौराणिक कथानकों

की अपेक्षा कल्पित लौकिक कथानकों से अधिक होता था (इस वर्ग का उल्लेख पिछले अध्याय में किया जा चुका है)। अतः पौराणिक नाटकों में पौराणिक कथानकों के साथ-साथ कल्पित कथानकों की अवतारणा करने में नाटककारों का उद्देश्य जनता के इन दोनों वर्गों में अपने नाटकों को लोकप्रिय बनाने का प्रयत्न था।

इन नाटकों की एक और विशेषता अतिप्राकृतिक तत्त्व की प्रचुरता है। अतिप्राकृतिक प्रसंगों से अद्भुत और रोमांचकारी दृश्यों की अवतारणा की जाती थी, जिनको उस समय की जनता बहुत पसंद करती थी। जनता पौराणिक महापुरुषों की अद्भुत लीलाओं और अतिमानुषिक चमत्कारों में विश्वास रखती थी, और उन्हें रंगमंच पर देखकर मन्त्रमुग्ध हो जाती थी। इसलिए नाटककार जान बूझकर जगह-जगह पर ऐसे रोमांचकारी और अद्भुत दृश्यों की योजना करते थे, भले ही ये दृश्य अस्वाभाविक और अप्रासंगिक ही क्यों न हों। उदाहरण के लिए श्रीकृष्ण 'हसरत' के 'महात्मा कबीर' में जब कबीर हिन्दू-मुस्लिम एकता पर भाषण देते हैं तब अकस्मात् एक दृश्य सामने आता है जिसमें महात्मा गाँधी तथा मौलाना शौकत अली हाथ मिलाते हैं। इतना ही नहीं, कबीर के ताली बजाते ही महारानी विक्टोरिया, एडवर्ड सप्तम तथा जार्ज पंचम आदि भी रंगमंच पर उपस्थित हो जाते हैं।

इस धारा के पौराणिक नाटकों में एक बड़ा दोष यह भी है कि इनमें पौराणिक काल के यथार्थ और स्वाभाविक वातावरण के दर्शन नहीं होते। नाटककारों ने या तो इस ओर ध्यान ही नहीं दिया, अथवा उन्होंने इस काम को कष्टसाध्य समझकर छोड़ दिया। उन्होंने पौराणिक महापुरुषों का चित्रण अपने काल के साधारण स्त्री-पुरुषों के समान ही किया है। पौराणिक जीवन के यथार्थ चित्रों के स्थान पर उन्होंने आधुनिक जीवन के कुत्सित और भद्दे चित्र अंकित कर दिये हैं। उदाहरण के लिए श्रीकृष्ण 'हसरत'-रचित 'गंगावतरण' में राजा भागीरथ और राजकुमारी के वार्तालाप का ढंग देखिए—

राजकुमारी—आपका निवास-स्थान ?

भागीरथ—पास में प्रेमी हो तो स्वर्ग-उद्यान, नहीं तो उजड़ा मैदान।

राजकुमारी—आपका नाम ?

भागीरथ—प्रेम में बदनाम।

राजकुमारी—यदि प्रेमी प्राप्त हो ?

भागीरथ—तब तो अहोभाग्य ! इत्यादि, इत्यादि।

बातचीत का यह ढंग उस तपस्वी और महान् राजा भगीरथ का है जो

सूर्यवंशी राजा सगर का प्रख्यात वंशज था और जिसने अपनी कठोर तपस्या और साधना के बल पर गंगा को स्वर्गलोक से इस लोक में संचालित किया। वास्तव में पौराणिक व्यक्तियों के यथार्थ चित्रण और उस काल के स्वाभाविक वातावरण की सृष्टि के लिए उस काल की धार्मिक, सामाजिक और नैतिक परिस्थितियों के गंभीर गवेषणात्मक परिशीलन की आवश्यकता थी। पर इन नाटककारों में इतना भगीरथ प्रयत्न करने का या तो साहस और पौरुष न था, अथवा ऐसा परिश्रम करने की उन्होंने विशेष आवश्यकता नहीं समझी, क्योंकि वे जनता की अशिष्ट, कुत्सित और कलाविहीन रुचि से परिचित थे।

पात्रों के चरित्र-चित्रण में भी इस धारा के नाटककारों ने विशेष कौशल और योग्यता का परिचय नहीं दिया। जहां तक इन नाटककारों ने चरित्रों का चित्रण पुराणों के अनुसार किया है, वहां तक तो इनके पात्रों में कोई विशेष दोष नहीं आने पाया किन्तु जहां इन्होंने चरित्र-चित्रण में अपनी कल्पना का उपयोग करके मौलिकता लाने का प्रयास किया है, वहां उसको बिगाड़ कर रख दिया है। वास्तव में ये नाटककार चरित्र-चित्रण के महत्त्व को समझने में असमर्थ रहे हैं। चरित्र के कई अंग होते हैं, और सभी प्रधान अंगों में कुछ सामंजस्य होना चाहिए। परन्तु इस धारा के नाटककार चरित्र के भिन्न-भिन्न पक्षों में सामंजस्य स्थापित नहीं कर सके। यदि वे पौराणिक चरित्र के एक पक्ष को पौराणिक आदर्श के अनुसार महान् चित्रित करते हैं तो उसी महान् चरित्र के दूसरे पक्ष को वे अपने काल के भद्दे और कुत्सित रंग में अंकित कर देते हैं। ऐसा करने से उनका चरित्र-चित्रण बहुधा असंगत और अस्वाभाविक हो गया है।

भाषा-शैली की दृष्टि से भी ये नाटक सन्तोषजनक नहीं हैं। राधेश्याम 'कथावाचक' और नारायणप्रसाद 'बेताब' के नाटकों की भाषा-शैली दूसरे नाटककारों की शैली की अपेक्षा कुछ परिष्कृत और साहित्यिक है, परन्तु उनकी उपमाएँ, रूपक और उत्प्रेक्षाएँ भी कई बार बड़ी कुरुचिपूर्ण और भद्दी होती हैं। इस धारा के अन्य नाटककारों की भाषा में परिष्कार और साहित्यिकता का प्राय: अभाव है।

सारांश यह कि इस धारा के पौराणिक नाटक कथावस्तु, चरित्र-चित्रण, वातावरण और भाषा-शैली आदि की दृष्टि से निम्नकोटि की रचनाएँ हैं। नाट्य-कला के विचार से इन नाटकों का कोई महत्त्व नहीं है, यद्यपि जनता को मनोरंजन की अधिकाधिक सामग्री देने के कारण ये जनता में बहुत प्रचलित थे।

(ख) भट्ट-धारा के पौराणिक नाटक

इस धारा के प्रमुख नाटक बद्रीनाथ भट्ट के 'कुरुवनदहन' (१६१२), 'बेनचरित' (१६२१) तथा 'तुलसीदास' (१६२२), मैथिलीशरण गुप्त के 'तिलोत्तमा' (१६१६) और 'चन्द्रहास' (१६१६), विश्वंभरनाथ शर्मा का 'भीष्म' (१६१८), माखनलाल चतुर्वेदी का 'कृष्णार्जुन-युद्ध', चन्द्रराज भंडारी का 'सिद्धार्थ कुमार' (१६२२) और वलदेवप्रसाद मिश्र का 'शंकर दिग्विजय' आदि हैं। इनमें से 'कुरुवनदहन' पर दसवें अध्याय में विस्तारपूर्वक विचार किया जा चुका है। 'तुलसीदास' में भी भट्ट जी ने साहित्यिक और रंगमंचीय विशेपताओं का समन्वय करने का प्रयत्न किया है। नाटक का आरम्भ नान्दी और प्रस्तावना से होता है और इसमें दृश्यों में विभाजित तीन अंक हैं। पारसी रंगमंचीय नाटकों की भाँति भट्ट जी ने इस नाटक में भी 'दृश्य' के स्थान पर 'सीन' शब्द का प्रयोग किया है। यद्यपि यह नाटक एक ऐतिहासिक व्यक्ति के जीवन से सम्बन्ध रखता है, तो भी इसमें अतिप्राकृतिक तत्त्व का उपयोग किया गया है (उदाहरण के लिए प्रथम अंक के चतुर्थ दृश्य में तथा द्वितीय अंक के प्रथम, चतुर्थ और पष्ठ दृश्यों में)। 'बेनचरित' में भी उसी शैली और नाट्य-पद्धति का अनुसरण किया गया है जिसका पालन भट्ट जी के उपर्युक्त दोनों नाटकों में हुआ है। इस नाटक का कथानक पूर्व-महाभारत युग से सम्बन्ध रखता है। 'कुरुवनदहन' की भाँति इसमें भी उर्दू-शब्दों का प्रयोग किया गया है जो किसी प्रकार भी अनुमत अथवा संगत नहीं कहा जा सकता।

'तिलोत्तमा' (१६१६) नाटक के मूल विषय की ओर गुप्त जी ने नाटक के मुख-पृष्ठ पर लिखे इस पद्य में संकेत कर दिया है—

होता है बन्धु-विरोध जहाँ।
है सर्वनाश ही उचित वहाँ॥

इस पद्य में केवल नाटक की कथावस्तु की ओर ही संकेत नहीं किया गया, वरन् देशवासियों का ध्यान भी बन्धुविरोध के दुष्परिणाम की ओर आकृष्ट करके एकता और बन्धुता का उपदेश दिया गया है।

यह नाटक पौराणिक आख्यान को लेकर लिखा गया है। सुन्द और उप-सुन्द नामक दो राक्षसों ने यह वर प्राप्त किया कि कभी किसी दूसरे के हाथ से उनका वध नहीं होगा। उनकी तब तक मृत्यु न होगी जब तक वे परस्पर एक दूसरे का वध न करें। इस वर को प्राप्त करके वे निःशंक और निर्भीक होकर देवताओं को सताने लगे। आख़िर देवताओं को उनके नाश का उपाय सोचना पड़ा। उन्होंने तिलोत्तमा नाम की एक अपूर्व सुन्दरी अप्सरा को उन राक्षसों के

पास भेजा। उसके अद्भुत सौंदर्य को देखकर दोनों दानव उस पर मोहित हो गये और उससे विवाह का प्रस्ताव करने लगे। इस पर तिलोत्तमा ने उत्तर दिया कि जो उनमें से अधिक बलवान् होगा, उसी के साथ वह विवाह करेगी। यह सुनकर अपने-आपको अधिक बलशाली सिद्ध करने के लिए दोनों दानव आपस में युद्ध करने लगे, जिसके फलस्वरूप दोनों की मृत्यु हो गई।

इस नाटक में संस्कृत नाटकों की रचना-पद्धति का अनुसरण किया गया है। पद्य की बहुलता है और गीतों का भी समावेश है। परन्तु नाटककार ने वस्तु-संगठन और चरित्र-चित्रण में कुशलता का परिचय नहीं दिया।

'तिलोत्तमा' की अपेक्षा गुप्त जी का 'चन्द्रहास' अच्छा बन पड़ा है। इस नाटक में भी संस्कृत नाटकों के सिद्धांतों का पालन हुआ है। इसमें बालक चन्द्र-हास का वृत्त है जो कि भगवान् का सच्चा भक्त है। नाटक के आरम्भ में जब ऋषि गालव ने चन्द्रहास के विषय में यह भविष्यवाणी कही—

अनाथ कोई जग में नहीं है,
त्रैलोक्य का नाथ सभी कहीं है।
क्या ठीक है जो वह मार्गचारी
बने तुम्हारा विषयाधिकारी॥

तो इससे कुन्तलपुर के मन्त्री धृष्टबुद्धि को बड़ी चिन्ता हुई। इस भविष्यवाणी को व्यर्थ और विफल बनाने के लिए उसने कई बार चन्द्रहास के प्राण लेने का यत्न किया, परन्तु नियति ने बार-बार गुप्त रूप से उसकी रक्षा की और धृष्टबुद्धि के सभी घृणित प्रयासों को विफल बना दिया। जब-जब धृष्टबुद्धि ने चन्द्रहास के वध का प्रबन्ध किया तब-तब नियति ने अदृश्य रूप से चन्द्रहास की सहायता की। अन्त में नियति के कारण चन्द्रहास का विवाह धृष्टबुद्धि की पुत्री विषया के साथ हो गया और वही कुन्तलपुर के राजा का उत्तराधिकारी बना। इस प्रकार ऋषि गालव की भविष्यवाणी यथार्थ हुई।

इस नाटक में गुप्त जी ने वस्तु-संगठन तथा चरित्र-चित्रण में अधिक कौशल दिखाया है। धृष्टबुद्धि का चरित्र धूर्तता तथा दुष्टता का है। चन्द्रहास के चरित्र-चित्रण में नाटककार के मन पर गांधी जी के चरित्र का प्रभाव स्पष्ट लक्षित होता है। चतुर्थ अंक के तृतीय दृश्य में विषया तथा विलासिनी के व्यंग्य-मिश्रित उपहास में सजीवता और रोचकता है, जिससे दृश्य का नाटकीय सौन्दर्य बढ़ गया है। इस धारा के अन्य नाटकों के विषय उनके नाम से स्पष्ट हैं।

रंगमंचीय धारा के पौराणिक नाटकों की अपेक्षा इस धारा के पौराणिक नाटक सामूहिक रूप से उत्तम हैं। पहली बात तो यह है कि इन नाटकों का

उद्देश्य उपदेशात्मक या शिक्षात्मक न होकर शुद्ध साहित्यिक है। ये नाटक रंग-मंचीय धारा के नाटकों की भाँति किसी विशेष सिद्धांत का प्रतिपादन करने अथवा उपदेश देने के भाव से नहीं लिखे गये। दूसरे, यद्यपि ये नाटक पौराणिक आख्यानों आदि को लेकर लिखे गये हैं तथापि लेखकों ने अपनी प्रतिभा और सृजन-शक्ति के द्वारा उनमें नये चरित्रों और नये प्रसंगों की अवतारणा करके अपनी मौलिकता का यथेष्ट परिचय दिया है। इन कल्पित प्रसंगों की अवतारणा से बहुधा इन रचनाओं के नाटकीय सौन्दर्य की अभिवृद्धि हुई है। जहाँ रंगमंचीय धारा के पौराणिक नाटकों में मुख्य कथानक से समता-विषमता आदि दिखाने के लिए गौण कथानकों की योजना की गई है, वहाँ इस धारा के नाटककारों ने अधिकतर अपने नाटकों में केवल मुख्य कथानक को लेकर उसी पर अपना सारा ध्यान और कौशल केन्द्रित कर दिया है। इसके अतिरिक्त प्रायः इन नाटकों में घटनाओं और प्रसंगों की व्यर्थ की भीड़ नहीं है। इनके कथानक प्रायः सुसंगठित हैं और इनके प्रसंग सुसम्बद्ध और सुसंगत हैं, जो नाटकों के कलात्मक प्रभाव में सहायक सिद्ध होते हैं।

यद्यपि इस धारा में भी 'तुलसीदास' आदि दो-एक नाटकों में अतिप्राकृतिक प्रसंगों का प्रवेश है, तो भी सामूहिक रूप में इस धारा के नाटकों में अतिप्राकृतिक तत्त्व बहुत कम और अपेक्षाकृत अधिक उपयोगी हैं। इन नाटकों में अति-प्राकृतिक प्रसंगों की अवतारणा केवल रोमांचकारी और चमत्कारपूर्ण दृश्यों की सृष्टि करने के लिए नहीं की गई। इनकी अवतारणा या तो कथावस्तु के विकास में सहायक सिद्ध होती है अथवा पौराणिक पात्रों के चरित्र के गौरव की अभिवृद्धि करने के लिए की गई है। उदाहरण के लिए माखनलाल चतुर्वेदी के 'कृष्णार्जुन-युद्ध' में चित्ररथ का आकाश में वायुयान पर जाना और तदनन्तर युद्धक्षेत्र में ब्रह्माजी का उपस्थित होना कथानक के समुचित विकास के लिए अपेक्षित था। 'तुलसीदास' में अतिप्राकृतिक प्रसंगों की अवतारणा तुलसीदास के चरित्र को गौरवान्वित करने के लिए तथा दर्शकों के मन पर सच्ची प्रभुभक्ति की अद्भुत शक्ति को दिखाने के लिए की गई है। मैथिलीशरण गुप्त के 'चन्द्रहास' में नियति की अवतारणा भी एक सुन्दर और सफल अतिप्राकृतिक प्रयोग है।

इस धारा के नाटकों का वातावरण भी अपेक्षाकृत अधिक यथार्थ और पौराणिक युग के अनुरूप है। परन्तु फिर भी यह उतना सशक्त, चित्रोपम और स्वाभाविक नहीं कि उससे पाठकों और दर्शकों को उसी देश-काल का स्थायी भ्रम हो सके। प्रसाद के पौराणिक और ऐतिहासिक नाटकों में उन युगों की

संस्कृति और वातावरण का जैसा सुन्दर चित्रण मिलता है, वैसा इस धारा के नाटकों में नहीं हो सका।

परन्तु यद्यपि इस धारा के पौराणिक नाटकों में रंगमंचीय नाटकों की अपेक्षा वास्तविक वातावरण की सृष्टि अधिक सफलता से की गई है, तथापि इन नाटकों में बड़े-बड़े कालसम्बन्धी दोष भी यत्र-तत्र मिलते हैं। यह पहले दिखाया जा चुका है कि बद्रीनाथ भट्ट मे किस प्रकार 'कुरुवनदहन' में (तथा 'बेनचरित' में भी) उर्दू-फ़ारसी के शब्दों आदि का प्रयोग करके महाभारत तथा पूर्व-महाभारत काल की आत्मा का हनन किया है, तथा उस नाटक में महाभारत-काल के वातावरण के स्थान पर मध्यकालीन भारतवर्ष का वातावरण उपस्थित कर दिया है। 'तुलसीदास' में भी प्रथम अंक के आठवें दृश्य में रानी मेजर और कैप्टन को तमंचे की सहायता से बन्दी बनाती है। तनिक ध्यान से विचार किया जाय तो मेजर और कैप्टन आधुनिक उपाधियाँ हैं जो कि तुलसीदास के समय के भारतीय सेना के अधिकारियों के नाम के साथ नहीं जोड़ी जा सकतीं। इसी प्रकार 'बेनचरित' में इतने अधिक तथा इस प्रकार के षड्यन्त्र रचे गये हैं जो कि सतुयुग के लोगों के लिए असंगत और अनुपयुक्त जान पड़ते हैं। इस प्रकार के कालदोष तथा असंगतता के उदाहरण इस धारा के अन्य नाटकों में भी कहीं-कहीं पाये जाते हैं। इससे यह ज्ञात होता है कि नाटककारों ने अपने नाटकों की बारीकियों की ध्यानपूर्वक परीक्षा करने का कष्ट नहीं किया।

चरित्र-चित्रण में भी इन नाटककारों ने अधिक कुशलता का परिचय दिया है। जान पड़ता है कि चरित्र-चित्रण के महत्व को इन्होंने समझा है, और चरित्र के प्रधान अंगों में सामंजस्य बनाये रखने की चेष्टा की है। चरित्र के एक पक्ष को अत्युच्च और महान् और दूसरे पक्ष को अतितुच्छ और क्षुद्र दिखाकर उन्होंने चरित्रों को हास्यास्पद नहीं बना दिया। यद्यपि इस धारा के लेखक भी ठीक प्रकार से महान् चरित्रों की सृष्टि नहीं कर पाये तथापि उन्होंने महान् पौराणिक चरित्रों को तुच्छ और साधारण बनाकर उनके महत्त्व को नष्ट भी नहीं किया।

वास्तव में इन नाटककारों ने भी चरित्र-चित्रण की ओर इतना ध्यान नहीं दिया, जितना कथावस्तु के सौंदर्य और क्रमिक विकास की ओर। इनके नाटकों में घटनाओं का घात-प्रतिघात अथवा बाह्य संघर्ष तो अवश्य मिलता है, परन्तु चरित्रों के अन्तर्द्वन्द्व या मानसिक संघर्ष का चित्रण इन्होंने प्रायः नहीं किया। उदाहरण के लिए 'तुलसीदास', 'बेनचरित' और 'सिद्धार्थ कुमार' जैसे चरित्र-प्रधान नाटकों में नायकों की महत्ता के कारणों को स्पष्ट नहीं किया गया, न ही उनके अन्तर्द्वन्द्व का चित्रण किया गया है।

सारांश, इस धारा के पौराणिक नाटक वस्तु-संगठन, चरित्र-चित्रण तथा वातावरण आदि की दृष्टि से पारसी रंगमंच के पौराणिक नाटकों से निश्चय ही उत्कृष्ट हैं, यद्यपि इनमें भी अपने ढंग के कई दोष हैं, तथा प्रसाद-धारा के पौराणिक नाटकों से ये निश्चय ही निम्न कोटि के हैं।

(ग) प्रसाद-धारा के पौराणिक नाटक

यद्यपि स्वर्गीय श्री जयशंकर प्रसाद अपने ऐतिहासिक नाटकों के कारण ही विशेष रूप से प्रसिद्ध हैं, तथापि ऐतिहासिक नाटकों के अतिरिक्त उन्होंने 'जनमेजय का नागयज्ञ' आदि दो एक पौराणिक नाटकों की भी रचना की है। सुदर्शन का 'अंजना' तथा गोविन्दवल्लभ पन्त का 'वरमाला' आदि नाटक भी इसी वर्ग के अन्तर्गत आते हैं। यद्यपि इन नाटकों के कथानक पुराणों से लिये गये हैं, तथापि नाटककारों ने इनकी रचना ऐतिहासिक पद्धति पर की है। इनमें पौराणिक नाटकों की प्रमुख विशेषताओं, अतिप्राकृतिक प्रसंगों का समावेश तथा पौराणिक वातावरण की सृष्टि आदि का अभाव है। कथानक को छोड़कर अन्य सभी दृष्टियों से ये नाटक प्रसाद-धारा के ऐतिहासिक नाटकों से मिलते हैं। इसलिए इन नाटकों पर भी अगले अध्याय में ऐतिहासिक नाटकों के साथ विचार किया जायगा।

तेरहवां अध्याय

ऐतिहासिक नाटक

यद्यपि आलोच्यकाल में जनता की रुचि ऐतिहासिक नाटकों में इतनी अधिक नहीं थी जितनी कि रोमांचकारी शृंगारी नाटकों तथा पौराणिक नाटकों में, तथापि इस काल के सभी प्रकार के नाटकों में ऐतिहासिक नाटक सबसे अधिक कलापूर्ण और साहित्यिक हैं। जनता में ये नाटक इस काल में विशेष प्रिय और प्रचलित नहीं थे, परन्तु शिष्ट और सुसंस्कृत रुचि के शिक्षित लोगों में इनका विशेष सम्मान था। इन नाटकों की तह में प्रायः राष्ट्रीय अथवा सांस्कृतिक पुनरुत्थान की बलवती चेतना निहित है। इस काल के प्रमुख ऐतिहासिक नाटक प्रसाद-कृत 'राज्यश्री' (१६१५), 'विशाख' (१६२१), 'अजातशत्रु' (१६२२), 'जनमेजय का नागयज्ञ' (१६२६), 'स्कन्दगुप्त' (१६२८), 'चन्द्रगुप्त' (१६३१) तथा बेचन शर्मा उग्र-कृत 'महात्मा ईसा' (१६२२), सुदर्शन-कृत 'अंजना' (१६२२), गोविन्दवल्लभ पन्त का 'वरमाला' (१६२५), जगन्नाथप्रसाद मिलिन्द का 'प्रताप-प्रतिज्ञा' (१६२८) तथा उदयशंकर भट्ट का 'चन्द्रगुप्त मौर्य' (१६३१) इत्यादि हैं।

ऊपर के ऐतिहासिक नाटकों के अतिरिक्त इस काल में कुछ और ऐतिहासिक नाटक भी मिलते हैं जो कला की दृष्टि से उतने प्रौढ़ और सुन्दर नहीं हैं। रंगमंचीय नाटकों के कुछ लक्षण भी उनमें दृष्टिगोचर होते हैं। बद्रीनाथ भट्ट का 'दुर्गावती' (१६२५) और 'चन्द्रगुप्त', प्रेमचन्द का 'कर्बला' (१६२४) तथा चन्द्रराज भंडारी का 'सम्राट् अशोक' (१६२३) इस वर्ग के कुछ प्रसिद्ध नाटक हैं।

(क) भट्ट-धारा के ऐतिहासिक नाटक

बद्रीनाथ भट्ट के 'दुर्गावती' (१६२५) में गढमंडले की वीर राजपूत रानी दुर्गावती की शासन-कुशलता तथा युद्ध-भूमि में अद्भुत साहस और वीरता का वर्णन है। दुर्गावती असाधारण वीरता, निर्भीकता, साहस और धैर्य की मूर्त्ति है। अपने मुख्य-मुख्य सैनिकों के मारे जाने पर, अपने प्राणप्रिय वीर पुत्र वीरनारायण के युद्ध में काम आ जाने पर भी तथा अपनी पराजय हो जाने पर भी रानी साहस को हाथ से नहीं छोड़ती। वह उस संकटावस्था में भी युद्ध किये जाती है, यहाँ तक कि अन्त में अपने ही एक देशद्रोही और विश्वासघाती सरदार के तीर से मृत्यु को प्राप्त हो जाती है।

नाटक का अन्तिम दृश्य नाटककार की अनुपम प्रतिभा और अनूठी कल्पना का परिचायक है। इस दृश्य में रानी को मृत्यु के पश्चात् स्वर्ग में दिखाया गया है और वहाँ उसका परिचय भारत के प्राचीन तथा मध्यकालीन देशभक्त वीरों (चन्द्रगुप्त मौर्य, विक्रमादित्य, दाहर, पृथ्वीराज आदि) के साथ कराया जाता है। इस अतिप्राकृतिक दृश्य में यद्यपि पारसी थिएट्रिकल नाटकों का प्रभाव स्पष्ट रूप से लक्षित है, तथापि यह दृश्य पारसी रंगमंच के रोमांच-कारी अतिप्राकृतिक दृश्यों-जैसा घटिया और व्यर्थ प्रतीत नहीं होता।

चरित्र-चित्रण में नाटककार को यथेष्ट सफलता मिली है। दुर्गावती, उसके वीर पुत्र वीरनारायण, मन्त्री तथा सेनापति के चरित्र कुशलतापूर्वक चित्रित किये गये हैं। देशद्रोही बदनसिंह तथा उसकी आदर्श देशभक्त सती पत्नी सुमति के चरित्रों में भी शक्ति और जीवन है। जहाँ दुर्गावती का चरित्र वीरता, धीरता और देशप्रेम का आदर्श है, वहाँ बदनसिंह नाटक के सभी पात्रों में से अधिक घृणित और निन्दास्पद है, यहाँ तक कि उसकी सती पत्नी सुमति जो कि सच्ची देशभक्त और स्वामिभक्त है, अपने हाथ से उसका वध करने में संकोच नहीं करती। परन्तु अपने इस अन्यथा अक्षम्य अपराध के कारण सुमति का चरित्र लोगों की दृष्टि में तनिक भी गिरने नहीं पाता, वरन् वह और भी महान् और स्तुत्य बन जाता है। सुमति निस्संदेह एक आदर्श पतिव्रता हिन्दू रमणी है, जो स्वयं सच्ची देशभक्त होने के कारण एक देशद्रोही और स्वामिद्रोही की हत्या करती है, फिर चाहे वह विश्वासघाती उसका पति ही क्यों न हो। परन्तु दूसरे ही क्षण एक आदर्श पतिपरायणा पत्नी के रूप में वह अपने उसी प्यारे पति के साथ सती होकर अपने पातिव्रत धर्म का पालन करने के लिए आग्रह करती है।

इस नाटक पर पारसी रंगमंचीय नाटकों का प्रभाव विशेष रूप से दृष्टिगोचर होता है। पहले तो जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं, नाटक के अन्तिम दृश्य की कल्पना स्पष्टतः पारसी रंगमंचीय नाटकों के ढंग पर की गई है। इसके अति-रिक्त संवादों में पद्य का बार-बार प्रयोग भी पारसी नाटकों के ही प्रभाव को सूचित करता है। थिएट्रिकल ढंग के पद्य नाटक के सभी प्रमुख पात्रों से, रानी तक से, कहलाये गये हैं, जैसे—

रानी—···आ चली आंधी इधर, यह चील मंडराने लगे,
बादलों की सी गर्ज कुछ कान में आने लगी।

(पहला अंक, तीसरा दृश्य)

नाटक के संवाद प्रायः सजीव और सशक्त हैं, और उनमें प्रायः प्रतिदिन की बोलचाल की भाषा का प्रयोग किया गया है। परन्तु नाटक में स्वगत-

भाषणों की भरमार है। कई बार तो पात्र स्वगत में कविता भी करने लग जाते हैं, जैसे—

पृथ्वीराज—(तलवार पटक कर, आप ही आप)—

राजपूत की जाति पर पड़ी आज है गाज,
हाय गई वह वीरता ! हाय गई वह लाज।
जिसका हमको गर्व था, पड़ी उसी पर धूल ;
इससे तो अच्छा यही हों क्षत्रिय निर्मूल॥

(प्रथम अंक, प्रथम दृश्य)

हास्य की अवतारणा भी कुछ स्थलों पर की गई है। परन्तु कहीं-कहीं पर नाटककार ने बड़ी गम्भीर परिस्थिति के बीच हास्य की अवतारणा करके सारी स्थिति को बिगाड़ दिया है। उदाहरण के लिए जब प्रथमांक के सप्तम दृश्य में रानी बड़े रोष से भरी हुई है तो गिड़धाड़ीलाल निम्नलिखित ढंग से उत्तर देता है—

गिड़धाड़ीलाल—(तलवार को म्यान में रखता हुआ) आप विश्वास कीजिए, मैं चाहूँ तो अपनी गरदन काट लूँ। हाँ, केवल यही सोचकर रह जाता हूँ कि तलवार भी ब्रह्म है और गरदन भी ब्रह्म है। एक ब्रह्म को दूसरे ब्रह्म से क्यों लड़ाऊँ ? आपस की फूट अच्छी नहीं होती।

(प्रथम अंक, सातवां दृश्य)

नाटक में केवल तीन अंक हैं। यद्यपि चरित्र-चित्रण काफ़ी सफल और सबल है, तथापि वस्तु-संगठन कुछ शिथिल-सा है। कहीं-कहीं कार्य-व्यापार अनावश्यक रूप से तेज़ हो गया है, और कहीं-कहीं व्यर्थ ही सुस्त हो गया है।

भट्ट जी के 'चन्द्रगुप्त' में पाँच अंक हैं। यह नाटक भी सामान्य रूप से 'दुर्गावती' के ढंग का है, परन्तु चरित्र-चित्रण और वस्तु-विन्यास की दृष्टि से उससे कुछ निम्न है। इस नाटक पर भी पारसी रंगमंच का प्रभाव विशेष रूप से पड़ा है। इस नाटक में प्राचीन भारतवर्ष के वास्तविक वातावरण का चित्रण नहीं हो सका; उसके स्थान पर भट्ट जी के समय के वातावरण की ही झलक इस नाटक में अधिक मिलती है। हास्य की अवतारणा इस नाटक में भी उचित और अनुचित अवसर का विचार किये बिना कर दी गई है। कविता इस नाटक में भी काफ़ी है।

मुंशी प्रेमचन्द का 'कर्बला' (१९२४) उनका एकमात्र ऐतिहासिक नाटक है। इसमें हज़रत मुहम्मद के दौहित्र और अली के पुत्र हुसैन का ख़लीफ़ा के पद के लिए संघर्ष और अन्त में कर्बला के युद्ध में अपने मुसलमान शत्रुओं के

हाथों मारे जाने का वृत्त है। इस नाटक का महत्त्व दो प्रकार से है। एक तो इस नाटक में उस देश और काल की सभ्यता और व्यवहार का चित्रण है दूसरे, इस नाटक में सूक्ष्म तथा स्थूल, महान् तथा कुत्सित प्रवृत्तियों के बीच संघर्ष का चित्रण किया गया है। हुसैन सत्य और उत्सर्ग की उच्च भावनाओं का प्रतीक है, और यज़ीद लोभ, यशोलिप्सा आदि जीवन की कुत्सित वृत्तियों का प्रतिनिधि है।

यह नाटक पढ़ने में रोचक है, परन्तु रंगमंच पर अभिनय के लिए उपयुक्त नहीं। भूमिका में लेखक ने कहा है—

> **"हमने यह नाटक खेले जाने के लिए नहीं लिखा, मगर हमारा विश्वास है कि यदि कोई इसे खेलना चाहे, तो बहुत थोड़ी काट-छाँट से खेला भी जा सकता है।"**

किन्तु नाटक की असाधारण लम्बाई, पात्रों की अत्यधिक संख्या, युद्ध के दृश्यों की इतनी मारकाट तथा सेना के प्रयाण, असंख्य ऊँट और खेमे आदि नाटक को सर्वथा अनभिनेय बना देते हैं। इसके अतिरिक्त यह रचना नाटक के रूप में इतनी प्रभावोत्पादक भी नहीं है। इसमें लेखक ने घटनाओं के क्रम की ओर अधिक ध्यान दिया है, प्रसंगों को यथेष्ट महत्त्व और बल देने का प्रयत्न नहीं किया। घटनाओं और कार्य की अधिकता तथा पात्रों की संख्या अधिक होने के कारण चरित्र-चित्रण की ओर भी यथोचित ध्यान नहीं दिया जा सका।

नाटक के पात्र अधिकांश मुसलमान होने के कारण उनके संवादों की भाषा उर्दू-फ़ारसी के शब्दों से भरी हुई है। हिन्दू पात्र केवल दो हैं—साहसराय और योगी। ये दोनों नाटककार की अपनी कल्पना की उपज हैं और केवल यही हिन्दी का प्रयोग करते हैं। नाटक में वीर तथा करुण रस की प्रधानता है, परन्तु नसीमा और वाहिब के चरित्रों के कारण शृंगार रस का समावेश भी हो गया है।

इस धारा के अन्य नाटकों की भाँति इस नाटक पर भी पारसी थिएट्रिकल नाटकों का प्रभाव स्पष्ट लक्षित है। इस नाटक में भी कथोपकथन के बीच जगह-जगह थिएट्रिकल ढंग की कविता भर दी गई है, जैसे—

अब्बास—भाई के लिये जी से गुज़र जाता है भाई,
जाता है बिरादर भी जिधर जाता है भाई।
भाई हो तेग़ों में तो डर जाता है भाई,
आँचें है भाई पै तो मर जाता है भाई।

(पाँचवां अंक, पाँचवां दृश्य)

कविता के अतिरिक्त थिएट्रिकल ढंग के बहुत-से गाने और ग़ज़लें भी नाटक में यत्र-तत्र रखी गई हैं, जैसे—

हां खुले साक़ी दरे-पैमाना आज,
ख़ैर हो, भर दे मेरा पैमाना आज।
नाज़ करता झूमता मस्ताना वार,
अब्र आता है, सूए पैमाना आज॥

(द्वितीय अंक, द्वितीय दृश्य)

पाँचवें अंक के छठे दृश्य में शत्रु के सामने हुसैन का यह गीत 'बेटा हू अली का व नेवासा रसूल का' इत्यादि तथा उसी दृश्य के 'मरकर भी न भूलूंगा एह-सान तुम्हारे' आदि गीत पर भी पारसी थिएटर की स्पष्ट छाप है।

संक्षेप में इस धारा के ऐतिहासिक नाटकों के विषय में यह कहा जा सकता है कि ये नाटक सभी बातों में इसी धारा के पौराणिक नाटकों से मिलते-जुलते हैं। इनके कथानक प्रायः जटिल हैं। घटनाओं की अधिकता और प्रसंगों की भीड़ के कारण कथानक का क्रम-विकास बहुत कुछ उपन्यासों-जैसा हो गया है। इसी कारण से कहीं-कहीं चरित्र-चित्रण भी विशेष सफल और सुन्दर नहीं हो सका। मानव-मन के अन्तर्द्वन्द्व का यथोचित चित्रण तो इनमें से किसी भी नाटक में नहीं मिलता। इन नाटकों में महत् क्षणों और गहन परिस्थितियों का भी प्रायः अभाव है, जिनमें प्रधान पात्र बहुधा अपने हृदय के अन्तर्तम भावों को प्रकट किया करते हैं। यदि कहीं पर ऐसे अवसर बन भी पड़े हैं तो वहाँ नाटक-कार उनका कुशलतापूर्वक निर्वाह और उपयोग नहीं कर सके। इस मनोवैज्ञा-निक चित्रण के अभाव के कारण इन नाटकों का चरित्र-चित्रण विशेष सफल और स्वाभाविक नहीं हो सका।

(ख) प्रसाद-धारा के ऐतिहासिक नाटक

जयशंकर प्रसाद के ऐतिहासिक नाटकों की संख्या और महत्त्व अधिक होने के कारण उन पर अलग अध्याय में विचार किया जायगा। यहाँ हम प्रसाद-धारा के अन्य प्रमुख नाटकों का उल्लेख करेंगे। इन नाटकों में से सुदर्शन का 'अंजना' (१९२२) एक उत्कृष्ट नाटक है जो पौराणिक आख्यान को लेकर ऐतिहासिक पद्धति पर लिखा गया है। नाटक की नायिका 'अंजना' पातिव्रत धर्म, स्वाभिमान और आत्म-बलिदान की भावनाओं की प्रतीक है। उसका पति पवन बारह वर्ष की दीर्घ अवधि के लिए विदेश गया हुआ है। इसी बीच वह अल्प काल के लिए अंजना के पास आता है, और घर के अन्य लोगों के ज्ञान के

बिना छिप कर अपनी पत्नी के पास कुछ दिन रहता है। इतनी बात से परिस्थिति उलझ जाती है और पवन की मां पुत्रवधू पर व्यर्थ कलंक लगाकर उसे घर से निकाल देती है। स्वयं अंजना की मां भी उसके चरित्र को कलंकित समझकर उसको शरण नहीं देती। निर्वासन-काल में अंजना को अनेक कष्ट सहन करने पड़ते हैं। वन में ही हनुमान् का जन्म होता है। वन में जब अंजना अपनी सखी वसंतमाला के साथ दुःख के दिन काटती है तो वसंतमाला एक बार उससे अपने पति के पास चलने को कहती है जो कि युद्धभूमि में गया हुआ है। इस पर दुःखी अंजना जिसके मन में पति के यश का विचार और देशभक्ति की भावना प्रबल है, दृढ़तापूर्वक उत्तर देती है—

"वे इस समय युद्धभूमि में यशःप्राप्ति का काम कर रहे हैं, देश की सेवा कर रहे हैं, संसार में अपने देश का सर ऊँचा कर रहे हैं; मैं जाकर उनके हृदय को दूसरी ओर कर दूँगी तो सारा काम चौपट हो जायेगा, उनके अद्वितीय बल में न्यूनता आ जायेगी, पराक्रम थोड़ा हो जायेगा। मैं यह पाप-कर्म नहीं कर सकती—अपने सुख पर देश और जाति के यश को निछावर नहीं कर सकती।"

'अंजना' अपने से पूर्व के सभी पौराणिक और अधिकांश ऐतिहासिक नाटकों से उत्कृष्ट है। नाटककार ने कथोपकथन के बीच पद्य का प्रयोग इस नाटक में नहीं किया। दूसरे, उसने पौराणिक आख्यान पर रचित इस नाटक में भी पात्रों के मानवीय पक्ष को ही लिया है, और घटनाओं को अतिप्राकृतिक नहीं बनाया। नाटक का कथानक जटिल होते हुए भी कहीं पर शिथिल या अव्यवस्थित नहीं है। कथोपकथन बड़े सजीव और सबल हैं और उनमें अनेक स्थलों पर भावुकता की छाप है। थोड़ी-सी काट-छांट के पश्चात् नाटक का अभिनय सफलतापूर्वक हो सकता है।

बेचन शर्मा 'उग्र' का 'महात्मा ईसा' (१९२२) भी एक सुन्दर नाटक है जिसमें नाटककार ने विदेशी विषय को भारतीय आवरण में प्रस्तुत किया है। लेखक की यह धारणा है कि महात्मा ईसा अपनी यौवनावस्था में भारतवर्ष में आये। यहाँ आकर उन्होंने हिन्दू-शास्त्रों का अध्ययन और मनन किया, सेवा और बलिदान की भारतीय भावनाओं को ग्रहण किया, और तदनन्तर स्वदेश लौटकर उन्हीं भावनाओं का उपदेश दिया। इस धारणा के फलस्वरूप ईसा का चरित्र भारतीय महापुरुषों के रंग में रंजित किया गया है। ईसा के चरित्र में महात्मा बुद्ध अथवा महात्मा गाँधी के व्यक्तित्व और उनके अहिंसा, क्षमा, त्याग, सेवा और बलिदान की भावनाओं की प्रत्यक्ष झलक है।

उग्र जी का चरित्र-चित्रण बड़ा स्वाभाविक है। ईसा, शांति, योहन और हिरोद के चरित्र अपना विशिष्ट व्यक्तित्व रखते हैं। एलाजर और शावेल के चरित्र में भी काफ़ी जीवन है। नाटक में महत् क्षणों (High moments) और गहन प्रसंगों (tense situations) का भी अभाव नहीं। उदाहरण के लिए ईसा को सूली पर चढ़ाने का दृश्य बड़ा मर्मस्पर्शी और हृदयविदारक है। परन्तु विवेकशील नाटककार ने नाटक का अन्त इसी दृश्य के साथ नहीं कर दिया। ईसा के सूली के दृश्य के पश्चात् कुछ दृश्यों में उस बलिदान के सुफल की ओर भी संकेत कर दिया गया है। इस विषय में डा० नगेन्द्र लिखते हैं—

> **'ईसा के अन्त से मुझे शिकायत है—वह व्यर्थ ही पीछे हटाया गया है। ईसा के बलिदान का प्रभाव पाठक की कल्पना पर ही छोड़ दिया जाता तो अच्छा था। बाद में बढ़ाने से उसका नाटकीय गुण क्षीण हो जाता है[1]।'** इत्यादि।

डा० नगेन्द्र के इस विचार से हम सहमत नहीं हैं। निस्संदेह नाटक का चरमोत्कर्ष (climax) ईसा को सूली पर चढ़ाने के दृश्य पर ही होता है पर नाटक का कथानक चूँकि विदेशी है, और बहुत थोड़े भारतीय ईसा के जीवन की घटनाओं और उनके बलिदान के फल से परिचित हैं इसलिए नाटककार ने ईसा के बलिदान के बाद कुछ दृश्यों को बढ़ाकर बुद्धिमानी और विवेक का ही परिचय दिया है। इनके अभाव में भारतीय दर्शकों और पाठकों को इस बलिदान के अद्भुत परिणाम का तथा दुष्ट हिरोद आदि के दण्डित होने का ज्ञान न हो पाता, क्योंकि वे ईसा के जीवन-वृत्त से पूर्णतया परिचित नहीं हैं। नाटक को 'महात्मा ईसा' नाम देने में नाटककार का यह अभिप्राय नहीं कि ईसा के भौतिक शरीर के अन्त के साथ नाटक का भी अन्त कर दिया जाय, बल्कि ईसा के सूक्ष्म शरीर तथा आत्मा के गहरे प्रभाव की ओर भी संकेत कर देना नाटककार को अभिप्रेत है। महापुरुषों के जीवन की अपेक्षा उनकी मृत्यु अधिक प्रभावकारी और महत्त्वपूर्ण हुआ करती है। यहां भी नाटककार ने इन दृश्यों को बढ़ाकर यह दर्शाने का प्रयत्न किया है कि महात्मा ईसा की मृत्यु ने वह काम कर दिखाया जो वे अपने जीवन-काल में न कर सके थे।

नाटक के संवाद साधारणतया सजीव और सशक्त हैं। वैशालिनी की भावुकता और प्राण विशेष मात्रा में हैं। उदाहरण के िंदी पर पानी लेने के चढ़ाने के मर्मभेदी दृश्य में शांति के उत्तेजित वक्तव्य केलिए दौड़ता है और तब

१. आधुनिक हिंदी नाटक, पृष्ठ २८।　　　　आ करती है। इस घटना

शांति—ठहरो ! अत्याचार के बादलो ! सूर्यास्त से पहले कमलों को अपने मित्र की पवित्र मूर्त्ति आंख भर देख लेने दो; नहीं तो उनके दुःखी हृदय से प्रचण्ड वायु की तरह शोकोच्छ्वास निकलेगा और तुम्हारा सर्वनाश हो जायेगा। ठहरो, क्रूरता की अग्नि-शिखाओ ! किसी ग़रीब का सर्वस्व भस्म करने से पहले उसे अपनी निधि-निरीक्षण कर लेने दो, नहीं तो उसकी आंखों से वह जल-प्रपात प्रकट होगा जिससे तुम्हारा अस्तित्व तक लुप्त हो जायगा। (तीसरा अंक, आठवां दृश्य)

नाटक की भाषा शुद्ध हिन्दी है। ईसा, शावेल, योहन आदि विदेशी पात्र भी शुद्ध हिन्दी का व्यवहार करते हैं, जैसा कि नीचे के उद्धरण से स्पष्ट है—

शावेल—सम्राट् को इस आन्दोलन को शीघ्र रोक देना चाहिए—नहीं तो फिर कुछ करते धरते न बनेगा। गुप्तचरों से पता चला है कि ईसा और ईसाइयों के भाषणों का जनता के ऊपर विचित्र प्रभाव पड़ता है। (तृतीय अंक, प्रथम दृश्य)

नाटक में करुण, शांत और वीर रस का सफल प्रयोग हुआ है। बीच-बीच में कहीं-कहीं पर विशेषतः आरंभ में ही विवेकाचार्य के शिष्यों के संवाद में, हास्य की भी अवतारणा की गई है। कई स्थलों पर भक्ति-भरे भाव में ईसा से भारतवर्ष तथा भारतीय आदर्शों की मुक्तकंठ से प्रशंसा कराई गई है, जैसे—

ईसा—आर्य, आप धन्य हैं और धन्य है आपकी सभ्यता। इतनी उदारता, इतनी सहृदयता !

नागरिक—तो चलिए।

ईसा—(अनसुनी करके) क्या पृथ्वी के अन्य किसी भाग में ऐसे मनुष्य मिल सकते हैं ? कदापि नहीं। यहां का एक-एक प्राणी देवता है—हरेक स्थान स्वर्ग। (प्रथमांक, प्रथम दृश्य)

नाटक में कई जगह सुन्दर गीतों की भी योजना की गई है। उनमें से कुछ गीत अपनी मधुरता के अतिरिक्त देश-प्रेम की उत्कट भावना से ओतप्रोत हैं, जिनसे नाटककार के मन पर देश पर बलिदान होने की राष्ट्रीय चेतना का प्रभाव स्पष्ट है। नाटक के सब से पहले गीत 'स्वाधीन हमारी माता है,
लौटकर उन्हीं भा राष्ट्रीय गीत 'वन्दे मातरम्' की प्रतिध्वनि सुनाई देती है।
चरित्र भारतीय महा स्वर्ग-द्वार देश !' इत्यादि तथा 'ज्ञानी, बलवान्, सरल
महात्मा बुद्ध अथवा महा अन्य गीतों में इसी प्रकार देश-प्रेम की गूंज है।
सेवा और बलिदान की भा हिन्दू-मुस्लिम एकता की प्रेरणा है। इन गीतों के

अतिरिक्त कुछ गीत और ग़ज़लें थिएट्रिकल ढंग की भी इस नाटक में मिलती हैं (उदाहरण के लिए तीसरे अंक के चौथे दृश्य में 'प्यारी प्यारी बतियां प्यारी—रसभरी अखियां प्यारी' इत्यादि, तथा प्रथमांक के नवम दृश्य, द्वितीयांक के प्रथम दृश्य तथा तृतीयांक के द्वितीय दृश्य की ग़ज़लें) ।

इस नाटक में दो-एक अवसरों पर अतिप्राकृतिक तत्त्व का भी उपयोग किया गया है । योहन की हत्या के पश्चात् उनका भूत (ghost) आततायियों को भयभीत करता दिखाया गया है (द्वितीयांक के तृतीय दृश्य में) । इसी प्रकार ईसा की मृत्यु के पश्चात् ईसा का भूत भी दुष्ट शावेल को त्रस्त करता है—

शावेल—(भयभीत) अरे ! यह—ईसा ? हां वही तो ! वही है ! यह यहां कैसे आया ? समाधि से बाहर कैसे आया ? प्रेत होकर ! प्रेत—प्रेत ! वह—वह—उसके हाथों में—क्रूस की कीलों के छिद्र अभी तक बने हुए हैं ! अभी उसमें का रक्त भी नहीं सूखा ! ओह ! कैसी तीव्र—अग्निमयी दृष्टि है । (आँखें मूंद लेता है) इत्यादि ।

(तृतीयांक, बारहवां दृश्य)

अभिनय की दृष्टि से नाटक बहुत सफल है । इसकी रोचकता भी कम नहीं ।

गोविंदवल्लभ पन्त के 'वरमाला' (१९२५) में भूमण्डल के राजा करंधम के पुत्र अवीक्षित और विदिशा की राजकुमारी वैशालिनी के प्रेम की कथा तथा नायिका के प्रेम का सहसा घृणा में और फिर घृणा का सहसा प्रेम में बदल जाने का वर्णन है । अवीक्षित को वैशालिनी से बहुत प्रेम है और वैशालिनी को अवीक्षित से । प्रेमावेश में अवीक्षित एक बार रात को छिपकर उद्यान में वैशालिनी से मिलने जाता है । अवीक्षित के इस अनुचित व्यवहार से ही वैशालिनी का प्रेम तत्क्षण घृणा में बदल जाता है और वह कहती है—**"प्रेम करती हूँ; लेकिन तुमसे नहीं, तुम्हारी घृणा से"** (प्रथमांक, प्रथम दृश्य) ।

दूसरे दिन वैशालिनी के स्वयंवर के अवसर पर वैशालिनी के किसी राजकुमार के गले में वरमाला डालने से पूर्व ही अवीक्षित बलपूर्वक वैशालिनी का अपहरण कर लेता है । मार्ग में वह फिर वैशालिनी से उसके प्रेम की भिक्षा माँगता है, परन्तु अभी तक वैशालिनी के हृदय से घृणा का भाव तिरोहित नहीं हुआ । इस अवस्था में दो घटनाएँ होती हैं जिनके कारण वैशालिनी की घृणा फिर से प्रेम में परिणत हो जाती है । अवीक्षित नदी पर पानी लेने के लिए जाता है । वहाँ एक मगर उसको निगलने के लिए दौड़ता है और तब वशालिनी तीर से मगर को मारकर अवीक्षित की रक्षा करती है । इस घटना

के कुछ क्षण बाद ही वैशालिनी का पिता राजा विशाल अपनी सेना सहित वहाँ पहुँच जाता है, और वे लोग अवीक्षित पर आक्रमण कर देते हैं। अवीक्षित अकेला और निःशस्त्र है, अतः वह बन्दी बना लिया जाता है। इन दो घटनाओं से वैशालिनी की घृणा का लोप होकर फिर से प्रेम का भाव जागृत हो जाता है। वैशालिनी के पिता अवीक्षित को बन्दी बनाकर अपनी राजधानी में ले जाते हैं। वहाँ वैशालिनी बड़े प्रेम और सावधानी के साथ उसकी सेवा-शुश्रूषा करती है। अन्त में अवीक्षित के घाव भर जाते हैं और वह स्वस्थ हो जाता है। परंतु अब अवीक्षित के विचारों में एकदम परिवर्तन हो जाता है। वह स्वाभिमानवश अपने-आपको वैशालिनी के प्रेम के योग्य नहीं समझता, क्योंकि वह अपने को वैशालिनी के पिता का बन्दी होने के कारण वैशालिनी की अनुकम्पा का पात्र और अति तुच्छ समझने लगता है। वैशालिनी की घृणा ने तो फिर से अवीक्षित के लिए प्रेम का रूप धारण कर लिया, परन्तु अवीक्षित के प्रेम का अब सहसा लोप हो गया। वह संवाद बड़ा ही सबल और प्रभावोत्पादक है जिसमें अवीक्षित अपने-आपको वैशालिनी के अयोग्य सिद्ध करता है—

अवीक्षित—छोड़ दो, मेरा स्पर्श न करो। (नेपथ्य में किसी के आने की आहट होती है···) जिस तरह पूर्व और पश्चिम नहीं मिल सकते, उसी तरह हम एक दूसरे से भिन्न हैं। जितनी दूर बौने के हाथों से चन्द्रमा है, तुम मुझसे उतनी ही दूर हो !

(एकाएक करंधम और विशाल का प्रवेश)

विशाल—नहीं-नहीं, इतना ही समीप, जितना चन्द्रमा के समीप चांदनी।·······································

करंधम—क्या इस समय भी किन्तु की आवश्यकता होगी ? कौन कह सकता है कि यह जोड़ी एक दूसरे के उपयुक्त नहीं है।

अवीक्षित—मैं कह सकता हूँ। मैं किसी प्रकार वैशालिनी के उपयुक्त नहीं हूँ।

विशाल—क्यों ?

अवीक्षित—क्योंकि मैं कायर हूँ, युद्ध में पराजित आपका बंदी हूँ। (करंधम से) पिता जी, मैं कुपुत्र हूँ, मैंने आपके गौरव को कलंकित किया है। मैं वैशालिनी के योग्य नहीं, वैशालिनी मेरे लायक़ नहीं। इत्यादि। (प्रथमांक, चतुर्थ दृश्य)

आख़िर अवीक्षित वैशालिनी के भवन को छोड़कर चला जाता है। परंतु वैशालिनी उसके वियोग को सहन नहीं कर सकती। अतः वह भी राजभवन

को त्याग कर चली जाती है और बनों में नाना प्रकार के कष्ट झेलती है। उधर अवीक्षित भी बनों में घूमता फिरता है। जंगल में एक बार एक राक्षस वैशालिनी को पकड़ना चाहता है, और अवीक्षित राक्षस से उसकी रक्षा करता है। (तृतीयांक, तृतीय दृश्य)। यहाँ फिर वैशालिनी अवीक्षित से प्रेम की भिक्षा मांगती है, और इस बार उसकी प्रार्थना स्वीकृत हो जाती है। इस पर वह उसी पुरानी मुरझाई हुई वरमाला को अवीक्षित के गले में डाल देती है और दोनों प्रेमी फिर से मिल जाते हैं।

इस धारा के अन्य नाटकों की अपेक्षा 'वरमाला' का कथानक सरल और सुलझा हुआ है। अवीक्षित और वैशालिनी के चरित्र भी सफलता के साथ अंकित किये गये हैं। संवादों में भी सजीवता और शक्ति है। कई स्थलों पर तो कथोपकथन कवित्वमय हो गये हैं, जैसे—

अवीक्षित—किन्तु तुम्हारे उपवन में जब पुष्प-भंडार लेकर वसन्त आता है, तब तो उसे कोई प्रहरी नहीं रोकता। जब कल कूजन के साथ कोकिला आती है, तब ये प्रहरी कहाँ रहते हैं? वर्षा के साथ जब पावस के उमड़े हुए मेघ यहाँ की द्रुम-गुल्म-लताओं को सींचने के लिए आते हैं, तो उनका निषेध क्यों नहीं किया जाता? जब तुषार को लेकर शिशिर तुम्हारे उपवन में प्रवेश करता है, तो उसे भी कोई बाधा नहीं पहुँचाता। इत्यादि। (प्रथमांक, प्रथम दृश्य)

वैशालिनी के इस भाषण में भी विशेष प्रभाव है जिसमें वह पुरुष और स्त्री के स्वभाव में के अन्तर को स्पष्ट करती है—

वैशालिनी—यह तुम अपने स्वभाव का परिचय दे रहे हो। मनुष्य जिसे प्यार करता है उस पर दया नहीं करता; जिस पर दया करता है उसे प्यार नहीं करता। राम ने सीता को प्यार किया, लेकिन उस पर दया नहीं की। जब वह सुकुमारप्राणा गर्भवती थी, उसे भीषण दंड दे वनवासिनी बना दिया। दुष्यन्त ने शकुन्तला पर दया की किन्तु उसे प्यार नहीं किया। जब वह दुष्यन्त का आश्रय ग्रहण करने आई, तो उसने पत्थर से भी अधिक कठोर होकर उस कोमलांगी का परित्याग किया। किन्तु नारी—नारी जिसे प्यार करती है, उस पर दया भी करती है। जिस पर दया करती है, उसे प्यार भी करती है।

(प्रथमांक, चतुर्थ दृश्य)

पंत जी कई वर्षों तक 'व्याकुल भारत' कंपनी के हाँ नाटककार के रूप में काम कर चुके थे इसलिए रंगमंच-संबंधी बातों का यथेष्ट परिचय होने के कारण

उनका यह नाटक (उनके अन्य नाटकों की भाँति) सफलतापूर्वक अभिनीत हो सकता है। दूसरे, क्योंकि यह नाटक थिएट्रिकल कंपनी के लिए लिखा गया है, इसलिए इसमें थिएट्रिकल नाटकों का वातावरण और प्रभाव स्पष्ट है (उदाहरण के लिए तृतीय अंक के विविध उपदृश्यों में)।

जगन्नाथप्रसाद 'मिलिंद' का 'प्रताप-प्रतिज्ञा' (१९२८) भी एक सफल ऐतिहासिक नाटक है। इसका आरंभ विलासी जगमल की पदच्युति के पश्चात् प्रताप के राज्याभिषेक से होता है, तथा अन्त प्रताप की मृत्यु के दृश्य के साथ होता है। राजपूत राजा जिनमें परस्पर की फूट का रोग घर कर चुका है, शीघ्र ही अकबर की कूटनीति का शिकार बन जाते हैं। किन्तु प्रताप का हृदय सच्ची देशभक्ति और आदर्श वीरता की भावनाओं से ओतप्रोत है। जब उनको मातृभूमि की प्रतिष्ठा की रक्षा का भार सौंपा जाता है, तो अपने कर्तव्य की व्याख्या करते हुए वे कहते हैं—

> **प्रताप—आपके आग्रह के आगे सिर झुकाना मेरा धर्म है। मैं खूब जानता हूँ वीरो, यह कांटों का ताज है। शूलों की सेज है, न्याय की दुधारी तलवार है, त्याग का सर्वोच्च शिखर है। यह मुकुट नहीं कर्तव्य है। जितना उज्ज्वल है, उतना ही कटु है। यह प्रभुता का चिह्न नहीं, सेवा का निशान है; राजकुमारों का विलास नहीं, वीरों का बलिदान है।** इत्यादि, इत्यादि।

अपने शक्तिशाली शत्रु के साथ संघर्ष में उनका सब कुछ छिन जाता है, परन्तु वह वीरता, साहस और धैर्य के साथ सारी परिस्थितियों का सामना करते हैं। अपने आदर्श के लिए वह सब कुछ न्यौछावर करने को तत्पर हैं। पत्नी और बच्चों के प्रतिदिन के कष्टों को देखकर एक बार वे क्षणभर के लिए विचलित अवश्य होते हैं, परन्तु फिर शीघ्र ही सँभल जाते हैं। अकबर का चरित्र भी विविध रंगों में चित्रित किया गया है। एक ओर वह हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच एकता स्थापित करने का इच्छुक तथा तदर्थ प्रयत्नशील है। दूसरी ओर वह एक चतुर नीतिज्ञ की भाँति यह भी जानता है कि युद्ध सदा बल और वीरता से ही जीते नहीं जाते, उसके लिए शक्ति की अपेक्षा भेदनीति अधिक उपयोगी है, और वह अधिकतर इसी नीति का आश्रय लेता है। प्रताप और अकबर के अतिरिक्त शक्तिसिंह और अमरसिंह के चरित्रों का चित्रण भी अच्छा हुआ है।

नाटककार ने अपने नाटक का विषय अपने समय के लोगों, विशेषत: युवकों, के हृदय में राष्ट्रीय चेतना को जाग्रत करने तथा उनमें वीर रस का

संचार करने के लिए चुना है। नाटक में अनेक स्थलों पर स्वदेश-प्रेम की भावना ज़ोर से मुखरित हो उठी है, और नाटक की अनेक घटनाओं, उदाहरण के लिए प्रताप की प्रतिज्ञा तथा चरित्र, राजपुरोहित की आत्म-हत्या, भामाशाह का अपूर्व त्याग और स्वामिभक्ति आदि का केवल नाटकीय महत्त्व ही नहीं है, वरन् उनमें देशवासियों के लिए देश पर बलिदान होने का ज्वलन्त संदेश निहित है।

नाटक की वस्तु का विकास बड़े स्वाभाविक और सुचारु रूप से हुआ है। संवादों में सजीवता, शक्ति और वेग है तथा भाषा में भी ओज और प्रभाव है। यह नाटक बड़ी उत्कृष्ट रचना है और इसका अभिनय सफलतापूर्वक हो सकता है।

चौदहवां अध्याय

जयशंकर प्रसाद के ऐतिहासिक नाटक

अब हम श्री जयशंकर प्रसाद के ऐतिहासिक तथा पौराणिक नाटकों पर विचार करेंगे। कतिपय दोषों के होते हुए भी (जिनका उल्लेख अध्याय के अन्त में किया जायगा) इस काल के ऐतिहासिक नाटकों में इन नाटकों का अपना विशिष्ट महत्त्व और स्थान है। इन नाटकों में हिन्दी-नाट्यकला का चरमोत्कर्ष मिलता है। नाटककार के रूप में प्रसाद जी का रचनाकाल सन् १९१० से आरम्भ होता है। पहले चार वर्षों में उन्होंने ये चार छोटे-छोटे रूपक लिखे—'सज्जन' (१९१०–११), 'कल्याणी-परिणय' (१९१२), 'करुणालय' (१९१२) और 'प्रायश्चित्त' (१९१४)। इन सभी नाटकों में केवल एक-एक अंक ही है।

'सज्जन' के कथानक का आधार महाभारत की एक घटना है। जब पांडव वन में अपने द्वादश वर्ष के अज्ञातवास के दिन काट रहे थे, तब दुर्योधन और उसके साथी उनको चिढ़ाने के लिए उस वन में जाते हैं। संयोगवश वहाँ उस जंगल के स्वामी चित्ररथ गंधर्व के साथ उनका युद्ध हो जाता है, जिसके फलस्वरूप दुर्योधन चित्ररथ द्वारा बन्दी कर लिया जाता है। जब साधु-स्वभाव युधिष्ठिर को इस बात का ज्ञान होता है, तो वे तुरन्त अर्जुन को दुर्योधन को मुक्त कराने के लिए भेजते हैं, और दुर्योधन अपने 'सज्जन' भाइयों की सहायता से चित्ररथ के बंधन से मुक्त होता है।

'कल्याणी-परिणय' में चन्द्रगुप्त मौर्य के सिल्यूकस को परास्त करने तथा उसकी पुत्री कल्याणी से विवाह करने का ऐतिहासिक वृत्त है। 'करुणालय' साधारण-सा गीति-नाटक है जिस पर हम आगे[1] चल कर दूसरे गीति-नाटकों के साथ ही विचार करेंगे। 'प्रायश्चित्त' का कथानक राजपूत इतिहास से सम्बन्ध रखता है। देशद्रोही जयचन्द पहले तो पृथ्वीराज की पराजय और मृत्यु पर हर्षान्वित होता है; परन्तु दो विद्याधरियों के द्वारा भर्त्सना किये जाने पर वह यवन-शत्रु मुहम्मदग़ौरी को अपने दामाद पृथ्वीराज के विरुद्ध सहायता देने के पापकर्म का प्रायश्चित्त करने का निश्चय करता है और अन्त में गंगा में कूद कर आत्महत्या कर लेता है।

कलात्मक दृष्टि से प्रसाद जी की इन आरम्भकालीन रचनाओं का विशेष

१. देखिए बाईसवां अध्याय।

महत्त्व नहीं है, क्योंकि इनमें नाटककार की वस्तु-संगठन अथवा चरित्र-चित्रण की कुशलता एवं प्रतिभा का परिचय नहीं मिलता। प्रसादजी ने इन नाटकों में इन आवश्यक नाटकीय तत्त्वों का उपयुक्त निर्वाह किये बिना केवल विभिन्न घटनाओं को इकट्ठा करके नाटक का रूप दे दिया है। फिर भी इन आरम्भकालीन रचनाओं का अपना ही महत्त्व है। इनके तुलनात्मक अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि नाटककार इनमें अपनी नाटकीय कला के क्षेत्र में विविध प्रयोग कर रहा है जिससे कि वह किसी निश्चित परिणाम पर पहुँच सके। उदाहरण के लिए 'सज्जन' और 'कल्याणी-परिणय' में उसने प्राचीन पद्धति के अनुसार नान्दी, प्रस्तावना और भरतवाक्य आदि का प्रयोग किया है परन्तु 'प्रायश्चित्त' में इन बातों का बहिष्कार कर दिया गया है। फिर 'सज्जन' और 'कल्याणी-परिणय' में कथोपकथन के बीच पद्य का प्रयोग किया गया है, परन्तु 'प्रायश्चित्त' में इसका भी प्रायः अभाव है, मानों लेखक ने पद्य का परित्याग 'सज्जन' और 'कल्याणी-परिणय' नाटकों के प्रयोग के पश्चात् किया हो। इसके अतिरिक्त 'प्रायश्चित्त' में नाटककार ने भाषा में पात्रों के अनुकूल परिवर्तन कर दिया है। इस नाटक में मुसलमान पात्र फ़ारसी-मिश्रित उर्दू बोलते हैं,जैसे—

मुहम्मद—बहादुर शफ़क़त ? आज सचमुच हिन्दोस्तान हलाली झंडे के नीचे आ गया और यह सब तो एक बात है, दर असल ख़ुदाए पाक को ज़ीनत देना मंजूर है। नहीं तो भला इन फ़ौलादी देवज़ादे हिन्दुओं पर फ़तह पाना क्या मुमकिन था ?

स्पष्ट है कि यह भी भाषा-विषयक एक प्रयोग मात्र है, क्योंकि प्रसादजी के बाद के नाटकों में इस भाषा-भेद का बहिष्कार करके सभी पात्रों के लिए, चाहे वे भारतीय हों अथवा विदेशीय, एक ही भाषा (संस्कृत-मिश्रित हिन्दी) का प्रयोग किया गया है। 'करुणालय' में भी हमें एक और प्रयोग का परिचय मिलता है। इसमें नाटककार ने अतुकान्त गीति-नाट्य लिखने का प्रयास किया है। नाटक का यह प्रकार (type) प्रसादजी से पूर्व हिन्दी-साहित्य में नहीं मिलता और प्रसाद जी ने नई वस्तु के लोभ के कारण यह प्रयोग किया। किन्तु एक ही नाटक के पश्चात् इस प्रकार का भी परित्याग कर दिया गया और 'करुणालय' के पश्चात् उन्होंने और कोई गीति-नाटक नहीं रचा। इसके अतिरिक्त जहाँ प्रसाद जी ने 'प्रायश्चित्त' में दो विद्याधरियों की अवतारणा करके अतिप्राकृतिक तत्त्व का उपयोग किया है, वहाँ बाद के नाटकों में उन्होंने अतिप्राकृतिक तत्त्व का समावेश नहीं किया, यहाँ तक कि 'जनमेजय का नागयज्ञ' जैसे पौराणिक नाटक में भी अतिप्राकृतिक तत्त्व का उपयोग नहीं किया गया।

इस प्रकार प्रसाद जी के आरम्भकालीन नाटकों का महत्त्व और उपयोगिता विशेष रूप से यही है कि इनके द्वारा नाटककार अपनी कला को निश्चित करने से पूर्व इस क्षेत्र में विविध प्रयोग करता दिखाई देता है। प्रसाद जी की नाटकीय कला के क्रमिक विकास में ये आवश्यक कड़ियाँ हैं। अपने प्रौढ़ एवं प्रसिद्ध नाटकों ('चन्द्रगुप्त', 'स्कन्दगुप्त' और 'अजातशत्रु' आदि) की रचना करने से पूर्व प्रसाद जी ने नाट्य-कला के क्षेत्र में ये विविध प्रयोग किये। इन विभिन्न प्रयोगों से अनुभव प्राप्त करके उन्होंने अपने लिए एक निश्चित मार्ग प्रशस्त कर लिया और अपने वाद के नाटकों में एक ही पद्धति को अपनाया। इन आरम्भकालीन नाटकों में हमें एक बात का संकेत अवश्य मिल जाता है कि उनके रचयिता की प्रवृत्ति निश्चित रूप से ऐतिहासिक है।

प्रसाद जी के अगले नाटक 'राज्यश्री' (१९१५) में प्रसाद जी की यह ऐतिहासिक प्रवृत्ति और भी स्पष्ट तथा सबल हो उठी है। इस नाटक के दूसरे संस्करण की भूमिका में प्रसाद जी ने इसे अपना पहला ऐतिहासिक नाटक कहा है। इससे इस कथन का समर्थन हो जाता है कि पहले चार नाटक केवल प्रयोग मात्र थे और पहली वार इस नाटक में प्रसाद जी अपने मार्ग और नीति को निश्चित कर सके हैं। इस नाटक के लिखने में प्रसाद जी का उद्देश्य राज्यश्री के चरित्र को महत्त्व देना है। नाटक की वस्तु को बाण के 'हर्षचरित' तथा ह्यूनसांग के भारत-वर्णन से संकलित किया गया है। नाटक के प्रथम तथा द्वितीय संस्करण का तुलनात्मक अध्ययन बड़ा मनोरंजक एवं उपयोगी है। 'राज्यश्री' के प्रथम संस्करण तथा प्रसाद जी के ऊपर लिखे चार नाटकों में पर्याप्त समानता दिखाई देती है। इस संस्करण में नान्दी तथा भरतवाक्य का उपयोग किया गया है और वार्तालाप के बीच में कहीं-कहीं पद्य का प्रयोग भी किया गया है। किन्तु दूसरे संस्करण में इन बातों का वहिष्कार कर दिया गया है। प्रथम संस्करण में नरेन्द्रगुप्त की मृत्यु भी दिखाई गई है। परन्तु इतिहास द्वारा इस घटना की पुष्टि न होने के कारण दूसरे संस्करण में इसे निकाल दिया गया है। द्वितीय संस्करण में एक अंक (चतुर्थ) की वृद्धि तथा कई एक नये दृश्यों तथा कई नये पात्रों (ह्यूनसांग, पुलकेशिन, सुरमा आदि) की भी अवतारणा की गई है। पहले संस्करण की अपेक्षा दूसरे संस्करण में प्रसाद जी ने वस्तु-संगठन तथा चरित्र-चित्रण में भी अधिक सावधानी और योग्यता का परिचय दिया है।

'राज्यश्री' लिखने के छः वर्ष पश्चात् प्रसाद जी ने 'विशाख' (१९२१) की रचना की। इस नाटक में उनका दृष्टिकोण और भी अधिक निश्चित दिखाई देता है। नाटक की भूमिका में प्रसाद जी लिखते हैं—

"क्योंकि हमारी गिरी दशा को उठाने के लिए हमारे जलवायु के अनुकूल जो हमारी अतीत सभ्यता है उससे बढ़कर उपयुक्त और कोई भी आदर्श हमारे अनुकूल होगा कि नहीं इसमें मुझे पूर्ण सन्देह है।···मेरी इच्छा भारतीय इतिहास के अप्रकाशित अंश में से उन प्रकांड घटनाओं का दिग्दर्शन कराने की है जिन्होंने हमारी वर्तमान स्थिति को बनाने का बहुत प्रयत्न किया है।"

इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए प्रसाद जी ने कई ऐतिहासिक नाटकों की रचना की, और 'विशाख' को इस श्रृंखला की पहली कड़ी कहा जा सकता है। इस नाटक का कथानक कल्हण की 'राजतरङ्गिणी' (प्रथम तरंग, श्लोक १९७–२७६) से लिया गया है और यह बौद्ध इतिहास के पतन-काल से संबंध रखता है। नाटक का नायक विशाख अपनी शिक्षा समाप्त करके जब घर लौट रहा है तो मार्ग में उसे चन्द्रलेखा (नाटक की नायिका), जिसे उद्धत बौद्ध भिक्षु ने तनिक से अपराध के कारण बन्दी कर लिया था, की सहायता और सेवा करने का अवसर मिलता है। विशाख चन्द्रलेखा को छुड़ाने के लिए राजा प्रार्थना करता है और उसे छुड़ाने में सफल होता है। भिक्षु के विहार को आग लगा दी जाती है। विशाख के हृदय में चन्द्रलेखा के लिए प्रेम अंकुरित हो जाता है और तदनन्तर उसके साथ उसका विवाह भी हो जाता है।

राजा नरदेव के हृदय में भी चन्द्रलेखा के लिए वासना जागृत होती है परन्तु चन्द्रलेखा उसके प्रेम को ठुकरा देती है। राजा की आज्ञा से उसका विदूषक महापिंगल चन्द्रलेखा के अपहरण के लिए जाता है, किन्तु विशाख के हाथों अपने प्राण गँवाता है। इस पर राजा अपने सिपाहियों को आज्ञा देता है कि वे चन्द्रलेखा को बलपूर्वक पकड़ लायें। राजा के सैनिक विशाख और चन्द्रलेखा दोनों को क़ैद करके ले जाते हैं। अब जनता में विद्रोह की आग भड़क उठती है। राजप्रासाद को आग लगा दी जाती है और इसी संघर्ष में राजा भी घायल हो जाता है। अन्त में राजा विशाख और चन्द्रलेखा से क्षमा मांग कर अपनी प्राण-रक्षा करता है और अपना राज्य पुत्र को सौंप कर स्वयं साधु हो जाता है।

यद्यपि यह रचना प्रसाद के पहले नाटकों की अपेक्षा कुछ प्रौढ़ है, फिर भी इसमें अनेक दोष हैं। सर्वप्रथम तो लेखक ने वस्तु के संगठन में विशेष कुशलता और सावधानी से काम नहीं लिया। नाटक प्रायः दो स्वतन्त्र भागों में बाँटा जा सकता है, जिनका विशेष पारस्परिक सम्बन्ध नहीं है। पहले भाग की समाप्ति नायक-नायिका के विवाह पर हो जाती है और तदनन्तर दूसरे भाग का आरम्भ होता है। वार्तालाप के बीच कहीं-कहीं कविता का भी प्रयोग किया गया

है और कई स्थलों पर तो गद्य भी तुकांत-सा हो गया है (उदाहरण के लिए)

'मिट्टी के बर्तन थोड़ी ही आंच में तड़क जाते हैं। नये पशु एक ही प्रहार से भड़क जाते हैं।' अथवा 'तुम्हें प्रश्न करने का क्या अधिकार ? क्या आतिथ्य का यही प्रतिकार है' इत्यादि।

चरित्र-चित्रण में भी कोई प्रौढ़ता दिखाई नहीं देती। गीतों की बहुलता भी खटकने लगती है। इसके अतिरिक्त भाषा को क्लिष्ट और आलंकारिक बनाने की प्रवृत्ति भी इस नाटक में दृष्टिगोचर होने लगती है, यद्यपि इस क्लिष्टता के कारण कथोपकथन की स्वाभाविकता प्रायः नष्ट हो जाती है।

वास्तव में प्रसाद जी की प्रौढ़ और यथार्थ नाट्यकला के दर्शन हमें सर्वप्रथम 'अजातशत्रु' (१९२२) में होते हैं। इस नाटक का कथानक भगवान् बुद्ध के काल के इतिहास से सम्बन्ध रखता है। मगध के राजा बिम्बसार की दो रानियां हैं— वासवी और छलना। छलना के स्वार्थमय और षड्यन्त्र-प्रिय स्वभाव के कारण उसका पुत्र अजातशत्रु अपने पिता सम्राट् बिम्बसार को अपने पक्ष में राज्योत्सर्ग करने को विवश करता है। बिम्बसार राजभवन को छोड़कर आश्रम में निवास करने लगते हैं। बिम्बसार की सती और पतिपरायणा पत्नी वासवी इस संकट-काल में पति का साथ देती है, और पति के साथ ही आश्रम में रहती है। काशी प्रान्त वासवी के पिता कोसल-नरेश ने पुत्री को दहेज़ में दिया था। उसकी आय वासवी अपने पति को दे देती है। इस पर मगध और कोसल में युद्ध छिड़ जाता है।

उधर कोसल में भी षड्यन्त्र चल रहे हैं। अजातशत्रु के समान वहाँ भी राजकुमार विरुद्धक अपने पिता के विरुद्ध विद्रोह करता है और कोसल के सेनापति बन्धुल की हत्या कर देता है। तीसरे, वासवी की पुत्री पद्मावती कौशाम्बी के राजा उदयन से ब्याही हुई है और उदयन के अन्तःपुर में भी षड्यन्त्र चल रहे हैं। अन्त में कोसल के राजा प्रसेनजित् और कौशाम्बी के राजा उदयन दोनों मिलकर मगध पर आक्रमण कर देते हैं और अजातशत्रु बन्दी बना लिया जाता है। बन्दीगृह में कोसल की राजकुमारी वाजिरा का अजातशत्रु से प्रेम हो जाता है, और फिर वासवी के अनुरोध से अजात और वाजिरा का विवाह हो जाता है। कथानक का विकास होता जाता है और बाद में अजातशत्रु के घर पुत्र का जन्म होता है। अब स्वयं पिता बनने पर अजातशत्रु को पिता के मन की दशा का ज्ञान होता है और वह अपने पिता बिम्बसार के पास जाकर उनसे अपने अपराधों के लिए क्षमाप्रार्थी होता है।

जिन प्रौढ़ ऐतिहासिक नाटकों पर प्रसाद की अमर कीर्ति निर्भर है, उस नाटक-श्रृंखला में 'अजातशत्रु' पहली कड़ी है। यद्यपि इस नाटक का कथानक

बहुत जटिल है, फिर भी प्रतिभाशाली नाटककार ने इसके संगठन में बड़ी शक्ति और कौशल का परिचय दिया है। चरित्र-चित्रण में भी पहले की अपेक्षा अधिक प्रौढ़ता है। अन्तर्द्वन्द्व भी बिम्बसार और वासवी आदि के चरित्रों में बड़ी सफलता के साथ चित्रित किया गया है। वासवी और मल्लिका के चरित्र बड़े उज्ज्वल बन पड़े हैं। दूसरी ओर छलना का चरित्र बड़ा घृणित और कुत्सित है। अजातशत्रु के अधिकतर बुरे कर्मों के लिए वही उत्तरदायी है। भाषा पर भी लेखक का यथेष्ट अधिकार है किन्तु कई स्थलों पर तो बिम्बसार आदि कुछ पात्रों के सम्भाषण बड़े कवित्वपूर्ण और दार्शनिक हो गये हैं। भावुकता का रंग गद्य और पद्य दोनों पर इसी नाटक से आरम्भ होता है। इससे नाटक की सौंदर्यवृद्धि अवश्य हो जाती है, किन्तु कवित्वपूर्ण और दार्शनिक संवादों को रंगमंच पर अभिनय के समय भली-भाँति समझना साधारण आदमी के लिए कठिन होगा। गीतों की योजना भी अनेक स्थलों पर की गई है और कई जगह तो गीत व्यर्थ ही ठोंस दिये गये हैं। गौतम तथा बिम्बसार की उक्तियों पर रहस्यवाद की छाप है। बन्दीगृह में वाजिरा का स्वगत-गान (तृतीयांक, द्वितीय दृश्य) भी स्वाभाविकता की दृष्टि से भारी भूल है।

'अजातशत्रु' के पश्चात् 'कामना' की सन् १९२३–२४ में रचना हुई, परन्तु यह नाटक १९२७ में प्रकाशित हुआ। यह प्रतीकवादी (allegorical) नाटक है, अतः इसका उल्लेख अन्यत्र[1] किया जायगा।

'जनमेजय का नागयज्ञ' उत्तर-महाभारत-काल की कुछ घटनाओं को लेकर रचा गया है। इसका नायक अर्जुन के पौत्र परीक्षित का पुत्र जनमेजय है। परन्तु नाटक का कथानक यद्यपि अति प्राचीन काल से सम्बन्ध रखता है, फिर भी नाटककार ने इसका निर्वाह ऐतिहासिक नाटकों की पद्धति पर किया है और कथानक को पौराणिक की अपेक्षा ऐतिहासिक रंग देने का प्रयास किया है। प्रसाद जी ने इस नाटक के कथानक के लिए कई पुराणों, ब्राह्मण-ग्रन्थों तथा महाभारत का मन्थन किया[2] है और कुछ अंश अपनी कल्पना से भी बढ़ाया है। नाटक का मुख्य विषय दो परस्पर विरोधी जातियों—आर्यों और नागों—के बीच संघर्ष का चित्रण है। आर्य-सम्राट् जनमेजय ने भूल से एक ब्राह्मण की हत्या कर दी। इस ब्रह्महत्या का प्रायश्चित्त करने के लिए एक यज्ञ की व्यवस्था की गई। इसी बीच नागों तथा आर्यों के बीच संघर्ष हो गया और जनमेजय ने उस यज्ञ में नागों की आहुति देने की आज्ञा दी। अन्त में दोनों जातियों में प्रयत्नपूर्वक शांति स्थापित की गई और आर्य-सम्राट् जनमेजय का

१. देखिए सोलहवाँ अध्याय। २. देखिए नाटक की भूमिका।

विवाह नाग-राजकुमारी मणिमाला से हो गया।

इस नाटक की कथावस्तु भी बड़ी जटिल है, परन्तु नाटककार ने बड़ी सावधानी और कुशलता के साथ इसे उलझने से बचाया है। पात्रों की संख्या बहुत अधिक है, इस कारण नाटककार चरित्र-चित्रण में विशेष सफल नहीं हो सका। अपने अन्य प्रौढ़ तथा श्रेष्ठ नाटकों ('अजातशत्रु', चन्द्रगुप्त' आदि) की भाँति इस नाटक में भी नाटककार ने (आर्यों तथा नागों के बीच होने वाले) संघर्ष की ओर पहले दृश्य में ही संकेत कर दिया है। नाटक का विभाजन बिना किसी वैज्ञानिक व्यवस्था के अंकों तथा दृश्यों में कर दिया गया है। इनमें कोई विशेष परस्पर संबंध नहीं है। इस नाटक में कविता की मात्रा बहुत कम है और उसमें दार्शनिकता अथवा रहस्यवाद का प्रभाव विशेष नहीं है।

प्रसाद जी का अगला नाटक 'स्कन्दगुप्त' (१९२८) गुप्तवंश के सम्राट् स्कन्दगुप्त के जीवन की घटनाओं को लेकर रचा गया है। कुमारगुप्त की मृत्यु पर उनकी एक रानी अनन्तदेवी, जो कि पुरगुप्त की माता है, स्कन्दगुप्त की माता के जीवन का अन्त करने की चेष्टा करती है जिससे कि उसका और उसके पुत्र पुरगुप्त का मार्ग निष्कंटक हो जाय किन्तु स्कन्दगुप्त के ठीक समय पर पहुँच जाने के कारण अनन्तदेवी से उसकी मां की रक्षा हो जाती है। अब उज्जयिनी में स्कन्दगुप्त सम्राट् घोषित कर दिया जाता है, और तत्पश्चात् शीघ्र वह शकों तथा अन्य विद्वेषी राजाओं को परास्त करता है। स्कन्दगुप्त की निरंतर विजयों से उसकी विमाता अनन्तदेवी के हृदय में ईर्ष्या की आग भड़क उठती है और वह हूणों के साथ मिलकर स्कन्द को नष्ट करने के षड्यंत्र रचती है। भटार्क की अध्यक्षता में मगध की सेना के धोखा देने के कारण स्कन्दगुप्त की हूणों के आगे हार होती है परन्तु शीघ्र ही देशभक्त योद्धा स्कन्दगुप्त की अध्यक्षता में पुनः एकत्रित हो जाते हैं और इस बार हूणों को पूर्णतया परास्त कर दिया जाता है। स्कन्दगुप्त आजीवन कुमारत्व का व्रत लेता है और पुरगुप्त को युवराज बनाया जाता है।

कला और नाट्य-विधान (टेकनीक) की दृष्टि से प्रसाद के नाटकों में 'स्कन्दगुप्त' सर्वश्रेष्ठ कहा जाता है। नाटककार ने वस्तु-संगठन में, चरित्र-चित्रण में, कथोपकथन में तथा उस काल का वातावरण उपस्थित करने में बड़े परिश्रम और प्रतिभा से काम लिया है, और उसे इन सब में बड़ी सफलता मिली है। इसके अतिरिक्त इस नाटक में भारतीय तथा पाश्चात्य नाट्य-सिद्धान्तों का सुन्दर समन्वय मिलता है। एक ओर पाश्चात्य सिद्धान्तों के अनुसार इस नाटक में कार्य (action) तथा संघर्ष (conflict) की प्रचुरता है दूसरी ओर

भारतीय नियम के अनुसार रस का भी यथेच्छ प्रवाह मिलता है। नाटककार ने स्कन्दगुप्त तथा देवसेना के चरित्रों का चित्रण विशेष सावधानी के साथ बड़े सुन्दर ढंग से किया है। नाटक के इन दोनों प्रमुख पात्रों में उसने आदर्श और यथार्थ का अपूर्व समन्वय प्रस्तुत किया है। अपने राष्ट्रीय जीवन में इन दोनों का चरित्र आदर्श है तथा इनकी सुजनता, देशभक्ति, आत्म-बलिदान तथा कर्तव्य-पालन की भावनाएँ आदर्श अथवा आदर्शोन्मुख हैं। परन्तु इनके व्यक्तिगत जीवन का चित्रण स्वाभाविक तथा यथार्थता के अनुकूल है। आदर्श होते हुए भी उनके पास हृदय है और हृदय में फूल-जैसी कोमलता भी है। उसमें साधारण-जनोचित भावनाओं और संवेदनाओं का संचार है। इन दोनों पात्रों का जीवन कर्तव्य और भावना के बीच निरन्तर संघर्ष की कहानी है।

'चन्द्रगुप्त' (१९३१) प्रसाद जी का सब से बड़ा नाटक है। इसमें चन्द्रगुप्त मौर्य के जीवन की सभी महत्त्वपूर्ण घटनाओं—चन्द्रगुप्त की सिकंदर से भेंट, चन्द्रगुप्त द्वारा नंदवंश का विध्वंस, उसकी सिल्यूकस पर विजय और सिल्यूकस की पुत्री कार्नेलिया से विवाह आदि—का समावेश है। नाटक का कथानक बहुत ही लम्बा है और इसमें घटनाओं की बड़ी भीड़ है इसलिए कथावस्तु का विकास विशेष कलापूर्ण नहीं हो सका। दूसरे, नाटककार ने ऐतिहासिक घटनाओं का अधिकाधिक मात्रा में समावेश कर सकने के लिए लगभग तीस स्त्री-पुरुष पात्रों को नाटक में स्थान दे दिया है। फलतः जहाँ ऐतिहासिक दृष्टि से नाटक का महत्त्व और उपयोगिता बढ़ गई है वहाँ इसमें नाटकीय कला की दृष्टि से उतना सौंदर्य नहीं आ सका। पात्रों की संख्या अधिक होने के कारण चरित्र-चित्रण भी सुचारु और सम्पूर्ण नहीं हो सका। फिर भी चन्द्रगुप्त, चाणक्य, सिंहरण, अलका, कल्याणी और मालविका के चरित्रों पर पर्याप्त मात्रा में प्रकाश डाल दिया गया है। इसके अतिरिक्त कई एक दृश्यों और पात्रों की अवतारणा व्यर्थ ही, केवल कथानक में घटना-वैचित्र्य लाने के उद्देश्य से, की गई है[1]।

इसके अतिरिक्त चरित्र-चित्रण में कहीं-कहीं असंगति (inconsistency) का दोष भी आ गया है। इस नाटक में दिखाया गया है कि वही वीर क्षत्रिय चंद्रगुप्त जो नंदों के सर्वथा सैनिक-सुरक्षित बन्दीगृह से अकेला चाणक्य को मुक्त करा लाया था (प्रथमांक, सप्तम दृश्य) वही वीर (प्रथमांक, दशम दृश्य में) केवल अधिक चलने के श्रम के कारण अचेत होकर गिर पड़ता है। परन्तु बेचारा ब्राह्मण चाणक्य अभी तक स्वस्थ बना रहता है और इस अवसर पर चन्द्रगुप्त के लिए पानी लेने जाता है। चन्द्रगुप्त को अचेत करने में नाटककार

१. देखिए 'प्रसाद के नाटकों में दोष'।

का उद्देश्य यह है कि वह सिल्यूकस द्वारा सिंह से चन्द्रगुप्त की रक्षा का प्रसंग लाना चाहता है जिससे अन्त में चन्द्रगुप्त सिल्यूक्स के ऋण को याद रखे और उसके बदले में उसको जीवनदान देने की कृपा करे ।

अभिनय के लिए भी यह नाटक बहुत लंबा है । यदि बिना किसी काट-छाँट के इसका ठीक तरह से अभिनय किया जाय तो छः घण्टे से कम नहीं लगेंगे । नाटक में लगभग पच्चीस वर्षों की घटनाएँ इकट्ठी कर दी गई हैं, क्योंकि नाटक का आरंभ सिकंदर के आक्रमण (३२७ ईसापूर्व) के थोड़ी देर बाद होता है और अन्त चन्द्रगुप्त की सिल्यूकस के साथ संधि (३०३ ईसापूर्व) के साथ होता है । नाटक के प्रमुख पात्रों को हम शुरू में कैशोर या युवावस्था में देखते हैं परन्तु नाटक के अन्त में वे अवस्था में तो प्रौढ़ या वृद्ध हो गये हैं किन्तु उनका आचरण युवकों जैसा ही चित्रित किया गया है । इसी कथानक को तनिक विस्तार देकर दो अच्छे नाटक बन सकते थे । नाटककार के लिए यह अधिक उपयुक्त होता यदि वह एक नाटक का अन्त चंद्रगुप्त द्वारा नंदवंश के संहार के दृश्य के साथ कर देता और सिल्यूकस की घटना को एक पृथक् नाटक में तनिक विस्तार देकर रख देता । ऐसा करने से दोनों नाटक सफलतापूर्वक अभिनेय भी हो जाते और एक ही नाटक में पात्रों को युवा तथा वृद्ध दिखाने अथवा वृद्धावस्था में उनके युवावत् आचरण करने के दोष का भी परिहार हो जाता । नाटक का अंतिम (चौथा) अंक शेष सब अंकों से लंबा है । नियमानुसार नाटक के अंक क्रमशः छोटे होते जाने चाहिएँ और दृश्यों की संख्या भी कम होती जानी चाहिए परन्तु इस नाटक में इस नियम की उपेक्षा की गई है ।

इस नाटक में भी नाटककार ने कई स्थलों पर अपनी राष्ट्रीय भावनाओं को मुखरित किया है । इसके अतिरिक्त इस नाटक में भी अनेक बार कर्तव्य और भावुकता के बीच संघर्ष दिखाकर कर्तव्य की विजय दिखाई गई है ।

प्रसाद जी का अंतिम नाटक 'ध्रुवस्वामिनी' (१९३४) एक साथ ऐतिहासिक नाटक तथा समस्या-नाटक बन गया है । इसमें तीन अंक हैं जिनका विभाजन दृश्यों में नहीं किया गया । नाटक के कथानक का आधार विशाखदत्त का 'देवीचन्द्रगुप्तम्' नामक नाटक है । सम्राट् समुद्रगुप्त का अयोग्य उत्तराधिकारी रामगुप्त अपनी पत्नी ध्रुवस्वामिनी के साथ सन्तुष्ट और प्रसन्न नहीं है । उसे ध्रुवस्वामिनी के प्रेम में भी संदेह है । वह बड़ा विलासी और भीरु है और जब शक आक्रमणकारी उससे ध्रुवस्वामिनी के समर्पण की मांग करता है तो वह तुरन्त ही इस मांग को स्वीकार कर लेता है ।

ध्रुवस्वामिनी रामगुप्त से बहुत अनुनय-विनय करती है, उसकी प्रतिष्ठा

और आत्माभिमान के भावों को जागृत करने का यत्न करती है परन्तु रामगुप्त पर किसी बात का कोई असर नहीं होता। आखिर चन्द्रगुप्त ध्रुवस्वामिनी की सहायता को आता है। वह ध्रुवस्वामिनी के साथ स्त्रीवेश में शक-शिविर में जाता है और शकराज की हत्या करके कुशलतापूर्वक लौट आता है। चन्द्रगुप्त के लौटने पर रामगुप्त धोखे से उसकी हत्या करने की चेष्टा करता है, किन्तु स्वयं एक सामन्त के असि-प्रहार से मारा जाता है। अब चन्द्रगुप्त को सम्राट् घोषित किया जाता है और ध्रुवस्वामिनी से उसका विवाह होता है।

इस ऐतिहासिक नाटक में प्रसाद जी ने नारी तथा विवाह की चिरंतन समस्या को प्रस्तुत करके उसका समाधान भी किया है। रामगुप्त और ध्रुव-स्वामिनी अपने विवाह से संतुष्ट नहीं हैं। इसके अतिरिक्त रामगुप्त अपने पति-कर्तव्य को पूरा करने में असमर्थ सिद्ध होता है जब वह ध्रुवस्वामिनी की संकट में रक्षा न करके उसे शत्रु को समर्पण करने की तुरन्त स्वीकृति दे देता है। वह तो ध्रुवस्वामिनी के प्रति अपने पति-कर्तव्य को मानने से ही इन्कार करता है, जैसा कि इस वार्तालाप से स्पष्ट है—

ध्रुवस्वामिनी—...मैं जानना चाहती हूँ कि किसने सुख-दुःख में मेरा साथ न छोड़ने की प्रतिज्ञा अग्निवेदी के सामने की है ?

रामगुप्त—(चारों ओर देखकर) किसने की है, कोई बोलता क्यों नहीं ?

ध्रुवस्वामिनी—तो क्या मैं राजाधिराज रामगुप्त की महादेवी नहीं हूँ ?

रामगुप्त—क्यों नहीं ? परन्तु रामगुप्त ने ऐसी कोई प्रतिज्ञा न की होगी। मैं तो उस दिन द्राक्षासव में डुबकी लगा रहा था। पुरोहित ने न जाने क्या क्या पढ़ा दिया होगा। उन सब बातों का बोझ मेरे सिर पर ? (सिर हिलाकर) कदापि नहीं। (प्रथम अंक)

ध्रुवस्वामिनी के अनुनय तथा अश्रुओं की उपेक्षा करके रामगुप्त उसे शकराज के शिविर में जाने का आदेश देता है। इस प्रकार वह अपने को ध्रुवस्वामिनी के अयोग्य सिद्ध कर देता है। दूसरी ओर चन्द्रगुप्त क्षत्रियोचित वीरता और स्वाभिमान का परिचय देता है और अपने दुःसाहस से वह ध्रुवस्वामिनी की तथा गुप्त-साम्राज्य की रक्षा करता है। इस पर अन्त में राजसभा अपना निर्णय रामगुप्त के विरुद्ध दे देती है, और उसे राज्यच्युत करके चन्द्रगुप्त को राज्य का स्वामी तथा सम्राट् समुद्रगुप्त का सच्चा सुयोग्य उत्तराधिकारी घोषित करती है। इसके अतिरिक्त राजसभा रामगुप्त तथा ध्रुवस्वामिनी के विवाह को अवैध घोषित

करके उनके विवाह-विच्छेद की तथा ध्रुवस्वामिनी और चन्द्रगुप्त के विवाह की अनुमति देती है।

इस प्रकार प्रसाद जी ने इस नाटक में दो समस्याओं का उत्थान किया है और उनका साहसपूर्ण समाधान भी प्रस्तुत किया है। एक तो उन्होंने विशेष कारणों से विशेष परिस्थिति के अधीन विवाह-विच्छेद का समर्थन किया है, जैसा कि हम इन शब्दों में सुनते हैं—

पुरोहित—"'जिसे अपनी स्त्री को दूसरे की अंकगामिनी बनने के लिए भेजने में कुछ संकोच नहीं वह क्लीब नहीं तो और क्या है? मैं स्पष्ट कहता हूं कि धर्मशास्त्र रामगुप्त से ध्रुवस्वामिनी के मोक्ष की आज्ञा देता है।

परिषद के लोग—अनार्य, पतित और क्लीब रामगुप्त साम्राज्य के पवित्र राज्य-सिंहासन पर बैठने का अधिकारी नहीं। (तृतीय अंक)

दूसरी समस्या जिसका हल नाटक में प्रस्तुत किया गया है वह यह है कि यदि कोई शक्तिहीन या कायर राजा प्रजा की तथा राष्ट्र के हित और प्रतिष्ठा की रक्षा करने में असमर्थ सिद्ध हो तो उसे पदच्युत कर देना चाहिए।

प्रसाद के नाटकों का कला-विधान

प्रसाद जी के सभी नाटकों का आधार सांस्कृतिक है। सांस्कृतिक पुनरुत्थान की बलवती चेतना केवल उनके ऐतिहासिक नाटकों में ही दृष्टिगोचर नहीं होती, वरन् उनके प्रतीकवादी नाटक 'कामना' में भी स्पष्ट दिखाई पड़ती है। प्रसादजी के समय में देश राष्ट्रीय विचारों और भावनाओं से आन्दोलित हो रहा था। देशप्रेमी प्रसादजी की प्रतिभा दासता-पीड़ित देश की तत्कालीन राजनीतिक तथा सामाजिक अवस्थाओं से सन्तुष्ट न थी अतः उन्होंने अपने नाटकों द्वारा देश तथा जाति के उज्ज्वल स्वर्णिम अतीत को पुनरुज्जीवित करने का यत्न किया। इस उद्देश्य से उन्होंने भारतवर्ष के प्राचीन इतिहास के भिन्न-भिन्न कालों का गम्भीर अध्ययन और अन्वेषण किया। अपने नाटकों में उन्होंने भारतवर्ष के इतिहास के प्रायः वही काल चुने हैं जिनमें देश की संस्कृति अपने वैभव के सर्वोच्च शिखर पर थी (उदाहरण के लिए चन्द्रगुप्त मौर्य, स्कन्दगुप्त, हर्ष इत्यादि)।

प्रसाद जी के नाटकों के विषय में एक बात जान लेना आवश्यक है। निस्संदेह प्रसादजी पहले नाटककार नहीं थे जिन्होंने हिन्दी में ऐतिहासिक नाटक लिखने की प्रथा चलाई। उनसे पहले भारतेन्दु, राधाकृष्णदास, बद्रीनाथ भट्ट आदि कई नाटककार ऐतिहासिक नाटकों की रचना कर चुके थे। परन्तु फिर भी वे पहले नाटककार थे जिन्होंने अपने ऐतिहासिक नाटकों के कथानक चुनने के लिए

भारतीय इतिहास की गहरी खोज की। जैसा कि उनके नाटकों के (उदाहरण के लिए 'चन्द्रगुप्त', 'अजातशत्रु', 'नागयज्ञ', 'ध्रुवस्वामिनी' इत्यादि के) प्राक्कथनों से ज्ञात होता है, उन्होंने सभी उपलब्ध ऐतिहासिक, साहित्यिक तथा शिलालेखों आदि से प्राप्त होने वाली सामग्री और साक्ष्यों का उपयोग किया है। इतिहास की खोज के साथ-साथ घटनाओं के तारतम्य और सम्बन्ध-निर्वाह के लिए उन्होंने शिलालेखों, ब्राह्मण और पुराण आदि ग्रन्थों से सहायता भी ली। प्रसाद जी से पूर्व ऐतिहासिक नाटकों की रचना करने वाले लेखकों ने अपने कथानकों के लिए उपलब्ध सामग्री की सूक्ष्मरूप से परीक्षा किये बिना अधिकतर प्रचलित कहानियों और दन्तकथाओं को ही स्वीकार कर लिया था। परन्तु प्रसाद जी ने अनुसन्धान से प्राप्त सामग्री का उपयोग करके एक नई परम्परा का सूत्रपात किया।

प्रसाद जी ने चूंकि अपने नाटकों की वस्तु का संकलन और विकास अधिकतर ऐतिहासिक अनुसंधानों के आधार पर किया है, इसलिए उनके ऐतिहासिक नाटकों के मुख्य पात्र और घटनाएँ अधिकतर ऐतिहासिक हैं। परन्तु इससे यह न समझ लेना चाहिए कि प्रसाद जी ने इतिहास को छोड़ अन्य किसी तत्त्व का उपयोग नहीं किया। ऐतिहासिक घटनाओं की कठोरता में कोमलता का पुट देने, पात्रों के ऐतिहासिक चरित्रों को मानवता का परिधान देने और कहीं-कहीं पर ऐतिहासिक तथ्यों के सौंदर्य और रोचकता की वृद्धि करने के लिए उन्होंने अपनी कल्पना का भी समुचित प्रयोग किया है। इस प्रकार जहाँ उनके 'चन्द्रगुप्त' में चन्द्रगुप्त, चाणक्य, सिकन्दर, सिल्यूकस आदि प्रमुख पात्र ऐतिहासिक हैं, वहाँ अलका, मालविका आदि पात्र नाटककार की सृजनशील प्रतिभा के परिणाम हैं। इसी प्रकार 'स्कन्दगुप्त' में देवसेना, जयमाला, विजया आदि पात्र कल्पित हैं और 'नागयज्ञ' के दामिनी और सरमा भी। विभिन्न स्त्रीपात्रों की सृष्टि करके प्रसाद जी ने साहस और षड्यन्त्र, मारकाट और रक्तपात के नाटकों में कोमलता और विश्राम के क्षण उपस्थित करने का प्रयत्न किया है। स्त्रीपात्रों के अतिरिक्त प्रसादजी ने कुछेक पुरुषपात्रों की भी कल्पना की है जैसे 'ध्रुवस्वामिनी' में शिखरस्वामी, 'राज्यश्री' में विकटघोष तथा 'विशाख' में महापिंगल आदि की। नये पात्रों की सृष्टि करने के अतिरिक्त प्रसाद जी ने पात्रों के व्यक्तित्व के संबंध में कुछ और परिवर्तन भी किये हैं। उदाहरण के लिए उन्होंने 'अजातशत्रु' में मागंधी और श्यामा को एक कर दिया है तथा विरुद्धक और शैलेन्द्र को।

पात्रों के समान कई एक प्रसंगों और घटनाओं की अवतारणा भी प्रसाद

जी ने अपनी कल्पना के बल पर की है। इन कल्पित घटनाओं की योजना या तो किसी पात्र की किसी विशेषता का उद्घाटन करने के लिए, या नाटकीय प्रभाव को तीखा करने के लिए, अथवा घटनाओं की टूटी हुई शृंखला को जोड़ने के लिए की गई है। उदाहरण के लिए 'चन्द्रगुप्त' के प्रथमांक का सातवां दृश्य जहाँ चन्द्रगुप्त नंद के बन्दीगृह में पड़े हुए चाणक्य को छुड़ाता है, नाटककार की कल्पना का फल है। 'चन्द्रगुप्त' के द्वितीयांक का दूसरा दृश्य जिसमें चन्द्रगुप्त कार्नेलिया को फ़िलिप्स से बचाता है, तथा प्रथमांक का दसवां दृश्य जहां सिल्यूकस चन्द्रगुप्त की चीते से रक्षा करता है, भी कवि के कल्पना-प्रसूत हैं।

प्रसाद जी के ऐतिहासिक नाटकों के इस प्रकार के कल्पित चरित्रों, दृश्यों और प्रसंगों के अतिरिक्त उनके 'कामना' तथा 'एक घूंट' के विषय तो नितान्त मौलिक ही हैं। इस प्रकार प्रसाद जी ने अपने नाटकों में मौलिकता का यथेष्ट परिचय दिया है।

प्रसाद जी के नाटकों की एक बड़ी विशेषता यह है कि उनमें संघर्ष या द्वन्द्व, जो पाश्चात्य सिद्धांतों के अनुसार[1] नाटक का प्राण होता है, पर्याप्त मात्रा में मिलता है। इतना ही नहीं कि यह संघर्ष प्रसाद जी के सभी प्रसिद्ध नाटकों में विद्यमान है, वरन् नाटककार प्रायः नाटक के प्रथम दृश्य में ही इस संघर्ष की ओर संकेत कर देता है। उदाहरण के लिए आर्यों तथा नागों के बीच जो संघर्ष चल रहा था तथा जिस पर 'नागयज्ञ' का कथानक आधारित है, उसकी ओर पहले दृश्य में ही संकेत कर दिया गया है—

सरमा—बहन मनसा, मैं तो आज तुम्हारी बात सुनकर चकित हो गई।

मनसा—क्यों ? क्या तुमने यही समझ रखा था कि नाग जाति सदैव से इसी गिरी अवस्था में है ? क्या इस विश्व के रंगमंच पर नागों ने कोई स्पृहणीय अभिनय नहीं किया ? क्या इनका अतीत भी इनके वर्तमान की भांति अंधकारपूर्ण था। इत्यादि, इत्यादि।

इसी प्रकार 'ध्रुवस्वामिनी' में भी ध्रुवस्वामिनी के पहले स्वगत-भाषण में ही इस संघर्ष की ओर संकेत कर दिया गया है जो कि इस नाटक में उद्दण्डता और विनम्रता के बीच दिखाया गया है—

ध्रुवस्वामिनी—(सामने पर्वत की ओर देखकर) सीधा तना

1. Milton Marx—Enjoyment of Drama, page 45 ff.

हुआ, अपने प्रभुत्व की साकार कठोरता, अभ्रभेदी उन्मुक्त शिखर ! और इन क्षुद्र कोमल निरीह लताओं और पौधों को इसके चरणों में लोटना ही चाहिए न । इत्यादि इत्यादि ।

'अजातशत्रु' में भी पहले दृश्य में ही नाटककार ने बड़ी चतुरता के साथ अजातशत्रु की क्रूरता और विद्रोह-भावना, छलना की षड्यन्त्र-परता और पद्मावती तथा वासवी की शांतिप्रियता आदि विशेषताओं की ओर संकेत कर दिया गया है। इन प्रमुख पात्रों की इन परस्पर-विरोधी भावनाओं के बीच चलता हुआ संघर्ष ही 'अजातशत्रु' का मुख्य विषय है। इसी प्रकार 'चन्द्रगुप्त' का पहला दृश्य भी बड़ा महत्त्वपूर्ण एवं सशक्त है। इस दृश्य में नाटककार ने नाटक के पांच प्रमुख पात्रों—चन्द्रगुप्त, चाणक्य, सिंहरण, आम्भीक तथा अलका—को रंगमंच पर उपस्थित किया है। साथ ही इन प्रमुख पात्रों के चरित्र और स्वभाव पर भी सूक्ष्म रूप से प्रकाश इसी दृश्य में डाल दिया गया है। अलका और सिंहरण के बीच प्रेमपूर्ण दृष्टि-विनिमय भी बड़ा सुन्दर और नाटकोचित प्रदर्शन है, और इस संकेत से दो युवा परन्तु देशभक्त हृदयों में उठते हुए प्रेम का प्रवाह मुखरित हो उठा है।

इस प्रकार संघर्ष की ओर पहले ही दृश्य में संकेत करके नाटककार कथानक का विकास इस प्रकार करता है कि वह संघर्ष बढ़ता ही जाता है, और इसी संघर्ष की क्रियाएं तथा प्रतिक्रियाएं विविध नाटकीय घटनाओं तथा प्रसंगों के रूप में प्रकट होती हैं। प्रसाद के नाटकों के तुलनात्मक अध्ययन से ज्ञात होता है कि यद्यपि उनके पहले नाटकों में कथानक अपेक्षाकृत सरल है, परंतु बाद के नाटकों ('अजातशत्रु', 'चन्द्रगुप्त', 'स्कन्दगुप्त' आदि) में वह बड़ा जटिल हो गया है। प्रसाद के नाटकों में प्रायः एक से अधिक कथानकों का समावेश किया गया है, जो कि विकास के साथ-साथ उलझते जाते हैं। उनमें संघर्ष सीधी रेखा में विकसित नहीं होता, वरन् अनेक प्रकार से चक्कर काटता हुआ टेढ़ी तिरछी रेखा में बढ़ता है। उदाहरण के लिए 'राज्यश्री' में मुख्य कथानक तो राज्यश्री का है, किन्तु सुरमा और शांतिभिक्षु का वृत्तान्त इसके साथ-साथ बढ़ता है और अन्त में दोनों कथानक मिलकर एक हो जाते हैं। 'जनमेजय का नागयज्ञ' में दामिनी तथा उत्तङ्क, और सरमा तथा मानवक के गौण कथानक प्रधान कथानक में उलझे हुए हैं। 'अजातशत्रु' का कथानक इनसे भी अधिक जटिल है। एक ओर मगध में अजातशत्रु अपने पिता बिम्बसार को राज्य-सिंहासन छोड़ने पर विवश करता है और सम्राट् उसे सिंहासन देकर वासवी के साथ जंगल में चले जाते हैं। दूसरी ओर कोसल में राजकुमार विरुद्धक अपने पिता प्रसेनजित् से विद्रोह करता है। इस पर पिता द्वारा

राज्य से निर्वासित होता है, परन्तु पुनः काशी में विद्रोह की आग भड़काने के लिए शैलेन्द्र डाकू के रूप में आ जाता है। तीसरी ओर कौशाम्बी में राजा उदयन की रानियों में षड्यंत्र चल रहा है। मागन्धी अपने कौशल से उदयन को पद्मावती के विरुद्ध भड़काती है और फिर स्वयं अपने भवन में आग लगाकर कहीं चली जाती है। कुछ काल के पश्चात् वह पुनः श्यामा वेश्या के रूप में प्रकट होती है। शैलेन्द्र उसका गला घोंटता है, भगवान् बुद्ध उसे फिर से जीवित कर देते हैं और वह आम्रपाली बनकर सेवा का व्रत लेती है। चौथी कथा मल्लिका की है जिसे विरुद्धक प्रेम करता है पर बन्धुल से उसका विवाह हो जाता है। विरुद्धक बन्धुल की हत्या कर देता है। इसके अतिरिक्त कुछ और भी छोटी-छोटी कथाएं हैं जो मुख्य कथानक में बीच-बीच में उलझ जाती हैं। एक कथा आगे बढ़ती है और दूसरी उससे उलझ जाती है। एक पात्र परिवर्तित होकर नया पात्र बन जाता है। एक प्रसंग कई प्रसंगों से मिलकर विचित्र रूप धारण कर लेता है।

इसी प्रकार 'चन्द्रगुप्त' में भी कई कथानक साथ-साथ विकसित होते हैं। पर यहाँ हमें एक अन्तर दिखाई देता है। इस नाटक में विविध कथानक अलग-अलग आगे बढ़ते हैं, और प्रायः एक दूसरे से उलझते नहीं हैं। नाटक में मुख्य कथानक चन्द्रगुप्त तथा चाणक्य और नन्द तथा राक्षस का है। परंतु कई गौण कथानकों का भी नाटक में समावेश है, जैसे अलका और सिंहरण का, राक्षस तथा सुवासिनी का, चन्द्रगुप्त तथा कल्याणी का, चन्द्रगुप्त तथा कार्नेलिया इत्यादि का। इस प्रकार के कथानक का सफल विकास साधारण नाटककार के वश की बात नहीं है। इसमें विशेष प्रतिभा और कौशल-क्षमता की आवश्यकता है। यद्यपि प्रसाद जी अपनी असाधारण प्रतिभा तथा अनुपम योग्यता के कारण इन विविध कथानकों के संगठन में काफ़ी सफल हुए हैं, फिर भी उनके नाटकों में कुछेक दोष आ गये हैं, जिनका उल्लेख इसी अध्याय में आगे चलकर किया जायगा।

केवल इन नाटकों के कथानक ही जटिल नहीं हैं, इनमें पात्रों की संख्या भी बहुत अधिक है। किंतु यद्यपि संख्या में ये पात्र बहुत अधिक हैं, तथापि इनमें से प्रत्येक का अपना स्वतन्त्र या विशिष्ट व्यक्तित्व नहीं है। इनमें से अधिकांश पात्र व्यवहार और विचार की समता के कारण निश्चित वर्गों और श्रेणियों में बाँटे जा सकते हैं। उदाहरण के लिए प्रसाद के प्रायः सभी प्रमुख नाटकों में एक ऐसा पात्र रहता है जो कि क्षमा और सौजन्य का प्रतीक होता है। यह पात्र ही प्रायः पाप के ऊपर धर्म की विजय-प्राप्ति में सहायक होता है, अथवा एक दुष्ट और धूर्त के चरित्र का सुधार करके उसे भद्र और बलवान् बनने की प्रेरणा देता है। षड्यन्त्र और संघर्ष के वातावरण में वह शांति, सामंजस्य और मैत्री

का भाव उत्पन्न करता है। कुछ नाटकों में यह पात्र कोई साधु-महात्मा होता है, जैसे 'विशाख' में प्रेमानन्द, 'अजातशत्रु' में गौतम, 'राज्यश्री' में दिवाकर मित्र, 'नागयज्ञ' में व्यास। कई बार इस चरित्र की झलक हमें किसी स्त्री-पात्र में मिलती है, जैसे देवसेना, अलका और मालविका आदि, जो किसी गिरते हुए पात्र को उठाती हैं।

इसी प्रकार चन्द्रगुप्त मौर्य, स्कन्दगुप्त, चन्द्रगुप्त ('ध्रुवस्वामिनी' नाटक का) और हर्ष आदि के चरित्रों में भी भारी समानता है। ये पात्र धीरोदात्त हैं और अपने साहस-कर्मों में ये प्रायः देश-भक्ति और आत्म-बलिदान की महान् भावनाओं से प्रेरित होते हैं। इसी प्रकार 'अजातशत्रु' की छलना षड्यन्त्र-परता में 'स्कन्दगुप्त' की अनन्तदेवी से मेल खाती है। 'राज्यश्री' में शांतिभिक्षु (विकटघोष) का चरित्र भी साहस और दुष्कर्म में 'अजातशत्रु' के विरुद्धक (शैलेन्द्र) से समानता रखता है।

इसके अतिरिक्त हम यह भी देखते हैं कि अपने प्रमुख पात्रों के चित्रण में प्रसाद जी ने अधिकतर संस्कृत नाटकों के आदर्शवाद की परंपरा का अनुसरण किया है। प्रसाद जी ने भारतीय आदेश के अनुसार अपने नाटकों को 'ख्यातवृत्त' ही नहीं बनाया, वरन् उनका चरित्र-चित्रण भी उसी सिद्धांत के अनुसार आदर्शोन्मुख है। प्रमुख पात्रों में प्रसाद ने अधिकतर मानव-जीवन की साधारण और हीन भावनाओं का चित्रण नहीं किया, वरन् असाधारण और विशेष भावनाओं को ही मुखरित किया है। चन्द्रगुप्त मौर्य, सिंहरण, स्कंदगुप्त, चन्द्रगुप्त, पर्णदत्त, बन्धुवर्मा आदि प्रमुख पात्र वीरता, देशभक्ति, आत्म-बलिदान आदि गुणों में आदर्श हैं। पर आदर्शवाद इन चरित्रों पर बलपूर्वक ठोंसा नहीं गया, वरन् वह इनके विचार एवं व्यवहार से धीरे-धीरे स्वाभाविक रूप में स्पष्ट होता जाता है।

यदि ध्यानपूर्वक देखा जाय तो प्रसाद के कई एक प्रमुख पात्रों (स्कंदगुप्त, देवसेना, चन्द्रगुप्त मौर्य, सिंहरण आदि) के चरित्रों में हमें आदर्श और यथार्थ का अपूर्व समन्वय मिलता है। प्रेम आदि साधारण मानवीय भावनाओं में इन पात्रों का चित्रण प्रायः यथार्थवादी है, जो कि अनेक बार इनकी देशभक्ति, राष्ट्रसेवा और कर्तव्यपालन आदि की आदर्श भावनाओं से टक्कर खाता है, परन्तु अन्त में विजय आदर्श की ही होती है। कर्तव्य और भावुकता में संघर्ष अन्त में कर्तव्य की विजय का रूप धारण कर लेता है। उदाहरण के लिए देवसेना के चरित्र में हम देखते हैं कि यद्यपि आदर्शों की प्रेरणा से वह स्कंदगुप्त के विवाह के प्रस्ताव को ठुकरा देती है, पर दूसरी ओर एक साधारण मानवी होने के कारण यथार्थ के प्रभाव-स्वरूप शीघ्र ही उसके वक्षःस्थल में स्कंदगुप्त

के लिए प्रेम की दबी हुई भावना पुनः सबल हो उठती है। इन यथार्थवादी भावनाओं को देवसेना नाटक के अंतिम दृश्य तक भी पूर्णतया दबा नहीं सकी, और उसे हम निम्नलिखित शब्दों में दबाने की चेष्टा करते देखते हैं—

देवसेना—हृदय की कोमल कल्पना ! सो जा। जीवन में जिसकी सम्भावना नहीं, जिसे द्वार पर आये हुए लौटा दिया था, उसके लिए पुकार मचाना क्या तेरे लिए कोई अच्छी बात है ? आज जीवन के भावी सुख, आशा और आकांक्षा—सबसे मैं विदा लेती हूँ। इत्यादि इत्यादि।

और की तो बात ही क्या, चाणक्य जैसा कठोरहृदय व्यक्ति भी मानव मन की कोमल भावनाओं से सर्वथा रहित नहीं है, जैसा कि 'चन्द्रगुप्त' के चतुर्थांक के तृतीय दृश्य में सुवासिनी के साथ उसके सम्भाषण से स्पष्ट है।

प्रसाद के प्रमुख पात्रों का आदर्शवादी चित्रण और भी स्पष्ट और प्रभावशाली हो जाता है जब इसकी तुलना भिन्न-भिन्न विरोधी पात्रों के चरित्र के साथ की जाय। प्रसाद के नाटकों के विरोधी पात्रों को हम दो मुख्य वर्गों में बाँट सकते हैं। एक वर्ग में भटार्क, शांतिभिक्षु, शर्वनाग, तक्षक, नरदेव और विरुद्धक आदि पात्र रखे जा सकते हैं जो कि परिस्थितियों के अथवा अपने स्वभाव के कारण पाप या बुराई का मार्ग ग्रहण करते हैं परन्तु अन्त में परिस्थितियों के कारण अथवा किसी सच्चरित्र के संसर्ग के कारण सन्मार्ग का अवलंबन करते हैं। दूसरे वर्ग के अन्तर्गत प्रपंचबुद्धि, कश्यप, विजया, नन्द, देवगुप्त, रामगुप्त आदि ऐसे पात्र आते हैं जो कि आरम्भ से अन्त तक कपट, पाप और बुराई का व्यवहार करते हैं और मृत्यु तक भी जिनका सुधार नहीं होता। जिस प्रकार देवसेना ने कहा है—"पवित्रता की माप है मलिनता, सुख का आलोचक है दुःख, पुण्य की कसौटी है पाप" ('स्कन्दगुप्त' द्वितीयांक, प्रथम दृश्य); उसी प्रकार प्रमुख पात्रों का आदर्श चरित्र भी विरोधी पात्रों के चरित्र के साथ तुलना करने से अधिक उज्ज्वल और मुखरित हो उठता है। इसी प्रकार स्त्रीपात्रों में भी जहाँ एक ओर देवसेना, मल्लिका, राज्यश्री, वासवी जैसी आदर्श स्त्रियाँ हैं जिनके चरित्र सद्गुणों का संग्रह हैं, वहाँ दूसरी ओर छलना और अनन्तदेवी जैसी दुष्टा और षड्यन्त्र-परायणा स्त्रियाँ भी हैं जिनका उद्देश्य जीवन में सदा अपनी व्यक्तिगत उन्नति तथा स्वार्थ-साधन ही होता है।

प्रसाद जी स्वयं कवि एवं दार्शनिक थे और उनकी ये विशेषताएँ उनके कुछेक पात्रों में मुखरित हो उठी हैं। कभी कवि रूप में और कभी दार्शनिक रूप में ये पात्र भी कई अवसरों पर बड़े असाधारण ढंग से व्यवहार करते हैं। इनकी असाधारण मनोवृत्तियों और विचारों का परिचय अनेक स्थलों पर हमें मिलता है। उदाहरण के लिए 'राज्यश्री' में राज्यश्री का चरित्र साधारण रानियों से

बहुत भिन्न है। राज्यश्री दार्शनिक प्रवृत्ति की तथा बड़ी विचारशील है, जैसा कि उसकी नीचे उद्धृत की हुई कुछ उक्तियों से स्पष्ट है—

राज्यश्री—सुखी मनुष्य ! तुम मरने से इतना डरते हो ! भग्न-हृदयों से पूछो—वे मृत्यु की कितनी सुखद कल्पना करते हैं।

(द्वितीयांक, सप्तम दृश्य)

राज्यश्री—अस्त होते हुए अभिमानी भास्कर से पूछो—वह समुद्र में गिरने को कितना उत्सुक है। पतंग-सदृश निराश हृदय से पूछो कि जल जाने में वह अपना सौभाग्य समझता है या नहीं !

(द्वितीयांक, सप्तम दृश्य)

राज्यश्री—मैं दुःखी हूँ, दस्यु। तुम धन चाहते हो, पर वह मेरे पास नहीं। इस विस्तीर्ण विश्व में सुख मेरे लिए नहीं; पर जीवन ? आह ! जितनी सांसें चलनी हैं, वे तो चलकर ही रुकेंगी। तुम मनुष्य होकर हिंस्र पशुओं को क्यों लज्जित करते हो ! इस श्मशान को कुरेद कर जली हड्डियों के अतिरिक्त मिलेगा क्या ? (तृतीयांक, द्वितीय दृश्य)

इसी प्रकार 'अजातशत्रु' में बिम्बसार एक असाधारण सम्राट् हैं। उनकी शांतिप्रियता और आदर्शवाद सभी सम्राटों में नहीं मिलते। उनके विचार बड़े अलौकिक और दार्शनिकता से पूर्ण हैं। नीचे के उद्धरण से उनकी दार्शनिक मनोवृत्ति का यथेष्ट परिचय मिलता है—

बिम्बसार—यदि मैं सम्राट् न होकर किसी विनम्र लता के कोमल किसलयों के झुरमुट में एक अधखिला फूल होता और संसार की दृष्टि मुझ पर न पड़ती—पवन की किसी लहर को सुरभित करके धीरे से उस थाले में चू पड़ता—तो इतना भीषण चीत्कार इस विश्व में न मचता। उस अस्तित्व को अनस्तित्व के साथ मिलाकर कितना सुखी होता। इत्यादि इत्यादि। (तृतीयांक, नवम दृश्य)

प्रसाद के कुछेक सच्चरित्रों में हम एक असाधारण विशेषता यह पाते हैं कि वे प्रतिहिंसा और प्रतिशोध का फल दया और क्षमा के रूप में देते हैं। वे हिंसा और क्रूरता से घृणा करते हैं और दूसरों के प्रति स्नेह और सद्भावना से परिपूर्ण रहते हैं। उदाहरण के लिए 'नागयज्ञ' में वही आस्तीक, जिसके पिता जरत्कारु की जनमेजय ने हत्या की थी, आर्यों और नागों के बीच शान्ति स्थापित करने का यत्न करता है, और साधारण मनुष्य की भांति जनमेजय से उसके अपराध का प्रतिशोध लेने की चिन्ता नहीं करता। उसी नाटक में सरमा अपने पुत्र के अपमान तथा दुर्व्यवहार का बदला लेने के स्थान पर आर्य सम्राट् जनमेजय और नाग-राजकुमारी मणिमाला के विवाह की प्रार्थना करती है, जिससे

कि चिरकाल से वैर-विरोध में पड़ी हुई दो जातियों में शांति और मैत्री स्थापित हो सके। इसी प्रकार 'विशाख' में चन्द्रलेखा राजा के पुत्र की प्राणरक्षा करती है, यद्यपि राजा ने उसके साथ अच्छा व्यवहार नहीं किया था। 'अजातशत्रु' में भी वासवी ही अपने भाई (कोसलराज) द्वारा बन्दी किये हुए दुष्ट अजातशत्रु को छुड़ाने के लिए जाती है, यद्यपि अजात ने वासवी तथा बिम्बसार को अनेक प्रकार से पीड़ित किया था। इसी प्रकार मल्लिका अपने पति के हत्यारे विरुद्धक को क्षमा कर देती है।

इन नाटकों में आदर्शवादी चरित्र-चित्रण का एक और महत्त्वपूर्ण पक्ष कुछ चरित्रों का आकस्मिक परिवर्तन है। प्रसाद के नाटकों में कई दुष्ट चरित्र किसी महात्मा के उपदेश अथवा किसी घटना-विशेष से प्रभावित होकर अचानक सच्चरित्र बन जाते हैं। उदाहरण के लिए 'जनमेजय का नागयज्ञ' में वही अश्वसेन, जो कि दामिनी से बलात्कार करने को कटिबद्ध था (द्वितीयांक, चतुर्थ दृश्य), अपनी बहन मणिमाला के समझाने पर तुरन्त अपने घृणित विचार को छोड़ कर, वीरता के भाव से तुरन्त युद्धभूमि की ओर चल पड़ता है। 'अजातशत्रु' में षड्यन्त्र-परायणा मागंधी, जो काशी में श्यामा वेश्या के रूप में रहती थी, भगवान् बुद्ध के उपदेश से अचानक 'आम्रपाली' बनकर मनुष्य-मात्र की सेवा का धर्म अपना लेती है। 'राज्यश्री' में दस्युराज विकटघोष राज्यश्री को बहुत कष्ट देता है, किन्तु अन्त में वह उसको क्षमा कर देती है और इस क्षमा से प्रभावित होकर वह दस्यु भिक्षु बन जाता है।

पात्रों का मनोवैज्ञानिक चित्रण, जो कि आज के समस्या-नाटकों में विशेष रूप से पाया जाता है, प्रसाद के नाटकों में यथेष्ट मात्रा में नहीं मिलता। प्रसाद के नाटकों में हमें बाह्य संघर्ष, जो कि भिन्न-भिन्न पात्रों के बीच अथवा उनकी परस्पर-विरोधी विशेषताओं और भावों के बीच चलता है, प्रचुरता से मिलता है। परन्तु अन्तर्द्वन्द्व अथवा मानसिक संघर्ष, जो एक ही पात्र के मन में दो या दो से अधिक विरोधी भावों या अवस्थाओं के बीच चलता है, प्रसाद के नाटकों में कम दिखाई देता है। तथापि कुछ अवसरों पर इस मानसिक संघर्ष के सुन्दर उदाहरण भी प्रसाद के नाटकों में मिलते हैं। उदाहरण के लिए 'ध्रुवस्वामिनी' में ध्रुवस्वामिनी, जिसने रामगुप्त के उसे शकराज को समर्पित करने के निश्चय के कारण आत्म-हत्या का मन में निर्णय कर लिया था, वही महादेवी चन्द्रगुप्त को आलिंगन करने के पश्चात् अपने मन में एक विचित्र परिवर्तन-सा अनुभव करती है और आत्म-हत्या के विचार का परित्याग करके जीती रहने का निश्चय करती है। नीचे के स्वगत-भाषण में प्रसाद जी ने ध्रुवस्वामिनी के मन में होते हुए संघर्ष का सुन्दर मनोवैज्ञानिक चित्रण किया है—

ध्रुवस्वामिनी—कितना अनुभूतिपूर्ण था वह एक क्षण का आलिंगन ! कितने संतोष से भरा था। नियति ने अज्ञात भाव से मानों लू से तपी हुई वसुधा को क्षितिज के निर्जन से सायंकालीन शीतल आकाश से मिला दिया हो···तो भी करूँगी नहीं।·· कुमार। तुमने वही किया जिसे मैं बचाती रही। तुम्हारे उपकार और स्नेह की वर्षा से मैं भीगी जा रही हूं। ओह, (हृदय पर उँगली रखकर) इस वक्ष:स्थल में दो हृदय हैं क्या ? जब अन्तरंग 'हाँ' कहना चाहता है तब ऊपरी मन 'ना' क्यों कहला देता है ? (प्रथमांक, पृष्ठ ३२)

इसी प्रकार 'अजातशत्रु' में बिम्बसार, वासवी और मल्लिका के चरित्रों में भी कहीं-कहीं अन्तर्द्वन्द्व का चित्रण हुआ है। 'स्कन्दगुप्त' में यह संघर्ष देवसेना तथा स्कन्दगुप्त के चरित्रों में और भी तीक्ष्ण और प्रचुर हो गया है। देवसेना के चरित्र में यह मानसिक संघर्ष इतना सबल और गहन हो उठा है कि उसकी अभिन्न-हृदया सखी तथा भाभी जयमाला भी उसके मन को ठीक से जान नहीं पाती। अपने मन की दुविधा की ओर स्वयं देवसेना ने भी संकेत किया है—

देवसेना—"नीरव जीवन और एकांत व्याकुलता, कचोटने का सुख सुन्दर होता है। जब हृदय में रुदन का स्वर उठता है, तभी संगीत की वीणा मिला लेती हूँ। उसी में सब कुछ छिप जाता है।" (तृतीय अंक)

देवसेना के हृदय में कर्तव्य और भावुकता के बीच संघर्ष पराकाष्ठा पर पहुँच जाता है जब देवसेना स्कन्दगुप्त से यह वचन कहती है—

देवसेना—आपको अकर्मण्य बनाने के लिए देवसेना जीवित न रहेगी। सम्राट्, क्षमा हो। इस हृदय में···आह ! कहना ही पड़ा, स्कंदगुप्त को छोड़कर न कोई दूसरा आया और न वह जायगा। अभिमानी भक्त के समान निष्काम होकर मुझे उसी की उपासना करने दीजिए; उसे कामना के भँवर में फँसा कर कलुषित न कीजिए। नाथ ! मैं आपकी ही हूँ, मैंने अपने को दे दिया है, अब उसके बदले कुछ लिया नहीं चाहती। (पंचम अंक)

जहाँ प्रसाद जी अपने प्रमुख पुरुष-पात्रों के चित्रण में सफल हुए हैं, वहाँ इस बात से भी इन्कार नहीं किया जा सकता कि अपने प्रमुख स्त्री-पात्रों के चित्रण में उन्हें और भी अधिक सफलता मिली है। प्राय: प्रत्येक नाटक में प्रसाद जी ने दो एक ऐसे स्त्री-पात्रों की उद्भावना की है जो कि नाटक में बड़ा महत्त्वपूर्ण काम करते हैं। इन स्त्री-चरित्रों से नाटक के कथानक तथा वातावरण को बड़ा बल मिलता है। कुछ नाटकों में तो स्त्री-चरित्रों का आधिपत्य-सा जान पड़ता है, जैसे 'अजातशत्रु' में छलना तथा मल्लिका का, 'राज्यश्री' में राज्यश्री का,

'स्कन्दगुप्त' में देवसेना और अनन्तदेवी का। इन प्रमुख स्त्री-पात्रों में अधिकतर तो (उदाहरण के लिए देवसेना, मालविका, मल्लिका, राज्यश्री, वासवी, अलका आदि) स्नेह, त्याग, सौजन्य, संयम, क्षमा आदि भावनाओं की मूर्ति हैं, किन्तु कुछेक (छलना, अनन्तदेवी, मागन्धी आदि) के चरित्र पर स्वार्थपरता, षड्यन्त्र-प्रियता और कुत्सित भावों का अधिकार है। 'अजातशत्रु' के तृतीय अंक के चौथे दृश्य में दीर्घकारायण तथा शक्तिमती के संवाद में प्रसाद जी ने स्त्री-स्वभाव का बड़ा विशद वर्णन किया है, और पुरुष-स्वभाव से उसका अन्तर स्पष्ट किया है—

दीर्घकारायण—"स्त्रियों के संगठन में, उनके शारीरिक और प्राकृतिक विकास में ही, एक परिवर्तन है—जो स्पष्ट बतलाता है कि वे शासन कर सकती हैं, किन्तु अपने हृदय पर। वे अधिकार जमा सकती हैं उन मनुष्यों पर, जिन्होंने समस्त विश्व पर अधिकार किया हो···तुम्हारे स्त्री-राज्य की सीमा विस्तृत है, और पुरुष की संकीर्ण। कठोरता का उदाहरण है पुरुष और कोमलता का विश्लेषण है स्त्रीजाति। पुरुष क्रूरता है तो स्त्री करुणा है—जो अन्तर्जगत् का उच्चतम विकास है, जिसके बल पर समस्त सदाचार ठहरे हुए हैं। इसीलिए प्रकृति ने उसे इतना सुन्दर और मनमोहक आवरण दिया है—रमणी का रूप।" इत्यादि इत्यादि।

इसी प्रकार 'स्कन्दगुप्त' के प्रथम अंक में धातुसेन तथा मातृगुप्त के वार्तालाप में भी प्रसाद जी ने पुरुष के स्वभाव तथा स्त्री के स्वभाव का विश्लेषण प्रस्तुत किया है।

प्रसादजी के चरित्रों की एक और विशेषता यह है कि उनके जीवन में नियति का बड़ा महत्त्वपूर्ण हाथ है। हम नियति को निरन्तर प्रसाद के प्रमुख पात्रों के आसपास चक्कर काटते देखते हैं, और ये पात्र अपने को नियति का दास, उसके इंगित पर चलने वाला समझते हैं। प्रसाद के प्रमुख पात्र बार-बार नियति की रट लगाते हैं और अपनी सफलताओं-विफलताओं का अधिकतर नियति से संबंध जोड़ते हैं। परन्तु नियति में पूर्ण विश्वास होने पर भी प्रसाद के पात्र Tennyson के Lotos-Eaters के समान हाथ पर हाथ धरे निकम्मे नहीं बैठे रहते। अपने बनाने या मिटाने के लिए वे नियति के हाथ की प्रतीक्षा नहीं करते, बल्कि प्रसादजी के पात्रों में नियति-विश्वास के साथ बड़ा आत्म-विश्वास तथा दृढ़ संकल्प का भाव निहित है। वे संसार के रंगमंच पर पूर्ण साहस और उत्साह के साथ प्रवेश करते हैं, जीवन के संग्राम में डटकर भाग लेते हैं, और कई बार अद्भुत सफलता प्राप्त करते हैं।

इसके अतिरिक्त प्रसादजी के नाटकों में चाणक्य-जैसे कुछ ऐसे पात्र भी हैं, जो

नियति के अधिकार तथा प्रभाव से बहुत ऊपर हैं। आत्म-विश्वास तथा दृढ़ संकल्प की मात्रा उनमें इतनी अधिक है कि वे नियति के दास नहीं वरन् स्वामी के समान आचरण करते दिखाई देते हैं। आत्म-विश्वास तथा चरित्र की दृढ़ता के बल पर वे केवल स्वयं ही ऊँचे नहीं उठते, वरन् अपने साथ दूसरे चरित्रों का भी उद्धार करते हैं।

अब हम प्रसाद जी के नाटकों के कथोपकथन को लेते हैं। नाटक में कथोपकथन से मुख्यतः दो उद्देश्यों की पूर्त्ति होनी चाहिए। एक तो इससे नाटक के पात्रों के चरित्र-चित्रण में सहायता मिलनी चाहिए। दूसरे, कथानक के विकास में भी कथोपकथन सहयोगी होने चाहिएँ। इसके अतिरिक्त कथोपकथन सजीव, सशक्त और संक्षिप्त होने चाहिएँ, जिनमें व्यर्थ का शब्द-विस्तार न हो और थोड़े-से-थोड़े शब्दों से अधिक-से-अधिक काम लिया जाय। प्रसाद जी के नाटकों में हम अधिकतर ऐसे ही कथोपकथन पाते हैं जो इस कसौटी पर पूरे उतरते हैं, जैसे—

ध्रुवस्वामिनी—ओह, तो मेरा कोई रक्षक नहीं। (ठहर कर) नहीं मैं अपनी रक्षा स्वयं करूँगी। मैं उपहार में देने की वस्तु शीतल-मणि नहीं हूँ। मुझ में रक्त की तरल लालिमा है। मेरा हृदय उष्ण है, और उसमें आत्मसम्मान की ज्योति है। उसकी रक्षा मैं ही करूँगी।

('ध्रुवस्वामिनी', प्रथम अंक)

जहाँ ध्रुवस्वामिनी के ये शब्द एक ओर कथानक के प्रसंग की गम्भीरता की ओर संकेत करते हैं, वहाँ वे ध्रुवस्वामिनी के चरित्र के स्वाभिमान, साहस और वीरता आदि भावों को भी व्यक्त करते हैं। इसी प्रकार 'चन्द्रगुप्त', 'अजातशत्र', 'स्कन्दगुप्त' आदि नाटकों के प्रथम दृश्यों के संवाद भी बड़े ही उपयुक्त और महत्त्वपूर्ण हैं। वे कम-से-कम शब्दों में अधिक-से-अधिक उद्देश्य की पूर्त्ति करते हैं। 'चन्द्रगुप्त' में यह कथोपकथन चन्द्रगुप्त, चाणक्य, अलका, सिंहरण तथा आंभीक के चरित्रों की व्यक्तिगत विशेषताओं को मुखरित करता है और साथ में उस संघर्ष की ओर संकेत करता है जो इन पात्रों के विशिष्ट गुणों के फल-स्वरूप आगे नाटक में उठने वाला है। कथानक को भी इस कथोपकथन से गति मिलती है। 'अजातशत्रु' तथा 'स्कन्दगुप्त' में भी प्रथम दृश्य के कथोपकथन की यही विशेषता है। इस प्रकार के संवादों का प्रसाद के नाटकों में बाहुल्य है।

इसके अतिरिक्त प्रसाद जी के नाटकों के संवाद प्रायः बड़े स्वाभाविक एवं अवसरानुकूल हैं। प्रसंग की आवश्यकता के अनुसार वे वेगयुक्त अथवा मन्थर, कोमल अथवा कठोर, आवेशपूर्ण अथवा शांतिमय हैं। आवेशपूर्ण एवं सशक्त संवादों के उदाहरण हमें 'स्कन्दगुप्त' के 'गांधार की घाटी' (तृतीय अंक) 'कुंभा के क्षेत्र

में' (तृतीय अंक) तथा 'राजसभा' (द्वितीय अंक) आदि में, तथा 'चन्द्रगुप्त' के (पंचम संस्करण के) द्वितीय अंक के दसवें दृश्य में तथा कई अन्य स्थलों पर मिलते हैं। कोमल और मन्थर संवादों के उदाहरण भी कई जगह मिलते हैं, जैसे स्कन्दगुप्त के अन्तिम दृश्य में तथा तृतीय अंक में देवसेना और जयमाला के उद्यान में के संवाद में, 'चन्द्रगुप्त' के चतुर्थ अंक के नवम दृश्य में। आवेशपूर्ण और शक्तिशाली संवादों के दो-एक उदाहरण नीचे दिये जाते हैं—

कमला—कौन कहता है तुम अकेले हो ? समग्र संसार तुम्हारे साथ है। स्वानुभूति को जागृत करो। यदि भविष्यत् से डरते हो कि तुम्हारा पतन ही समीप है, तो तुम उस अनिवार्य स्रोत से लड़ जाओ। तुम्हारे प्रचंड और विश्वासपूर्ण पदाघात से विंध्य के समान कोई शैल उठ खड़ा होगा, जो उस विघ्न-स्रोत को लौटा देगा ! राम और कृष्ण के समान क्या तुम भी अवतार नहीं हो सकते।" इत्यादि इत्यादि।

('स्कन्दगुप्त', चतुर्थ अंक)

अथवा—

चाणक्य—···एक बार निकलने पाता तो दिखा देता कि इन दुर्बल हाथों में साम्राज्य उलटने की शक्ति है और ब्राह्मण के कोमल हृदय में कर्तव्य के लिए प्रलय की आँधी चला देने की भी कठोरता है। जकड़ी हुई लौहशृङ्खले ! एक बार तू फूलों की माला बन जा और मैं मदोन्मत्त विलासी के समान तेरी सुन्दरता को भंग कर दूँ।···तब मैं आज से प्रण करता हूँ कि दया किसी से न माँगूँगा और अधिकार तथा अवसर मिलने पर किसी पर न करूँगा···मैं प्रलय के समान अबाध गति से और कर्तव्य में इन्द्र के वज्र के समान भयानक बनूँगा।"

('चन्द्रगुप्त' प्रथम अंक, सप्तम दृश्य)

परन्तु उपयुक्त और समयानुकूल कथोपकथन के अतिरिक्त कई स्थलों पर प्रसाद जी के संवाद व्यर्थ ही लम्बे, कवित्वपूर्ण अथवा दार्शनिक हो गये हैं। कई बार तो उनके पात्रों के स्वगत-भाषण भी बहुत लम्बे बन पड़े हैं। इनका वर्णन हमने आगे चलकर दोषों के अन्तर्गत किया है।

प्रसाद के नाटकों की भाषा-शैली (diction) पर विचार करते हुए हम देखते हैं कि प्रसाद जी ने अपने सभी प्रौढ़ नाटकों में सभी पात्रों के लिए निरंतर एक ही भाषा का प्रयोग किया है। उनके पात्र, चाहे वे भारतीय हों अथवा विदेशीय, स्त्री हों या पुरुष, शिक्षित हों या अशिक्षित, उच्च हों अथवा नीच, शुद्ध साहित्यिक हिन्दी में ही बातचीत करते हैं। केवल इतना ही नहीं कि अभिनय के

जा सकता। परन्तु यद्यपि प्रसाद जी का कोई भी नाटक दुःखांत नहीं है, तथापि प्रसाद जी की सुखांत की भावना बड़ी निराली है। आरम्भ से अन्त तक दुःख की एक छाया उनके नाटकों पर मंडराती रहती है। प्रसाद जी की सुखांत भावना शांति और वैराग्य का संमिश्रण है। उनके मन पर हिन्दू दार्शनिकता का प्रभाव था जिसके अनुसार जीवन निश्चय ही सुखमय है। दूसरी ओर बौद्ध दर्शन—जिसके अनुसार जीवन दुःख और पीड़ा से भरा हुआ है—की भी उनके मन पर छाप थी। इन भावनाओं के समन्वय के परिणामस्वरूप, यद्यपि प्रसाद जी ने अपने सभी नाटकों को सुखांत बनाया है, फिर भी उनमें वेदना तथा दुःख का तीखा भाव भरा रहता है। दुःख और सुख का समन्वय-सा कर दिया गया है।

प्रसाद जी के नाटकों में दोष

ऊपर के संक्षिप्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि प्रसाद जी के नाटकों में अनेक साहित्यिक एवं कलात्मक गुण पाये जाते हैं। परन्तु फिर भी उनमें दोषों का एकमात्र अभाव नहीं है। सब से पहली बात जो इन नाटकों के विषय में विचार करने योग्य है, वह यह है कि ये नाटक अभिनय की दृष्टि से कहां तक सफल और उपयोगी हैं। इससे पहले कि हम इस विषय पर अपना मत स्पष्ट करें, यह जान लेना उचित होगा कि नाटककार का इस विषय में अपना क्या मत है—

"मेरी रचनाएं तुलसीदत्त शैदा या आग़ा हश्र की व्यापारिक रचनाओं के साथ नहीं नापी तौली जानी चाहिएं। मैंने उन कंपनियों के लिए नाटक नहीं लिखे हैं, जो चार चलते अभिनेताओं को एकत्र कर, कुछ पैसा जुटाकर, चार पर्दे मंगनी मांग लेती हैं और दुअन्नी अठन्नी के टिकट पर इक्केवाले, खोंचेवाले और दुकानदारों को बटोरकर जगह-जगह प्रहसन करती फिरती हैं। 'उत्तररामचरित', 'शकुन्तला' और 'मुद्राराक्षस' नाटक कभी न ऐसे अभिनेताओं के द्वारा अभिनीत हो सकते, और न जनसाधारण में रसोद्रेक का कारण बन सकते। उनकी काव्य-शैली कुछ विशेषता चाहती है। यदि परिष्कृत बुद्धि के अभिनेता हों, सुरुचि-सम्पन्न सामाजिक हों और पर्याप्त द्रव्य काम में लाया जाय तो ये नाटक अभीष्ट प्रभाव उत्पन्न कर सकते हैं।[1]"

दूसरे शब्दों में नाटककार यह मानता है कि यदि उसके नाटक साधारण

१. डा० जगन्नाथप्रसाद शर्मा—प्रसाद के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन, पृष्ठ २९५।

अभिनेताओं द्वारा साधारण जन-समूह के सामने थोड़ा-सा धन व्यय करके खेले जायँ, तो वे बहुत हद तक असफल रहेंगे। इसके विपरीत यदि दर्शक-समूह ऐसे लोगों का है जो सुशिक्षित हैं तथा कला की परीक्षा करने की योग्यता रखते हैं, और नाटकों का अभिनय सुशिक्षित और शिष्ट अभिनेताओं द्वारा किया जाय, पर्याप्त धन व्यय किया जाय तो उनको बहुत अधिक सफलता मिल सकती है। इस बात में हम प्रसाद जी के साथ बहुत हद तक सहमत हैं। संस्कृत-गर्भित साहित्यिक हिन्दी का प्रयोग, कवित्वपूर्ण तथा दार्शनिक कथोपकथन का समावेश इत्यादि प्रसाद जी के नाटकों की विशेषताएं जो कि साधारण जन-समूह के समक्ष अभिनय के लिए दोष बन जाती हैं, वही विशेषताएँ सभ्य, सुशिक्षित तथा सुरुचिसम्पन्न दर्शकों के लिए निश्चय ही गुण-रूप में बदल जायँगी। किन्तु इन दोषों के अतिरिक्त प्रसादजी के नाटकों में कुछ और भी ऐसे दोष हैं जो कि दर्शकों तथा अभिनेताओं के सुशिक्षित और सुरुचिसम्पन्न होने पर भी दूर नहीं हो सकते।

सबसे पहला दोष जो प्रसाद जी के नाटकों में पाया जाता है वह इनकी लम्बाई है। 'स्कंदगुप्त', 'चंद्रगुप्त', 'अजातशत्रु' आदि नाटक एक बार के अभिनय के लिए बहुत लम्बे हैं, क्योंकि यदि इन्हें बिना काट-छाँट के खेला जाय तो प्रत्येक नाटक को पाँच-छ: घण्टे से कम नहीं लगेंगे। दूसरी बात यह है कि प्रसाद जी के प्रौढ़ तथा श्रेष्ठ नाटकों के कथानक बड़े जटिल हैं। प्रत्येक नाटक में कई कथानक साथ-साथ चलते हैं जिनके कारण घटनाओं और पात्रों की भीड़-सी लग जाती है। अभिनय के समय इन कथानकों के विकास को और कथा के सभी सूत्रों को समझना, तथा सभी घटनाओं और पात्रों का मन में ताल-मेल बनाये रखना सामाजिकों के लिए बड़ा कठिन हो जायगा, क्योंकि अभिनेता सामाजिकों को उन घटनाओं, पात्रों तथा संवादों को समझाने के लिए रुकेंगे नहीं।

इसके अतिरिक्त प्रसाद जी को रंगमंच का विशेष व्यावहारिक ज्ञान न था; इसलिए उन्होंने अपने नाटकों में कई दृश्य ऐसे रख दिये हैं जिनका रंगमंच पर सफल अभिनय या तो हो ही नहीं सकता अथवा बड़ी कठिनाई से हो सकता है। उदाहरण के लिए 'चन्द्रगुप्त' के पहले दो दृश्यों को ही लीजिए। इनमें से पहला दृश्य तक्षशिला के गुरुकुल का है। क्योंकि तक्षशिला उन दिनों बड़ा विख्यात विश्वविद्यालय था, अत: इस दृश्य को प्रभावोत्पादक तथा चित्रोपम बनाने के लिए इसे यथोचित ठाठ के साथ दिखाना आवश्यक है। इसके साथ का दृश्य सम्राट् नन्द के विहारोद्यान का है। अत: उसे भी राजसी ठाठ के साथ यथोचित ढंग में दिखाना पड़ेगा। परन्तु इन दो दृश्यों के बीच

कोई अवकाश नहीं मिलता जिसमें कि पहले दृश्य को रंगमंच से हटाया और दूसरे को उसके स्थान पर सजाया जा सके। यदि हमारे देश में भी पाश्चात्य देशों की भाँति घूमनेवाले रंगमंच (Revolving stage) प्रचलित होते तो एक ही समय पर एक साथ कई दृश्य सजाये जा सकते थे। बिजली के स्विच को दबाने मात्र से पहला दृश्य एक क्षण में हटाया और दूसरा दृश्य बिना समय खोये उसके स्थान पर प्रस्तुत किया जा सकता था। परन्तु इसके अभाव में इन दो दृश्यों का यथोचित रूप में रंगमंच पर प्रस्तुत करना असंभव है, अथवा इन दोनों के बीच में काफ़ी समय चाहिए जिससे पहला दृश्य रंगमंच से हटाया जा सके और दूसरा दृश्य सजाया जा सके।

इसके अतिरिक्त प्रसाद जी के नाटकों में युद्ध आदि के भी कई ऐसे दृश्य हैं जो सफलतापूर्वक रंगमंच पर दिखाये नहीं जा सकते।

प्रसाद जी के नाटकों में गीतों की इतनी भरमार है (विशेषतः 'अजातशत्रु', 'स्कन्दगुप्त' तथा चन्द्रगुप्त' में) कि वे गीत पढ़ने में भी और विशेषतः अभिनय के समय अनावश्यक तथा उकताने वाले जान पड़ते हैं, और अपने सौंदर्य तथा गुण को खोकर दोष बन जाते हैं। उदाहरण के लिए 'चन्द्रगुप्त' के चतुर्थ अंक के चौथे दृश्य में मालविका तीन बार (एक ही दृश्य में) गाती है। उसके ये तीन गीत यदि ठीक तरह से स्वर-लय के साथ गाये जायँ, तो इस एक ही दृश्य के गीत लगभग पन्द्रह मिनट ले लेंगे। इसका मतलब यह हुआ कि यह अकेला दृश्य गीतों तथा संवादों समेत २०-२५ मिनट लेगा। अब अनुमान लगाया जा सकता है कि इस पूरे नाटक के अभिनय में, जिनमें पैंतालीस दृश्य हैं, कितने घण्टे लगेंगे।

'स्कंदगुप्त' में देवसेना अनेक बार गाती है और इसी प्रकार मागंधी 'अजातशत्रु' में। इनमें से कुछ गीत तो बहुत लंबे हैं और कुछ अनावश्यक हैं। माना कि ये गीत अधिकतर बड़े सुन्दर, मधुर तथा भावपूर्ण हैं फिर भी अभिनय के समय गीतों की भरमार अवश्य ही अनुपयुक्त एवं अनाटकीय सिद्ध होगी। इसके अतिरिक्त उत्तरोत्तर अंकों में दृश्यों की संख्या घटती जानी चाहिए। परन्तु 'चन्द्रगुप्त' तथा 'जनमेजय का नागयज्ञ' में दृश्यों की संख्या अंतिम अंक में पहले अंकों की अपेक्षा अधिक है।

इन छोटे-छोटे दोषों के अतिरिक्त एक बड़ा दोष जो प्रसाद जी के नाटकों में पाया जाता है—वह है उनके कथोपकथन। जहां साधारणतया उनके पात्रों के संवाद बड़े उपयुक्त और अवसरानुकूल हैं, वहां कई स्थलों पर ये अनावश्यक लंबे अथवा दार्शनिकतापूर्ण हो गये हैं। जब प्रसाद जी किसी विशेष विषय

अथवा समस्या पर अपने विचार प्रकट करना चाहते हैं, तो वहाँ वह एक वाद-विवाद लाकर खड़ा कर देते हैं। फिर ऐसे अवसरों पर उन्हें अपने मन की बात को संक्षेप में कह देने से संतोष नहीं होता, अपने सारे तर्क-वितर्क को खोलकर रख देने पर ही उसका जी भरता है। यदि कहीं कुछ युक्तियां बच गईं अथवा उन्हें बाद में सूझ पड़ीं, तो उसी विषय को आगे जाकर उसी नाटक में अथवा किसी अन्य नाटक में वे फिर उठा लेते हैं। अनावश्यक रूप में लंबे संवादों के उदाहरण 'स्कंदगुप्त' के चतुर्थ अंक में ब्राह्मणों तथा श्रमणों के विवाद में, 'अजातशत्रु' के तीसरे अंक के चतुर्थ दृश्य में शक्तिमती तथा दीर्घकारायण के संवाद में, 'नागयज्ञ' के पहले दृश्य में तथा अन्य कई स्थलों पर मिलते हैं।

कई अवसरों पर अनावश्यक लम्बे संभाषणों का कारण किसी पात्र-विशेष की भावुक, कवित्वमय अथवा दार्शनिक प्रवृत्ति है। भावातिरेक में ये पात्र अपनी बात को सरलता और संक्षेप से कहने में असमर्थ होकर अपने भावों की व्यंजना को व्यर्थ का विस्तार दे देते हैं। इस भाँति के लम्बे संवादों के उदाहरण भी अनेक स्थलों पर मिलते हैं, जैसे 'अजातशत्रु' के द्वितीय अंक के पहले, तीसरे तथा आठवें दृश्य में, 'स्कंदगुप्त' के प्रथम अंक में मातृगुप्त और मुद्गल के संवाद में, 'चन्द्रगुप्त' के तीसरे अंक के छटे दृश्य में इत्यादि इत्यादि। इन संवादों तथा विवादों का मुख्य कथानक से प्राय: कोई संबंध नहीं। वे कथानक के विकास को शिथिल करते हैं। कथानक के विकास में सहायक न होकर ये उसके बाधक बन जाते हैं।

अपने 'विशाख' नाटक में प्रसाद जी ने महापिंगल के शब्दों में नाटकों में स्वगत के प्रयोग की इस प्रकार आलोचना की है—"जैसे नाटकों के पात्र स्वगत जो कहते हैं, वह दर्शकसमाज वा रंगमंच सुन लेता है पर पास का खड़ा पात्र नहीं सुन सकता, उनको भरत बाबा की शपथ है" इत्यादि। इन शब्दों से यही जान पड़ता है कि प्रसाद जी पृथग्-भाषण (Aside) को स्वाभाविक और उचित नहीं मानते थे। परन्तु पृथग्-भाषण (Aside) तथा स्वगत-भाषण (Soliloquy) में बड़ा अन्तर है। स्वगत इतना अस्वाभाविक तथा हास्यास्पद नहीं लगता जितना कि पृथग्-भाषण। इसीलिए प्रसाद जी ने अपने नाटकों में अथवा अन्यत्र कहीं स्वगत (Soliloquy) का विरोध नहीं किया, वरन् अपने नाटकों में स्वगत का बहुत अधिकता के साथ उपयोग किया है। जहाँ उनके नाटकों में छोटे-छोटे स्वगत-भाषणों की भरमार है, वहाँ लंबे स्वगत भी उनके नाटकों में कम नहीं हैं। स्वगत भले ही पृथग्-भाषण जितने अस्वाभाविक न भी हों तथापि उनकी बहुलता तथा अनावश्यक लम्बाई

निश्चय ही दोष मानी जायगी। प्रसाद जी के नाटकों में कई स्वगत बहुत लम्बे हैं, जैसे 'चन्द्रगुप्त' के प्रथम अंक के चौथे तथा सातवें दृश्य में तथा तृतीय अंक के छटे दृश्य में चाणक्य के स्वगत; 'चन्द्रगुप्त' के चतुर्थ अंक के चौथे दृश्य में मालविका का स्वगत-भाषण जिसमें वह गीत भी गाती है; 'अजातशत्रु' के प्रथम अंक के द्वितीय दृश्य में बिम्बसार का स्वगत, प्रथम अंक के नवम दृश्य में पद्मावती का स्वगत-भाषण तथा स्वगत-गान, द्वितीय अंक के चौथे दृश्य में श्यामा का स्वगत, तृतीय अंक के दूसरे दृश्य में बन्दीगृह में वाजिरा का लम्बा स्वगत जिसमें वह गीत भी गाती है, इत्यादि इत्यादि। स्वगत की योजना सह्य ही नहीं, कई बार स्तुत्य भी हो सकती है, यदि स्वगत का प्रयोग अवसर तथा प्रसंग के अनुकूल हो तथा वे अधिक लम्बे और व्यर्थ न हों। स्वगत की योजना केवल तभी की जानी चाहिए जब कि वह चरित्र चित्रण आदि के लिए अनिवार्य हो, किसी चरित्र-विशेष के निहित गुणों तथा विशेषताओं पर प्रकाश डालने के लिए उसकी विशेष आवश्यकता हो।

प्रसाद जी के नाटकों का एक और दोष अनावश्यक प्रसंगों तथा व्यर्थ के दृश्यों की अवतारणा है। जहाँ किसी घटना अथवा कार्य का निर्देश केवल सूच्य में किया जा सकता था, वहाँ भी पूरे का पूरा दृश्य दे दिया गया है। इसके अतिरिक्त कई दृश्य ऐसे भी रख दिये गये हैं जिनकी सूच्य में भी आवश्यकता नहीं थी, क्योंकि वे वास्तव में नाटककार के अपने मन के भावों को ही स्पष्ट करते हैं, कथानक के साथ उनका कोई सम्बन्ध नहीं है। कथानक को तनिक मात्र भी क्षति पहुँचाये बिना वे नाटक में से हटाये जा सकते हैं। उदाहरण के लिए 'चन्द्रगुप्त' के द्वितीय अंक का छटा दृश्य (मालवों के स्कंधावार में युद्ध-परिषद्) केवल सूच्य मात्र हो सकता था। इसी नाटक के प्रथम अंक के तीसरे तथा सातवें दृश्यों का भी कथानक के साथ कोई सम्बन्ध नहीं, यद्यपि इनसे चाणक्य के चरित्र पर कुछ प्रकाश अवश्य पड़ता है। इसके अतिरिक्त अनावश्यक लम्बे संवादों के सम्बन्ध में जिन दृश्यों का नाम लिया गया है, उनमें से भी अधिकतर हटाये जा सकते हैं, अथवा सूच्य मात्र हो सकते हैं।

प्रसाद जी के नाटकों की एक और विशेषता जो दोष बन गई है वह यह है कि उन्हों ने रंगमंच पर मृत्यु, आत्महत्या तथा वध के अनेक दृश्य प्रस्तुत किये हैं। उदाहरण के लिए 'चन्द्रगुप्त' में नाटककार ने कल्याणी, पर्वतेश्वर, नन्द तथा आंभीक आदि की मृत्यु रंगमंच पर दिखाई है। इसी प्रकार 'स्कन्दगुप्त' में भी देवकी, बन्धुवर्मा, विजया, पर्णदत्त आदि की मृत्यु भी स्टेज पर ही दिखाई गई है। मृत्यु तथा हत्या का प्रदर्शन प्रसाद के नाटकों में इतना अधिक है कि कहीं-कहीं

तो एक-एक दृश्य में दो-दो हत्याएँ दिखाई गई हैं। 'चन्द्रगुप्त' के प्रथम अंक में छोटे से चौथे दृश्य में पर्वतेश्वर तथा कल्याणी की मृत्यु दिखा दी गई है। कला एवं सुरुचि के विचार से ऐसा करना सुन्दर अथवा स्तुत्य नहीं है। इससे सुरुचि-सम्पन्न सामाजिकों (जिनके लिए विशेष रूप से प्रसाद के नाटक अभिप्रेत हैं) के कोमल तथा परिष्कृत मन को अवश्य आघात पहुँचेगा।

इसके अतिरिक्त प्रसाद जी के नाटकों की क्लिष्ट भाषा तथा परिहास का प्रायः अभाव भी उनके नाटकों के नाटकीय सौंदर्य तथा सजीवता को कम कर देता है, चाहे दर्शक साधारण हों अथवा सुशिक्षित एवं सुसंस्कृत।

परन्तु अन्त में हमें यह मानना पड़ेगा कि इन सभी छोटे-बड़े दोषों के रहते हुए भी प्रसाद जी के नाटक हिन्दी-साहित्य का गौरव तथा उसकी अमूल्य निधि हैं। यदि रंगमंच के विचार से इनमें कुछ त्रुटियाँ और दोष हैं, तो इनके लिए प्रसादजी केवल कुछ अंश में ही दोषी हैं। इनका बड़ा कारण व्यवस्थित तथा नियमित हिन्दी रंगमंच के प्रचलन का अभाव है। यदि प्रसाद जी के समय में हमारे यहाँ नियमित रूप से हिन्दी-रंगमंच प्रचलित होता, तो अपनी सभी कवित्वपूर्ण तथा दार्शनिक प्रवृत्तियों के होते हुए भी तथा संस्कृत-गर्भित हिन्दी से मोह रखते हुए भी वे अपने नाटकों को रंगमंच के अधिक उपयुक्त बनाने में सावधान रहते।

पन्द्रहवां अध्याय

(क) प्रहसन और व्यंग्य

यद्यपि संस्कृत साहित्य में प्रहसनों की परम्परा बहुत पुरानी है, तथापि हिंदी में इस प्रथा का प्रवर्तन भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' (१८७३) तथा 'अन्धेर नगरी' (१८८१) लिख कर किया। भारतेन्दु के पश्चात् बहुत से अन्य नाटककारों ने भी अनेक प्रहसनों की रचना की। इन सब का उल्लेख हम छटे अध्याय में कर चुके हैं। हिन्दी नाटक के अभावकाल (१९००-१९१२) में हमें कोई भी उल्लेखनीय प्रहसन नहीं मिलते। परन्तु आलोच्य काल में विभिन्न लेखकों द्वारा बहुत-से प्रहसनों की रचना की गई। इस काल में प्रहसनकारों ने प्रायः अपने व्यंग्य का लक्ष्य बनाया है—उन कंजूस पिताओं को जो अपनी जवान लड़कियों का या तो खर्च के डर के मारे विवाह नहीं करते या विवाह में देरी कर देते हैं, अथवा जो धन के लोभ से उन्हें बूढ़ों के पल्ले बाँध देना चाहते हैं; तथा वे विधुर या बूढ़े लोग जो नई दुलहिनों की खोज में फिरते हैं। इसके अतिरिक्त इस काल के प्रहसनों में वकीलों तथा डाक्टरों और उनके धनोपार्जन के कुत्सित उपायों, सुधारकों तथा प्रचारकों, नये फ़ैशन के प्रेमी हमारे नवयुवकों और नवयुवतियों, रायबहादुरों तथा ऑनरेरी मजिस्ट्रेटों, वेश्याओं तथा उनकी बेवफ़ाई, ब्राह्मणों के पाखण्ड तथा साधुओं के नीच व्यवहार और व्यभिचार आदि पर हास्य तथा व्यंग्य की सृष्टि की गई है।

आलोच्य काल के प्रहसनकारों में से श्री जी० पी० श्रीवास्तव ने संख्या में सबसे अधिक प्रहसनों की रचना की है। इनमें से कुछ प्रहसन मौलिक हैं और शेष अन्य भाषाओं के प्रहसनों के रूपान्तर हैं। श्रीवास्तवजी ने पहले-पहल मोलियर के कुछ प्रहसनों को हिन्दी में रूपान्तरित किया। उनका 'मार-मार कर हकीम' मोलियर के 'Le Medecin Malgre Lui' का हिन्दी रूपान्तर है। इसी प्रहसन का रूपान्तर लल्लीप्रसाद पाण्डेय ने 'ठोक पीटकर वैद्यराज' नाम से किया। यह एक घटिया-सा प्रहसन है, जिसमें एक लकड़ी काटने वाले को मार मार कर हकीम बनाया जाता है और मूर्ख लोग अपने संबंधियों के इलाज के लिए उसे घर बुलाते हैं। इस छोटे से प्रहसन में लेखक ने उन लोभी पिताओं के व्यवहार पर भी व्यंग्य किया है जो धन-लिप्सा के कारण अपनी युवती पुत्रियों

को बूढ़ों के साथ ब्याह देते हैं। वे उनकी यौवनोचित मनोकामनाओं की उपेक्षा करके उनकी मानसिक अस्वस्थता का इलाज मार मार कर बनाये हुए हकीमों के व्यर्थ उपचार द्वारा कराना चाहते हैं।

'आँखों में धूल' जो कि मोलियर के 'L' Amour Medecin' का रूपांतर है, भी ऐसे ही विषय को लेकर लिखा गया है। केतकी का कंजूस पिता गोबरचंद अपनी पुत्री के विवाह में इसलिए विलम्ब करता है कि उसे विवाह पर खर्च करना पड़ेगा। वह सोचता है—

गोबरचन्द—...अगर शादी करूँ तो रुपए के रुपए दूँ और लड़की से भी हाथ धोऊं।......पाला-पोसा, बड़ा किया मैंने, और जब वह किसी लायक हुई तो फ़ायदा उठाए कोई और। ऐसा गोबरचंद मूर्ख नहीं। (प्रथम अंक, पाँचवां दृश्य)

वह अपनी बेटी की, उसके प्रेमी की तथा समाज की आँखों में धूल झोंकना चाहता है (इसी से प्रहसन का नाम 'आँखों में धूल' रखा गया है) परन्तु दूसरा पक्ष उसकी ही आँखों में इस कुशलता के साथ धूल डाल देता है कि उसकी पुत्री की शादी उसके प्रेमी के साथ धोखे से उसी कंजूस पिता के हाथ से कराई जाती है। इस प्रहसन में भी लेखक ने नायिका की सखी के इन शब्दों में उचित समय पर योग्य वर के साथ लड़की के विवाह पर ज़ोर दिया है—

चंचल—अगर माली को इसका कुछ भी ख़्याल होता, तो वह ख़ुद ही आज इसका गुलदस्ता बनाकर किसी शौकीन के हाथ में देता; क्योंकि सुबह तक इसकी हालत और ही हो जाएगी। न यह यौवन होगा और न यह सूरत होगी।

'हवाई डाक्टर', जिसका आधार मोलियर का 'Le Medecin Volant' है, में लेखक पुनः जवान लड़कियों के बूढ़ों के साथ विवाह का विरोध करता है। इस में घनचक्कर कुशलता से डबल रोल (दोहरा अभिनय) खेलता है, जब कि वह एक डाक्टर तथा उसके परित्यक्त भाई का एक साथ अभिनय करता है। वह दृश्य जिसमें वह अपने डबल रोल से गोबरचंद को उल्लू बनाता है, बड़ा मनोरंजक एवं हास्यपूर्ण है। 'साहब बहादुर उर्फ़ चड्ढा गुलखेरू' भी एक और रोचक प्रहसन है जो कि मोलियर के 'Le Bourgoise Gentilhomme' के आधार पर लिखा गया है। इसमें फ़ैशनेबल परन्तु मूर्ख हजामतबेग का चरित्र बड़ा मनोरंजक है।

इन रूपान्तरित प्रहसनों के अतिरिक्त श्रीवास्तव ने कुछेक मौलिक प्रहसन

भी लिखे हैं जो कि उनके रूपांतरों की अपेक्षा अधिक सुन्दर हैं। 'दुमदार आदमी' (१९१९) में श्रीवास्तव जी ने वकीलों तथा उनके जीवन के ढंग पर व्यंग्य किया है। देखिए, लेखक किस प्रकार एक वकील का चित्र अंकित करता है—

[निपोड़शंख—एक बड़ी सी दुम लगाए हुए जिसके आख़िरी हिस्से में अंग्रेज़ी के मोटे-मोटे अक्षरों में B.A., B.Sc., LL.B. दोनों तरफ़ लिखे हुए हैं, एक पैर में चूड़ीदार पैजामा दूसरे में ढीली मोहरी का पैजामा पहने, उल्टी अचकन पहने, एक बड़े डण्डे पर सवार, एक हाथ में जूता लिए डण्डे को पीटते हुए प्रवेश करते हैं]।

(प्रथम अंक, पहला दृश्य)

जी० पी० श्रीवास्तव का 'गड़बड़झाला' बहुत ही मनोरंजक प्रहसन है। प्रहसन के आरंभ में ही बिगड़े दिल के स्वगत-भाषण में लेखक ने कुछ सामयिक बुराइयों की ओर संकेत कर दिया है, जिन्हें वह अपने व्यंग्य का लक्ष्य बनाना चाहता है—

बिगड़े दिल—(आप ही आप) कुछ कहा नहीं जाता। ज़माने की हवा ही बदल गई। मर्द ज़नाने हो गए। औरतें मरदानी हो गईं। लड़के सयाने हो गए। सयाने नादान बच्चे हो गए। जवानों में बुढ़ापा आ गया। बुढ़ापे में नये सिरे से जवानी समा गई। पचास बरस वाले तेरह बरस की कुमारियों की ताक में हैं।······ख़ूबसूरत लड़कियां बूढ़ों से नहीं बचने पातीं। इनके लिए न टीपन का झगड़ा न ग्रह का बखेड़ा। चट मंगनी पट ब्याह।······मगर नौजवानों के लिए सौ-सौ मुसीबतें। पण्डितों का विचार, ग्रह का मिलन······इत्यादि, इत्यादि।

इस प्रहसन में बूढ़ा मनहूसलाल जिसकी पहली बूढ़ी पत्नी जीवित है, एक सुन्दर युवती नलिनी के साथ विवाह करना चाहता है। यद्यपि वह बड़े कट्टर तथा रूढ़िवादी विचारों का आदमी है, तथापि इस मामले में वह जन्मपत्री मिलाने आदि के सभी झगड़ों को छोड़ने के लिए तैयार है। परन्तु जिस प्रकार वह अपनी कुत्सित बूढ़ी वासनाओं की तृप्ति के लिए युवती कन्या को शिकार बनाना चाहता है, उसी प्रकार उसका जवान पुत्र कम्बख़्तलाल, जो कि पहले ही विवाहित है, उसी युवती नलिनी के लिए तड़पता है। जीवन का जी भर कर उपभोग करना तथा नित्य नई सुन्दरियों से विलास करना—यही उसके मन की तीव्र अभिलाषा है—

कम्बख़्त—ज़िन्दगी मज़ा करने के लिए है न कि दुःख उठाने के लिए······बग़ल में नलिनी होगी, मुंह में शराब की बोतल होगी और

सामने रंडियां नाचती होंगी। औरत मर्द के लिए बनाई गई है। जहां एक से तबीयत घबराई, उसको धता बताई और दूसरी घर में आई……सलामती चाहिए अपनी जवानी की। कहीं औरतों की कमी है? औरतें तो जूतियां हैं। जब जरा पुरानी हुईं चट बदल दीं।

(प्रथम अंक, दूसरा दृश्य)

अन्त में मनहूसलाल का नौकर बुद्धू लड़की के घरवालों की संकट में सहायता करता है। वह स्त्री का वेश धारण करके, नलिनी का स्वांग रचकर, पिता और पुत्र दोनों के ही प्यार को स्वीकार करता है। बूढ़े मनहूसलाल के सामने वह उसके प्रेम की शपथ लेता है और उसकी अनुपस्थिति में उसके बेटे कम्बख़्त-लाल की मुहब्बत का दम भरता है। मनहूसलाल जिसे अपनी वृद्धावस्था तथा अपनी पत्नी (नलिनी के वेश में बुद्धू) के यौवन का ध्यान है, उसकी ख़ुशामद करता है तथा धीरे-धीरे बड़ी चतुरता से उसे पातिव्रत धर्म का उपदेश देता है। वास्तव में यदि गंभीरता से देखा जाय तो बूढ़े मनहूसलाल के नीचे लिखे शब्दों में लेखक का प्रचलित पातिव्रत धर्म के झूठे तथा अन्यायपूर्ण सिद्धान्त पर तीखा व्यंग्य निहित है, जिसका मतलब है—एक प्रकार से पत्नी की यौवनभरी उमंगों का पूर्ण बलिदान—

मनहूस—प्यारी, औरत के लिए उसका पति ही सब कुछ है। चाहे लंगड़ा हो, लूला हो, या जरा बूढ़ा भी हो। उसी की तन मन से सेवा करने से औरत वैकुण्ठ में जा सकती है। (प्रथम अंक, तीसरा दृश्य)

नाटक का हास्य उस समय पराकाष्ठा को पहुँच जाता है जब बाप और बेटा उस 'लड़की' पर प्रेम जताने के लिए एक दूसरे के सामने आ जाते हैं। बाप बेटा दोनों ही उसे अपनी पत्नी बनाने के लिए झगड़ते हैं। इस क्षण हास्य में और भी वृद्धि करने के लिए नाटककार बाप तथा बेटे दोनों की विवाहिता पत्नियों को भी उसी स्थल पर पहुंचा देता है। अपनी पत्नियों के वहाँ आ जाने तथा प्रेम का वह झगड़ा देख लेने से बाप-बेटा दोनों क्रोधित और उत्तेजित हो जाते हैं। गड़बड़-सी मच जाती है। इसी गड़बड़ और उत्तेजना में बाप अपनी पुत्र-वधू को अपनी पत्नी समझकर उसका हाथ पकड़कर घसीट ले जाता है और बेटा अपनी माँ को अपनी पत्नी समझकर उसे घसीट कर ले जाता है।

नाटक का हास्य, जो कि व्यंग्य से पूर्ण है, यहीं समाप्त नहीं हो जाता। जब 'नलिनी' एक साथ बाप-बेटे दोनों की पत्नी होने की हामी भरती है, तो ये लोग उसे पागल समझकर उसके इलाज के लिए डाक्टर को बुलाते हैं। परन्तु 'लड़की' के रूप-यौवन को देखकर डाक्टर भी उस पर मोहित हो जाता है और

उसे अपनी बनाने की सोचता है। इस प्रकार नाटककार ने पुरुषों की कुत्सित वासना, भोग-लिप्सा तथा दुराचार पर व्यंग्य किया है, जो सदा सर्वप्रकार से सुन्दर युवतियों को अपने चंगुल में फंसाने की सोचते रहते हैं। अन्त में बुड्ढ़ अपना असली भेस प्रकट कर देता है और बाप, बेटा तथा डाक्टर सभी अपने व्यवहार पर लज्जित होते हैं।

इनके अतिरिक्त श्रीवास्तव ने और भी कितने ही रोचक प्रहसन लिखे हैं, जिनमें 'उलट-फेर' (१९१८), 'मर्दानी औरत' (१९२०), 'कुरसी मैन', 'न घर का न घाट का', 'साहित्य का सपूत' आदि उल्लेखनीय हैं। अन्तिम प्रहसन शेष की अपेक्षा कुछ सुन्दर एवं परिष्कृत है। इसमें लेखक ने आधुनिक दृष्टिकोण से साहित्य में भाषा, कविता एवं हास्य की रूढ़िवादी प्रवृत्ति पर व्यंग्य किया है। अपने प्रहसन में रोचकता की वृद्धि करने के उद्देश्य से लेखक ने कथानक को शृंगार का पुट दे दिया है। संसारीलाल, जो साहित्य में अर्वाचीनता का पक्षपाती है, साहित्यानन्द की कन्या से प्रेम करता है, जो कि पुरानी साहित्यिक रूढ़ियों के पक्ष में है। इस शृंगारिक कथानक के विकास में नाटककार ने कुछ हास्यपूर्ण प्रसंगों की अवतारणा की है।

जी० पी० श्रीवास्तव के प्रहसनों के अध्ययन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि उनका हास्य अधिकतर निम्न कोटि का, कलाहीन एवं कुरुचिपूर्ण है। बहुत कम स्थलों पर हमें उनके प्रहसनों में परिस्थिति का हास्य मिलता है (उदाहरण के लिए 'गड़बड़झाला' में)। अन्यथा या तो उन्होंने पात्रों के बेढंगे नामों से (जैसे टर्रेखां, घबड़ाहटमल्ल, बण्टाधार, मनहूसलाल, कम्बख़्तलाल, गोबरचंद, हजामतबेग, फोकटराय, सत्यानाशी इत्यादि) हास्य उत्पन्न करने का यत्न किया है, या पात्रों की धींगा-मुश्ती, जूती-पैजार तथा भद्दे वार्तालाप आदि द्वारा हास्य उत्पन्न किया गया है। उनके प्रहसनों का सारा वातावरण ही कुरुचिपूर्ण तथा अशिष्ट है। कहीं-कहीं श्रीवास्तव जी अपने व्यंग्य में बड़े निर्भीक और स्पष्ट भी हो गये हैं, परन्तु ऐसी अवस्था में उनका प्रहसनकार की अपेक्षा सुधारक या प्रचारक रूप ही अधिक दिखाई देता है।

जी० पी० श्रीवास्तव की अपेक्षा बद्रीनाथ भट्ट के प्रहसन उच्च कोटि के तथा सुन्दर हैं। उनके प्रहसनों में 'चुंगी की उम्मीदवारी' (१९१९) 'लबड़धोंधों' (१९२६) 'विवाह-विज्ञापन' (१९२७) तथा 'मिस अमेरिकन' (१९२९) विशेष प्रसिद्ध हैं। 'चुंगी की उम्मीदवारी' में लेखक ने म्युनिसिपैलिटी के निर्वाचन का चित्र अंकित किया है और बड़े हास्यपूर्ण परन्तु यथार्थ ढंग से यह दिखाया है कि निर्वाचन में खड़े होने वाले भिन्न-भिन्न पक्ष अथवा पदान्वेषी किस प्रकार वोट

प्राप्त करने के लिए विविध तरीक़े अपनाते हैं, और वोट पाने के लिए अपनी मान-मर्यादा का समस्त विचार छोड़कर अपने-आपको कहाँ तक नीचे गिरा देते हैं (दूसरा अंक, प्रथम दृश्य)। बेचारे मतदाता इन पदान्वेषियों तथा उनके साथियों के बार-बार के आग्रह और अनुनय से इतने तंग आ जाते हैं कि उनमें से अधिकांश तो किसी भी पक्ष में मत न देने का निश्चय कर लेते हैं (द्वितीय अंक, दूसरा दृश्य)। यह दृश्य बड़ा ही हास्यपूर्ण है जहाँ प्रत्येक पक्ष मत-दाताओं को अपनी ओर घसीटता है, और अन्त में दोनों पक्षों में मारपीट शुरू हो जाती है (तृतीय अंक, पहला दृश्य)।

प्रहसन का मंगलाचरण भी, जिसमें सूत्रधार म्युनिसिपैलिटी की वन्दना करता है, बड़ा हास्यपूर्ण है—

शुक्ल श्यामांग शोभाढयां, गौन साड़ी विभूषिताम्
महामोहलसङ्कालां, करालां कालसोदराम्।
चंदां चुंगीं विचिन्वन्तीं, खुली नालीं निकालतीम्
डालतीं च नज़र अपनी, चारों जानिब रुआब से ॥ इत्यादि।

तां श्रीमहाम्यूनिसिपैलिटीति
ख्यातां सतीं भारत-भाग्य-देवीम्।
सर्वे वयं नम्र-विनीत-शीर्षाः
पुनः पुनः पौरजनाः नमामः ॥

'विवाह-विज्ञापन' (१९२७) में एक ऐसे पुरुष की हँसी उड़ाई गई है जो पहली पत्नी के मर जाने के पश्चात् ऊपर से तो यह दिखाता है कि वह दूसरा विवाह करना नहीं चाहता, किन्तु उसकी हार्दिक अभिलाषा यह है कि किसी अनुपम सुन्दरी तथा सर्वगुण-सम्पन्न युवती के साथ विवाह हो जाय। इस उद्देश्य के लिए वह पत्र में विवाह का विज्ञापन देता है। विज्ञापन के शब्द इस प्रकार के चुन-चुन कर बेढंगे प्रयुक्त किये जाते हैं तथा प्रहसन में परिस्थितियों एवं प्रसंगों की योजना इस प्रकार की जाती है कि अनायास हँसी आती है। अन्त में उस व्यक्ति का विवाह तो हो जाता है परन्तु जब वह अपनी नई दुलहिन के दर्शन करता है तो उसके वास्तविक रूप को देखकर अवाक् रह जाता है। दुलहिन के दांत, नाक और बाल आदि बनावटी हैं, वह वास्तव में इन चीज़ों से रहित है। बाह्य आकृति कितनी धोखा देने वाली होती है, यह उस व्यक्ति को तब पता लगता है जब कृत्रिम नाक, दांत और बाल आदि एक-एक करके उसके सामने अलग कर दिये जाते हैं और स्त्री की कुरूप आकृति उसके सामने आ जाती है ; किन्तु अब क्या हो सकता था। परिस्थिति का हास्य इस प्रहसन में

उच्च कोटि का है। प्रहसन में लेखक ने बनावटी सौंदर्य तथा पश्चिमी मेक-अप के प्रचार की परोक्ष रूप से हँसी उड़ाई है तथा प्रत्यक्ष रूप में अधेड़ पुरुषों की नई शादी की धुन पर व्यंग्य किया है।

'मिस अमेरिकन' (१६२६) भी भट्ट जी का एक सफल, सुन्दर तथा मनोरंजक प्रहसन है। इसमें उन्होंने पाश्चात्त्य सभ्यता एवं आचरण का उपहास किया है। प्रहसन में अमेरिकन पात्र पाश्चात्त्य चरित्र के प्रतिनिधि हैं। उनके चरित्र में सदाचार सम्बन्धी कोई आदर्श अथवा नियम नहीं है। उनका एकमात्र उद्देश्य केवल धन की प्राप्ति है चाहे वह प्राप्ति किसी भी तरीके से हो—

मिसेज़ अमेरिकन—...मेरी प्यारी दुलारी, न सही गोरा, कोई हिन्दुस्तानी ही सही। अपने यहां तो, यदि रुपया मिले तो सुअर से भी विवाह या मित्रता करने में संकोच नहीं किया जाता। इत्यादि।

(प्रथम अंक, दूसरा दृश्य)

मिसेज़ अमेरिकन—...अरी मूर्ख, तुझे भैंसासुर देखना है या रुपया? प्यारी पुत्री, बस रुपया! रुपया! रुपया! जैसे बने वैसे रुपया! (प्रथम अंक, दूसरा दृश्य)

उनकी पुत्रियाँ चाहे किसी से शादी करें या अनुचित सम्बन्ध रखें, परन्तु उससे उनको धन का लाभ अवश्य होना चाहिए। वे भारतीय संस्कृति के आध्यात्मिक महत्त्व को समझने में असमर्थ हैं और पश्चिम के भोगवाद के स्थूल आवरण से अंधे हो चुके हैं। बुहारीलाल के चरित्र में लेखक ने उस प्रवृत्ति पर व्यंग्य किया है जिसके अनुसार सुन्दरता का भद्दा तथा कुरुचिपूर्ण चित्रण तथा अश्लीलता ही कविता की जान है। बुहारीलाल अनेक बार कविता में अश्लीलता पर ज़ोर देता है—

बुहारी—...इस बात में शायद आप भी मुझसे सहमत होंगी कि अश्लीलता ही कविता की जान है। संसार में लोकोत्तरानन्ददायिनी अगर कोई चीज़ है तो बस अश्लीलता, और वाक्य को नाक तक रस में भर देने वाली अगर कोई चीज़ है तो बीभत्सता। इत्यादि।

(प्रथम अंक, पाँचवां दृश्य)

इस प्रहसन की एक विशेषता यह है कि लेखक ने पात्रों की संख्या अपेक्षाकृत कम रखी है। इस प्रहसन में केवल पाँच पुरुष-पात्र तथा तीन स्त्री-पात्र मुख्य हैं।

श्रीवास्तव तथा भट्ट जी के प्रहसनों के अतिरिक्त बेचन शर्मा 'उग्र' का 'उजबक' तथा 'चार बेचारे' और सुदर्शन का 'ऑनरेरी मैजिस्ट्रेट' भी बड़े मनो-

रंजक प्रहसन हैं। 'चार बेचारे' में लेखक ने सम्पादक, अध्यापक, सुधारक तथा प्रचारक, इन चार बेचारों को अपने हास्य और व्यंग्य का लक्ष्य बनाया है। सुदर्शन जी का 'ऑनरेरी मैजिस्ट्रेट' बड़ा उत्कृष्ट प्रहसन है। इसमें प्रहसनकार ने यह दिखाया है कि यदि अशिक्षित तथा अल्पबुद्धि सरकारी पिट्ठुओं को ऑनरेरी मैजिस्ट्रेट बना दिया जाय तो वे लोग किस प्रकार न्याय का गला घोंटते हैं, तथा स्वार्थ सिद्ध करने का यत्न करते हैं। पहले तो वे सरकारी चपरासी के दर्शन मात्र से ही इतने भयभीत हो जाते हैं कि उनके प्राण होठों पर आ जाते हैं। फिर जब वह ऑनरेरी मैजिस्ट्रेट बना दिये जाते हैं तो न्याय को सस्ते दामों बेचना शुरू कर देते हैं और व्यक्तिगत वैमनस्य तथा शत्रुता का बदला निकालने की सोचते हैं। इस प्रहसन में अश्लीलता का तनिक मात्र भी समावेश नहीं है, न हास्य ही अस्वाभाविक अथवा बरबस लाया गया है।

संक्षेप में इस काल के प्रहसनों पर विचार करते हुए यह कहा जा सकता है कि अधिकतर प्रहसनों में प्रायः हास्य उत्पन्न करने के कलाहीन, कुरुचिपूर्ण और घटिया साधनों से काम लिया गया है। पहली बात तो यह है कि इनमें अधिकतर पात्रों के बड़े भोंड़े तथा हास्योत्पादक नाम रखे गये हैं, जिनके पुकारने और सुनने से ही हँसी आती है। दूसरे कई एक प्रहसनों की भाषा-शैली बड़ी परिहासपूर्ण है। शब्द तथा वाक्य इस ढंग से रखे गये हैं कि उनके बोलने मात्र से हँसी आ जाती है। उदाहरण के लिए 'दुमदार आदमी' के प्रथम अंक के दूसरे दृश्य में इस संवाद को देखिए—

सर्वदानन्द—आप चाहे वकील हों या बैरिस्टर—

अलबेले—मादा हों या नर—

रंगीले—घोड़ा हों या खर—

गुलजार—आदमी हों या बन्दर—

घबड़ाहट—हकीम हों या डाक्टर—

सर्वदानन्द—मुनसिफ़ हों या डिप्टी-कलेक्टर। इत्यादि, इत्यादि।

इसी प्रकार का घटिया हास्य 'लबड़धोंधों' में इन पंक्तियों द्वारा उत्पन्न किया गया है—

हाकिम—तू अच्छी तरह नौकरी बजा सकेगा ?

नौकर—क्या घंटा बजाने की नौकरी है ? हजूर मेरा क्या जाता है, आप कहेंगे तो दिनरात घण्टे बजाया करूँगा।

हाकिम—अबे बेवकूफ़ !

नौकर—(आप ही आप) एक सारटीफ़िटक तो मिला।

हाकिम—घण्टा-बण्टा कुछ नहीं, तू सब काम सँभाल लेगा ?

नौकर—जी हाँ, क्यों नहीं। मैं क्या आदमी नहीं हूं ? आदमी का काम आदमी नहीं सँभालेगा तो क्या जानवर सँभालेंगे ? इत्यादि।

कहीं-कहीं भिन्न-भिन्न प्रादेशिक भाषाओं अथवा गँवारू बोलियों का प्रयोग करके हास्य की सृष्टि की गई है। कभी-कभी कुछ पात्रों की विशेष आदतों के द्वारा अथवा उनके उच्चारण के विशेष ढंग के द्वारा भी हास्य उत्पन्न किया गया हैं, जैसे—

धौंकलदास—जदी मेरे को पूछोओ तो मेरी शमझ में जेई आवे ऐ, कि लला लुगाई शुशरी गेहणों ई शे खश होय ऐ। हमने अपनी जोरुआ को जाई तरेशे राजी राखे ऐ। वो रांड तो भोत बके झके ऐ। छे छे फ़ीट की जूती शे बात करे ऐ। इत्यादि।

('आँखों में धूल', प्रथम अंक, पहला दृश्य)

अथवा—

बण्टाधार—तभी तो शम्पादक बन गये। लेखक बनते तो लेख लिखना पड़ता, कवि बनते तो कविता करनी पड़ती, और शम्पादक बनने में मज़े शे बैठे बैठे धन लूट कर तोंद फुलानी पड़ती है, और यों मुफ़्त के शाहित्य के शपूत कहलाते हैं। जब शे शम्पादक बने हैं तब शे शाढे शत्रह इञ्च तोंद बढ़ गई है। चाहे नाप के देख लो।

('मरदानी औरत', प्रथम अंक, पाँचवां दृश्य)

'उजबक' में संठ और लंठ नामक दो कवियों का संवाद भी बड़ा हास्योत्पादक है—

लंठ—मेरा कहना है ब्रजभाषा मोस्ट रद्दी है,
खाखाँ की गद्दी है,
नूतनता मौलिकता हीन है
दीन, अनबीन है।
और स्वच्छन्द मेरा राग घटबढ़ है—
छन्द जो रबड़ है।
ओल्ड ब्रजभाषा में कलंक है, सुलंक है
डर्टी पर्यंक है,
कामिनी है कुच है, कालिन्दी का किनारा है,
तेरहवीं सदी की गण्डकी की गन्दी धारा है। इत्यादि।

संठ—(लंठ को ललकार कर)।

रुको ! रुको ! मत क्रोध दिलाओ,
झुको ! झुको ! मत बात बढ़ाओ।
अब मत राग बेसुरा गाओ,
ससुर बनो सुर को अपनाओ। इत्यादि।

इन उपायों के अतिरिक्त कई स्थलों पर असंयत हास्य की सृष्टि अतिनाटकीय प्रसंगों द्वारा की गई है। जी० पी० श्रीवास्तव ने इस रीति का अनेक बार उपयोग किया है। उदाहरण के लिए 'मरदानी औरत' में संपादक बंटाधार नीलाम करनेवालों की दृष्टि से बचने के लिए एक बोरे में छिप जाता है। वह बोरा सौ रुपये में सुखिया को नीलाम हो जाता है। ख़रीदनेवाला जब बोरे को खोलता है तो उसमें से बण्टाधार निकल पड़ते हैं और उनको ख़ूब मार पड़ती है। (तीसरा अंक, सातवां दृश्य)। इस प्रकार के दृश्यों से दर्शक अपनी हँसी को रोक नहीं सकते।

इसी प्रकार इसी प्रहसन के द्वितीय अंक के तीसरे दृश्य में एक अहीर, जिसको रात के समय दिखाई नहीं देता, अपनी खोई हुई भैंसों की खोज में निकलता है, और मोटे पेटूलाल तथा बंटाधार को रात में अपनी भैंसे समझकर मारने दौड़ता है तो हंसी रोके नहीं रुकती—

(एक अहीर का डण्डा लिये हुए आना)

अहीर—न जाने मोर दूनों भैंसीयें कहां तुड़ाय के गयीं। अब कहां जायी ढूंढें। रतौंधी होत है। भले सूझ नाहीं पड़त है। हो लेयो ! जानो समनवे दूनों ठाढ़ हैं। भले मिलि गयीं। आओ भू-ऊ-रि ! (डण्डा से पेटूलाल और बंटाधार की तोंद पर मारता है) अरे ! चल नहीं कोई कानीज हउज मां करियाये देयी। अरे भाग चल। तक ! तक ! तक ! (पीछे दुम पकड़ने के लिए हाथ बढ़ाता है) अरे ! पोंछिया कवन कसाई काट लेइगा। हो लियो। सिंघियो कहूं तुड़ाय आइस ! हाय दादा ! (मारता है)।

(पेटूलाल और बंटाधार घबरा कर भाग जाते हैं।
पीछे अहीर मारता हुआ जाता है।)

इसी प्रकार 'गड़बड़झाला' में, उस दृश्य में जहाँ बुद्धू एक साथ पुत्र और पिता दोनों की प्रेमिका होने का अभिनय करता है और ऊपर से दोनों की विवाहिता पत्नियाँ पहुँच जाती हैं, देखनेवाला हँसी से लोटपोट हो जाता है।

संक्षेप में इस काल के प्रहसनों के विषय में यह कहा जा सकता है कि

उनमें अधिकतर रचनाएं वस्तु-संगठन तथा चरित्र-चित्रण की कुशलता से रहित हैं। उनमें निम्न कोटि के अशिष्ट हास्य की, सस्ते मनोरंजन की, कृत्रिम और स्थूल व्यंग्य की तथा अतिनाटकीय प्रसंगों की सृष्टि की गई है। स्वाभाविक हास्य की परिस्थितियों की इनमें कमी है। जी० पी० श्रीवास्तव ने बहुत-से प्रहसनों की रचना की परन्तु रस, कला, सुरुचि एवं स्वाभाविकता की दृष्टि से बहुत ही निम्न कोटि की रचनाएँ होने के कारण शिक्षित समाज में इनका विशेष मान नहीं हुआ। सुदर्शन, भट्ट तथा उग्र जी की रचनाओं में उच्च कोटि के तथा शिष्ट हास्य और तीखे व्यंग्य की कमी नहीं, परन्तु इन्होंने बहुत थोड़े प्रहसनों की रचना की है। यद्यपि हिन्दी नाटक के इतिहास में इन प्रहसनों का कला की दृष्टि से विशेष महत्त्व नहीं है, तथापि एक प्रकार से ये बड़े उपयोगी सिद्ध हुए। इन प्रहसनों ने कुछ हद तक अगले काल (१९३२–४८) के यथार्थवादी नाटकों के लिए मार्ग प्रशस्त किया, आगामी काल के समस्या-नाटकों के लिए जनता को तैयार कर दिया। अन्यथा उन समस्या-नाटकों में उठाई तथा सुलझाई गई समस्याओं के एकदम नाटकों में उपस्थित किये जाने पर जनता चकित एवं विक्षुब्ध हो उठती।

(ख) यथार्थवादी नाटक

ऊपर वर्णन किये गये प्रहसनों तथा व्यंग्य-नाटकों में लेखकों ने व्यंग्य-मिश्रित हास्य के सबल परन्तु कोमल साधन से सामयिक सामाजिक, धार्मिक तथा घरेलू बुराइयों आदि का उद्घाटन एवं विरोध किया था। इन प्रहसनों के अतिरिक्त कुछ गंभीर नाटक भी इस काल में सामयिक समस्याओं और विषयों पर लिखे गये। जहाँ प्रहसनों में हास्य की सृष्टि करने के उद्देश्य से जीवन का अतिशयोक्तिपूर्ण चित्रण किया गया है, वहाँ गंभीर नाटकों में जीवन के सभी पक्षों का वास्तविक और यथार्थ चित्रण किया गया है। बीच-बीच में कहीं पर शिष्ट और संयत हास्य की अवतारणा भी इन नाटकों में की गई है। वास्तव में ये नाटक आगामी काल के समस्या-नाटकों के पूर्व रूप हैं। इनमें हमें उस यथार्थवादी प्रवृत्ति की झलक दिखाई देती है जिसका पूर्ण विकास अगले काल (१९३२–४८) में हुआ।

इस वर्ग के नाटकों में मिश्रबंधुओं का 'नेत्रोन्मीलन' (१९१५), मुंशी प्रेमचन्द का 'संग्राम' (१९२२), लक्ष्मणसिंह का 'ग़ुलामी का नशा' (१९२४), जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी का 'मधुर-मिलन' (१९२३), जमुनादास मेहरा का 'पाप-परिणाम', तथा घनानन्द बहुगुणा का 'समाज' (१९३०) उल्लेखनीय हैं।

लक्ष्मीनारायण मिश्र के 'संन्यासी' (१९३१), 'राक्षस का मंदिर' (१९३१)

तथा 'मुक्ति का रहस्य' (१९३२) ऊपर लिखे नाटकों की अपेक्षा बहुत अधिक प्रगतिवादी हैं। अतः यद्यपि रचनाकाल के विचार से ये तीन नाटक भी आलोच्यकाल के अन्तर्गत आते हैं, तथापि उनमें अगले युग के प्रगतिशील समस्या-नाटकों से बहुत अधिक समानता है। इसलिए हम इन नाटकों पर अगले काल के अन्य समस्या-नाटकों के साथ ही विचार करेंगे।[1]

शेष नाटकों में से 'नेत्रोन्मीलन' में बड़े रोचक तथा प्रभावोत्पादक ढंग से कचहरियों के वातावरण तथा दोषों पर तथा कचहरी में मुकद्दमे ले जाने की हानियों पर प्रकाश डाला गया है। 'ग़ुलामी का नशा' राजनीतिक नाटक है, जिसमें देश की परतंत्रता का तथा स्वतंत्रता-प्राप्ति के प्रयासों का वर्णन है। 'पाप-परिणाम' बँगला के प्रसिद्ध नाटककार गिरीश घोष के 'गृहलक्ष्मी' नामक नाटक का रूपांतर है। नाटक का नायक कालिदास अपने स्वार्थी और झूठे मित्र की बातों में पड़कर रज़िया नामक वेश्या के प्रेम में फँस जाता है। उसी वेश्या के लिए वह अपने पिता को विष देकर मार डालता है और उसे अपनी सारी सम्पत्ति भेंट कर देता है। परन्तु अन्त में रज़िया उसे अपने घर से निकाल देती है। आखिर अपनी पतिव्रता पत्नी के प्रयत्न से कालिदास की आँखें खुलती हैं और वह एक भला आदमी बन जाता है। उसकी बहन कमला, जिसका विवाह मदन नामक एक नवयुवक के साथ हुआ है, अपने पड़ोसी हरिकिशोर से प्रेम करने लगती है। एक और मनुष्य हीरालाल भी कमला से प्रेम करने लगता है। हरिकिशोर मदन की हत्या करके अपने मार्ग की बाधा दूर कर देना चाहता है, किन्तु कालिदास अपने नौकर जीवन और सच्चे मित्र दुर्गादास की सहायता से मदन की ठीक समय पर पहुँच कर रक्षा करता है और हरिकिशोर को बन्दी बनाता है। नाटककार ने चरित्रों का चित्रण यथार्थवादी ढंग से किया है और नाटक में समाज की कुरीतियों पर प्रकाश डालते हुए उनके दुष्परिणाम का सुन्दर चित्र खींचा है।

प्रेमचन्द का 'संग्राम' एक सामाजिक नाटक है जिसके सभी प्रमुख पात्र गाँव के लोग हैं। इसमें पाँच अंक तथा उन्तालीस दृश्य हैं (तृतीय संस्करण में)। वस्तु-संगठन में नाटककार ने विशेष कौशल का परिचय नहीं दिया। चरित्र-चित्रण में ग़रीब किसानों (हलधर, राजेश्वरी आदि) के साथ पक्षपात किया गया है तथा उनके चरित्र को जान-बूझकर ऊंचा दिखाने का प्रयत्न किया गया है। दूसरी ओर ज़मींदारों (सबलसिंह, कंचनसिंह आदि) के चरित्र को व्यर्थ ही नीचे गिरा

१. देखिए इक्कीसवाँ अध्याय।

दिया गया है, और उनके सिर पर विविध दोष, अपराध तथा व्यसन आरोपित किये गये हैं। इस कृति से प्रेमचन्द के सफल नाटककार होने का परिचय नहीं मिलता। पूंजीपतियों को पद-दलित करने तथा निर्धन किसानों को ऊँचा उठाने का उत्साह अवश्य दृष्टिगोचर होता है। नाटक अभिनय के लिए बहुत लम्बा है और नाट्यकला की दृष्टि से भी विशेष सुन्दर नहीं है।

घनानन्द के 'समाज' (१९३०) में छूआछूत पर कड़ी चोट की गई है। यद्यपि नाटक विशेष कलापूर्ण नहीं है, तथापि आलोच्यकाल के यथार्थवादी नाटकों के क्षेत्र में यह एक सफल प्रयास है। विशुद्धानन्द सुधारवादी वर्ग का और धनदास रूढ़िवादी समाज का प्रतिनिधि है। नाटक के पहले दृश्य में इन दोनों विरोधी विचारधाराओं पर एक वार्तालाप द्वारा प्रकाश डाला गया है। एक ओर विशुद्धानन्द का मत है कि ईश्वर की आँखों में सभी प्राणी एक समान हैं। दूसरी ओर धनदास इस बात पर ज़ोर देता है कि ईश्वरीय नियम में बाधा डालना, अर्थात् अछूतों को उच्च वर्ण वालों के बराबर मानना पाप है—

विशुद्धानन्द—नहीं महाशय, ईश्वर की दृष्टि में सब समान हैं। समानता ही ईश्वरीय नियम है। अछूतों को अछूत और पतितों को पतित बनाने वाले हम हैं, न कि ईश्वर। उस पतित-पावन को तो दीन दुःखी ही प्यारे हैं।.........

धनदास—...अपने पूर्व-संचित पापों का दण्ड भोगने के लिए ईश्वर ने जिनको दलित जाति में जन्म दिया है, उनकी सहायता करना पाप नहीं तो क्या है? यह तो ईश्वरीय विधान में बाधा डालना है...

(प्रथम अंक, पहला दृश्य)

नाटक का नायक ज्ञानप्रकाश एक सुधारवादी युवक है। उसने आजीवन ब्रह्मचर्य का व्रत ले रखा है। परन्तु एक अछूत कन्या शांता (जो कि वास्तव में कुलीन है) को देखने पर वह उससे प्रेम करने लग जाता है। ज्ञान का रूढ़िवादी पिता हरिदास यह सहन नहीं कर सकता। फलतः ज्ञान को पिता का घर छोड़ना पड़ता है। वह दृश्य (द्वितीय अंक, तीसरा दृश्य) बड़ा ही मर्मस्पर्शी है जब ज्ञानप्रकाश अपने पिता के घर से निर्वासित होने पर अपनी सरल-हृदया प्रेमिका शान्ता से विदा लेता है। इस गम्भीर अवसर पर शान्ता भी पहली बार ज्ञान के प्रति अपने अटल तथा अनन्य प्रेम को प्रकट करती है।

ज्ञान के घर छोड़कर चले जाने के पश्चात् उसकी माँ बहुत दुःखी होती है। यद्यपि वह कट्टर विचारों की है, तथापि अपने प्यारे पुत्र के सुख के लिए वह

जाति सम्बन्धी सभी झगड़ों पर लात मारने को तैयार है। उसके निम्नलिखित शब्दों में कितना बल है—

> **लक्ष्मी—मैंने उस लड़की को कभी देखा नहीं है, पर मेरे बच्चे को अगर उससे सुख मिल सकता, तो मैं घर में क्या उसे सिर आँखों में न रखती। तुम्हारी तरह मैं जाति को अपने सिर पर बाँध कर नहीं फिरती। मेरी जाति तो मेरा पुत्र था। उसके बिना मुझे संसार की जातियाँ लेकर क्या करना ?** (द्वितीय अंक, चौथा दृश्य)

परन्तु ज्ञान का पिता रूढ़िवाद के जोश में अन्धा हो चुका है। अन्त में अपने सिद्धान्तों की इसी मूर्खता तथा अंधानुसरण के कारण वह सब कुछ खो बैठता है, और अपने घर से भी निकाल दिया जाता है। तब उसे होश आती है कि उसका पुत्र ही ठीक मार्ग पर था। अब उसे पुत्र के प्रति किये गये अपने अत्याचारपूर्ण व्यवहार पर भारी पश्चात्ताप होता है, और इसी पश्चात्ताप तथा पुत्र-विरह में रो-रोकर वह अपने नेत्र भी खो देता है। अन्त में पिता और पुत्र तथा अन्य बिछुड़े हुए पात्र अकस्मात् मिल जाते हैं, तथा शान्ता और ज्ञान का विवाह हो जाता है।

अछूतोद्धार के मुख्य विषय के साथ नाटककार ने कुछ गौण विषयों (बाल-विवाह, अन्तर्जातीय विवाह, भिक्षावृत्ति आदि) को भी जोड़ दिया है। उदाहरण के लिए नाटककार ने नीचे लिखे शब्दों में बाल-विवाह पर व्यंग्य किया है—

> **पड़ोसिन—...बारह वर्ष से बड़ी लड़की बिना ब्याहे रखना तो महापाप है। ऐसा करके कौन अपनी जाति खोयेगा और पितरों को नरक में पहुँचायेगा ?...हमारी बिरादरी में बारह वर्ष से बड़ी बिन-ब्याही लड़की मिलनी असंभव है।** (प्रथम अंक, दूसरा दृश्य)

यद्यपि ज्ञान और शान्ता के चरित्रों में व्यक्तित्व की पर्याप्त झलक है, तथापि अधिकतर अन्य पात्र केवल टाइप मात्र ही हैं। विशुद्धानन्द एक विशिष्ट समाज-सुधारक है और अपने सिद्धान्तों पर दृढ़ हैं। ज्ञानप्रकाश भी उसी श्रेणी में आता है किन्तु उसके चरित्र का भाव-पक्ष भी शान्ता के प्रति प्रेम द्वारा मुखरित हो उठा है, और वह कोरा टाइप न रह कर अपने व्यक्तित्व की छाप लिये हुए है। हरिदास रूढ़िवादी कट्टर हिन्दू विचारों का प्रतीक है। नाटककार ने अप-टू-डेट क्लब का बड़ा घृणास्पद तथा काला चित्र खींचा है। क्लब के सभी सदस्य धूर्त, कपटी और व्यभिचारी हैं।

वस्तु के संगठन में नाटककार ने काफ़ी कुशलता दिखाई है, किन्तु नाटक

का अन्त कुछ अतिनाटकीय ढंग का हो गया है। नाटक के सभी प्रमुख पात्रों के (जो चिरकाल से अज्ञात और बिछुड़े हुए थे) अकस्मात् मिलन से नाटक का अन्त अस्वाभाविक-सा बन गया है। यदि नाटककार यार अली आदि धूर्तों को भी अन्त में रंगमंच पर एक साथ उपस्थित कर देता और उनसे उनके दुष्टाचार पर प्रायश्चित्त करवाता, तो नाटक का अतिनाटकीय प्रभाव और भी तीव्र हो जाता। परन्तु यद्यपि उनको प्रत्यक्ष रूप में रंगमंच पर नहीं लाया गया, तथापि विशुद्धानन्द द्वारा उन सब का समाचार देकर इस उद्देश्य की पूर्त्ति कर दी गई है।

सोलहवां अध्याय

प्रतीकवादी नाटक

आलोच्यकाल के जिन भिन्न-भिन्न प्रकार के नाटकों का संक्षिप्त विवरण हमने पिछले चार अध्यायों में दिया, उनके पीछे जनता के छोटे अथवा बड़े वर्ग की माँग थी। परन्तु प्रतीकवादी नाटक, जिसका उल्लेख हम इस अध्याय में करेंगे, की रचना जनता के किसी वर्ग-विशेष की रुचि अथवा मांग के फलस्वरूप नहीं हुई, प्रत्युत प्रतिभाशाली नाटककार की अपनी रुचि तथा अभिलाषा के कारण ही इसकी रचना हुई। संस्कृत साहित्य में अनेक प्रतीकवादी नाटक रचे गये, जिनमें से 'प्रबोधचन्द्रोदय' सबसे प्रसिद्ध है। अंग्रेज़ी साहित्य में स्पेन्सर की 'फ़ेयरी क्वीन' तथा 'पिल्ग्रिम्स प्रोग्रेस' नामक दो प्रसिद्ध प्रतीकवादी रचनाएँ हैं। हिन्दी-साहित्य में भी अठारहवीं तथा उन्नीसवीं शताब्दियों में 'प्रबोधचन्द्रोदय' के कई अनुवाद प्रकट हुए। उनके अतिरिक्त 'देवमायाप्रपंच' नामक एक और नाटक भी उसी प्रसिद्ध प्रतीकवादी संस्कृत नाटक के अनुकरण में लिखा गया।

आलोच्यकाल का एकमात्र प्रसिद्ध प्रतीकवादी नाटक जयशंकर प्रसाद का 'कामना' है, जो सन् १९२३–२४ में लिखा गया था परन्तु १९२७ में प्रकाशित हुआ। इस नाटक की रंगभूमि फूलों के द्वीप में रखी गई है, जहाँ सुख और शान्ति का साम्राज्य है और जहाँ के निवासी अपने को तारों की सन्तान समझते हैं। वे भोले-भाले, सरलहृदय तथा सन्तुष्ट स्वभाव के लोग हैं जो अपने द्वीप के रोमांस-पूर्ण प्राकृतिक वातावरण पर मुग्ध हैं—

> **सन्तोष—···ये हरे भरे खेत, छोटी-छोटी पहाड़ियों से ढुलकते-मचलते हुए झरने, फूलों से लदे हुए वृक्षों की पंक्ति, भोली गउओं और उनके प्यारे बच्चों के झुंड, इस बीहड़, पागल और कुछ न समझने वाले उन्मत्त समुद्र में कहाँ मिलेंगे। ऐसी धवल धूप, ऐसी तारों से जग-मगाती रात वहाँ होगी?** (प्रथम अंक, पहला दृश्य)

द्वीपवासी सांसारिक महत्त्वाकांक्षा तथा संघर्ष की भावना से मुक्त हैं। एक दिन एक विदेशी युवक विलास संयोगवश उस द्वीप में पहुँचता है। उसके पास बहुत-सा सोना है, जिससे द्वीप की रानी कामना उसकी ओर आकर्षित होती है। विदेशी युवक उन लोगों के विचित्र स्वभाव एवं गुणों को देखकर चकित रह जाता है—

विलास—आश्चर्य ! कैसी प्रकृति से मिली हुई जाति है ! महत्त्व और आकांक्षा का अभाव, और संघर्ष का लेश भी नहीं है। जैसे शैल-निवासिनी सरिता, पथ के विषम ढोकों को, विघ्न-बाधाओं को भी अपने सम और सरल प्रवाह तथा तरल गति से ढकती हुई बहती रहती है, उसी प्रकार यह जाति, जीवन की वक्र रेखाओं को सीधी करती हुई, अस्तित्व का उपभोग हँसती हुई कर लेती है। (प्रथम अंक, तीसरा दृश्य)

अकस्मात् विलास के मन में उस भोली-भाली जाति पर शासन करने की अभिलाषा जागृत होती है (प्रथम अंक, तीसरा दृश्य)। उसकी आकांक्षा उसके समक्ष एक छाया के रूप में प्रकट होती है और उसे अपने उद्देश्य में सफलता पाने के लिए उस द्वीप में स्वर्ण तथा मदिरा का प्रचार करने को कहती है—

छाया—मूर्ख ! अपने देश की दरिद्रता से विताड़ित और अपने कुकर्मों से निर्वासित साहसी ! तू राजा बनना चाहता है ? तो स्मरण रख, तुझे इस जाति को अपराधी बनाना होगा। जो जाति अपराध और पापों से पतित नहीं होती, वह विदेशी तो क्या, किसी अपने सजातीय शासक की भी आज्ञाओं का बोझ वहन नहीं करती। और समझ ले कि बिना स्वर्ण और मदिरा का प्रचार किये तू इस पवित्र और भोली-भाली जाति को पतित नहीं बना सकता।

(प्रथम अंक, तीसरा दृश्य)

धीरे-धीरे स्वर्ण के लोभ तथा मदिरा के उत्तेजक प्रभाव से वहाँ के लोगों में ईर्ष्या-द्वेष आदि की उत्पत्ति होती है और चारों ओर अपराधों की बाढ़-सी आ जाती है। सम्राज्ञी कामना, जो विलास की ओर उसके स्वर्ण तथा मदिरा के कारण आकृष्ट हुई थी, अब अनाचार और अपराधों की आंधी को देखकर विक्षुब्ध हो जाती है। पहले तो कुछ देर वह हतबुद्धि-सी होकर इस परिवर्तन का कारण समझ नहीं पाती। परन्तु फिर विवेक आदि की सहायता से वे लोग अपनी भूल का कारण जान लेते हैं और तब विलास द्वारा लाई हुई विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार करके पुनः अपने जीवन के पुराने सरल स्वाभाविक मार्ग को अपनाने का निश्चय करते हैं। अन्त में कामना सन्तोष के साथ विवाह कर लेती है और विलास को उसके सारे स्वर्ण-राशि के साथ द्वीप से बाहर निकाल दिया जाता है।

इस नाटक में प्रसाद जी ने पश्चिम के भोगवाद तथा पूर्व के महान् अध्यात्मवाद का तुलनात्मक चित्र प्रस्तुत करके अन्त में पूर्व के आदर्शों की विजय दिखाई है। नाटक का मूल विषय एक ओर प्राकृतिक, शांत, निश्चित जीवन के

स्वर्गीय आनन्द का उद्घाटन करना, तथा दूसरी ओर भोगवाद तथा स्वच्छन्दाचरण के जीवन की दशा का चित्रण करना है। अन्तिम दृश्य में बड़ी सुन्दरता के साथ भौतिकवाद तथा अध्यात्मवाद का चित्र एक साथ प्रस्तुत किया गया है। भोगवाद क्षुब्ध सागर की लहरों में हिचकोले खाता है और अध्यात्मवाद पर आनन्द तथा आलोक की वर्षा होती है—

(परिवर्तित दृश्य ! समुद्र में नौका पर विलास और लालसा। सब नागरिक उस पर स्वर्ण फेंकते हैं। नाव डगमगाती है, लालसा का क्रन्दन— 'सोने से नाव डूबी, अब नहीं बस'। तुमुल तरंग। परिवर्तित दृश्य में अन्धकार। दूसरी ओर आलोक। फूलों की वर्षा।)

नाटक की नायिका कामना मानव लोक की रानी है। वह मनुष्य की चंचल, अस्थिर कामना है। उसको पहले विलास की ओर आकृष्ट हुई तथा अन्त में सन्तोष के साथ विवाह-बंधन में बंधती दिखाने में नाटककार का यह अभिप्राय है कि कामना (मनुष्य की चंचल अभिलाषा) चाहे कितना ही विलास के लिए तड़पती रहे, पर उसको सच्चा सुख सन्तोष में ही मिल सकता है। अन्त में विलास तथा लालसा को इकट्ठा करने में भी नाटककार का यह मतलब है कि मनुष्य की केवल क्षणिक लालसा ही विलास से सन्तुष्ट या सुखी हो सकती है, उसकी कामना नहीं। कामना का विलास के आगे झुकना उसे अनेक कठिनाइयों और विपत्तियों में घसीट ले जाता है। पर अन्त में वह उसके यथार्थ और वास्तविक रूप को पहचान लेती है और विलास का साथ छोड़ देती है। ज्योंही कामना के दोनों मित्र—विलास तथा लालसा, पुष्प-द्वीप से बाहर निकाल दिये जाते हैं, त्योंही उस द्वीप में फिर से सुख-शान्ति छा जाती है। इसका आशय यह है कि मनुष्य की कामना से विलास तथा लालसा को निकाल देने से उसे पूर्ण सुख की प्राप्ति हो सकती है। इसी प्रकार नाटक के अन्य पात्रों—विवेक, लीला, विनोद आदि का नाटक में अपना महत्त्व तथा उद्देश्य है।

विवेक के इन शब्दों में प्रसाद जी ने आधुनिक सभ्यता की कड़ी आलोचना की है, जिसे वे अपने देश की प्राचीन संस्कृति से हीन समझते हैं—

विवेक—...लोहू के प्यासे भेड़ियो, तुम जब बर्बर थे, तब क्या इससे बुरे थे ? तुम पहले इससे भी क्या विशेष असभ्य थे ? आज शासन सभा का आयोजन करके सभ्य कहलाने वाले पशुओ, कल का तुम्हारा धुंधला अतीत इससे उज्ज्वल था। (द्वितीय अंक, आठवां दृश्य)

प्रसाद जी के अन्य नाटकों की भांति 'कामना' का अन्त भी सुखमय है परन्तु उनके समान इस नाटक में भी दुःख और शोक की गहरी छाया बनी हुई

है। नाटक को सुखमय अन्त देकर प्रसाद जी ने न केवल भारतीय सिद्धांतों का ही पालन किया है, बल्कि अपने सिद्धांत तथा मत का भी परिचय दिया है। यदि वे नाटक को दुःखांत बना देते तो इसका अर्थ यह होता कि वे भोगवाद की विजय तथा अध्यात्मवाद की पराजय तथा विध्वंस चाहते हैं। इसका अर्थ होता—भारतीय आदर्शों का निराकरण तथा पाश्चात्य आचार की स्थापना। परन्तु स्पष्ट ही यह न तो प्रसाद जी का उद्देश्य था, न ऐसा करना उन्हें अभिप्रेत था। वे तो निश्चय ही भारतीय संस्कृति एवं अध्यात्मवाद के पुजारी थे, उसी की उन्नति एवं प्रतिष्ठा चाहते थे। दुःखमय अन्त से न केवल नाटक ही बिगड़ जाता, वरन् इससे प्रसाद जी के मनोभावों को भी गहरा आघात पहुँचता। अतः हम इस बात में डा० नगेन्द्र से सहमत नहीं हो सकते जब वे लिखते हैं—'कामना शायद ट्रेजेडी रूप में अधिक सफल होती[1]' और कि कामना में बहती हुई दुःख की धारा को बरबस मोड़कर सुख में परिणत कर दिया गया है।

नाटक की कथावस्तु सुसंगठित है। यद्यपि पात्र सभी प्रतीक हैं तो भी वे सूक्ष्म भावनाएँ मात्र न रहकर काफ़ी मांसल और मूर्त्त बन गये हैं। कामना तथा विलास के चरित्र तो विशेष मांसल और स्थूल हैं। उनमें अपने-अपने व्यक्तिगत गुण-दोष हैं। विवेक का चरित्र भी बड़ा सशक्त है। दूसरी ओर लालसा बड़ी चंचल और अस्थिर है। कामना तथा लालसा के चरित्रों में स्पष्ट रूप से अन्तर दिखाने में नाटककार विशेष प्रयत्नशील अथवा सफल नहीं हो सका।

नाटक का वातावरण रोमांटिक है और इसमें पुष्प-द्वीप के मनोहर दृश्य हैं। नाटक में तीन अंक हैं जिनका विभाजन दृश्यों में किया गया है। कुछेक दृश्यों का आरम्भ लम्बे रंग-निर्देशों के साथ होता है। लम्बे रंग-निर्देशों की यह प्रवृत्ति प्रसाद जी के अन्तिम नाटक 'ध्रुवस्वामिनी' में विशेष सबल हो उठी हैं। कथोपकथन प्रसाद जी के अन्य नाटकों के कथोपकथन की अपेक्षा कम दार्शनिकता-पूर्ण तथा कम कवित्वमय हैं। संवाद प्रायः छोटे हैं और भाषा भी अपेक्षाकृत सरल है। यद्यपि नाटक के सभी पात्र अमूर्त्त हैं, और इसमें विविध मानुषी भावनाओं के संघर्ष का ही चित्रण है, तथापि नाटक में एक स्थायी रोचकता है और यह नीरस या उकताने वाला नहीं है। बीच-बीच में मधुर गीतों की भी योजना की गई है। इनमें से कुछ गीतों में यौवन की उष्णता तथा भावों का स्पन्दन है जैसे—

---

१. आधुनिक हिन्दी नाटक, पृष्ठ ८६

कामना—... ... ...

बरस चुकीं रस-बूंद सरस हो,
फिर भी यह मन कुम्हलाया ।
उमड़ पड़े आँखों के झरने,
हृदय न शीतल हो पाया । इत्यादि, इत्यादि ।
(प्रथम अंक, पाँचवां दृश्य)

(ख) अनुवाद

आलोच्यकाल के भिन्न-भिन्न प्रकार के मौलिक नाटकों पर विचार करने के पश्चात् अब हम इस काल के अनुवादों को लेते हैं। पूर्व-परम्परानुसार आलोच्य-काल में अनेक संस्कृत, बँगला तथा अंग्रेज़ी नाटकों के हिन्दी में अनुवाद किये गये। पं० सत्यनारायण कविरत्न ने भवभूति के 'उत्तररामचरित' का (१९१३) तथा 'मालतीमाधव' का (१९१८) अनुवाद किया। रायबहादुर ला० सीताराम ने शूद्रक के 'मृच्छकटिक' का (१९१३) तथा विजयानन्द त्रिपाठी ने कालिदास के 'मालविकाग्निमित्र' का अनुवाद किया। ये सभी अनुवाद सुन्दर हैं।

१९१२ में गणपति शास्त्री ने प्रथम बार भास के तेरह नाटकों को ट्रावंकोर से प्रकाशित किया। इससे पूर्व भास के नाम तथा यश का उल्लेख-मात्र कालि-दास के 'मालविकाग्निमित्र' तथा अन्य संस्कृत ग्रन्थों में पाया जाता था, उनके नाटक उपलब्ध नहीं थे। इन नाटकों के प्रकाशित होते ही हिन्दी के विद्वानों का ध्यान इनकी ओर आकर्षित हुआ। अस्तु, मैथिलीशरण गुप्त ने १९२९ में भास के 'स्वप्नवासवदत्तम्' का पद्यमय अनुवाद किया। 'मध्यमव्यायोग' के दो अनुवाद क्रमशः १९२५ तथा १९२८ में लखनऊ तथा रांची से प्रकाशित हुए। 'प्रतिमा' नाटक तथा 'पंचरात्र' के अनुवाद लाहौर से मेहरचंद्र लक्ष्मणदास ने प्रकाशित किये। भास के नाटकों की बड़ी विशेषता उनकी भाषा की सरलता है। मूल संस्कृत नाटकों तथा अनुवादों के तुलनात्मक अध्ययन से ज्ञात होता है कि अनुवादक अधिकतर अपने प्रयास में सफल रहे हैं। अनुवादों में मूल नाटकों के भावों तथा सरलता की रक्षा हुई है।

१९३१ में डा० हरदत्त का दिङ्नाग-कृत 'कुन्दमाला' का हिन्दी अनुवाद दिल्ली से प्रकाशित हुआ। १९३५ में ठाकुर हरदयालुसिंह का हर्षरचित 'नागानन्द' का अनुवाद प्रकाशित हुआ। दोनों अनुवाद सुन्दर और सफल हैं।

संस्कृत नाटकों के इन हिन्दी अनुवादों की अपेक्षा बहुत अधिक महत्त्व बँगला से अनूदित हिन्दी नाटकों का है। बंगला के नाटककारों में से द्विजेन्द्रलाल-राय ने हिन्दी के विद्वानों को विशेष रूप से आकर्षित किया। राय महोदय के

लगभग एक दर्जन नाटक, जिनमें 'राणा प्रताप', 'मेवाड़ पतन', 'दुर्गादास', 'नूरजहाँ', 'शाहजहाँ', 'ताराबाई', 'भीष्म', 'चन्द्रगुप्त' उल्लेखनीय हैं, इस काल में हिन्दी में अनूदित हुए और इनका विशेष आदर हुआ। द्विजेन्द्रलालराय ने भारतीय इतिहास के प्राचीन हिन्दू-काल तथा मुग़ल-शासन-काल को अपने नाटकों के आधार के लिए चुना और उन्होंने आदर्श चरित्रों की सृष्टि की जो कि पाठकों एवं दर्शकों में नये जीवन का संचार कर सकें।

राय महोदय पर शेक्सपियर की कला का गहरा प्रभाव है। शेक्सपियर के नाटकों के समान इनके नाटकों में भी बाह्य संघर्ष की प्रचुरता के साथ अन्तर्द्वन्द्व तथा भावुकता का समावेश है। इसके अतिरिक्त राय महोदय अपने देश के सामयिक आन्दोलनों तथा विचार-धाराओं से भी प्रभावित हुए। अतः उनके नाटकों में हमें सांस्कृतिक पुनरुत्थान की चेतना तथा देश-प्रेम और हिन्दू-मुस्लिम-एकता आदि की भावनाएँ मिलती हैं। द्विजेन्द्रलालराय के नाटक सौभाग्यवश इतने उत्कृष्ट एवं कलापूर्ण थे कि उनका हिन्दी के नाटककारों पर विशेष प्रभाव पड़ा। हिन्दी के प्रमुख नाटककारों में केवल प्रसाद जी ही ऐसे थे, जिन्होंने राय का प्रभाव अपनी नाट्यकला पर नहीं पड़ने दिया। अन्यथा हिन्दी के अनेक नाटककार, जिनमें 'सुदर्शन' और 'उग्र' जैसे लब्धप्रतिष्ठ लेखक भी सम्मिलित हैं, राय जी की कला से किसी-न-किसी अंश में अवश्य प्रभावित हुए हैं।

बाबू रामचन्द्र वर्मा तथा रूपनारायण पाण्डेय, जिन्होंने राय के नाटकों के हिन्दी में अनुवाद प्रस्तुत किये, को अपने प्रयास में अपूर्व सफलता मिली है। उनके अनुवादों में ठीक मौलिक नाटकों-जैसी रोचकता, शक्ति, प्रभाव और सजीवता है। यदि पढ़ने वालों को उनकी रचनाओं के अनूदित होने की बात न बताई जाय, तो पाठक निश्चय ही उन्हें मौलिक रचनाएं समझेंगे और वैसा ही आनन्द प्राप्त करेंगे। यह विशेष हर्ष की बात है कि इतने उत्कृष्ट नाटककार की रचनाओं को हिन्दी में अनूदित करने का भार इन प्रतिभाशाली, योग्य तथा सिद्ध-हस्त विद्वानों ने उठाया। अन्यथा यदि कम योग्यता का कोई आदमी इस काम में हाथ डाल देता तो कदाचित् वह द्विजेन्द्रलालराय तथा उनकी प्रतिभा के साथ न्याय न कर पाता। नीचे हम रूपनारायण पाण्डेय द्वारा अनूदित द्विजेन्द्रलाल राय के 'भीष्म' से एक उद्धरण प्रस्तुत करते हैं—

अर्जुन—क्या कभी ऐसा युद्ध देखा है ? वह देखो, भीष्म के धनुष से छूटे हुए बाणों ने प्रलय के बादल के समान सूर्य के किरण-जाल को ढक लिया है। वह देखो, तरवार की पिंगल चमक बिजली-सी खेल रही है। अकेले भीष्म सौ भीष्म के समान युद्ध करते हुए शत्रुओं के हृदय में

वज्रसदृश बाण मार रहे हैं। चारों ओर से हज़ारों योद्धा आकर घेरते हैं—और पल भर में भीष्म के बाणों से छिन्न-भिन्न होकर पृथ्वीतल पर गिर पड़ते हैं। इत्यादि। (पंचम अंक, पाँचवां दृश्य)

द्विजेन्द्रलालराय के नाटकों के अतिरिक्त रूपनारायण पाण्डेय ने माइकल मधुसूदन दत्त के नाटक 'कृष्णाकुमारी' का भी १९१९ में अनुवाद किया। यह अनुवाद भी बड़ा सफल है। नीचे हम इस अनुवाद का एक उद्धरण प्रस्तुत करते हैं—

बलेन्द्र—···(आँसू पोंछ कर) बेटी! मैं निष्ठुर चाण्डाल हूँ। मैं बिना अपराध के तेरे प्राण लेने आया हूँ। आहा—बेटी बिल्कुल बेखटके निद्रा देवी की शान्तिमयी गोद में विश्राम कर रही है। मुख का भाव देखने से जान पड़ता है, यह बड़े सुख से मनोहर स्वप्न देख रही है। लेकिन यह नहीं जानती कि पास ही कालरूप धारण किये पापी चाचा प्राण लेने के लिये खड़ा है। इत्यादि (पंचम अंक, तीसरा दृश्य)

पाण्डेय का 'पद्मिनी' भी क्षीरोदप्रसाद के बँगला नाटक का हिन्दी रूपांतर है। इन्होंने द्विजेन्द्रलालराय के प्रहसन 'त्र्यहस्पर्श' का 'मूर्ख-मण्डली' (१९१८) नाम से हिन्दी में रूपांतर किया। आलोच्यकाल में रवीन्द्रनाथ ठाकुर के कई-एक नाटक हिंदी में अनूदित हुए। उनमें से 'डाकघर' (१९२०), 'विसर्जन' (१९२४), 'मुक्तधारा' (१९२५), 'राजा रानी' (१९२५), 'चिर कुमार सभा' (१९२८), 'चित्रांगदा' (१९२८) तथा 'अचलायतन' आदि उल्लेखनीय हैं। परंतु जहां राय के नाटकों का हिंदी नाटक के कला-विधान पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा, वहां रवीन्द्रनाथ ठाकुर के नाटकों का कोई प्रभाव हिंदी-नाटक पर लक्षित नहीं होता। उनके नाटकों के अनुवादों से केवल इतना हुआ कि जो लोग बँगला नहीं जानते थे वे ठाकुर महोदय की कला तथा शैली आदि से परिचित हो गये।

बाबू रामचन्द्र वर्मा के गिरीश घोष के नाटकों 'प्रफुल्ल' तथा 'वैधव्य कठोर दण्ड है या शांति' के हिंदी अनुवाद भी बड़े सुन्दर हैं।

संस्कृत तथा बँगला के नाटकों के अतिरिक्त अंग्रेज़ी के भी कई नाटक हिंदी में अनूदित हुए। रायबहादुर लाला सीताराम ने शेक्सपियर के 'As You Like It,' 'Othello,' 'Julius Caesar', 'Cymbeline', 'King Richard II','Tempest','King Lear', 'Hamlet, Prince of Denmark', 'Comedy of Errors','Measure for Measure' तथा 'Much Ado About Nothing' आदि एक दर्जन नाटकों को हिंदी में अनूदित किया[1]।

(१) ये सभी अनुवाद रामनारायणलाल, कटरा रोड़, इलाहाबाद ने प्रकाशित किये हैं।

अनुवादक को मूल नाटकों के पद्य-भाग का हिंदी अनुवाद करने में विशेष सफलता नहीं मिली। अतः उसने मूल पद्य का अनुवाद भी अधिकतर गद्य में ही कर दिया है। अनुवाद का गद्य-भाग सन्तोषजनक है, यद्यपि वह भी प्रायः विशेष सुन्दर नहीं बन पड़ा। नीचे हम पाठकों के सामने लाला जी के अनुवाद से एक उद्धरण रखते हैं—

आर्यनन्दन—क्यों, अनन्त ! कैसे हो ? क्या हिम्मत हार गये। धीरज धरो ! मन को ढाढस बँधाओ, इस बीहड़ में कोई शिकार मिल गया तो अभी लाता हूँ—तुम बड़े समझदार हो। मेरे कहने से मौत को थोड़ी देर रोके रहो···आओ मैं तुमको आड़ की जगह में ले चलूँ—भगवान् ने इस वन में कुछ भी दिया तो तुम भूखे न मरने पाओगे—अनन्त ! धीरज न छोड़ना !

(As You Like It, द्वितीय अंक, छटा दृश्य)

अधिकतर नाटकों के अनुवादों में लाला जी ने पात्रों तथा स्थानों आदि के नाम में कोई परिवर्तन नहीं किया किन्तु कहीं-कहीं उनको भारतीय नामों मे बदल दिया है। उदाहरण के लिए As You Like It के Frederick, Amiens, Jaques, Orlando, Adam, Rosalind, Celia के नाम अनुवाद में बदल कर क्रमशः पुण्डरीक, अमीचन्द, जयकृष्ण, आर्यनन्दन, अनन्त, रसलीना और सुशीला रख दिये गये हैं।

जॉन गाल्सवर्दी के तीन नाटकों 'Strife', 'Justice' तथा 'Silver Box' के भी हिंदी में अनुवाद हुए[1]। इनमें से प्रथम दो का अनुवाद मुंशी प्रेमचन्द ने 'हड़ताल' (१९३०) तथा 'न्याय' (१९३१) नाम से किया, तथा अंतिम का अनुवाद ललितप्रसाद शुक्ल ने 'चांदी की डिबिया' (१९३१) नाम गे किया। टाल्सटाय के दो नाटकों के अनुवाद भी 'अंधेरे में उजाला' (१९२८) तथा 'ज़िन्दा लाश' (१९२९) शीर्षक से अजमेर से प्रकाशित हुए। इनके अतिरिक्त मॉरिस मैटरलिंक के दो छोटे-छोटे नाटकों 'Sister Beatrice' तथा 'The Useless Deliverance' के हिंदी रूपांतर श्री पदुमलाल पुन्नालाल बख़्शी ने 'प्रायश्चित्त' तथा 'उन्मुक्ति का बन्धन' शीर्षक से किये। मोलियर के कुछेक प्रहसनों के रूपांतर भी इस काल में जी० पी० श्रीवास्तव ने किये, जिनका उल्लेख हम इस अध्याय के आरम्भ में कर चुके हैं।

---

(१) इनके अनुवाद हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद से प्रकाशित हुए हैं।

सत्रहवां अध्याय

आधुनिक काल (१९३३–१९४८)

प्रमुख प्रवृत्तियां

पिछले कुछ अध्यायों के अनुशीलन से यह स्पष्ट हो जाता है कि यद्यपि अभाव-काल (१९००—१९१२) में सुन्दर हिन्दी नाटकों का प्रायः अभाव रहा; तथापि पुनरुत्थान-काल (१९१२–३२) में हिन्दी नाटक की विशेष प्रगति हुई। उसमें जयशंकर प्रसाद के गौरवशाली व्यक्तित्व के अतिरिक्त सुदर्शन, 'उग्र', 'मिलिन्द', गोविन्दवल्लभ पन्त तथा बद्रीनाथ भट्ट आदि प्रसिद्ध नाटककारों ने अपनी बहुमूल्य रचनाओं से इसे सुसमृद्ध किया। इतना ही नहीं, बल्कि यह बड़े हर्ष तथा सौभाग्य की बात है कि हिंदी नाटक का यह समृद्धिशाली काल (१९१२–३२) आधुनिक काल (१९३३–४८) में आकर और भी सुविकसित और सुसमृद्ध हो गया। आधुनिक काल में हिन्दी नाटक की भिन्न-भिन्न शाखाओं ने प्रशंसनीय उन्नति की। इसके अतिरिक्त इस काल में प्राचीन नाट्यकला का प्रभाव धीरे-धीरे कम हो गया, और इसके विपरीत पाश्चात्य विचारधारा तथा नाट्य-विधान का प्रभुत्व बढ़ने लगा। पाश्चात्य नाटककारों का और भी अधिक प्रेम तथा तत्परता के साथ अध्ययन किया जाने लगा, और हेनरिक इब्सन तथा जार्ज बर्नार्ड शॉ हिंदी के यथार्थवादी नाटककारों के अनुकरणीय बन गये।

आलोच्यकाल में भिन्न-भिन्न प्रकार के हिंदी नाटकों की स्थिति पर दृष्टि-पात करते हुए हम इस निश्चय पर पहुँचते हैं कि रामलीला, रासलीला तथा नौटंकी आदि नाटक के मध्यकालीन रूपों का प्रचार जनता में बहुत कम हो गया। नौटंकी की परंपरा तो सर्वथा लुप्त हो गई। रासलीला का प्रचार अपने जन्मस्थान तक ही सीमित रह गया। रामलीला का प्रचार यद्यपि आज भी देश के कुछ भागों में बना हुआ है, तथापि उसकी लोकप्रियता तथा आकर्षण बहुत कुछ कम हो गये हैं।

पारसी रंगमंचीय नाटक, जो पुनरुत्थानकाल के अंत तक बहुत लोकप्रिय थे, अब सिनेमा के आगे मात खाने लगे। सिनेमा में लोगों को मनोरंजन की अधिक सामग्री मिलती थी, तथा उसकी नाट्य-कला का क्षेत्र भी थिएट्रिकल नाटकों की अपेक्षा अधिक व्यापक तथा कुछ उत्कृष्ट था। इस कारण जनता धीरे-धीरे सिनेमा की ओर आकृष्ट होने लगी और पारसी रंगमंचीय नाटकों

की लोकप्रियता कम होने लगी। प्रत्येक बड़े नगर में एक या अधिक स्थायी सिनेमाघर बन गये, और छोटे-छोटे शहरों तथा बड़े-बड़े ग्रामों में, जहाँ स्थायी सिनेमाघर नहीं थे, वहाँ घूमनेवाली सिनेमा-कंपनियाँ पहुँच जाती थीं। फलतः शहरों की जनता पूर्णरूप से तथा बड़े-बड़े गाँवों के अधिकतर लोग भी थिएट्रिकल नाटकों से विमुख हो गये।

सिनेमा की अत्यन्त लोकप्रियता ने हिंदी के साहित्यिक नाटक को भी कुछ हद तक प्रभावित किया। अब साहित्यिक नाटकों में भी कहीं-कहीं सिनेमा की झलक दृष्टिगोचर होने लगी, और (जैसा कि हम अगले अध्यायों में स्थान-स्थान पर निर्देश करेंगे) साहित्यिक नाटकों में भी सिनेमा के कई एक प्रयोगों का उपयोग होने लगा। अभी तक सफल हिंदी नाटककारों का उद्देश्य नाटक लिखते समय प्रायः यह होता था कि उनके नाटक रंगमंच पर सफलतापूर्वक अभिनीत हो सकें। परंतु अब कई एक कुशल नाटककार नाटक रचते समय रंगमंच की बजाय रजतपट को ध्यान में रखने लगे, और कई ऐसे दृश्यों तथा प्रसंगों का अपने नाटकों में समावेश करने लगे जिनको रंगमंच पर सफलतापूर्वक दिखाना अति कठिन अथवा असंभव था, परन्तु जो स्क्रीन के लिए बड़े उपयोगी थे। चन्द्रगुप्त विद्यालंकार ने इस बात को अपने 'अशोक'[1] तथा 'रेवा'[2] की भूमिका में, तथा सेठ गोविंददास ने अपने 'कर्ण'[3] में स्वीकार किया है।

जैसा कि हम पहले लिख चुके हैं, पुनरुत्थानकाल में पौराणिक नाटक बहुत लोकप्रिय थे परन्तु अब जनता की रुचि उनसे फिरने लगी। गत काल में जनता पौराणिक कथानकों तथा पौराणिक नामों से मन्त्रमुग्ध-सी हो जाती थी किंतु अब अवस्था बदल गई थी। पाश्चात्त्य शिक्षा एवं सभ्यता के तेज़ी से बढ़ते हुए प्रभाव के फलस्वरूप पौराणिक आख्यानों में जनता की श्रद्धा कम होती गई। पौराणिक आख्यानों में रस लेने की अपेक्षा अब लोग अपने आस-पास की बातों में, सामयिक विषयों आदि में अधिक रुचि दिखाने लगे। परिणाम यह हुआ कि आलोच्यकाल में पौराणिक नाटकों का प्रचार कम हो गया, और इसी कारण हमें इस काल में पौराणिक नाटक ऐतिहासिक नाटकों अथवा यथार्थवादी समस्या-नाटकों की अपेक्षा कम मिलते हैं।

इसके प्रतिकूल ऐतिहासिक नाटक जो कि पुनरुत्थानकाल में कुछ कम लोकप्रिय थे, आलोच्यकाल में अधिक प्रचलित हो गये। बहुत-से प्रतिभाशाली नाटककारों, जिनमें चन्द्रगुप्त विद्यालंकार, सेठ गोविन्ददास, हरिकृष्ण 'प्रेमी' तथा उदयशंकर भट्ट आदि उल्लेखनीय हैं, ने ऐतिहासिक नाटकों की प्रगति में अपनी

---

१. तथा २. देखिए अठारहवां अध्याय। ३. देखिए बीसवां अध्याय।

प्रतिभा का योग दिया। इस काल के ऐतिहासिक नाटक मोटे रूप में दो वर्गों में बाँटे जा सकते हैं। प्रथम वर्ग में हम उन ऐतिहासिक नाटकों को रख सकते हैं जो सांस्कृतिक पुनरुत्थान की भावना से प्रेरित होकर लिखे गये हैं। ये नाटक प्रसाद के ऐतिहासिक नाटकों की परम्परा को आगे बढ़ाते हैं और चन्द्रगुप्त विद्यालंकार के 'अशोक' तथा 'रेवा', उदयशंकर भट्ट का 'मुक्तिपथ', सेठ गोविन्ददास के 'हर्ष' तथा 'शशिगुप्त', लक्ष्मीनारायण मिश्र का 'गरुड़ध्वज' आदि इस वर्ग के प्रमुख नाटक हैं। दूसरे वर्ग के अन्तर्गत वे नाटक आते हैं जिनके विषय मध्यकालीन भारतवर्ष के इतिहास से लिये गये हैं। हिन्दू-मुस्लिम-एकता की समस्या, देशभक्ति, राजपूतों तथा अन्य क्षत्रिय जातियों की वीरता, ईर्ष्या-द्वेष, स्वाभिमान इत्यादि विषय तथा सामन्तीय वातावरण का चित्रण इन नाटकों की मुख्य विशेषताएँ हैं। उदयशंकर भट्ट का 'दाहर', हरिकृष्ण प्रेमी के 'रक्षा-बंधन', 'शिवासाधना', 'आहुति', 'स्वप्नभंग', 'मित्र' आदि; सत्येन्द्र का 'मुक्तियज्ञ' उपेन्द्रनाथ 'अश्क' का 'जयपराजय' आदि इस वर्ग के प्रमुख नाटक हैं। आलोच्य-काल में ऐतिहासिक नाटक इतने अधिक लोकप्रिय हुए कि लक्ष्मीनारायण मिश्र तथा सेठ गोविंददास जैसे नाटककार भी, जिनका रचनाक्षेत्र प्रधानतया समस्या-नाटकों का था, ऐतिहासिक नाटक लिखने के लोभ को संवरण नहीं कर सके।

इन प्रकारों के अतिरिक्त हम एक और प्रकार के नाटक का विकास भी आलोच्यकाल में देखते हैं। पिछले काल में हम देख चुके हैं कि यथार्थवादी प्रवृत्ति धीरे-धीरे हिन्दी नाटक में पदार्पण कर रही थी परन्तु यथार्थवादी नाटकों की संख्या पिछले काल में बहुत कम थी और साथ ही उनका पूर्णरूप से विकास भी न हो पाया था। किन्तु आलोच्यकाल में प्रवेश करने तक परिस्थिति काफ़ी बदल चुकी थी। नाटककार तथा जनता पाश्चात्त्य शिक्षा, साहित्य, संस्कृति एवं विचार-धारा से बहुत अधिक प्रभावित हो चुकी थी। लोगों को विदेशी साहित्य का अध्ययन करते कितने ही वर्ष हो गये थे, और अब कई भारतीय विद्वान् साहित्य, कला तथा विज्ञान आदि में उच्च शिक्षा पाने के लिए पश्चिमी देशों में जाने भी लगे थे। इस सब के फलस्वरूप हिन्दी नाटककार भी पश्चिम से विशेष प्रभावित हुए; उन्होंने आधुनिक पाश्चात्त्य नाटककारों—इब्सन, शॉ, ओनील आदि—का गंभीर अनुशीलन शुरू किया, और पश्चिमी नाटक की विशेषताओं का हिन्दी नाटक में भी उपयोग करना शुरू कर दिया। इस प्रभाव के अधीन यथार्थ-वादी धारा के हिन्दी नाटककारों ने, जिनमें लक्ष्मीनारायण मिश्र तथा सेठ गोविंददास प्रमुख हैं, आलोच्यकाल में कितने ही समस्या-नाटकों की रचना की।

ये समस्या-नाटक भी दो भागों में बाँटे जा सकते हैं। पहले वर्ग में वे

नाटक रखे जा सकते हैं जिनमें व्यक्ति की समस्याओं का प्रतिपादन किया गया है। इनमें अधिकतर विवाह तथा सेक्स की समस्या को ही लिया गया है। दूसरे वर्ग के नाटकों में सामाजिक अथवा राजनीतिक समस्याओं का विश्लेषण तथा समाधान किया गया है। लक्ष्मीनारायणमिश्र तथा पृथ्वीनाथ शर्मा के समस्या-नाटक अधिकतर विवाह तथा सेक्स (काम) के प्रश्नों से संबंध रखते हैं। दूसरी ओर सेठ गोविंददास ने अपने नाटकों में अधिकतर गाँधीजी के सेवा, त्याग और अहिंसा आदि के सिद्धांतों का प्रतिपादन किया है, अथवा गांधीवाद, समाजवाद तथा साम्यवाद आदि का तुलनात्मक चित्रण प्रस्तुत किया है। ये समस्या-नाटक पढ़े-लिखे लोगों में विशेष लोकप्रिय हुए, यद्यपि अशिक्षित वर्ग के लिए इन नाटकों में (विशेपतः पहले वर्ग के नाटकों में) उठाई गई समस्याओं को पूरी तरह समझना ही कठिन नहीं है, बल्कि उनका अधिकांश इन समस्याओं से कोई संबंध नहीं है। लक्ष्मीनारायण मिश्र के 'मुक्ति का रहस्य' 'राक्षस का मंदिर', 'सिंदूर की होली', तथा 'संन्यासी' आदि, पृथ्वीनाथ शर्मा के 'अपराधी' 'दुविधा' और 'साध', सेठ गोविंददास के 'सेवापथ', 'संतोष कहां', 'पाकिस्तान', 'महत्त्व किसे', 'त्याग या ग्रहण', 'ग़रीबी और अमीरी' आदि इस काल के प्रसिद्ध समस्या-नाटक हैं।

प्रतीकवादी नाटक, जिसका सुन्दर उदाहरण विगत काल में जयशंकर प्रसाद का 'कामना' था, की रचना इस काल में भी हुई। इस प्रकार के नाटक एक विशिष्ट वर्ग के सुशिक्षित दर्शकों तथा पाठकों की ही समझ में आ सकते हैं, क्योंकि इनमें अमूर्त भावों को ही मूर्त पात्रों का रूप देकर नाटक की रचना की जाती है। सुमित्रानन्दन पंत का 'ज्योत्स्ना', सेठ गोविंददास का 'नवरस', और भगवतीप्रसाद वाजपेयी का 'छलना' इस काल के प्रसिद्ध प्रतीकवादी नाटक हैं।

उपर्युक्त प्रकारों के अतिरिक्त दो अन्य प्रकार के नाटकों का भी आलोच्य-काल में विकास हुआ। इनमें से पहला गीति-नाटक है जो कि सारा पद्य में, प्रायः मुक्त छन्द में, लिखा जाता है। इसमें नाटक के सभी आवश्यक तत्त्व, जैसे पात्रों का प्रवेश और प्रस्थान, वस्तु-संगठन, चरित्र-चित्रण, कथोपकथन आदि रहते हैं। केवल इन सबका माध्यम गद्य न होकर पद्य होता है। नाटक का कथानक प्रायः किसी स्त्री से संबंधित होता है, तथा नाटक का वातावरण प्रायः रस और भावुकता से भरा होता है। यद्यपि उन्नीसवीं शताब्दी के हिन्दी नाटकों में भी पद्य की प्रचुरता है, तथापि वे नाटक गीति-नाटकों की परिधि में नहीं आते। वे इनसे भिन्न हैं, क्योंकि न तो वे नाटक सर्वथा पद्य में हैं, और न ही उनमें रस का इतना उन्मुक्त प्रवाह है। अंग्रेज़ी में गीति-नाटकों की रचना शैली, ब्राउनिंग

तथा स्विनबर्न आदि ने की, और हिंदी में भी गीति-नाटक अंग्रेजी (अथवा बंगला) के गीति-नाटकों के अनुकरण में लिखे गये जान पड़ते हैं। सेठ गोविंददास का 'स्नेह या स्वर्ग', उदयशंकर भट्ट का 'मत्स्यगंधा', 'विश्वामित्र' और 'राधा' इस काल के प्रसिद्ध गीति-नाटक हैं।

दूसरी प्रकार का नाटक जो इस काल में विकसित हुआ, एकांकी नाटक है। यह भी अपने वर्तमान रूप में पश्चिम से उधार लिया गया है। यह सत्य है कि संस्कृत के रूपकों तथा उपरूपकों के कुछेक भेद (भाण, व्यायोग, प्रहसन इत्यादि) भी एकांकी थे। इसके अतिरिक्त भारतेन्दु के कतिपय नाटक (उदाहरण के लिये 'भारतजननी', 'नीलदेवी', 'अंधेरनगरी', 'विषस्य विषमौषधम्' इत्यादि) भी एकांकी हैं तथापि हिन्दी का एकांकी जो इस काल में विकसित हुआ, इन भेदों से उद्भूत अथवा विकसित नहीं हुआ। इसकी रूपरेखा तथा नाट्य-विधान पश्चिम के एकांकी नाटक से लिये गये हैं, जैसा कि हम आगे चलकर सिद्ध करेंगे। इस काल के एकांकीकारों में डा० रामकुमार वर्मा, उपेन्द्रनाथ अश्क, सेठ गोविंददास, भगवतीचरण वर्मा, उदयशंकर भट्ट, और भुवनेश्वरप्रसाद आदि के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं।

ऊपर हमने संक्षेप से आलोच्यकाल के हिन्दी नाटक के भिन्न-भिन्न रूपों का परिचय दिया है। परन्तु यहां यह बता देना अनुचित न होगा कि यह आधुनिक हिंदी नाटक का केवल स्थूल वर्गीकरण है। इन प्रकारों के अतिरिक्त कुछ अन्य हिन्दी नाटक भी इस काल में लिखे गये, जो सूक्ष्म रूप में इनमें से किसी भी वर्ग के अन्तर्गत नहीं आते। उनका अपना विशिष्ट स्थान एवं महत्त्व है, तथा वे स्वतन्त्र वर्ग के अधिकारी हैं। उदाहरण के लिए सेठ गोविंददास का 'कर्तव्य' तथा 'विकास', उपेन्द्रनाथ अश्क का 'छटा बेटा' तथा सुदर्शन का 'भाग्य-चक्र' आदि नाटक ऊपर के वर्गीकरण को स्वीकार नहीं करते। परन्तु हमने उनको अलग अध्याय में नहीं रखा; वरन् अन्य वर्गों के साथ समानता को देखकर उन्हें अन्य अध्यायों में ही रख दिया है।

आगामी अध्यायों में हम एक-एक करके भिन्न-भिन्न प्रकार के नाटकों पर विचार करेंगे। यहां यह बात भी उल्लेखनीय है कि चूंकि इस काल में लिखे गये नाटकों की संख्या बहुत अधिक है, इसलिए प्रत्येक वर्ग के विषय में लिखते समय हमने केवल प्रतिनिधि अथवा प्रमुख नाटकों पर ही विचार किया है, और विस्तार भय से प्रत्येक वर्ग के नाटकों की मुख्य-मुख्य विशेषताओं का संक्षेप से उल्लेख किया है।

अठारहवां अध्याय

ऐतिहासिक नाटक (क)

इस अध्याय में हम उन ऐतिहासिक नाटकों पर विचार करेंगे, जिनके कथानक भारतीय इतिहास के प्राचीन काल से चुने गये हैं, और जिनमें प्रसाद के ऐतिहासिक नाटकों की भांति सांस्कृतिक पुनरुत्थान की चेतना निहित है। इस वर्ग के प्रमुख नाटक चन्द्रगुप्त विद्यालंकार के 'अशोक' तथा 'रेवा', सेठ गोविंददास के 'हर्ष' तथा 'शशिगुप्त', उदयशंकर भट्ट का 'मुक्तिपथ', सियारामशरण गुप्त का 'पुण्य-पर्व', लक्ष्मीनारायण मिश्र का 'गरुड़ध्वज' तथा गोविन्दवल्लभ पंत का 'अन्तःपुर का छिद्र' आदि हैं। ये नाटक प्रसाद के नाटकों की परंपरा को आगे बढ़ाते हैं।

'अशोक' (१९३५) चन्द्रगुप्त विद्यालंकार की पहली नाटकीय रचना है। इन्होंने यह नाटक रजतपट के लिए लिखा है, जैसा कि ये स्वयं नाटक की भूमिका में लिखते हैं—

"अशोक के संबंध में यदि ज़रूरत हुई, तो कैफ़ियत फिर कभी दूंगा। यहाँ मैं सिर्फ़ एक ही निवेदन करना चाहता हूँ। पहले नाटक प्रायः रंगमंच पर खेलने के लिए लिखे जाया करते थे। परन्तु अब रंगमंच का स्थान चलचित्रों ने ले लिया है। इस नाटक में मैंने अनेक दृश्य ऐसे रखे हैं, जिन्हें रंगमंच पर तो आसानी से नहीं खेला जा सकता, परन्तु उनका चित्र बनाने में कोई कठिनाई न होगी।"

नाटक का कथानक मौर्य सम्राट् अशोक के जीवन के पूर्व भाग की घटनाओं से सम्बन्ध रखता है। इसमें अशोक का मगध के राज्य को हस्तगत करना, अशोक के बड़े भाई सुमन की हत्या तथा अन्त में सुमन की वाग्दत्ता पत्नी शीला के महान् बलिदान के प्रभावस्वरूप अशोक का हृदय-परिवर्तन आदि मुख्य घटनाओं का वर्णन है। नाटककार को वस्तु-संगठन एवं चरित्र-चित्रण में पर्याप्त सफलता मिली है तथा उसने कई अवसरों पर कुशलता से करुणापूर्ण वातावरण तथा गहन प्रसंगों की सृष्टि की है। सुमन, शीला, अशोक, चण्डगिरि तथा उपगुप्त के चरित्रों का सावधानी के साथ सफल तथा सजीव चित्रण किया गया है। तिष्य, तिषी तथा चित्रा के चरित्रों की रेखाएँ भी कुछ स्पष्ट हैं। नाटककार ने सुमन तथा अशोक के चरित्र में भारी वैषम्य प्रस्तुत किया है। दोनों के चरित्र

में विरोधी गुणों की प्रधानता है । सुमन बड़ा दयालु, सरल स्वभाव, एकान्त-प्रेमी तथा त्यागशील है । परन्तु अशोक बड़ा कठोर, महत्त्वाकांक्षी, स्वार्थी, चतुर तथा अधिकारलिप्सु है । शीला सर्वथा सुमन के योग्य है । उसमें भी प्रायः सुमन के से गुणों की प्रधानता है । उसकी क्षमा और आत्म-बलिदान की भावना पांचवें अंक के तीसरे दृश्य में अपने चरमोत्कर्ष पर पहुँच जाती है, जब वह अशोक के—अपने पति की हत्या के कारण-भूत अशोक के—प्राणों की रक्षा के लिए उसके स्थान पर अपनी बलि देने का निश्चय करती है । परन्तु यहाँ शीला का आदर्शमय चरित्र कुछ टाइप-सा बन गया है, क्योंकि उसमें अन्तर्द्वन्द्व विशेष सबल नहीं है । चण्डगिरि का चरित्र यद्यपि हृदयहीन और क्रूर आततायी के रूप में चित्रित किया गया है, तथापि उसमें गुणों का एकदम अभाव नहीं है । वस्तुतः वह पक्का स्वामिभक्त है और उसकी सारी पाशविकता एवं राक्षसत्व के पीछे अपने स्वामी अशोक के हित-साधन की सबल भावना निहित है । उसके सभी घृणित कार्य स्वामी के भले के लिए ही किये गये हैं । आचार्य उपगुप्त महात्मा बुद्ध के आदर्शों के प्रतीक हैं और यह उन्हीं के व्यक्तित्व तथा उपदेशों का फल था कि शीला ने अपने पति के प्रतिशोध का विचार छोड़ कर प्रेम और सेवा के मार्ग को ग्रहण किया ।

नाटककार ने कथोपकथन में यथेष्ट कौशल का परिचय दिया है । उसके पात्रों के संवाद प्रायः वेगयुक्त, सजीव तथा सरस हैं, यद्यपि कहीं-कहीं वे व्यर्थ लंबे भी हो गये हैं (उदाहरण के लिए प्रथम अंक के पांचवें तथा सातवें दृश्यों में, तृतीय अंक के पहले, तीसरे तथा छटे दृश्यों में) । कुछ अवसरों पर, विशेषतः सुमन तथा शीला के संभाषणों में नाटककार ने स्वगत का भी उपयोग किया है, परन्तु ये स्वगत अस्वाभाविक अथवा अनाटकीय प्रतीत नहीं होते, वरन् इन स्वगत भाषणों से पात्रों के चरित्र एवं स्वभाव को समझने में सहायता मिलती है । स्वगत के बिना स्वगत-भाषी पात्रों के चरित्र की कुछ विशेषताएं स्पष्ट न हो पातीं ।

नाटक की भाषा आदि से अन्त तक एक जैसी है । यह सरल हिंदी है जिसमें बहुत थोड़े तत्सम शब्दों का प्रयोग किया गया है । किन्तु बीच में कहीं-कहीं पर उर्दू-फ़ारसी के शब्दों का प्रयोग भी किया गया है जो कि खटकने वाली बात है । यद्यपि फ़ारसी के शब्दों का प्रयोग बहुत ही कम किया गया है, तथापि मौर्य-काल के पात्रों से फ़ारसी के शब्द कहलाना किसी प्रकार संगत नहीं माना जा सकता ।

नाटककार ने अपने दृश्यों को प्रभावशाली तथा अपने प्रसंगों को सजीव एवं सशक्त बनाने में बड़ा परिश्रम किया है (उदाहरण के लिए द्वितीय अंक के दूसरे

तथा पांचवें दृश्यों में, तृतीय अंक के तीसरे तथा छटे दृश्यों में, पंचम अंक के तीसरे तथा चौथे दृश्यों में)। उसने इस बात का भी विशेष ध्यान रखा है कि उसके नाटक का कोई दृश्य अधिक लंबा अथवा उकता देने वाला न बन जाय। कई स्थानों पर दृश्यों के बीच दृश्यांतरों की योजना की गई है (उदाहरण के लिए प्रथम अंक के छटे दृश्य में, तथा तृतीय अंक के तीसरे तथा छटे दृश्यों में)। करुण रस की भी बड़े ममस्पर्शी ढंग से कई दृश्यों में सृष्टि की गई है (उदाहरण के लिए द्वितीय अंक के पांचवें दृश्य में, तृतीय अंक के छटे दृश्य में, तथा पंचम अंक के तीसरे तथा चौथे दृश्यों में)। परन्तु बीच-बीच में कुछ अवसरों पर कोमल तथा शिष्ट हास्य की भी अवतारणा की गई है। उदाहरण के लिए नाटक के पहले दृश्य में राजकुमारों के वार्तालाप में परिहास का पुट है; और प्रथम अंक के तीसरे तथा सातवें दृश्यों में शीला तथा उसके पिता दीपवर्धन की बातचीत भी हास्य से सजीव और सरस हो उठी है।

'अशोक' की अपेक्षा विद्यालंकार जी का 'रेवा' (१६३८) कुछ प्रौढ़ रचना है। इसका कथानक शुद्ध ऐतिहासिक नहीं है, यद्यपि यह अधिकतर ऐतिहासिक पात्रों एवं घटनाओं पर ही आधारित है। 'अशोक' के समान यह नाटक भी रंगमंच के लिए नहीं, वरन् रजतपट के लिए लिखा गया है, जैसाकि नाटककार ने स्वयं भूमिका में कहा है—

"यह नाटक रंगमंच के लिए नही लिखा गया। हां, चित्रपट पर यह नाटक बखूबी उतारा जा सकता है।"

'अशोक' के समान 'रेवा' में भी दृश्यों में विभाजित पाँच अंक हैं। परन्तु 'रेवा' में 'अशोक' से एक स्पष्ट अन्तर है। जहाँ पहले नाटक में रंग-संकेत बहुत छोटे हैं, वहाँ 'रेवा' में वे लम्बे हो गये हैं। इन लम्बे रंग-संकेतों का उपयोग नाटककार ने वस्तुओं, व्यक्तियों तथा स्थानों के सुन्दर रेखाचित्र अंकित करने में किया है। उदाहरण के लिए पहले दृश्य का रंग-संकेत बड़ा विशद और चित्रोपम दृश्य प्रस्तुत करता है—

(समुद्र में तूफ़ान आया हुआ है। हवा तेज़ी से चल रही है। शिवमन्दिर जिस सामुद्रिक पहाड़ी पर स्थित है, समुद्र की बड़ी-बड़ी लहरें उस पहाड़ी की नग्न चट्टानों पर ज़ोर-ज़ोर से टकरा रही हैं, और भयंकर कोलाहल उत्पन्न हो रहा है—इत्यादि)।

इस नाटक के कुछ दृश्य, विशेषतः प्रथम तथा अन्तिम दृश्य, बड़े महत्त्वपूर्ण तथा नाटकीय प्रभाव से युक्त हैं। जहाँ 'अशोक' करुणा की गहरी छाप लिये सुखांत है वहाँ 'रेवा' पूर्णतया दुःखांत नाटक बन गया है। चन्द्रगुप्त विद्यालंकार

ने सफल नाटककार बनने का जो दावा 'अशोक' की भूमिका में किया है, वे उसमें प्राय: पूरे उतरे हैं। तथापि वे कम-से-कम 'अशोक' में पूर्णतया स्वाभाविक मौर्य-कालीन वातावरण उपस्थित करने में सफल नहीं हो सके, जितना कि प्रसाद जी अपने ऐतिहासिक नाटकों में हुए हैं। इस संबंध में अन्य बातों के अतिरिक्त फ़ारसी शब्दों का प्रयोग भी इस वातावरण को भंग कर देता है। इसके अतिरिक्त विद्यालंकार जी के नाटकों में एक दोष यह भी है कि कुछ दृश्य व्यर्थ ही (प्राय: करुणा के रंग को गाढ़ा करने के लिए) बढ़ाये गये हैं, जिनको काट देने से नाटक के मूल कथानक को क्षति नहीं पहुंचेगी (उदाहरण के लिए 'अशोक' के द्वितीय अंक का सातवां दृश्य, तथा चतुर्थ अंक का दूसरा, चौथा, पांचवां तथा छटा दृश्य) । 'रेवा' में कृष्णवर्मा की मृत्यु भी कथानक के उद्देश्य के साथ मेल नहीं खाती।

फिर भी उनके नाटकों के अधिकांश दृश्य और प्रसंग बड़े प्रभावशाली तथा नाटकोचित हैं। क्योंकि विद्यालंकार जी ने अपने नाटक सिनेमा के लिए लिखे हैं, इसलिए उन्होंने अपनी रंगीन कल्पना को स्वच्छन्द विचरने का अवसर दिया है। वे रंगमंचीय प्रभाव (stage-effect) उत्पन्न करने में भी कुशल हैं।

सेठ गोविंददास जी हिन्दी के लब्धप्रतिष्ठ नाटककार हैं। इन्होंने अनेक प्रकार के नाटक लिखे हैं, जैसे ऐतिहासिक नाटक ('हर्ष', 'शशिगुप्त', 'कुलीनता' आदि), पौराणिक नाटक ('कर्ण' आदि), समस्या नाटक ('सेवापथ', 'त्याग या ग्रहण' इत्यादि), गीति नाटक ('स्नेह या स्वर्ग'), प्रतीकवादी नाटक ('नवरस') इत्यादि। कांग्रेस के आन्दोलनों के संबंध में ये कई बार जेल भी जा चुके हैं, और इनके अधिकतर नाटक जेल में ही लिखे गये हैं। इनका 'हर्ष' जो कि नागपुर जेल में सन् १९४२ में लिखा गया था, सम्राट् हर्षवर्धन के जीवन-वृत्त से संबंध रखता है। इसका कथानक राज्यवर्द्धन की मृत्यु के पश्चात् आरंभ होता है। वस्तुसंगठन अच्छा हुआ है और प्रसाद जी की भांति सेठ जी ने बड़ी सफलता के साथ उस काल के वातावरण का यथार्थ चित्रण किया है। परन्तु प्रसाद के नाटकों जैसी भाषा की क्लिष्टता और कथोपकथन की दार्शनिकता इस नाटक में नहीं आने पाई। माधवगुप्त तथा आदित्यसेन के चरित्र बड़ी कुशलता से चित्रित किये गये हैं और दोनों में अपना-अपना विशिष्ट व्यक्तित्व है। परन्तु ह्यूनसांग, जयमाला तथा अलका के चरित्र रूढ़िबद्ध से हो गये हैं। नाटक में उनकी अवतारणा केवल वातावरण में कोमलता तथा महानता लाने के लिए की गई है। कदाचित् पाश्चात्त्य नाटकों की शैली के प्रभाव

के अधीन सेठ जी ने नाटक का अन्त अनिश्चय में किया है। 'हर्ष' का अन्त इस दृश्य के साथ अनिश्चय में होता है—

("उसी समय कुछ दूरी पर मंडप में अग्नि लगती है। हल्ला होता है। कुछ लोग भागते हैं।)

हर्ष—(माधवगुप्त से) हैं! यह क्या, माधव, यह भी क्या कुचक्रियों का कोई कुचक्र है?

माधवगुप्त—(जल्दी से) जान तो यही पड़ता है, परमभट्टारक, परन्तु चिंता नहीं, उसके बुझाने का मैं अभी प्रबन्ध करता हूँ। इस अग्नि के संग ही आर्यावर्त्त के साम्राज्य के प्रति विद्रोहियों की अग्नि भी सदा के लिए शान्त हो जायेगी।"

सेठ गोविन्ददास का 'शशिगुप्त' (१९४२) भी एक उत्कृष्ट ऐतिहासिक नाटक है। डा० हरिश्चन्द्र सेठ द्वारा लिखी हुई एक लम्बी भूमिका नाटक के पूर्व जोड़ दी गई है, जिसमें विद्वान् आलोचक ने अपने अनुसन्धानों तथा युक्तियों के आधार पर यह सिद्ध करने का यत्न किया है कि मौर्य सम्राट् चन्द्रगुप्त तथा अश्वक जाति का उद्यमशील और साहसी नेता शशिगुप्त दोनों एक ही व्यक्ति थे। डा० सेठ का यह मत है कि—

(१) चन्द्रगुप्त मौर्य नन्दवंशीय नहीं था और न मगध ही उसका मूल जन्म-स्थान था। नन्द-मुरा की कहानी तो अठारहवीं शताब्दी में गढ़ी गई है। वास्तव में वह पश्चिमोत्तर भारत का निवासी था। उसका जन्म-स्थान सिन्धु और कुमार नदियों के मध्य कोहमोर नाम का प्रदेश था, जिसके कारण सम्भवतः उसके वंश का नाम 'मौर्य' पड़ा। चन्द्रगुप्त और शशिगुप्त एक ही व्यक्ति थे। शशिगुप्त उसका जन्म-नाम था और संभवत: भारत के सम्राट् का पद ग्रहण करने पर उसने चन्द्रगुप्त नाम धारण किया।

(२) चाणक्य अथवा विष्णुगुप्त कौटिल्य भी पश्चिमोत्तर भारत में विख्यात तक्षशिला देश का निवासी था। शुरू से ही चन्द्रगुप्त और चाणक्य में घनिष्ठ सम्बन्ध था, इत्यादि।

(३) ग्रीक इतिहासकारों का पोरस और मुद्राराक्षस का पर्वतक दोनों एक ही व्यक्ति थे।

इसके अतिरिक्त डा० सेठ का यह भी मत है कि सिकन्दर तथा पोरस के युद्ध में सिकन्दर की नहीं बल्कि पोरस की विजय हुई थी और वास्तव में सिकन्दर ने ही सन्धि के लिए प्रस्ताव किया था। डा० सेठ की इन तथा अन्य ऐतिहासिक खोजों और धारणाओं के आधार पर सेठ गोविन्ददास ने अपने नाटक

'शशिगुप्त' की वस्तु को प्रतिष्ठित किया है। नाटक का आरम्भ रमणीय पर्वतीय वातावरण में होता है, और नाटककार ने एक लंबे रंग-संकेत में बड़ी सुन्दरता के साथ उस प्राकृतिक दृश्य का सजीव चित्र अंकित कर दिया है। यद्यपि प्रसाद के 'चन्द्रगुप्त' का विषय भी प्रायः यही है, तथापि सेठ जी के 'शशिगुप्त' की कथावस्तु प्रसाद जी के नाटक जितनी जटिल नहीं हो पाई। यहाँ घटनाओं और प्रसंगों की भीड़ होते हुए भी पाठक तथा दर्शक उनमें खो नहीं जाता और न ही घटनाओं के क्रम को भूलता है।

सेठ जी ने अपने नाटक में केवल थोड़े से पात्रों को ही प्रधानता देकर बड़ी दूरदर्शिता का परिचय दिया है। इसी कारण से उनका चरित्र-चित्रण बड़ा सुन्दर और सफल है। शशिगुप्त, चाणक्य, सिकन्दर, पोरस तथा हेलेन के चरित्र विशेष कौशल के साथ अंकित किये गये हैं। सेठ जी का शशिगुप्त दूसरे नाटककारों तथा इतिहासकारों के चन्द्रगुप्त से कुछ भिन्न व्यक्ति है। जहाँ एक ओर उसमें भावुकता तथा यौवनोचित आवेश और ऊष्मा है, वहाँ दूसरी ओर वह बड़ा संयमी, गम्भीर तथा विचारशील भी है। इसके अतिरिक्त एक बड़ी विशेषता सेठ जी के शशिगुप्त में यह है कि उसके सभी कार्य देशसेवा की बलवती भावना से प्रेरित हैं। चाणक्य में अन्वीक्षण की सूक्ष्म और पैनी शक्ति है, जिससे वह शीघ्र ही शशिगुप्त के छिपे हुए गुणों को ताड़ लेता है। उसे इस बात का निश्चय हो जाता है कि उस समय शशिगुप्त ही एक ऐसा व्यक्ति है जो देश में एकच्छत्र शासन को स्थापित करने तथा तदनन्तर उसकी रक्षा करने में समर्थ है। इन थोड़े से किन्तु महत्त्वपूर्ण एवं सार्थक शब्दों में वह शशिगुप्त के चरित्र का इस प्रकार परिचय देता है—

> **चाणक्य—वत्स, इस समय आर्यावर्त्त में तुमसे अधिक वीर, तुमसे अधिक साहसी, तुमसे अधिक आदर्शवादी, तुमसे अधिक देशभक्त, तुमसे अधिक शुद्ध अन्तःकरण और आचरण वाला और कोई व्यक्ति नहीं।**
>
> इत्यादि इत्यादि। (प्रथम अंक, पहला दृश्य)

इसके साथ ही चाणक्य को अपनी प्रतिभा एवं नीतिकुशलता भी भली भांति विदित है। दूसरे को प्रभावित करके अपने आदर्शों के अनुसार ढालने की अपनी शक्ति से भी वह पूर्णतया परिचित है। वह शशिगुप्त को एक आदर्श आदमी तथा आदर्श राजा के रूप में केवल इसलिए परिणत करने का प्रयास करता है, क्योंकि वह एकमात्र अपनी मातृभूमि का कल्याण चाहता है। और जब एक अवसर पर शशिगुप्त उसकी आज्ञा का पालन करने में संकोच करता है तो चाणक्य क्रोध से अभिभूत होकर उसे बड़ी निर्भीकता के साथ कह देता है

कि उसमें सैकड़ों शशिगुप्त बनने की क्षमता है—

शशिगुप्त—(भर्राये हुए स्वर में) परन्तु आर्य, जिस साम्राज्य में राज्य को ही सारा महत्त्व है, जिसमें साध्य ही सब कुछ है साधन कुछ नहीं, ऐसे साम्राज्य का संचालक हो मैं नित्यप्रति इसी प्रकार के कार्य, इसी प्रकार के साधनों का उपयोग नहीं कर सकता। आज पर्यन्त आपकी कोई आज्ञा न टालने पर भी आपकी इस आज्ञा का मुझसे पालन न हो सकेगा।

चाणक्य—(विकट हँसी हँसकर) ऐसा! तो अर्जुन के सदृश तुम्हें भी मोह हो रहा है। (कुछ रुककर) अच्छी बात है, सोच लो, भली भाँति विचार लो। (खड़े होते हुए क्रोध से) चाणक्य अगणित शशिगुप्तों के निर्माण की क्षमता रखता है।

(चतुर्थ अंक, पांचवां दृश्य)

चाणक्य के इन शब्दों, विशेषतः अंतिम वाक्य में असीम आत्म-विश्वास भरा हुआ है। परन्तु उसके चरित्र की विशेषता यह है कि उसके सभी कर्म—उच्च अथवा नीच, महान् अथवा तुच्छ—सभी मातृ-भूमि के उत्कर्ष के लिए ही अभिप्रेत हैं (चतुर्थ अंक, पांचवां दृश्य)। उनके पीछे स्वार्थ का लेशमात्र भी नहीं। अपना लक्ष्य प्राप्त करने के अनन्तर, अर्थात् शशिगुप्त के अधीन भारत का सुदृढ़ एवं निष्कंटक राज्य स्थापित करने के तुरन्त पश्चात् चाणक्य संन्यास ले लेता है। उसके मन में यश, वैभव अथवा सुख-भोग के लिए तनिक भी मोह नहीं है। चाणक्य का यह महान् उत्सर्ग उसके चरित्र को बहुत ऊँचा उठा देता है और उसके आत्म-निषेध एवं त्याग की भावना को आदर्शवादी बना देता है। चाणक्य के चरित्र के इस प्रकार आदर्शवादी चित्रण में लेखक के मन पर महात्मा गांधी के व्यक्तित्व तथा गुणों की छाप स्पष्ट झलकती है। परन्तु इससे चाणक्य का चरित्र बहुत कुछ रूढ़िबद्ध और टाइप-सा बन गया है। उसमें अपनापन कुछ भी नहीं है। जो कुछ है देश के लिए है। उसकी सारी शक्ति, प्रतिभा एवं कार्य-कुशलता सब देश-हित के लिए हैं।

षड्यन्त्र, युद्ध तथा रक्तपात के इस नाटक में हेलेन के चरित्र की अवतारणा करके नाटककार ने कोमलता, मधुरता, दया और सहानुभूति के वातावरण को बीच-बीच में उपस्थित कर दिया है। हेलेन बच्चे-सी भोली, फूल-सी कोमल, सिपाही-सी देशभक्त तथा माता-सी स्नेहमयी है। उसमें गुणों की परीक्षा करने की सूक्ष्म शक्ति है। उसे आंभीक से अमिट घृणा है क्योंकि वह देशद्रोही है। दूसरी ओर शशिगुप्त के प्रति उसके हृदय में इसलिए प्रेम जागृत होता है क्योंकि

वह देशभक्त और वीर है (प्रथम अंक, चौथा दृश्य)। परन्तु जब शशिगुप्त चाणक्य की कूट नीति के अनुसार सिकन्दर को आत्म-समर्पण करके उसकी अधीनता स्वीकार करने का ढोंग रचता है, तो इस क्षुद्रता के कारण हेलेन शशिगुप्त से घृणा करने लग जाती है। किन्तु जब फिर शशिगुप्त सिकन्दर के प्रति विद्रोह करके अपने देश की स्वतन्त्रता के लिए उठ खड़ा होता है, तो हेलेन की घृणा पुन: प्रेम में परिणत हो जाती है।

सिकन्दर एक कुशल राजनीतिज्ञ है जिसे शत्रु को अपने साथ मिलाने के सभी उपाय भली भांति विदित हैं। इसके विपरीत पोरस का चित्रण एक विलासी राजा के रूप में किया गया है जिसमें देशहित की अपेक्षा स्वार्थ साधन की भावना प्रबल है और दूरदर्शिता की मात्रा कम।

उपयुक्त शब्दों तथा विशेषणों आदि के संचयन से, शुद्ध हिन्दी के प्रयोग से और अनुकूल परिस्थिति एवं वातावरण की सृष्टि करके सेठ जी ने बड़ी सुन्दरता और सफलता के साथ नाटक में मौर्यकाल का यथार्थ चित्र प्रस्तुत किया है। इस प्रयास में उन्हें उतनी ही सफलता प्राप्त हुई है जितनी प्रसाद जी को अपने ऐतिहासिक नाटकों में। नाटक के कथोपकथन भी बड़े सशक्त, सजीव तथा गतिशील हैं और नाटककार ने उन्हें दार्शनिकता या वाद-विवाद के बोझ से भारी या सुस्त बनाने की ग़लती नहीं की। नाटक की एक और विशेषता यह है कि बहुत-सा कार्य-व्यापार रंग-संकेतों में ही घटित होता दिखाया गया है, उसके लिए संवादों की सहायता नहीं ली गई। कई स्थलों[1] पर नाटककार ने रंग-संकेतों को कथोपकथन के समान अथवा उससे भी अधिक उपयोगी और महत्त्वपूर्ण बना दिया है। उदाहरण के लिए शशिगुप्त तथा हेलेन के परस्पर अनुरक्त होने का दृश्य भी संभाषण के एक शब्द तक के बिना बड़े सुन्दर ढंग से रंग-संकेत द्वारा ही दिखाया गया है। नाटक में पांच अंक हैं और प्रत्येक अंक में पांच दृश्य हैं। नाटक को रजतपट पर बड़ी सफलता प्राप्त हो सकती है।

उदयशंकर भट्ट का 'मुक्तिपथ' (१९४४) भी इस काल का सुन्दर ऐतिहासिक नाटक है। इसमें तीन अंक हैं जिनमें से पहला अंक दूसरे से कुछ बड़ा है और दूसरा अंक तीसरे से कुछ बड़ा है। नाटक की भूमिका में भट्ट जी ने नाटक की मूलभूत प्रेरणा को सूचित करते हुए यह सन्देश दिया है—

> **"अन्धानुकरण मत करो। सोचो और प्रयोग करो, इसी में जीवन की सार्थकता है।"**

---

१. उदाहरण के लिए देखिए प्रथम अंक का तीसरा दृश्य, द्वितीय अंक का तीसरा दृश्य, तृतीय अंक का पांचवां दृश्य तथा पंचम अंक का तीसरा दृश्य।

नाटक का कथानक राजकुमार सिद्धार्थ के जीवन-वृत्त से सम्बन्ध रखता है, जिसमें उनकी चिन्तनशील प्रवृत्ति, उनकी वैराग्य-भावना, उनके गृह-त्याग, ज्ञान-प्राप्ति तथा मुक्ति-पथ के उपदेश आदि घटनाओं का वर्णन है। नाटककार ने सिद्धार्थ के चरित्र का सुन्दर चित्रण किया है। वह सरल-हृदय, स्नेहमय और अनुकम्पाशील है। वह जो कुछ भी सुनता अथवा देखता है, उसके मन के अंत-स्तल पर तुरन्त उसका गहरा प्रभाव पड़ जाता है, और वह सोचने लग जाता है। परन्तु योग्य नाटककार ने उसे कोरा चिन्तनशील तथा दार्शनिक विचारों से भरा चित्रित करके ही संतोष ग्रहण नहीं कर लिया। उसने सिद्धार्थ की यौवन-सुलभ भावनाओं तथा तदनुरूप व्यवहार की प्रथम अंक के चौथे तथा पांचवें दृश्यों में थोड़ी-सी झलक देकर उसके चरित्र को रूढ़िबद्ध होने से बचा लिया है, तथा उसके व्यक्तित्व को मुखरित कर दिया है।

शुद्धोदन के हृदय में वात्सल्य का आधिपत्य है। उसके लिए अपना पुत्र ही सब कुछ है। उसके मोह में वह न्याय तथा नियम की भी उपेक्षा करने को उद्यत हो जाता है। अतः राजपक्ष के मुक़ाबले में शुद्धोदन का पितृ-पक्ष ही इस नाटक में अधिक प्रबल है। नाटककार ने सुकेशी की अवतारणा नाटक में विशेष उद्देश्य से की है। एक तो इस पात्र के द्वारा नाटककार को कई स्थानों पर मधुर गीत भरने का अवसर मिल गया है। दूसरे, सिद्धार्थ तथा गोपा के चरित्रों की अन्तर्निहित प्रवृत्तियों तथा भावनाओं को स्पष्ट करने में भी सुकेशी सहायक सिद्ध होती है। सुकेशी की अवतारणा के बिना या तो सिद्धार्थ तथा गोपा के चरित्र अविकसित और अस्पष्ट रह जाते, अथवा उनको स्पष्ट करने के लिए नाटककार को कितनी ही बार स्वगत की योजना करनी पड़ती। अब उनके चरित्र पर यथोचित प्रकाश सुकेशी के साथ वार्तालाप के बीच डाल दिया गया है।

नाटककार ने कहीं-कहीं बड़े रमणीय प्राकृतिक दृश्यों की सृष्टि की है, जिनमें कुछ तो (उदाहरण के लिए तृतीय अंक का दूसरा दृश्य) केवल चित्रपट पर ही सफलतापूर्वक दिखाये जा सकते हैं। सिद्धार्थ के गृह-त्याग के (द्वितीय अंक के चौथे) दृश्य में तथा उनकी समाधि के (तीसरे अंक के दूसरे) दृश्य में सिनेमा का प्रभाव दृष्टिगोचर है। नाटक के कथोपकथन प्रायः सजीव, सबल तथा सार्थक हैं। लेखक ने आधुनिक सिद्धान्त के अनुसार स्वगत का प्रयोग यथासम्भव कम करने का यत्न किया है। केवल दो-तीन अवसरों पर ही सिद्धार्थ तथा गोपा स्वगत का प्रयोग करते हैं, और वह भी तब जब कि स्वगत की योजना अनि-वार्य-सी जान पड़ती है (द्वितीय अंक के चौथे, पांचवें तथा छटे दृश्यों में)। नाटककार को बुद्धकालीन वातावरण का स्वाभाविक चित्रण करने में काफ़ी

सफलता मिली है। उदाहरण के लिए न्यायालय के दृश्य (द्वितीय अंक, दूसरा दृश्य) में उन दिनों के लोगों की सरलता, सत्यप्रियता एवं नैतिक स्तर का सुन्दर परिचय मिलता है। दोनों ही पक्ष आदर्श भावनाओं के कारण अपने आप को अपराधी मानते हैं और दण्ड पाने के इच्छुक हैं। न्यायाध्यक्ष के अमानुषीय न्याय को देखकर सिद्धार्थ का कोमल हृदय काँप उठता है और उसके मुँह से अनायास निकल पड़ता ह—

सिद्धार्थ—न्याय बड़ा कठोर है। उसके आँखें नहीं हैं, हृदय नहीं है। वह यन्त्र है।

पं० लक्ष्मीनारायण मिश्र अनेक सुन्दर समस्या[1] नाटकों की रचना के कारण प्रभूत प्रसिद्धि प्राप्त कर चुके हैं। इधर ऐतिहासिक नाटकों के क्षेत्र में भी उन्होंने दो-एक प्रयास किये हैं। उनका 'अशोक' (१९२७) हिन्दी नाटक के पुनरुत्थान-काल की रचना है। आलोच्यकाल में उन्होंने 'गरुड़ध्वज' (१९४८) नामक ऐतिहासिक नाटक की रचना की है। नाटक की भूमिका में यह गर्वोक्ति की गई है—

"यह कहना अत्युक्ति न होगी कि मिश्र जी वर्तमान समय के हमारे सर्वश्रेष्ठ नाटककार हैं।"

हमें यह लिखते हुए खेद होता है कि यह दावा यथार्थ नहीं है। मिश्र जी ने निस्संदेह उच्च कोटि के समस्या-नाटक लिखे हैं। परन्तु 'गरुड़ध्वज' उनका असफल प्रयास है। यह नाटक बड़ा नीरस और उकताने वाला है। नाटक का कथानक केवल अप्रसिद्ध ही नहीं, अपितु उसका संगठन भी बड़ा शिथिल है। कालिदास जैसे दो-एक पात्रों को छोड़ प्रायः शेष सभी पात्र साधारण जनता के लिए अपरिचित हैं। न ही नाटककार ने नाटक के कलेवर में अथवा उसकी भूमिका में उनके व्यक्तित्व पर यथेष्ट प्रकाश डालने का कष्ट किया है। कथोपकथन प्रायः शिथिल, नीरस और निर्जीव हैं। नाटक का सारा वातावरण रोचकता-हीन है और इसमें घटनाओं तथा प्रसंगों की विविधता बहुत कम है। सारे नाटक में केवल न्यायालय का अन्तिम दृश्य ही रोचक बन पड़ा है और इससे उस काल के लोगों के ऊँचे नैतिक स्तर का परिचय मिलता है। नाटक में लंबे-लंबे तीन अंक हैं और इसका कथानक ईसापूर्व की पहली-दूसरी शताब्दी के भारतीय इतिहास से सम्बन्ध रखता है।

सियारामशरण गुप्त का 'पुण्य-पर्व' (१९३३) भी मध्यम कोटि का सफल ऐतिहासिक नाटक है। इस नाटक में बोधिसत्त्व तथा ब्रह्मदत्त सत् और असत् भावनाओं के प्रतीक हैं। उनके चरित्रों की द्वन्द्व-भावना काफ़ी तीक्ष्ण है। प्राचीन

१. देखिए इक्कीसवां अध्याय।

बौद्धकाल का वातावरण उपस्थित करने में लेखक को पर्याप्त सफलता मिली है, परन्तु इसके लिए भाषा को क्लिष्ट बनाकर नाटक के प्रभाव में बाधा डाल दी गई है।

गोविन्दवल्लभ पन्त के 'अन्तःपुर का छिद्र' (१९४०) में राजा उदयन तथा उसकी रानियों—पद्मावती तथा मागंधी—की कथा है। यद्यपि यह ऐतिहासिक नाटक है, तथापि इसमें ऐतिहासिक वृत्त के प्रतिपादन की अपेक्षा पद्मावती के (तथा कुछ हद तक मागंधी के) मन में होने वाले अन्तर्द्वन्द्व का चित्रण ही अधिक है। पद्मावती भगवान् अमिताभ के सात्त्विक सौंदर्य पर मुग्ध हो जाती है। यद्यपि उसका यह आकर्षण ऊपर से केवल श्रद्धा और भक्ति मात्र है, परन्तु हृदय के अन्तस्तल में वह पुरुष के प्रति नारी की सहज वासना का रूप धारण कर लेता है। उदयन की दूसरी रानी मागंधी भी भगवान् अमिताभ के प्रति आकर्षित होती है, परन्तु उसकी वासना तिरस्कृत होकर प्रतिशोध में परिणत हो जाती है। नाटककार ने दोनों रानियों के मन में होने वाले संघर्ष का तथा उदयन के मन पर पड़ने वाले उसके प्रभाव का ही प्रधान रूप से चित्रण किया है, इसलिए नाटक का वातावरण काफ़ी भावुकतापूर्ण है।

सुदर्शन के 'सिकन्दर' (१९४७) में सिकन्दर तथा पोरस के युद्ध का तथा सिकन्दर का घर लौटने के लिए व्यग्र अपने सैनिकों को मनाने के असफल प्रयास आदि का वर्णन है। वास्तव में यह नाटक प्रकाशित होने से कई वर्ष पूर्व चित्रपट[1] के लिए लिखा गया था और मिनर्वा मोवीटोन के सोहराब मोदी के निर्देशन में यह नाटक चित्रपट पर बड़ी सफलता एवं प्रसिद्धि पा चुका है। बाद में सुदर्शन जी ने इसमें कुछ परिवर्तन करके इसे पुस्तक रूप में प्रकाशित कराया।

सारांश यह कहा जा सकता है कि चन्द्रगुप्त विद्यालंकार, सेठ गोविन्ददास तथा उदयशंकर भट्ट इस वर्ग के प्रमुख नाटककार हैं। इन्होंने बड़ी सफलता के साथ प्रसाद जी के ऐतिहासिक नाटकों की परम्परा का प्रतिनिधित्व किया है। प्रसाद जी के नाटकों की भांति इनके नाटकों में भी सांस्कृतिक पुनरुत्थान की चेतना वर्तमान है। तत्कालीन वातावरण का यथार्थ चित्रण करने में भी इस काल के नाटककारों को पर्याप्त सफलता मिली है। इस काल के नाटकों में प्रसाद जी के नाटकों की भांति द्वन्द्व का चित्रण भी है, चाहे वह द्वन्द्व दो व्यक्तियों के बीच हो अथवा दो विरोधी विचारधाराओं के बीच हो। 'अशोक' में यह संघर्ष सेवा और त्याग की भावनाओं तथा महत्त्वाकांक्षा, स्वार्थ और अत्याचार की भावनाओं के बीच चलता है। सुमन तथा शीला पहले प्रकार की भावनाओं

१. देखिए नाटक की भूमिका।

के प्रतिनिधि हैं और अशोक तथा चण्डगिरि दूसरे प्रकार की भावनाओं के। 'मुक्तिपथ' में यह संघर्ष वैराग्य की भावना तथा सांसारिक बन्धनों के बीच चलता है। सिद्धार्थ में वैराग्य की भावना बलवती है, और शुद्धोदन तथा गोपा आदि में सांसारिक बन्धन का मोह है। इसी प्रकार अन्य नाटकों में भी संघर्ष विद्यमान है। परन्तु इन नाटकों में बाह्य द्वन्द्व की ही प्रधानता है। अन्तर्द्वन्द्व अर्थात् एक ही पात्र के मन के संघर्ष का चित्रण इन नाटकों में थोड़ी मात्रा में ही कहीं-कहीं पर मिलता है।

इन नाटकों का कथानक अधिकतर जटिल है। किन्तु फिर भी किसी नाटक में भी यह प्रसाद के प्रौढ़ ऐतिहासिक नाटकों की भांति उलझने नहीं पाया। जहां प्रसाद जी ने एक ही नाटक में अनेक कथानकों की भीड़ लगा दी है, वहां इस अध्याय के नाटककारों ने एक नाटक में प्रायः एक ही मुख्य कथानक पर अपना सारा ध्यान और कौशल केन्द्रित किया है। प्रसाद के नाटकों की भांति इन नाटकों का चरित्र-चित्रण भी बहुत कुछ आदर्शवादी ढंग का है, और इन नाटकों के अधिकांश प्रमुख पात्र (सुमन, शीला, रेवा, हर्ष, चाणक्य, शशिगुप्त, सिद्धार्थ इत्यादि) असाधारण गुणों और आदर्श भावनाओं से युक्त हैं। इन नाटकों की भाषा प्रसाद के नाटकों की भाषा की अपेक्षा सरल है और संवादों में भी व्यर्थ के पाण्डित्य-प्रदर्शन, भावुकता, दार्शनिकता अथवा सिद्धान्त-प्रतिपादन के अभाव के कारण भारीपन नहीं आने पाया। शायद आलोच्यकाल के नाटककारों ने प्रसाद के नाटकों के इस दोष को समझ कर, उससे शिक्षा लेकर उससे बचने का प्रयास किया है। इसके फलस्वरूप इनके नाटक प्रसाद के नाटकों की अपेक्षा रंगमंच तथा रजतपट के लिए अधिक उपयोगी हैं। इसके अतिरिक्त कई नाटकों में व्यक्तियों तथा स्थानों आदि के सुन्दर, स्पष्ट चित्र अंकित करने के लिए लंबे-लंबे रंग-संकेतों का उपयोग किया गया है।

उन्नीसवां अध्याय

ऐतिहासिक नाटक (ख)

इस अध्याय में हम उन ऐतिहासिक नाटकों पर विचार करेंगे जिनके विषय भारतीय इतिहास के मध्यकाल के भिन्न-भिन्न युगों से चुने गये हैं। जहाँ पिछले अध्याय के नाटककारों ने अपने देश की शोचनीय दशा का सुधार करने के लिए अपने गौरवशाली स्वर्णिम अतीत के (जब कि भारतीय सभ्यता और संस्कृति अपने उच्चतम शिखर पर थी) समुज्ज्वल चित्र अंकित किये हैं, वहाँ इस अध्याय के नाटककारों ने मुस्लिम, राजपूत तथा मराठा इतिहास की चुनी हुई घटनाओं का स्मरण कराने का यत्न किया है। इसके साथ ही उन्होंने अपने नाटकों में ऐतिहासिक घटनाओं और तथ्यों की रक्षा करते हुए बड़ी कुशलता से भिन्न-भिन्न सामयिक समस्याओं का भी प्रतिपादन किया है।

इस वर्ग के प्रमुख नाटक हरिकृष्ण 'प्रेमी' के 'रक्षा-बन्धन', 'आहुति', 'शिवा-साधना', 'स्वप्न-भंग', 'मित्र', प्रतिशोध' और 'विष-पान', उदयशंकर भट्ट का 'दाहर', गोविन्दवल्लभ पन्त का 'राजमुकुट', सेठ गोविन्ददास का 'कुलीनता', उपेन्द्रनाथ 'अश्क' का 'जयपराजय', सत्येन्द्र का 'मुक्तियज्ञ' तथा वृन्दावनलाल वर्मा का 'झाँसी की रानी' आदि हैं।

'रक्षा-बन्धन' (१९३४) में स्वर्गीय राणा संग्रामसिंह की पत्नी कर्मवती अपने संकट के समय में मुग़ल सम्राट् हुमायूँ को राखी भेज कर अपना भाई बनाती है। मानवता के सच्चे गुणों की मूर्ति हुमायूँ भी जाति तथा धर्म के भेद की उपेक्षा करके सगे भाई के समान राखी का आदर करते हुए कर्मवती की सहायता करने का निश्चय कर लेता है। अपने इस पवित्र भ्रातृ-भाव के लिए उसे बड़ा कष्ट और हानि सहन करनी पड़ती है। जब वह कर्मवती की सहायता के लिए अपनी राजधानी से दूर जाता है, तो उसकी अनुपस्थिति तथा अन्यत्र व्यस्तता से अनुचित लाभ उठाकर शेरशाह बंगाल तथा बिहार पर अपना अधिकार जमा लेता है। मार्ग में अनेक बाधाओं के पड़ जाने के कारण यद्यपि हुमायूँ ठीक समय पर कर्मवती की सहायता को पहुँच नहीं सकता और निराश होकर कर्मवती तथा अन्य राजपूत स्त्रियों को जौहर-व्रत का पालन करना पड़ता है, तथापि हुमायूँ ने हिन्दू-मुस्लिम का सवाल छोड़कर अपनी हिन्दू बहन की सहायता के लिए पूरी कोशिश की। इसी भावना ने हुमायूँ के चरित्र को ऊँचा उठा दिया है।

हुमायूँ के संभाषणों के बीच कई बार हिन्दू-मुस्लिम-एकता की ध्वनि गूंजती है, जैसे—

हुमायूँ—दुश्मन ! हः हः हः ! दुश्मन ! आँखों से तअस्सुब का चश्मा हटा कर देखो ! जिन्हें हम दुश्मन कहते हैं वे सब हमारे भाई हैं। हम सब एक ही ख़ुदा के बेटे हैं। इत्यादि   (द्वितीय अंक, दूसरा दृश्य)

अथवा—

हुमायूँ—...चलिए महाराणा, आपको बाक़ायदा मेवाड़ के तख़्त पर बैठा कर अपने सिर से राखी का कुछ कर्ज़ उतार लूं। पूरा कर्ज़ तो उस दिन उतरेगा जब सारी मुस्लिम क़ौम की बहनें हिन्दू भाइयों के हाथ में बेहिचक राखी बाँधने की हिम्मत करेंगी और सारी हिन्दू क़ौम की बहनें मुसलमान भाइयों के हाथ में दिली मुहब्बत के साथ अपनी पाक राखी बाँधने की मेहरबानी करेंगी। इत्यादि, इत्यादि।

निम्नलिखित शब्दों में भी महात्मा गांधी के शब्दों की प्रतिध्वनि है—

शाहशेख़—   **आज ख़ुदा ख़ुद है हैरान।**
पिला रहा है तुम्हें तअस्सुब की शराब शैतान।
कहां लिखा है, हमें बताओ, खोलो वेद कुरान,
जो न तुम्हारा मज़हब माने ले लो उसकी जान।
मंदिर मस्जिद काबा काशी सब में उसकी शान,
एक दीन सारी दुनिया का, 'नेकी कर इन्सान'।

(तृतीय अंक, दूसरा दृश्य)

हिन्दू-मुस्लिम-एकता की प्रधान समस्या के अतिरिक्त गांधी जी के अछूतोद्धार सम्बन्धी विचार भी नीचे के शब्दों में सुनाई पड़ते हैं—

जवाहरबाई—चुप रहो, लड़के ! मैंने सब सुना है। पश्चात्ताप की आग से मेरा हृदय जल रहा है। जिन्हें तुमने अभी नीच कहा है, वे वसुन्धरा के लिए भगवान् के आशीर्वाद हैं—वरदान हैं।—भीलराज का अपमान करके तुमने मेवाड़ पर देवताओं के अभिशाप को आमन्त्रित किया है।   (प्रथम अंक, पहला दृश्य)

'आहुति' (१९४०) का कथानक राणा हमीर तथा मीर महिमाशाह के एक दूसरे के लिए अपूर्व बलिदान से समुज्ज्वल हो उठा है। नाटककार ने इन दोनों पात्रों को आदर्श के रंग में चित्रित किया है। अलाउद्दीन का सेनापति मीर महिमा एक बहादुर परन्तु नेक मुसलमान है। वह शत्रु की स्त्रियों की बहनों के समान इज़्ज़त करता है। जब उसका विलासी स्वामी अलाउद्दीन उसे एक

राजपूत सुन्दरी को बलात् पकड़ लाने का आदेश देता है, तो वह सत्पुरुष परिणाम की परवाह न करते हुए स्वामी की आज्ञा का पालन करने से इन्कार कर देता है। इस पर अलाउद्दीन महिमाशाह को पदच्युत करके उसके निर्वासन की आज्ञा देता है। परन्तु वीर और निर्भीक राजपूत राणा हमीर उसकी सद्भावनाओं का आदर करके उसे अपने यहाँ आश्रय दे देते हैं। इससे रुष्ट होकर अलाउद्दीन राणा हमीर की राजधानी रणथंभोर पर आक्रमण कर देता है। भयंकर युद्ध छिड़ता है, दोनों ओर के असंख्य योद्धा युद्ध की भेंट होते हैं। उसमें राणा हमीर (जिन्होंने महिमाशाह के ज़ोर देने पर भी उसे त्यागना स्वीकार नहीं किया था और शरणागत की रक्षा करना परम धर्म मानकर परिणाम की चिन्ता न की थी) महिमाशाह के लिए अपना सब कुछ, अपने पुत्रों तक की युद्ध में बलि दे देते हैं। दूसरी ओर महिमाशाह में भी कर्तव्य-पालन का भाव आदर्श रूप में मुखरित हो उठता है। वह युद्ध में राणा की सेना से लड़ने के लिए आये हुए अपने प्राण-प्रिय भाई मीरगभरू का वध करने में भी संकोच नहीं करता। वह दृश्य बड़ा मार्मिक और हृदयस्पर्शी है (तृतीय अंक, पहला दृश्य) जब मीर महिमा युद्ध आरम्भ करने से पूर्व अपने भाई के साथ स्नेहपूर्वक मिलता है और तत्पश्चात् दोनों भाई अपने-अपने कर्तव्य के पालन के लिए पुनः परस्पर युद्ध करने के लिए पृथक् हो जाते हैं। इसके अतिरिक्त वह दृश्य (तृतीय अंक, चौथा दृश्य) भी बड़ा करुण है, जिसमें राजपूत रमणियाँ विजयी राजपूत सेना द्वारा ग़लती से उठाई हुई शत्रु-ध्वजाओं को देखकर शत्रु की विजय समझ कर जौहर-व्रत का पालन करती हैं।

इस नाटक में भी 'प्रेमी' जी ने एक हिन्दू तथा एक मुसलमान का परस्पर आदर्श बलिदान दिखाकर हिन्दू-मुस्लिम-एकता का प्रभावोत्पादक रीति से उपदेश दिया है।

'शिवा-साधना' (१९३७) में भी उसी हिन्दू-मुस्लिम-एकता की पुकार है। भूमिका में नाटककार ने लिखा है—

"शिवाजी के चरित्र को इतिहासकारों ने जिस रूप में अंकित किया है, उससे हिन्दुओं और मुसलमानों के हृदय दूर ही होते हैं। इसके विपरीत मैंने इस नाटक में बताया है कि शिवाजी न केवल महाराष्ट्र में बल्कि संपूर्ण भारतवर्ष में जनता का 'स्वराज्य' स्थापित करना चाहते थे, उनके हृदय में मुसलमानों के प्रति कोई द्वेष न था। मेरी इस धारणा की इतिहास भी पुष्टि करता है।" इत्यादि, इत्यादि।

नाटक का कथानक बहुत लम्बा है और इसमें शिवाजी के जीवन की प्रायः

सभी महत्त्वपूर्ण घटनाओं का समावेश है। पात्रों की संख्या भी बहुत अधिक है, परन्तु उनमें केवल थोड़े से पात्रों (शिवाजी, औरंगज़ेब, जीजाबाई, रोशनआरा तथा जहानआरा) के चरित्र का यथोचित चित्रण हो सका है। शिवाजी के चरित्र का नैतिक पक्ष उस समय बड़ा उज्ज्वल हो उठता है जब कि अपने सैनिकों द्वारा उपहार स्वरूप लाई गई एक सुन्दर मुसलमान युवती का शिवाजी माता के समान आदर करते हैं (प्रथम अंक, चौथा दृश्य)। साहस, षड्यन्त्र तथा मारकाट के इस नाटक में नाटककार ने औरंगज़ेब की पुत्री ज़ेबुन्निसा के चरित्र द्वारा प्रेम और सहानुभूति की कोमल भावनाओं की अवतारणा की है ज़ेबुन्निसा शिवाजी की अद्भुत वीरता तथा सद्गुणों के कारण उन पर मुग्ध हो जाती है।

हिन्दू-मुस्लिम-एकता के अतिरिक्त प्रेमी जी ने इस नाटक में दर्शकों तथा पाठकों में देशभक्ति तथा स्वतन्त्रता-संग्राम की प्रेरणा को जागृत करने का यत्न किया है। समर्थ गुरु रामदास के अन्तिम भाषण में उन्होंने एक प्रकार से भारत-वासियों से अपने सभी स्वार्थों का परित्याग करके देश के हित के लिए प्रयत्न-शील होने का अनुरोध किया है—

> **रामदास—भैय्या, यह स्वराज्य-साधना का कार्य, युग-युग की गुलामी की बेड़ियों को काटने का काम, एक-दो दिन में नहीं होता। यह कांटों और बाधाओं से भरा हुआ पथ है। इस पथ पर चलने की दीक्षा लेने वालों को मां-बाप, भाई-बहन, लोक-परलोक सभी से आँखें फेरनी होंगी। स्वतन्त्रता से अमूल्य वस्तु कोई नहीं—धर्म भी नहीं।**
> इत्यादि, इत्यादि। (पंचम अंक, छटा दृश्य)

'प्रतिशोध' (१९३७) में प्रेमी जी हमें अपनी जन्म-भूमि बुन्देलखण्ड की यात्रा कराते हैं। यह नाटक वीरता, देशभक्ति और मातृ-भूमि के लिए बलिदान की भावना से ओत-प्रोत है। इसमें बुन्देलखण्ड के प्रसिद्ध वीर चंपतराय तथा उनके सुयोग्य पुत्र छत्रसाल के जीवन की मुख्य घटनाओं का वर्णन है। कथानक बड़ा लम्बा तथा जटिल है और अनेक षड्यन्त्रों तथा युद्धों में से होकर गुज़रता है। पात्रों की संख्या लगभग दो दर्जन है, परन्तु उनमें चम्पतराय, लाल कुंवरि, छत्रसाल, प्राणनाथ प्रभु, हीरा देवी और विजया के चरित्र का ही यथोचित चित्रण किया गया है। नाटक में वीर रस की प्रधानता है पर कुछेक दृश्यों में करुणा का रंग भी बहुत गाढ़ा हो गया है। उदाहरण के लिए भीमसिंह की मृत्यु का दृश्य (प्रथम अंक, चौथा दृश्य), चम्पतराय तथा उनकी रानी की मृत्यु का दृश्य (प्रथम अंक, आठवां दृश्य) तथा विजया के आत्म-बलिदान का दृश्य

(तृतीय अंक, छठा दृश्य) बड़े मर्मस्पर्शी और करुण हैं। छत्रसाल की मरती हुई माता के ये अन्तिम शब्द नाटक को इसका शीर्षक प्रदान करते हैं—

लालकुंवरि—(टूटे हुए स्वर में) बहुत देर से आये, प्राणनाथ प्रभु ! सब समाप्त हो गया ! केवल एक कहानी रह जायेगी, जिसे बुंदेलों को सुना-सुना कर उन्हें देश की स्वाधीनता के लिए पागल बनाते रहना। छत्रसाल सहरा में है, उससे कह देना कि तुम्हें सब प्रकार साधनहीन, भिखारी बनाकर मां और बाप दुनियां से चल बसे ! मां-बाप की मृत्यु का प्रतिशोध शत्रु से लेना न भूल जाना। (मृत्यु)।

(प्रथम अंक, आठवां दृश्य)

तीसरे अंक का तीसरा दृश्य, जिसमें औरंगज़ेब अपनी क्रूरता, रक्तपात और धर्मान्धता के लिए तथा हिन्दुओं के प्रति साधारणतः और अपने भाइयों के प्रति विशेषतः किये गये अपने अत्याचारों पर पश्चात्ताप करता है, नाटककार की अनूठी कल्पना का परिचायक है। इतिहास में औरंगज़ेब के इस मानसिक परिवर्तन का कोई प्रमाण नहीं मिलता।

'स्वप्न-भंग' (१९४०) भी हिन्दू-मुस्लिम एकता के प्रश्न को लेकर लिखा गया है। इसका नायक औरंगज़ेब का बड़ा भाई दारा है, जो कि हिन्दू-मुस्लिम-एकता का पक्षपाती था। उसने अपने इस स्वप्न को पूरा करने का यत्न किया, परन्तु उसका महान् स्वप्न आज तक भी पूरा न होकर भंग पड़ा है जैसा कि नाटककार ने भूमिका में कहा है—

"भारतीय इतिहास के मुस्लिम काल में दारा के समान वैभव और शक्ति की चरम सीमा तथा कंगाली और कष्ट की पराकाष्ठा तक पहुँचनेवाला पात्र दूसरा कोई नहीं है। हिन्दू-मुस्लिम-एकता के लिए उस महापुरुष ने अपने जीवन की बलि दे दी। उस समय दारा का जो स्वप्न भंग हुआ वह आज तक भंग ही पड़ा है। इत्यादि, इत्यादि।

इस नाटक में लेखक ने अधिकतर दारा के जीवन के उत्तरकाल की घटनाओं को ही लिया है, जिसमें विशेष रूप से उसके औरंगज़ेब के साथ संघर्ष तथा उसकी शोकपूर्ण मृत्यु का वर्णन है। जहां पहले के ऐतिहासिक नाटकों में प्रेमी जी ने बहुत से पात्रों की भीड़ इकट्ठी कर ली थी, वहां इस नाटक में उन्होंने केवल थोड़े से प्रमुख पात्र चुनकर बुद्धिमत्ता और दूरदर्शिता का परिचय दिया है। इसी कारण वे प्रायः इन सब के चरित्र पर पर्याप्त प्रकाश डाल सके हैं। इसके अतिरिक्त प्रेमी जी ने इस नाटक में यह भी दिखाया[1] है कि औरंगज़ेब की

१. तृतीय अंक, चौथा दृश्य।

सारी धर्मान्धता तथा रक्तपिपासा अधिकतर उसकी बहन रोशनआरा के कुटिल और विषभरे उपदेशों का ही परिणाम थी, जो कि औरंगज़ेब से भी अधिक दुष्ट, क्रूर और चतुर थी। दारा की विपत्तियों तथा शोकपूर्ण मृत्यु के दृश्य[1] भी अति करुण हो गये हैं। अन्त में प्रकाश के दो संभाषणों में लेखक ने हिन्दू-मुस्लिम-एकता के लिए आग्रहपूर्ण अनुरोध किया है—

प्रकाश—आज एक महान् स्वप्न भंग हो गया। क्या राष्ट्रीय एकता के लिए एक महात्मा (अर्थात् दारा) का बलिदान व्यर्थ जायेगा। क्या दारा का स्वप्न सदा स्वप्न ही बना रहेगा। क्या भारत की भावी पीढ़ियां इस महान् बलिदान को भूल जायेंगी। इस मक़बरे में सोने वाली दो महान् आत्माएं पुकार-पुकार कर क्या कह रही हैं ? हिन्दुस्तान, क्या तू इस आवाज़ को सुनेगा ! सुनकर कुछ करेगा !

प्रकाश—···यहां न कोई हिन्दू है न मुसलमान—केवल उस 'एक'—उस ख़ुदा—उस ब्रह्म का अलग-अलग घट में प्रतिबिंब है। हम छाया के लिए लड़ रहे हैं और वास्तव को भूल रहे हैं। यही उस पूर्ण पुरुष दारा का संदेश है।

'मित्र' (द्वितीय संस्करण १९४८) में प्रेमीजी फिर हिन्दू-मुस्लिम-एकता का उपदेश देते हैं। नाटक में अलाउद्दीन तथा जैसलमेर के राणा के बीच यु॰ का वर्णन है। परन्तु 'रक्षाबंधन' तथा 'स्वप्न-भंग' की भांति इस नाटक में भी नाटककार का मुख्य उद्देश्य इतिहास की अपेक्षा हिन्दू-मुस्लिम-एकता के भाव पर बल देना है। हिन्दू-मुस्लिम-एकता के समर्थक नाटककार ने दिखाया है कि राणा का छोटा पुत्र रत्नसिंह अलाउद्दीन के सेनापति महबूब का घनिष्ठ मित्र है। युद्धभूमि में तो वे दोनों मित्र कर्तव्य-पालन के लिए ठीक शत्रुओं के समान लड़ते हैं किन्तु युद्धभूमि के अतिरिक्त अन्यत्र सभी जगह वे हार्दिक मित्रों के समान आचरण करते हैं, सच्चे मित्रों के समान ही एक दूसरे पर विश्वास करते हैं। जब लम्बे युद्ध से तंग आकर एक दिन अलाउद्दीन अपने सेनापति महबूब को प्रतिदिन की भांति मिलने को आये हुए रत्नसिंह को बन्दी बना लेने की आज्ञा देता है तो महबूब, जो सच्चा बहादुर है, इस घृणित प्रस्ताव को ठुकरा देता है, क्योंकि वह अपने हिन्दू मित्र के साथ विश्वासघात करना नहीं चाहता। दूसरी ओर महबूब को भी रत्नसिंह पर इतना अखण्ड विश्वास है कि युद्ध के दिनों में भी उसे अपनी पत्नी तथा पुत्री को अपने हिन्दू मित्र के शिविर में छोड़ते संकोच नहीं होता। इन दोनों की आदर्श मित्रता हिन्दू-मुस्लिम-एकता और प्रेम के रंग

१. तृतीय अंक का पांचवां तथा सातवां दृश्य।

को बहुत गाढ़ा (और अयथार्थ) कर देती है। ताण्डवी तथा महाकाल के चरित्र भी वीरता और देशभक्ति के कार्यों से उज्ज्वल हो उठे हैं।

'विषपान' में मेवाड़ की सुन्दर राजकुमारी कृष्णा के आत्मबलिदान की कथा है। जयपुर तथा जोधपुर के राजा दोनों ही कृष्णा के अद्भुत रूप पर मोहित होकर उसके साथ विवाह करने को व्यग्र हो जाते हैं। इससे परिस्थिति बड़ी विषम हो जाती है। दोनों में से जिस राजा की प्रार्थना स्वीकार नहीं होगी, वही मेवाड़ पर आक्रमण कर देगा। मेवाड़ उन दिनों कमज़ोर हो चुका था। सेना के रक्तपात को बचाने के लिए अन्त में यह निश्चय किया जाता है कि राजकुमारी की हत्या कर दी जाय। परन्तु जब वीर तथा देशभक्त राजकुमारी को सारी बात का ज्ञान होता है, तो वह स्वयं ही विषपान करके अपनी जीवनलीला समाप्त कर देती है। (इसी से नाटक का नाम 'विषपान' पड़ा)। जहां अन्य नाटकों में प्रेमी जी ने हिन्दू-मुस्लिम-एकता का प्रचार किया है, वहां इस नाटक में उन्होंने हिन्दू-जाति के भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों और वर्गों की एकता पर ज़ोर दिया है। निम्नलिखित शब्दों में प्रेमी जी ने व्यक्तिगत भेदभाव को त्याग कर एकता से मातृभूमि की रक्षा और कल्याण करने का अनुरोध किया है—

दौलतसिंह—क्यों नहीं ? प्रत्येक मनुष्य अपने कर्तव्य का पालन करे। दूसरे की त्रुटियां देखने की ओर उसका ध्यान न हो, तो बहुत कुछ अनायास हो जाये। हमें देश-हित को निज हित और निज मान के ऊपर स्थान देकर त्याग और उदारता का परिचय देना चाहिए। इत्यादि इत्यादि। (तृतीय अंक, चौथा दृश्य)

दौलतसिंह—क्यों नहीं ? यह देश हमारी सबकी मां है ! यह हमारा सबका समान रूप से पालन करती है—हम सब भाई एक होकर अपनी मां का मान बढ़ायें—अपने देश को शक्तिशाली बनायें। संकुचित मनोवृत्ति छोड़कर विस्तृत दृष्टिकोण से प्रत्येक बात को देखें।

(तृतीय अंक, चौथा दृश्य)

रूपनारायण पाण्डेय के नाटक 'कृष्णाकुमारी' में भी इसी विषय का वर्णन है। वह नाटक माइकल मधुसूदनदत्त के बंगला नाटक का अनुवाद है। हरिकृष्ण प्रेमी के 'विषपान' की विशेषता यह है कि उन्होंने केवल ऐतिहासिक तथ्यों के वर्णन के अतिरिक्त इसे देशभक्ति तथा जातीय एकता का प्रचार करने के उद्देश्य से लिखा है।

जैसा कि प्रेमी जी ने 'विषपान' की भूमिका में कहा है, वे उस साहित्य

को विशेष महत्त्व नहीं देते जो केवल 'कला कला के लिए' के उद्देश्य से लिखा गया हो। उनका मत है कि साहित्य को जाति और समाज के निर्माण में सहायक होना चाहिए। अतः जहां उन्होंने अपने नाटकों में नाटकीय तत्त्वों की ओर ध्यान दिया है, वहां इस बात का भी ख्याल रखा है कि उनका कोई भी नाटक ऐसा न रहे, जिसमें किसी-न-किसी सामयिक समस्या का प्रतिपादन न हो। इस प्रकार उनके नाटकों में इतिहास का चित्रण गौण बात है। उन्होंने बार-बार अपने नाटकों में हिन्दू-मुस्लिम-एकता की रट लगाई है, यहां तक कि कई जगह वे इस समस्या की ओर संकेत ही नहीं करते, वरन् इसका पूर्णतया उपदेश देते जान पड़ते हैं। इसके फलस्वरूप उनके कुछ पात्र, जो इस सिद्धांत का समर्थन करते हैं (यथा हुमायूं, प्रकाश आदि), अपना व्यक्तित्व खोकर इस भावना के प्रतीक मात्र रह जाते हैं। फिर भी नाटककार ने अपने कुछेक कल्पित पात्रों (यथा 'प्रतिशोध' की विजया और 'रक्षा-बन्धन' की श्यामा आदि) के विशिष्ट व्यक्तित्व तथा निजी भावनाओं को मुखरित कर दिया है।

क्योंकि प्रेमी जी सामयिक आन्दोलनों तथा परिस्थितियों से बहुत प्रभावित हुए हैं, और उनमें देशसेवा तथा आत्म-बलिदान की भावना सबल हो गई है, इसलिए उन्होंने अपने नाटकों में कई ऐसे पात्रों की अवतारणा की है जिनके पास पाठकों और दर्शकों के लिए कोई-न-कोई निश्चित संदेश है। वीणा ('स्वप्नभंग' में), चारिणी ('रक्षाबंधन' में), विजया ('प्रतिशोध' में) कर्मवती ('रक्षाबंधन' में), जहानआरा ('स्वप्नभंग' में) तथा ज़ेबुन्निसा ('शिवासाधना' में) के चरित्र संसार को भ्रातृ-भाव, देशभक्ति तथा आत्म-सम्मान आदि का संदेश देते हैं। इनके अतिरिक्त प्राणनाथ प्रभु ('प्रतिशोध' में), गुरु रामदास ('शिवा-साधना' में), प्रकाश ('स्वप्न-भंग' में) तथा शाह शेख ('रक्षाबंधन' में) के चरित्र जान-बूझकर जनता को मानवता के उच्च आदर्शों का उपदेश देने के लिए लाये गये हैं।

'शिवासाधना' के अतिरिक्त (जिसमें पांच अंक हैं) शेष सभी नाटकों में तीन-तीन अंक हैं। हिन्दू-मुस्लिम एकता का समर्थक होने के कारण नाटककार ने सभी पात्रों के लिए एक ही भाषा—हिन्दुस्तानी का प्रयोग किया है। वैसे तो 'प्रेमी' जी ने सभी नाटकों में सुन्दर गीतों की योजना की है, परन्तु 'स्वप्नभंग' में ये गीत अत्यधिक तथा अनावश्यक जान पड़ते हैं। प्रेमी जी को वस्तुसंगठन तथा चरित्र-चित्रण में बड़ी सफलता मिली है। किन्तु उनके पात्रों में अन्तर्द्वन्द्व का प्रायः अभाव है। यदि कभी किसी पात्र के मन में संघर्ष होता भी है, तो नाटककार उसका संकेतमात्र देकर संतुष्ट हो जाता है। प्रेमीजी के कथोपकथन, जो

कि बड़े सजीव, सरस और स्वाभाविक हैं, के विषय में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का मत है—

"श्री हरिकृष्ण 'प्रेमी' के कथोपकथन 'प्रसाद' जी के कथोपकथनों से अधिक नाटकोपयुक्त हैं। उनमें प्रसंगानुसार बातचीत का चलता स्वाभाविक ढंग भी है और सर्वहृदय-ग्राह्य पद्धति पर भाषा का मर्म-व्यंजक अनूठापन भी। 'प्रसाद' जी के नाटकों में एक ही ढंग की चित्रमयी और लच्छेदार बातचीत करने वाले कई पात्र आ जाते हैं। प्रेमी जी के नाटकों में यह खटकने वाली बात नहीं मिलती।"

प्रेमी जी के नाटकों में एक विशेष गुण यह भी है कि वे रंगमंच के लिए बहुत उपयुक्त हैं। 'प्रेमी' जी ने अपने नाटकों को अभिनय के अनुकूल बनाने की ओर विशेष ध्यान दिया है, तथा उनको रोचक बनाने और साधारण आदमी की पहुँच से बाहर न जाने देने के लिए भी परिश्रम किया है।

प्रो० सत्येन्द्र के 'मुक्तियज्ञ' (१६३७) में भी बुन्देलखंड के राजा छत्रसाल का जीवनवृत्त है। नाटक का नाम 'मुक्तियज्ञ' इसलिए रखा गया है क्योंकि स्वतन्त्रता-प्राप्ति के लिए जिस संग्राम का इस नाटक में वर्णन है, वह वास्तव में मातृभूमि की दासता की मुक्ति का यज्ञ ही है। नाटक साधारणतया अच्छा है। छत्रसाल के चरित्र द्वारा नाटककार ने देश के युवकों को देश की स्वाधीनता के लिए शक्ति-भर प्रयास करने का अनुरोध किया गया है। नाटक के कथानक, पात्रों, घटनाओं और प्रसंगों आदि के मिलान से ऐसा ज्ञात होता है कि सत्येन्द्र जी ने अपने नाटक के कथानक आदि के लिए मराठी के उपन्यास 'छत्रसाल'[1] को आधार बनाया है। नाटक की सभी मुख्य घटनाएं और प्रसंग उस उपन्यास से मेल खाते हैं। पहाड़सिंह की मृत्यु तथा रोशनआरा का औरंगजेब की हत्या करने का प्रयास आदि घटनाएं इतिहास-सम्मत न होने पर भी उस उपन्यास से उधार ली गई हैं। नाटक का प्रथम तथा अंतिम दृश्य भी ठीक उपन्यास के प्रथम तथा अंतिम परिच्छेदों के आधार पर रचे गये हैं।

प्राणनाथ प्रभु के इन शब्दों में नाटककार ने जातीय एकता की आवश्यकता पर ज़ोर दिया है और मातृभूमि की स्वतंत्रता के लिए उद्यम करने का अनुरोध किया है—

---

१. इस मराठी उपन्यास का हिंदी में अनुवाद बाबू रामचंद्र वर्मा ने किया है, और इसको हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर-कार्यालय, हीराबाग़, बम्बई ने प्रकाशित किया है।

प्राणनाथ—अहः, तुम कैसे वीर हो—छत्रसाल तू धन्य है। और दलपति शुभकरण, तुम सभी धन्य हो। तुम्हारे उद्योग से सारा खण्ड एक हो गया। एकता ही स्वतन्त्रता है। यदि—अब औरंगज़ेब चाहे तब भी तुम्हें अपने अधीन नहीं कर सकता। संसार की कोई शक्ति किसी पर उसकी इच्छा के विरुद्ध शासन नहीं कर सकती—औरंगज़ेब तो क्या चीज़ है!

(तृतीय अंक, दसवां दृश्य)

यद्यपि यह नाटक ऐतिहासिक है, तो भी नाटककार ने नाटक के अन्तिम दृश्य में अतिमानुषिक तत्त्व का उपयोग किया है, जो कि पारसी थिएट्रिकल नाटकों के प्रभाव का अवशेष-सा ज्ञात होता है—

प्राणनाथ—आह—यह आनन्द उन्माद—यह क्या—यह देखो—देवी विन्ध्यवासिनी देवी कैसी प्रसन्न प्रतीत होती है। (पर्दे की ओर इशारा करते हैं—पर्दा फटता है—देवी प्रकट होती है उसके दोनों ओर अप्सराएं नाच रही हैं)।

अथवा—**(तीव्र प्रकाश के साथ स्वर्ग में चम्पतराय प्रकट होते हैं और फूल बरसाते हैं)।**

उपेन्द्रनाथ 'अश्क' के 'जयपराजय' (१९३७) का कथानक मेवाड़ के इतिहास से सम्बन्ध रखता है। यह नाटक प्रतिहिंसा, देशभक्ति, स्वाभिमान तथा लोक-सेवा की भावनाओं से ओत-प्रोत है। परन्तु अश्क जी ने यह नाटक राजपूत चरित्र की इन विशेषताओं को दर्शक-समाज के सम्मुख रखने के उद्देश्य से नहीं लिखा, बल्कि अपने मन के संघर्ष तथा विक्षोभ को शांत करने के लिए लिखा है, जैसा कि उन्होंने स्वयं नाटक की भूमिका में लिखा है। इसके अतिरिक्त नाटककार ने ऐतिहासिक तथ्यों के प्रतिपादन के साथ-साथ नाटक के प्रधान पात्रों के जीवन में जय और पराजय के बीच संघर्ष का चित्रण किया है। नाटक के नायक चण्ड का चरित्र जय और पराजय के बीच निरन्तर संघर्ष का सुन्दर उदाहरण है। नाटक का अन्तिम दृश्य बड़ा नाटकोचित है जिसमें हरिसिंह बार-बार चण्ड से मेवाड़ न छोड़ने का अनुरोध करता है, किन्तु चण्ड दृढ़तापूर्वक अपने जय-पराजय के मार्ग पर अग्रसर होता जाता है। हंसा तथा रणमल्ल के चरित्र में भी इसी जय-पराजय का संघर्ष दिखाया गया है।

नाटक के प्रथम अंक के सभी दृश्यों की योजना केवल वातावरण की सृष्टि के लिए की गई है। नाटक का कार्य-व्यापार दूसरे अंक से आरम्भ होता है। किन्तु कार्य का अभाव होते हुए भी प्रथम अंक में शिथिलता अथवा निर्जीवता नहीं आने पाई। नाटककार के रंगमंच-सम्बन्धी अनुभव ने उसे इस अंक

में काफ़ी प्राण तथा रोचकता भरने में समर्थ बना दिया है। चण्ड का चरित्र बड़ा आदर्शवादी है, जो कि उसके आत्म-निषेध तथा त्याग से विशेष उज्ज्वल हो उठा है। परन्तु नाटककार चण्ड की उस युक्ति को विशेष सबल और उचित नहीं बना सका, जब चण्ड हंसा को अपनी माता मानने का निश्चय कर लेता है और वह भी केवल इसलिए कि उसके पिता ने परिहास में हंसा से विवाह की इच्छा प्रकट की थी (द्वितीय अंक, पहला दृश्य)। हंसा तथा भारमली के चरित्र भी बड़े सजीव एवं सुचित्रित हैं। नाटक अभिनय की दृष्टि से बड़ा सुन्दर और सफल है।

सन्त गोकुलचन्द का 'चण्ड-प्रतिज्ञा' भी इसी वृत्त को लेकर लिखा गया है। 'जय-पराजय' के समक्ष यह नाटक, अपने छोटे-मोटे परिवर्तनों के रहते हुए भी, उत्कृष्ट नहीं कहा जा सकता।

गोविन्दवल्लभ पन्त ने अपना 'राजमुकुट' (१९३५) उदयपुर की अमर धाय पन्ना के अपूर्व बलिदान के वृत्त को लेकर लिखा है। पन्ना ने अपने अल्पवयस्क स्वामी उदयसिंह की रक्षा के लिए अपने एकमात्र लाड़ले बेटे की बलि दे दी और अनेक विपत्तियों का सामना करती हुई अन्त में उदयसिंह को राजमुकुट पहना कर अपने कठिन कर्तव्य से मुक्त हुई। नाटक में घटनाओं की अधिकता है और कथानक साधारण रूप से सुसंगठित है। पन्ना, शीतलसेनी तथा रणजीत के चरित्र सावधानी तथा कुशलता के साथ अंकित किये गये हैं। नाटककार ने पन्ना के चरित्र को केवल बलिदान की भावना का प्रतीकमात्र ही नहीं रहने दिया। वह एक वीर राजपूतनी भी है, जिसकी निर्भीकता और साहस का परिचय हमें सर्वप्रथम उस समय मिलता है जब वह बनवीर को विक्रम को बन्दी करने से रोकती है—

> **पन्ना—(कमर से कटार खींच कर) यह क्या बनवीर ! सावधान ! मैं धाई ही नहीं हूँ, राजपूतनी भी हूँ। मेरे जीवित रहते कोई महाराणा को बन्दी नहीं कर सकता। (विक्रम की रक्षा करती है)**
>
> (प्रथम अंक, तीसरा दृश्य)

उसके निम्नलिखित शब्दों में कितनी शक्ति और आत्म-विश्वास है जब वह बनवीर से उदय की रक्षा करने का प्रण लेती है—

> **पन्ना—(भाव बदल कर) तब उदय को यहीं रहने दो। (उत्तेजित होकर) मैं उसकी राह रोक लूंगी, उसका हाथ झटक तलवार छीन लूंगी। तलवार के टुकड़े-टुकड़े कर फेंक दूंगी। सावित्री ने यम के पंजे से अपने स्वामी को छुड़ाया था, क्या मैं मनुष्य के हाथ से अपने स्वामी के पुत्र को न छुड़ा सकूंगी? अवश्य छुड़ाऊंगी।** (प्रथम अंक, सातवां दृश्य)

परन्तु जब नाटक के अन्त में पन्ना बनवीर को क्षमा कर देती है, उस बनवीर को जिसने उसके लाड़ले बेटे की हत्या की थी तथा उसके स्वामी उदय को इतने कष्ट दिये थे, तो उसका चरित्र रूढ़िबद्ध-सा बनकर रह जाता है।

बनवीर की माता शीतलसेनी का चरित्र भी बड़ा सबल है। उसमें महत्त्वाकांक्षा तथा प्रतिशोध का भाव कूट-कूट कर भरा हुआ है। कितने निर्भीक और साहसपूर्ण हैं उसके ये शब्द, जो उसने विक्रम से कहे—

शीतलसेनी—···नीच दासी! इन अपमानजनक शब्दों को याद रखना, विक्रम! तूने नागिन की पूंछ दबाई है।

विक्रम—मैं उसका सिर भी कुचल दूंगा।

शीतलसेनी—मैं उससे पहले ही तेरा मुकुट चूर्ण कर दूंगी, तेरा सिंहासन उलट दूंगी, तुझे समूल नष्ट कर दूंगी।

(प्रथम अंक, पहला दृश्य)

और इस उद्देश्य की पूर्त्ति के लिए वह रणजीत को, षड्यन्त्र सफल होने के पश्चात्, प्रधानमन्त्री बनाने का प्रलोभन देकर अपने साथ मिला लेती है। इसके अतिरिक्त वह अपने शुद्ध-हृदय पुत्र बनवीर को विक्रम के विरुद्ध भड़काती है, यहाँ तक कि वही बनवीर जो विक्रम का परम भक्त तथा हितैषी था और जिसने विक्रम को यहाँ तक कह दिया था कि 'तुम्हें हानि पहुँचाकर इन्द्रासन भी न लूंगा' (प्रथम अंक, पहला दृश्य), वही बनवीर शीतलसेनी के उपदेशों के प्रभाव से विक्रम की हत्या कर डालता है और उदय का भी अन्त करने की चेष्टा करता है। नाटककार ने बनवीर को अपनी स्वार्थमयी, महत्त्वाकांक्षिणी माता के हाथों की कठपुतली चित्रित किया है। नाटक की प्रायः सभी हत्याएँ और क्रूर कर्म इसी शीतलसेनी की प्रेरणा तथा षड्यन्त्रों के फल हैं।

अपने अन्य नाटकों ('वरमाला' आदि) की भांति इस नाटक को भी पन्त जी ने रंगमंच के उपयुक्त बनाया है। नाटक के कथोपकथन बड़े सरल एवं सजीव हैं। नाटक के कई दृश्य बड़े सशक्त और नाटकोचित हैं। चन्दन की हत्या का दृश्य (प्रथम अंक, सातवां दृश्य) तथा पन्ना का अपने पुत्र का शव लिये फिरने का दृश्य (द्वितीय अंक, पहला दृश्य) बड़े ही करुण हैं। परन्तु शीतलसेनी की मृत्यु का दृश्य बड़ा अस्वाभाविक और भद्दा-सा बन गया है। नाटककार को इस दुष्ट तथा सशक्त पात्र का अन्त किसी प्रभावोत्पादक ढंग से दिखा कर अधिक कुशलता और प्रतिभा का परिचय देना चाहिए था।

अपने 'दाहर या सिंधपतन' (१९३३) की भूमिका में उदयशंकर भट्ट ने नाटक के विषय का इस प्रकार उल्लेख किया है—

"....हमारी जातीयता में धर्मवाद की निकम्मी, थोथी रूढ़ियों ने हमें विवेक से गिरा दिया, मनुष्यत्व से खींच कर दासता, भ्रातृविद्रोह, विवेकशून्यता के गढ़े में ले जाकर मार डाला, पीस दिया।

आज जिस नाटक को लेकर मैं हिन्दी-संसार के सम्मुख उपस्थित हो रहा हूँ उसमें इसी प्रकार का इतिवृत्त है। यही गाथा है। इसमें यदि एक ओर वीरता है तो उसी के अंक में छिपा हुआ पशुत्व अपना अकाण्ड ताण्डव दिखा रहा है। यदि एक जगह देश-प्रेम का उत्कट आदर्श है तो उसी के दायें-बायें नीचे-ऊपर छल-कपट और नीच वासना रूपी साँपनी अपनी विषाक्त जीभ लपलपाये देश-प्रेम को चाट डालना चाहती है। अपनी-अपनी डफली अपना-अपना राग है।" इत्यादि।

इस लम्बी भूमिका में भट्ट जी ने अपने नाटक के विषय को ही स्पष्ट नहीं किया है, अपितु उन भिन्न-भिन्न कारणों का भी उल्लेख किया है जिनके फलस्वरूप सिन्ध का पतन हुआ। नाटक में सिंध के पतन की कारणभूत कई घटनाओं का वर्णन है। अन्त में दाहर की मेधाविनी युवति पुत्रियों, सूर्यदेवी तथा परमाल देवी ने जिस प्रकार अपने पिता तथा मातृभूमि के शत्रु क़ासिम से बदला लिया और उसे मौत के घाट उतरवाया, उस कुशल नीति का भी वर्णन है।

नाटक की भाषा-शैली पर प्रसाद जी की दार्शनिक एवं कवित्वमय शैली की पूरी छाप है। उदाहरण के लिए दाहर का निम्नलिखित भाषण, यद्यपि विचारों की विविधता के कारण रोचक है, तथापि कथोपकथन के बीच में आने के कारण बड़ा अस्वाभाविक और अनाटकीय लगता है—

दाहर—**कहीं सत्यरूप से स्पष्ट, कहीं असत्यरूप में अस्थिर, कहीं कोमलाङ्गिनी वारांगना के समान छलमयी, समय के उलटफेर में, हिंसा की उग्रता में, दयालुता के आंचल में, स्वार्थ के उत्संग में, उदारता की ओट में, धन-रत्न के प्रलोभन में, राजनीति अपनी कार्यसाधना में सन्नद्ध रहती है। यह चरों के चक्षुओं से, न्याय के कान से, निश्चय के मुख से, सन्देहमय संकल्प से सब का निर्णय करती है।** इत्यादि, इत्यादि।

(प्रथम अंक, दूसरा दृश्य)

वार्तालाप के बीच में इस प्रकार के लम्बे-लम्बे भाषणों का घुसेड़ना हमें बाण की शैली (विशेषत: 'कादम्बरी' में शुकनासोपदेश) की याद दिलाता है। परन्तु जहाँ इस प्रकार के उपदेशपूर्ण भाषण बाण की कादम्बरी जैसे ग्रन्थों की शोभा को बढ़ाते हैं, वहाँ पर ये नाटक के लिए सर्वथा अनुपयुक्त है। ये कथोपकथन की गति तथा कथानक की प्रगति में बाधा डालते हैं। नाटक में स्वगत

भाषणों की संख्या भी काफ़ी है, जिनसे नाटकीय प्रभाव कम हो जाता है। नाटककार ने अपने पात्रों की भाषा को भी (चाहे वह हिन्दी है या उर्दू) प्रायः बड़ा क्लिष्ट बना दिया है। इन सभी कारणों से यह नाटक अभिनय के लिए उपयुक्त नहीं है।

वस्तु-संगठन में भी नाटककार ने विशेष कुशलता का परिचय नहीं दिया। नाटक में कार्य की मात्रा काफ़ी है और कई एक दृश्य तथा प्रसंग बड़े सशक्त तथा प्रभावशाली बनाये जा सकते थे परन्तु नाटककार ने उनको प्रभावशाली और नाटकोचित बनाने की ओर ध्यान नहीं दिया। उदाहरण के लिए क़ासिम की मृत्यु का प्रसंग बड़े सशक्त एवं करुणाजनक ढंग से चित्रित किया जा सकता था, क्योंकि यहाँ नाटककार क़ासिम के हृदय में उठने वाले विविध विचारों के बीच संघर्ष आदि का चित्रण कर सकता था, परन्तु उसने इस महत्त्वपूर्ण तथा करुण घटना की सूचना-मात्र एक साधारण से संवाद के बीच दे दी है (पंचम अंक, दूसरा दृश्य)। इसी प्रकार नाटक का अन्तिम दृश्य भी जिसमें सूर्यदेवी तथा परमाल आत्महत्या करती हैं, अपेक्षित बल और गहनता से रहित है।

तथापि नाटककार को चरित्र-चित्रण में काफ़ी सफलता मिली है। कम-से-कम क़ासिम, मानू, दाहर तथा सूर्यदेवी के चरित्रों में सजीवता और विशिष्ट व्यक्तित्व अवश्य है। नाटक के चतुर्थ अंक के चौथे दृश्य में क़ासिम दाहर की प्रेतात्मा के हँसने से भयभीत होकर बेहोश होकर गिर पड़ता है। यह प्रयोग यद्यपि नाटकीय प्रभाव के लिए बुरा नहीं, तथापि क़ासिम के चरित्र के साथ संगत तथा स्वाभाविक प्रतीत नहीं होता।

सेठ गोविन्ददास का 'कुलीनता' (प्रथम संस्करण १९४१; दूसरा परिवर्धित संस्करण १९४८) भी इन्हीं नाटकों के साथ रखा जा सकता है, क्योंकि इसका विषय भारतवर्ष के मध्यकालीन इतिहास से सम्बन्धित है। परन्तु ऐतिहासिक विषय का प्रतिपादन करने के अतिरिक्त सेठ जी ने 'प्रेमी' जी की भांति इस नाटक में देश की एक सामाजिक समस्या का विवेचन किया है। नाटककार के मन पर अछूतोद्धार के आन्दोलन का विशेष प्रभाव पड़ा है, जिस आन्दोलन को गांधी जी के व्यक्तित्व एवं प्रोत्साहन से बड़ी सहायता मिली। इस नाटक में सेठ जी ने इसी प्रश्न पर विचार किया है कि 'कुलीनता' जन्मजात है अथवा स्वतः अर्जित। हमारे समाज का रूढ़िवादी वर्ग सदा से कुलीनता को जन्मजात मानता तथा सिद्ध करने का प्रयत्न करता रहा है। दूसरी ओर साहसी, उद्यमशील तथा कर्मठ वीर कुलीनता को गुणों के अधीन मानते रहे हैं। इस नाटक

का नायक यदुराय भी (महाभारत के कर्ण की भांति) केवल नीच जाति में जन्म लेने के कारण जन्मतः कुलीन लोगों से अपमानित होता है । कुलीन समाज के अन्यायपूर्ण व्यवहार से खिन्न होकर वह कहता है—

"ये हमें पशु से भी निकृष्ट समझते हैं । हम में कितने ही उच्च गुण क्यों न हों, हम उनके राज्यों में किसी भी उत्तरदायी पद पर आसीन नहीं हो सकते । हम कितने ही सुन्दर क्यों न हों, हम उनकी कन्याओं से विवाह नहीं कर सकते । हम कितने ही स्वच्छ क्यों न हों, हमारा छुआ हुआ भोजन उनके खाने योग्य नहीं रह जाता । इतना ही नहीं, यदि देश पर विपत्ति आवे तो यद्यपि हम उनकी अपेक्षा इस देश के पुराने निवासी हैं, हमें अपने देश की रक्षा करने का भी अधिकार नहीं है । (प्रथम संस्करण; प्रथम अंक, छटा दृश्य)

नाटककार ने वस्तु का संगठन बड़ी सुन्दरता से किया है और घटनाओं का क्रम नियमित और सुसंबद्ध है । चरित्र-चित्रण में नाटककार ने नीच जातीय पात्रों के साथ पक्षपात से काम लिया जान पड़ता है । उसने नीच पात्रों का आदर्श रंगों में चित्रण किया है । यदुराय तथा नागदेव आदर्श मित्र, आदर्श वीर तथा आदर्श देशभक्त के रूप में प्रस्तुत किये गये हैं । दूसरी ओर कुछेक कुलीन पात्रों का (विशेषतः चण्डपीड का) चरित्र बहुत नीचे गिरा दिया गया है । विन्ध्यबाला, रेवासुन्दरी तथा सुरभी पाठक के चरित्र भी कुशलतापूर्वक अंकित किये गये हैं । 'हर्ष' तथा 'शशिगुप्त' की भाँति इस नाटक में भी लंबे रंग-संकेतों में नाटककार ने पात्रों तथा राजभवनों आदि के बड़े ही स्पष्ट और सूक्ष्म शब्द-चित्र उपस्थित किये हैं । प्राचीन वैभव के सुन्दर चित्र खींचने में नाटककार ने विशेष कुशलता दिखाई है ।

यदि नाटक के दूसरे परिवर्धित तथा परिष्कृत संस्करण से तुलना की जाय तो नाटक के प्रथम संस्करण में शैशव की झलक है । दूसरे संस्करण में अनेक संशोधन और परिवर्धन किये गये हैं । केवल कई एक दृश्य ही यत्र-तत्र बढ़ाये नहीं गये, वरन् दूसरे संस्करण के दूसरे अंक का ही प्रथम संस्करण में कहीं नाम नहीं है । अन्त में इन शब्दों में नाटककार ने कर्मजात कुलीनता पर ज़ोर दिया है—

विजयदेवसिंह—जिन्हें कुछ समय पूर्व जिस धर्म के अनुसार जिस राज्य में प्राणदण्ड की व्यवस्था दी गई थी, उसी धर्म के अनुसार उसी राज्य में उन्हीं का यह उत्कर्ष इस बात को सिद्ध कर देता है कि संसार में कर्म ही मुख्य है और कुलीनता कर्म पर निर्भर रहती है ।

(द्वितीय संस्करण; चतुर्थ अंक, सातवां दृश्य)

इस प्रकार एक-एक करके इन नाटकों पर विचार करने के अनन्तर हम कुछ ऐसी बातों का निर्देश कर देना चाहते हैं, जो समान रूप से प्रायः इन सभी नाटकों में पाई जाती हैं। सर्वप्रथम इन नाटकों में ऐतिहासिक विषयों के प्रतिपादन के अतिरिक्त किसी-न-किसी सामयिक समस्या या विचारधारा के दर्शन प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में होते हैं। वस्तुतः इस अध्याय के नाटककारों ने सामयिक समस्याओं एवं आन्दोलनों से ही प्रेरित होकर अपने नाटकों की रचना की है, अतः अपने नाटकों में उन्होंने हिन्दू-मुस्लिम-एकता, देशभक्ति, अछूतोद्धार, वीरता आदि विषयों पर अपने विचारों को अवश्य प्रकट किया है। दूसरे, इन सभी नाटकों में घटनाओं तथा प्रसंगों की बड़ी भीड़ है। इनमें सिद्धांत-प्रतिपादन या वाद-विवाद की अपेक्षा कार्य की मात्रा बहुत अधिक है। इनके प्रधान पात्र (छत्रसाल, चम्पतराय, हमीर, महिमाशाह, शिवाजी, चण्ड, बनवीर आदि) अधिकतर व्यावहारिक तथा कर्मठ व्यक्ति हैं, जिनके पास अपने मानसिक संघर्ष की ओर ध्यान देने के लिए समय नहीं। अतः उनके चरित्र में मनोवैज्ञानिक चित्रण का प्रायः अभाव है।

इसके अतिरिक्त इन नाटकों के प्रधान पात्र किसी-न-किसी बलवती सामयिक चेतना से प्रेरित होकर आगे बढ़ते हैं, चाहे यह हिन्दू-मुस्लिम-एकता की भावना हो (जैसे हुमायूं, कर्मवती, प्रकाश, रत्नसिंह इत्यादि में) अथवा अछूतोद्धार की भावना हो (जैसे यदुराय में), अथवा वंश की प्रतिष्ठा (जैसे छत्रसाल हमीर, तथा लक्षसिंह में) या जातिगत प्रतिष्ठा और वीरता का भाव हो (जैसे छत्रसाल, शिवाजी, चम्पतराय, चण्ड, यदुराय आदि में) अथवा क्षमा का भाव हो (जैसे पन्ना और शाहजहां में) अथवा प्रतिशोध की भावना हो (जैसे शीतलसेनी में)। ये भावनाएं कुछ पात्रों में इतनी सबल हो उठती हैं कि पात्र अपना विशिष्ट व्यक्तित्व खो कर केवल इन भावनाओं के प्रतीक मात्र रह जाते हैं। देशभक्ति की बलवती चेतना से प्रेरित होकर ये नाटककार बार-बार अपने मध्यकालीन नायकों तथा अन्य प्रमुख पात्रों की वीरता, साहस, देशभक्ति, स्वाभिमान, स्वातन्त्र्य-प्रेम, तथा भ्रातृ-भाव आदि गुणों का राग अलापते हैं। इसके साथ ही नाटककारों ने फूट, परस्पर द्वेष, स्वार्थ, संकीर्णता, धर्मान्धता, जातीय दम्भ आदि दोषों को अपने देशवासियों के मन से दूर करने के लिए उनके दुष्परिणाम का दिग्दर्शन भी कर दिया है।

इस वर्ग के अधिकांश नाटकों का वातावरण सामन्तीय है, जिसमें व्यक्तिगत अथवा जातिगत अभिमान, ईर्ष्या, द्वेष, भ्रातृद्रोह, स्वार्थपरता, महत्त्वाकांक्षा आदि भावों की प्रधानता है। इन नाटकों में प्रायः महान् आध्यात्मिक आदर्शों

की प्रतिष्ठा नहीं, वरन् सांसारिक भावनाओं—कर्तव्यपालन, स्वाभिमान, महत्त्वाकांक्षा, लौकिक महत्त्व आदि के लिए संघर्ष दिखाया गया है। कई बार तो पात्र झूठे अभिमान तथा उच्चता के भाव से अभिभूत दिखाई पड़ते हैं। अपने व्यक्तिगत दंभ, वंशगत प्रतिष्ठा, जातिगत अभिमान अथवा शरणागत-रक्षा आदि भावों के कारण ही उनको जीवन भर कष्ट सहन करने पड़ते हैं। उनका दृष्टिकोण विशाल अथवा विश्वजनीन भावनाओं से प्रेरित नहीं है, वरन् बड़ा संकुचित और संकीर्ण है। उसमें 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की भावना विद्यमान नहीं। अपनी मातृभूमि अथवा देश से उनका अभिप्राय केवल छोटा-सा भूखण्ड—केवल मेवाड़, मारवाड़, बुन्देलखंड या महाराष्ट्र आदि ही है। समस्त भारतवर्ष से उनकी मातृभूमि-विषयक भावनाओं का कोई संबंध नहीं, समस्त वसुधा की तो बात ही क्या। उनके लिए देशभक्ति तथा देश के लिए बलिदान का अभिप्राय है—केवल अपने छोटे से प्रदेश अथवा प्रान्त के लिए त्याग और बलिदान। अपने संबंधी अथवा प्रतिवेशी के विरुद्ध शस्त्र उठाना उनके विचार में किसी भी प्रकार लज्जा अथवा देशद्रोह की बात नहीं। जहां इन नाटकों के बड़े-से-बड़े तथा भले-से-भले पात्र भी प्रायः अपने प्रदेश, प्रान्त अथवा जाति के हित के लिए अपने देश भारतवर्ष का परोक्ष रूप से अनिष्ट करना या होना बुरा नहीं समझते, वहां हीरादेवी, शीतलसेनी, रणजीत और सुरजनसिंह आदि पात्र तो अपने स्वार्थ को सिद्ध करने के लिए अपने प्रदेश अथवा प्रान्त का भी अनिष्ट करने से नहीं चूकते।

बीसवां अध्याय

पौराणिक नाटक

पाश्चात्त्य शिक्षा एवं सभ्यता के बढ़ते हुए प्रभाव के कारण भारतवर्ष के लोगों की पुराणों पर से श्रद्धा उठने लगी। जहाँ पहले वे पौराणिक विषयों से आनन्द-मग्न हो उठते थे, वहाँ अब उनको अपने प्राचीन तथा मध्यकालीन इतिहास में अधिक आनन्द आने लगा, तथा वे सामयिक समस्याओं में अधिक रुचि दिखाने लगे। फलतः पौराणिक नाटक इस काल में कम लोकप्रिय हो गये, और इसी कारण हमें आलोच्यकाल में थोड़े से पौराणिक नाटक मिलते हैं।

आलोच्यकाल के उल्लेखनीय पौराणिक नाटक ये हैं—उदयशंकर भट्ट के 'अम्बा'(१९३५) तथा 'सगर-विजय' (१९३७), हरिकृष्ण प्रेमी का 'पाताल-विजय', उग्र का 'गंगा का बेटा' (१९४०), कैलाशनाथ भटनागर का 'श्रीवत्स' (१९४१), सेठ गोविन्ददास के 'कर्ण' (१९४६) तथा 'कर्तव्य' (१९३५) और देवराज दिनेश का 'रावण' (१९४८)। 'अम्बा' में महाभारत-काल का कथानक है। काशी के राजा की तीनों पुत्रियों—अम्बा, अम्बिका तथा अम्बालिका का भीष्म ने अपने भाई विचित्रवीर्य के लिए बलपूर्वक अपहरण किया। उन तीन में से दो ने विचित्रवीर्य की भार्या बनना स्वीकार कर लिया, परन्तु अम्बा मन में शाल्व को अपना पति वर चुकी थी अतः उसने विचित्रवीर्य के साथ विवाह करने से इन्कार कर दिया। इस पर अम्बा को शाल्व के पास भेज दिया गया किन्तु अब शाल्व ने भी उसे अपनाने से इन्कार कर दिया, क्योंकि वह पर-पुरुष द्वारा बलपूर्वक हरी जा चुकी थी। अम्बा ने सदाचार और पातिव्रत धर्म की आदर्श भावना के कारण, केवल शाल्व को मन में पति मान लेने के कारण, विचित्रवीर्य की पत्नी बनना अस्वीकार किया था। अब शाल्व द्वारा तिरस्कृत होने पर वह इस अपमान से तड़प उठी। शाल्व की राजसभा को छोड़ते हुए उसने क्रोध और निराशा से कहा—

> **"···किंतु जाती हुई एक बार, हाँ एक बार तुम्हें कहे देती हूँ, कि इसी मान-अपमान की आग में, इसी क्षत्रियत्व की अविवेकिनी अग्नि-शिखा में इस पापी समाज का अनन्तकाल के लिए नाश होगा। वीरता और विवेक की आँखों से देखने का छूंछा आडम्बर रखने वाली क्षत्रिय जाति को सुदूर भविष्य में दास, निकृष्ट दास बनना होगा।···"** इत्यादि।

अब अम्बा ने भीष्म से बदला लेने का दृढ़ निश्चय कर लिया, क्योंकि वास्तव में भीष्म ही उसके अपमान और पतन का कारण थे। न वे उसका अपहरण करते, न वह शाल्व द्वारा तिरस्कृत होती। प्रतिशोध के विचार से वह परशुराम जी के पास गई, और उनसे अपनी रामकहानी कहकर उनकी सहायता से अपने उद्देश्य की पूर्त्ति चाही। परशुराम जी ने क्रुद्ध होकर भीष्म से युद्ध भी किया, परन्तु दुर्भाग्यवश उनकी हार हुई। वहाँ से निराश होकर अम्बा अब शिवजी की उपासना में तल्लीन हुई, और अन्त में उनसे अगले जन्म में भीष्म के नाश का कारण बनने का वर प्राप्त करने में सफल हुई। वर प्राप्त करते ही उसने तुरन्त गङ्गा में कूद कर आत्म-हत्या कर ली, जिससे वह प्रतिहिंसा के लिए शीघ्र पुनर्जन्म पा सके। अगले जन्म में वह शिखण्डी के रूप में पैदा होकर अन्ततः भीष्म के नाश का कारण बनी।

नाटक का अंतिम दृश्य बड़ा ही सुन्दर तथा नाटकीय है। भीष्म जी शरशय्या पर लेटे हैं। उनके जीवन की बीती हुई घटनाएँ, विशेषतः अम्बा का वृत्त, उसका अपहरण, उसका विचित्रवीर्य से विवाह का प्रस्ताव ठुकराकर भीष्म के साथ विवाह का प्रस्ताव करना और भीष्म जी का इन्कार आदि सभी घटनाएं एक-एक करके उनके मन में आती हैं। इन विचारों के साथ-साथ भीष्म जी की उद्विग्नता बढ़ती जाती है। लोगों के पूछने पर व्यास जी उनके क्षोभ का कारण इस प्रकार बताते हैं—

> **"काशिराज की कन्या अम्बा की प्रतिहिंसा का फल भीष्म को भोगना पड़ रहा है······एक स्त्री के अनादर का फल यह महाभारत हुआ, और दूसरी स्त्री के अनादर का फल भीष्म की मृत्यु।"**

ज्यों ही भीष्म जी अन्तिम साँस लेते हैं उसी समय शिखण्डी के रूप में अम्बा प्रतिहिंसा से ऐंठती हुई रंगमंच पर आती है, और प्रसन्नता से पागल होकर बेसुध होकर गिर पड़ती है।

अम्बा एक पौराणिक नाटक है, परन्तु साथ ही इसमें आधुनिक नारी की समस्या का प्रतिपादन भी सुन्दर ढंग से किया गया है। अम्बा उस स्त्री-वर्ग की प्रतिनिधि है जो समाज में अपनी स्वतन्त्रता का अधिकार स्थापित करना चाहता है, और रूढ़िवादी पुरुष की दासता की शृङ्खलाओं को तोड़ डालना चाहता है।

भट्ट जी के 'सगर-विजय' (१९३७) में प्रसिद्ध सूर्यवंशी राजा सगर के जीवन की कुछ घटनाएँ वर्णित हैं। नाटक का कथानक बड़ा जटिल है। इसमें षडयन्त्रों और गृह-कलहों की भरमार है। सगर की हत्या के लिए उसकी विमाता द्वारा कई प्रयास किये जाते हैं पर वे सब विफल होते हैं। अन्त में सगर की माता

विशालाक्षी तथा विमाता बर्हि की मृत्यु हो जाती है और सगर देशसेवा का व्रत लेते हैं। इस नाटक में सगर का तथा उसकी विमाता बर्हि का चरित्र बड़ी कुशलता से चित्रित किया गया है। बर्हि के चरित्र के विभिन्न पक्षों को भली भांति स्पष्ट करने के लिए नाटककार ने कई बार स्वगत का प्रयोग भी किया है।

इन नाटकों में, विशेषत: 'अम्बा' में भट्ट जी ने दाहर की अपेक्षा अपनी नाट्यकला के प्रौढ़ रूप का परिचय दिया है। इस नाटक की भाषा-शैली पर भी प्रसाद जी की छाप स्पष्ट है। प्रसाद जी की भांति भट्ट जी ने भी कवित्वपूर्ण तथा दार्शनिक कथोपकथन की प्रवृत्ति दिखाई है, यद्यपि इससे कथानक के विकास में तथा नाटक के रसास्वादन में बाधा ही पड़ती है।

बेचन शर्मा 'उग्र' का 'गङ्गा का बेटा' (१९४०) भीष्म जी के जीवन से सम्बन्ध रखता है। नाटक का आरम्भ भीष्म जी के पूर्व जन्म की एक झाँकी से होता है, जब कि वे आठ वसुओं में से एक थे, और नाटक का अन्त उस दृश्य के साथ होता है जब कि भीष्म शर-शय्या पर लेटे हैं और अर्जुन उन्हें पृथ्वी में तीर मारकर जल पिलाकर तृप्त करते हैं। भीष्म जी की इस प्रधान कथावस्तु के साथ-साथ नाटक में एक हास्यपूर्ण गौण कथानक भी चलता है। बूढ़े ज्वालादत्त शर्मा को क्षत्रियों के दर्शन तक से भी घृणा है। परन्तु क्षत्रिय राजा शान्तनु के अकस्मात् दर्शन हो जाने से वह वृद्ध से युवा हो जाता है। परन्तु उसकी धर्मपत्नी अभी तक बूढ़ी ही है। वह दृश्य बड़ा ही हास्यपूर्ण है जब ज्वालादत्त शर्मा युवक पति के रूप में बूढ़ी पत्नी के सामने उपस्थित होता है, जो कि आयु में उसकी माँ से भी बड़ी लगती है। पति के जवान हो जाने पर बूढ़ी पत्नी अपने बुढ़ापे से तंग आकर आत्म-हत्या करने जाती है, परन्तु मार्ग में उसे अचानक पार्वती जी के दर्शन हो जाते हैं, जिसके फलस्वरूप वह भी पुनः युवति हो जाती है। अब वह ख़ुशी-ख़ुशी अपने युवा पति से मिलने घर लौटती है। इतने में दूसरी ओर उसका युवा पति परशुराम जी के पास जाकर उनसे बुढ़ापे के लौट आने की प्रार्थना करता है, और उनकी कृपा से पुनः वृद्ध हो जाता है। पर इतने में उसकी वृद्धा पत्नी युवति बन चुकी है। वह दृश्य बड़ा ही मनोरंजक है जब बूढ़ा ज्वालादत्त शर्मा अपनी झोंपड़ी में लौटता है, परन्तु अब उसकी युवति पत्नी उस बुड्ढे को धक्के देकर बाहर निकाल देती है।

नाटकीय गुणों के विचार से यह रचना मध्यम श्रेणी से ऊपर नहीं उठ पाती। नाटककार को महाभारतकाल का यथार्थ वातावरण उपस्थित करने में भी सफलता नहीं मिली। संवादों के बीच कहीं-कहीं उर्दू फ़ारसी के शब्द भी रख दिये गये हैं। उर्दू फ़ारसी के शब्दों के प्रयोग से तथा गौण कथानक के

घटिया हास्य के कारण हमें क्षण भर के लिए महाभारत-काल का भ्रम नहीं हो पाता बल्कि नाटक का वातावरण आधुनिक रंग में रँगा हुआ-सा मालूम पड़ता है।

डा० कैलाशनाथ भटनागर के 'श्रीवत्स' (१६४१) का कथानक भारतेन्दु के 'सत्यहरिश्चन्द्र' से कुछ मिलता जुलता है। भारतेन्दु के नाटक के समान इसमें भी एक सत्यवादी और धर्मात्मा राजा श्रीवत्स तथा उसके परिवार के कष्टों का वर्णन है, जो उन्हें शनि के क्रोध के कारण सहन करने पड़े। अन्त में शनि भी इस नाटक में नायक के आदर्श गुणों से प्रसन्न होकर नायक को दीर्घायु तथा सुखी जीवन का वरदान देता है। नाटक साधारण कोटि की सफल रचना है।

सेठ गोविन्ददास का 'कर्ण' (१६४६) अति रोचक तथा कलापूर्ण पौराणिक नाटक है। नाटक का कथानक ठीक महाभारत के अनुसार चलता है, और नाटककार ने कर्ण के चरित्र में अथवा किसी अन्य प्रधान घटना में महाभारत से कोई विशेष परिवर्तन नहीं किया। परन्तु इसके साथ-साथ एक बड़ा महत्त्वपूर्ण परिवर्तन जो नाटककार ने किया है वह यह है कि कर्ण के जीवन की घटनाओं को न बदल कर उसने कर्ण के कार्यों के अपनी इच्छानुसार अर्थ निकालने की स्वतन्त्रता अवश्य ली है। सेठ जी का मत है कि नाटक, उपन्यास या कहानी-लेखक को यह अधिकार नहीं है कि किसी भी पुरानी कथा को तोड़-मरोड़ कर उसे एक नई कथा ही बना दे। हाँ, कथा का अर्थ (interpretation) वह अवश्य अपने मतानुसार कर सकता है।[1]

नाटक का आरम्भ उस दृश्य से होता है जब कि द्रोणाचार्य से शस्त्रविद्या की शिक्षा पाये हुए पाण्डवों तथा कौरवों के युद्ध-कौशल की परीक्षा हो रही है। इसी दृश्य में कर्ण के जीवन की पहली और सब से महत्त्वपूर्ण घटना घटित होती है, जिससे कर्ण आजीवन पाण्डवों का शत्रु तथा दुर्योधन का मित्र बन जाता है। जब युद्ध-कौशल-प्रदर्शन के समय कर्ण अर्जुन को द्वन्द्व-युद्ध के लिए निमन्त्रित करता है, तो उसको अर्जुन के साथ द्वन्द्वयुद्ध करने की अनुमति केवल इस कारण नहीं दी जाती कि वह नीच कुलोत्पन्न है जब कि अर्जुन एक क्षत्रिय तथा राजकुमार है। कर्ण व्यर्थ ही तर्क-वितर्क करता है, बड़े ज़ोर के साथ कर्म जात कुलीनता का समर्थन करता है, परन्तु नीच जाति का कलंक उसके से नहीं धुल पाता।

अब दुर्योधन उसकी सहायता को आता है। कर्ण के अद्भुत प्रभावित एवं चकित होकर वह कर्ण को अपने पक्ष में कर

१. देखिए, नाटक की भूमिका।

जिससे कि वह सहज ही पाण्डवों का नाश कर सके। वह कर्ण को अंगदेश का राज्य सौंप देता है। दुर्योधन के इस अनुग्रह से कर्ण जीवन भर के लिए अपने को दुर्योधन का ऋणी समझता है, और वह दुर्योधन की सभी अवस्थाओं में जीवन भर सहायता करने का तत्क्षण प्रण कर लेता है।

इस प्रकार जहाँ कर्ण एक ओर दुर्योधन के इस उपकार के कारण उसकी आजीवन सहायता एवं मित्रता का वचन देता है, वहाँ दूसरी ओर वह भीम आदि के द्वारा नीच-कुलोत्पन्न होने के कारण अपना उपहास किये जाने पर उनका हृदय से शत्रु बन जाता है। क्योंकि नाटककार ने नाटक का नाम 'कर्ण' रखा है, इसलिए उसने केवल कर्ण के चरित्र को ही विशेष महत्त्व दिया है, उसका चित्रण ही विस्तार के साथ किया है, और उसे यथाशक्ति ऊँचा उठाने का प्रयत्न किया है। कर्ण के मन में भिन्न-भिन्न भावनाओं के बीच निरन्तर चलने वाले संघर्ष का चित्रण भी नाटककार ने विस्तारपूर्वक किया है। नाटककार ने कर्ण को दुर्योधन का साथी होते हुए भी स्वभाव में दुर्योधन जैसा धूर्त या नीच नहीं दिखाया। उसके मन में कोमल तथा उच्च भावनाओं का संचार है। वह बुरी बातों में दुर्योधन का पक्ष केवल इसलिए लेता है कि पहले ही दृश्य में दुर्योधन द्वारा उपकृत होने पर उसने यह प्रतिज्ञा की थी कि—

कर्ण—अपनी ओर से वचन देता हूँ! विश्व की कोई भी शक्ति आजन्म मुझे तुमसे न विमुख कर सकेगी और न पृथक्, और मेरी सारी शक्ति सदा तुम्हारे काम आवेगी।

नाटक के प्रथम दृश्य में ही हम देखते हैं कि कर्ण ध्यानपूर्वक उस मंजूषा को देख रहा है, जिसमें बन्द करके कुन्ती ने लोकापवाद के भय से उसे जन्म लेते ही नदी में विसर्जित कर दिया था। अपने सूत पिता अधिरथ से कर्ण यह जान चुका है कि वह वास्तव में कुन्ती का पुत्र है। मंजूषा की अवतारणा नाटककार की अद्भुत प्रतिभा और कल्पनाशक्ति की परिचायक है। मंजूषा का उपयोग बार-बार नाटक में विशेष उद्देश्य से किया गया है। इसके द्वारा नाटककार को कर्ण के मन में होते हुए संघर्ष को चित्रित करने के अनेक अवसर मिल हैं। स्वभाव से कर्ण बड़ा कोमल तथा भद्र दिखाया गया है। बार-बार हृदय में उसकी सहज सद्भावनाएँ उठती हैं, और उसे प्रायः अभिभूत किया है। फलतः वह धर्मात्मा पाण्डवों के प्रति अपने द्वेष को त्याग देने है। परन्तु उसी क्षण उसकी दृष्टि उस मंजूषा पर पड़ जाती क्रोधित हो उठता है, और तभी उसकी पांडवों से प्रति-पुनः बलवती हो उठती है। वास्तव में यह लकड़ी की

मंजूषा तथा 'उपक्रम' में पांडवों के द्वारा कर्ण के प्रति किया गया दुर्व्यवहार ही कर्ण को कठोर और क्रूर बनाने के लिए उत्तरदायी हैं।

इस प्रकार कर्ण का सारा चरित्र ही उसके मन के परस्पर-विरोधी भावों के बीच निरन्तर चलने वाले संघर्ष का चित्रण है। नाटककार ने कुन्ती की मानसिक स्थिति का चित्रण भी बड़ी सफ़ाई के साथ किया है (देखिए 'उपक्रम' तथा प्रथम अंक का चौथा दृश्य)। कर्ण तथा कुन्ती के मनों में होने वाले अन्तर्द्वन्द्व के यथोचित चित्रण के लिए नाटककार को कई बार स्वगत का आश्रय लेना पड़ा है, जो कि अनुचित या भद्दा प्रतीत नहीं होता।

नाटक की कथावस्तु का संगठन सुन्दरता से किया गया है। चरित्र-चित्रण में नाटककार ने केवल कर्ण के चरित्र को ही विशेष बल तथा महत्त्व दिया है, और उसको यथाशक्ति निर्दोष और ऊँचा दिखाने का प्रयत्न किया है। नाटक का वातावरण सेठ जी के 'हर्ष' तथा 'शशिगुप्त' की भांति महाभारत-काल का यथार्थ चित्रण है, परन्तु इस नाटक में कतिपय ऐसे दृश्यों की भी योजना की गई है जो कि चित्रपट पर ही सफलतापूर्वक दिखाये जा सकते हैं (उदाहरण के लिए 'उपक्रम'; तृतीय अंक का पहला दृश्य, पंचम अंक का चौथा दृश्य, तथा उपसंहार')।

सेठ गोविन्दास का 'कर्तव्य' (१९३५) पौराणिक नाटक होते हुए भी एक विशेषता रखता है। हिन्दी-साहित्य में यह एक अनोखे ढंग का नाटक है। इसके दो भाग हैं। पूर्वार्द्ध का सम्बन्ध मर्यादापुरुषोत्तम श्रीराम के जीवन की मुख्य घटनाओं से है और उत्तरार्द्ध का श्रीकृष्ण के जीवन-चरित से। लेखक ने इस नाटक का नाम 'कर्तव्य' रखा है और इस नाटक में यही दिखाया है कि इन दो महापुरुषों ने अपने-अपने कर्तव्य का पालन किस प्रकार किया। श्रीराम तथा श्रीकृष्ण के जीवन का उद्देश्य लोक-हित तथा कर्तव्य-पालन ही है। परन्तु दोनों का उद्देश्य एक होने पर भी दोनों के साधन भिन्न-भिन्न हैं। श्रीराम तो अपनी मर्यादा के पालन के लिए जीवन भर कष्ट झेलते रहे। अपने व्यक्तिगत सुखों का तथा जीवन तक का बलिदान उन्होंने मर्यादा के लिए कर दिया। किन्तु श्रीकृष्ण ने अपनी मर्यादा की रक्षा करने अथवा सांसारिक नियमों तथा नैतिक आदर्शों के पालन में इतनी कट्टरता का परिचय नहीं दिया। वे साधनों के भले-बुरे होने की चिन्ता न करके फल (साध्य) को महत्त्व देते हैं। शायद इसी नीति के कारण उनको हम सदा, सभी परिस्थितियों में, यहाँ तक कि मृत्यु-शय्या पर भी, प्रसन्नचित्त और मुस्कराते ही देखते हैं। अपने-अपने ढंग से श्रीराम तथा श्रीकृष्ण दोनों ही जीवन-

पर्यन्त कर्तव्य-पालन में दत्तचित्त रहे। राम धीरोदात्त नायक हैं परन्तु कृष्ण धीरललित।

इस नाटक की एक और विशेषता यह है कि सेठ जी ने इसमें राम तथा कृष्ण को मानव रूप में ग्रहण किया है, अवतार रूप में नहीं। दूसरे, उन्होंने बड़े कौशल के साथ संक्षेप से दोनों महापुरुषों के जीवन की प्रायः सभी प्रमुख घटनाओं का इस नाटक में समावेश कर दिया है। परन्तु उनके मानवरूप को ही ग्रहण करने तथा महत्त्व देने के कारण सेठ जी ने उनके जीवन की अति-मानुषिक तथा अतिप्राकृतिक घटनाओं (उदाहरण के लिए सीता का अग्नि-प्रवेश तथा धरती-प्रवेश इत्यादि) का अपने बुद्धि के अनुसार अर्थ लगाकर उनका मानवता की दृष्टि से समाधान किया है, और घटनाओं के मानवीय महत्त्व को बढ़ा दिया है।

नाटककार ने युद्ध के दृश्यों की अवतारणा रंगमंच पर नहीं की। केवल वार्तालाप के बीच युद्धों का संक्षेप में वर्णन कर दिया गया है। पूर्वार्द्ध में एक छोटा-सा दोष भी दिखाई पड़ता है। तृतीय अंक के दूसरे दृश्य में यह सूचना दी जाती है कि इन्द्रजित् मेघनाद का वध हो गया है। परन्तु अगले दृश्य (तीसरे) में हम लक्ष्मण को शक्ति लगने के कारण मूर्च्छित पाते हैं। लक्ष्मण मेघनाद के शक्ति-प्रहार से मूर्च्छित हुए थे, और मूर्च्छा खुलने के पश्चात् उन्होंने फिर युद्ध करके मेघनाद का वध किया था। इसलिए लक्ष्मण के मूर्च्छित होने से पूर्व ही मेघनाद का वध दिखाना नाटककार की भूल है।

नाटक के कुछेक दृश्य बड़े करुण और मर्मस्पर्शी हैं। पूर्वार्द्ध का अंतिम दृश्य बड़ा नाटकीय तथा करुण है। इस दृश्य में नाटककार ने राम तथा वशिष्ठ के संवाद में यह स्पष्ट किया है कि कर्तव्य का मार्ग कितना कण्टकाकीर्ण तथा दुःख-प्रद है, और किस प्रकार श्रीराम को कर्तव्य-पालन के लिए अपने सभी सुखों और हितों को तिलांजलि देनी पड़ती है। दूसरी ओर श्रीकृष्ण सभी संकटों के बीच हँसते-मुस्कराते हैं। मृत्यु के समय भी उन्हें शान्तिपूर्वक वंशी बजाते हुए देखकर बलराम आदि चकित रह जाते हैं—

बलराम—यह लो, उद्धव, यह लो। बन्धु-बांधव, पुत्र-पौत्रों के नष्ट होने पर भी, स्वयं मरण के समीप होने पर भी, कृष्ण की मुरली ही बज रही है ! महा अद्भुत हृदय है ! (पंचम अंक, छटा दृश्य)

श्रीकृष्ण के इस सतत सुख का कारण उनका प्रत्येक कार्य को निष्काम भाव से करने का स्वभाव है, जैसा कि वे स्वयं शरीरोत्सर्ग से पूर्व उद्धव से कहते हैं—

कृष्ण—...जो सामने कर्तव्य आये, उसे निष्काम हो करते जाओ।... बड़े सुख, बड़े उल्लास, बड़े आनन्द से मैं जा रहा हूँ। जाता हूँ, उद्धव, जाता हूँ, ऐसे स्थान को जाता हूँ, जहाँ धर्म-अधर्म, न्याय-अन्याय, सत्य-असत्य, प्रेम-द्वेष, पाप-पुण्य ऐसा कोई द्वन्द्व नहीं है, जहाँ सभी निर्द्वन्द्व है, एक है। इसी मुरली के स्वरों के साथ ही जाता हूँ।

(पंचम अंक, सातवां दृश्य)

जहाँ अपनी सारी महानता तथा मर्यादा-पालन की आदर्श भावना के होते हुए भी श्रीराम सांसारिक भावनाओं से मुक्त नहीं हैं, उनसे ऊपर नहीं उठ पाते, वहां श्रीकृष्ण के सभी कार्यों के पीछे निष्काम की भावना है। सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो नाटककार ने पाठकों को कर्तव्य-मार्ग की कठिनाइयों को श्रीराम के समान साहस और धैर्य के साथ झेलने का तथा श्रीकृष्ण की भांति सभी कार्यों में निष्काम तथा निर्लिप्त भाव से रत होने का आदेश दिया है। नाटककार ने उन कालों का यथार्थ वातावरण उपस्थित करने में बड़े परिश्रम और सावधानी से काम लिया है जैसा कि उसने स्वयं भी भूमिका में माना है।

इन पौराणिक नाटकों में से भट्टजी का 'अम्बा' तथा सेठजी के 'कर्ण' तथा 'कर्तव्य' में ही विशेष नाटकीय सौंदर्य के दर्शन होते हैं। इसके अतिरिक्त इन तीनों नाटकों में पौराणिक विषयों के प्रतिपादन के साथ-साथ समाज की सामयिक समस्याओं पर भी विचार किया गया है। 'अम्बा' में, जैसा कि हम ऊपर लिख चुके हैं, आज की प्रगतिशील नारी की समस्या है, जो पुरुष के प्रभुत्व के प्रति विद्रोह करती है तथा अपनी स्वतन्त्रता का अधिकार स्थापित करना चाहती है। 'कर्ण' में इस बात पर विचार किया गया है कि जाति जन्म पर निर्भर है अथवा कर्म पर। दूसरे शब्दों में इस नाटक में अछूतोद्धार की समस्या है। कर्ण का निश्चित मत है कि जाति जन्म पर नहीं वरन् मनुष्य के कर्म पर निर्भर होनी चाहिए (देखिए 'उपक्रम')। जाति की समस्या के अतिरिक्त 'कर्ण' में प्रचलित विवाह-व्यवस्था की तथा समाज की निन्दा की आलोचना की गई है—

कुन्ती—...आह ! जन्म देने वाली माता हत्या करने वाली डाकिनी हो गई।...और कारण ?—सामाजिक भय ! (फिर चौकी पर बैठकर) युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन के जन्म तथा उसके (कर्ण के) जन्म में यही...यही तो अन्तर है न कि ये तीनों विवाह के पश्चात् हुए और वह विवाह से पूर्व।...विवाह के पश्चात् की संतान पति से न होकर किसी अन्य से भी हो तो भी समाज को ग्राह्य है। (कुछ रुककर) और...और जब विवाह-संस्था ही न थी तब ?...प्राचीन सामाजिक

संगठन में विवाह ही न था···इसका निर्माण हुआ है अधिक सुख के लिए।···पर···पर क्या इससे अधिक सुख हुआ ? (प्रथम अंक, चौथा दृश्य)

कुन्ती के ये शब्द रूढ़िवादी हिन्दू-समाज की झूठी व्यवस्था और व्यवहार पर एक तीखा व्यंग्य है। तीसरे नाटक 'कर्तव्य' में कर्तव्य-पालन की भावना को महत्त्व दिया गया है। इस प्रकार ये तीनों पौराणिक नाटक एक प्रकार से समस्या-नाटक कहे जा सकते हैं।

इक्कीसवां अध्याय

समस्या-नाटक

हिंदी-नाटक में यथार्थवादी चेतना अधिकतर पश्चिम के साथ सम्पर्क तथा पाश्चात्त्य सभ्यता, संस्कृति तथा शिक्षा के प्रभाव का परिणाम है। पाश्चात्त्य शिक्षा एवं सभ्यता के प्रभाव से हमारे लेखकों में भी पुरानी रूढ़ियों तथा सामाजिक परम्पराओं के प्रति आलोचनात्मक दृष्टिकोण का विकास हुआ। इस शताब्दी के आरम्भ में पश्चिम के नाटक में रोमांटिक ड्रामा के विरुद्ध एक प्रबल प्रतिक्रिया का जन्म हुआ। कुछ वर्षों के पश्चात् उसी के अनुकरण में हमारे हिन्दी-नाटक में भी उसी प्रतिक्रिया का आविर्भाव हुआ। जहाँ पाश्चात्त्य साहित्य में यह प्रतिक्रिया धीरे-धीरे क्रमिक रूप से कई अवस्थाओं से होकर विकसित हुई, वहाँ हिन्दी-नाटक में यथार्थवादी चेतना हेनरिक इब्सन तथा जार्ज बर्नार्ड शॉ आदि के प्रभाव से प्राय: एकदम ही प्रबल हो उठी।

आज बहुत से प्रसिद्ध हिन्दी-नाटककारों ने अपनी प्रतिभा तथा नाट्य-कुशलता को समस्या-नाटकों के लिखने में लगाया है, जिनमें यथार्थवादी चेतना की प्रधानता है। लक्ष्मीनारायण मिश्र, सेठ गोविंददास, पृथ्वीनाथ शर्मा, उदयशंकर भट्ट, उपेन्द्रनाथ 'अश्क' तथा कुछ अन्य नाटककारों ने सामयिक समस्याओं पर कई अच्छे-अच्छे समस्या-नाटक लिखे हैं। इनमें से कुछ तो व्यक्ति की समस्याओं को लेकर रचे गये हैं, और कुछ समाज अथवा राष्ट्र की समस्याओं को लेकर। क्योंकि हमारे नाटककार इब्सन, शॉ आदि पश्चिम के यथार्थवादी नाटककारों से विशेष रूप से प्रभावित हुए हैं, इसलिए इनके समस्या-नाटकों में भी स्पष्टतया रोमांस और भावुकता के विरुद्ध प्रतिक्रिया की भावना निहित है। उनके समान हमारे नाटककार भी आधुनिक काल को निश्चयपूर्वक बुद्धिवाद एवं मनोवैज्ञानिक व्याख्या का युग मानते हैं। अपने स्वर्णमय अतीत में शरण लेने के स्थान पर ये यथार्थवादी नाटककार प्रतिदिन की घरेलू समस्याओं का अथवा सामयिक सामाजिक अथवा राजनीतिक समस्याओं का अपने नाटकों में प्रतिपादन करते हैं। इसलिए इनकी रचनाओं में उस तीखे सत्य को अपने ढंग से दिखाने का यत्न किया गया है, जो युगों की परम्पराओं तथा रूढ़ियों के भार से दब गया है। यद्यपि इन नाटककारों ने भावुकता का विरोध बड़े ज़ोर के साथ किया है, तथापि ये स्वयं भावुकता से ऊपर नहीं उठ सके। अपने नाटकों में ये मनो-

वैज्ञानिक विश्लेषण की शैली का आश्रय लेते हैं, जिसमें इनके पात्रों के अन्तर्द्वन्द्व का स्पष्ट चित्रण होता है।

विषय, शैली और प्रेरणा के अतिरिक्त हिन्दी के यथार्थवादी नाटककारों ने टेकनीक में भी पश्चिम का काफ़ी अनुकरण किया है। इनके समस्या-नाटकों में कथानक के निर्वाह को सरल बनाने की विशेष प्रवृत्ति पाई जाती है। परन्तु इनके पात्र रोमांटिक नाटकों के पात्रों की अपेक्षा कुछ अधिक उलझे हुए दिखाई देते हैं, क्योंकि इन नाटकों में अधिकतर पात्रों में बहुत-सी विरोधी भावनाओं तथा विभिन्न मनोवृत्तियों के बीच संघर्ष चलता है। इन नाटककारों ने नृत्य तथा संगीत का प्रायः बहिष्कार कर दिया है। स्वगत-भाषण जो कि रोमांटिक नाटककारों के लिए प्रमुख पात्रों के मनोभावों का चित्रण करने के लिए बड़े उपयोगी थे, उनको यहाँ अस्वाभाविक एवं असंगत मानकर छोड़ दिया गया है। लम्बे रंग-संकेत इन नाटकों की विशेषता है और दैनिक जीवन की घटनाओं और दृश्यों का इनमें बड़ी कुशलता के साथ चित्रण किया गया है।

आज हमारा व्यक्तिगत तथा सामाजिक जीवन अनेक समस्याओं तथा उलझनों में उलझा हुआ है। जीवन के प्रति बुद्धिवादी तथा आलोचनात्मक दृष्टिकोण ने व्यक्ति की तथा समाज की अनेक समस्याओं को जन्म दे दिया है। फलतः हमें दो प्रकार के समस्या-नाटक मिलते हैं—एक तो वे नाटक जो व्यक्ति की समस्याओं को लेकर लिखे गये हैं, और दूसरे वे नाटक जिनका आधार सामाजिक अथवा राजनैतिक समस्याएँ हैं।

आज काम-समस्या (Sex-problem) संसार के व्यक्ति की, और किसी हद तक भारतीयों की भी सबसे व्यापक समस्या है। फ्रॉयड के मतानुसार सैक्स की चेतना संसार के सभी कार्यों के मूल में काम करती है। संसार में साधारणतः तथा भारतवर्ष में विशेषतः काम (सैक्स) की समस्याओं का उद्भव विवाह की संस्था के साथ व्यक्तिगत भावनाओं के संघर्ष के फलस्वरूप होता है। मूल रूप में सैक्स मनुष्य का व्यक्तिगत और निजी प्रश्न है। परन्तु इसके द्वारा जीवन में उच्छृङ्खलता फैल जाने के भय से विवाह की व्यवस्था करके इसे मर्यादा-बद्ध कर दिया गया। इस प्रकार एक स्वतन्त्र और व्यक्तिगत विषय की वस्तु एक सामाजिक व्यवस्था के रूप में परिणत कर दी गई। अन्त में व्यक्ति की स्वच्छन्द प्रवृत्ति तथा विवाह की रूढिबद्ध संस्था के संघर्ष से सैक्स-समस्या का जन्म होता है। हमारे शिक्षित भारतीयों की कामचेतना पश्चिमी सभ्यता तथा रहन-सहन के ढंग के प्रभाव से प्रोत्साहित होती है। इसके फलस्वरूप हमारे सुशिक्षित तथा पाश्चात्य सभ्यता-ग्रस्त परिवारों में पुरुषों तथा स्त्रियों के

बीच सम्पर्क अधिक स्वच्छन्द तथा संकोच-रहित हो गया है। परन्तु जब हमारे पाश्चात्यता-ग्रस्त युवक एवं युवतियाँ, जिनका परस्पर स्वच्छन्द सम्पर्क बढ़ चुका है, उसी स्वतन्त्रता एवं स्वच्छन्दाचरण को कार्यरूप में परिणत करना चाहते हैं, तो उन्हें हमारे समाज के बहुसंख्यक रूढ़िवादी वर्ग के लोगों के घोर विरोध का सामना करना पड़ता है। उत्तेजना के साधन सुलभ हो जाने और परितृप्ति के मार्ग में घोर विरोध उपस्थित होने के कारण इन युवक-युवतियों को अपने अन्तस्तल में दबी स्वच्छन्द कामचेतनाओं को अपनी इच्छा के विरुद्ध दबाना पड़ता है। इसके फलस्वरूप काम (सैक्स)-संबंधी अनेक जटिलताओं तथा समस्याओं का जन्म होता है।

पं० लक्ष्मीनारायण मिश्र हिन्दी के पहले नाटककार हैं जिन्होंने मनुष्य की नई सामाजिक परिस्थितियों का अध्ययन करके अपने नाटकों में आज की नई वैयक्तिक समस्याओं का विश्लेषण किया है। उनके नाटकों की भूमिकाओं से स्पष्ट है कि वे यूरोप के नाटककारों से विशेषतः प्रभावित तथा प्रेरित हुए हैं। प्रत्यक्ष ही इब्सन तथा शॉ का उनकी नाट्यकला को ढालने में काफ़ी हाथ है। कोरी भावुकता को व्यर्थ ठहराकर उन्होंने बुद्धिवाद के द्वारा समस्याओं का समाधान किया है।

अपने नाटकों में काम-समस्या का प्रतिपादन करने वाले हिन्दी नाटककारों में लक्ष्मीनारायण मिश्र का प्रमुख स्थान है। मिश्र जी ने 'संन्यासी', 'राक्षस का मंदिर', 'मुक्ति का रहस्य', 'आधी-रात', 'सिंदूर की होली', 'राजयोग' आदि अनेक समस्या-नाटकों की रचना की है। 'संन्यासी' (१९२९) मिश्र जी का पहला समस्या-नाटक है। इसमें मुख्य पात्र मालती नामक एक युवती छात्रा है जिसे अपने सहपाठी विश्वकान्त से अनुराग है। साथ ही मालती का प्रोफ़ैसर भी अपने अन्तःकरण में उसके लिए दुर्बलता छिपाये हुए है। आख़िर वह मालती से विवाह करने में सफल हो जाता है। इस प्रेम-संग्राम में परास्त अतः हताश होकर विश्वकान्त संन्यासी बन जाता है, जिससे नाटक का नाम 'संन्यासी' पड़ता है। नाटक में एक दूसरी समस्या तब उठ खड़ी होती है जब कि एक वयोवृद्ध प्रोफ़ैसर दीनानाथ एक अप-टू-डेट लड़की किरणमयी से विवाह कर लेता है। तदनन्तर किरणमयी अपने पति के मित्र मुरलीधर से, जो कि एक संपादक है, अनुचित संबंध स्थापित कर लेती है। परन्तु मुरलीधर की जेल में मृत्यु हो जाती है। अन्त में दोनों विवाहित युगल समझौता कर लेते हैं, यद्यपि इस समझौते में हर्ष की अपेक्षा विवशता की मात्रा अधिक है। मिश्र जी ने अपने पात्रों द्वारा इस निष्कर्ष पर बल दिया है कि भावुकता को हटाकर बुद्धि

एवं विचारों से प्रत्येक समस्या का हल ढूंढना चाहिए ।

नाटक के दो स्त्री-पात्र, मालती तथा किरणमयी, पुरुषों के प्रति अपने व्यवहार में बड़े प्रगल्भ और साहसपूर्ण हैं । परन्तु ऐसी प्रगल्भ तथा संकोचहीन लड़कियाँ आज भी ('संन्यासी' की रचना के अनेक वर्ष पश्चात् भी) हमारे हिन्दू-समाज में बहुत कम मिलती हैं । दूसरे पात्र प्राय: भिन्न-भिन्न भावनाओं तथा विचार-धाराओं के प्रतिनिधि हैं । उदाहरण के लिए बूढ़ा प्रोफ़ैसर पुरानी सामाजिक रूढ़ियों का प्रतिनिधि है । हताश युवक विश्वकान्त का चरित्र स्वच्छन्द प्रेम पर एक व्यंग्य है, और दोनों युवतियाँ उस आधुनिक नारी-वर्ग की प्रतिनिधि हैं जो विवाह तथा सैक्स में व्यक्तिगत स्वतन्त्रता चाहता है ।

'राक्षस का मंदिर' भी नारी-समस्या को ही लेकर लिखा गया है । नाटक के पूर्व भाग में असग़री के चरित्र की प्रधानता है । असग़री रामलाल नामक वकील की निजी वेश्या है, जो समाज के झूठे आडम्बर तथा अभिमान के जीवन का प्रतीक है । वह चरित्रहीन स्त्री उस वकील के पुत्र को भी फँसा लेती है । तदनन्तर मुनीश्वर भी, जो कि पहले ही विवाहित है, असग़री के प्रेम-पाश में फँस जाता है । जब वे दोनों परस्पर प्रेम में मग्न होते हैं तो मुनीश्वर की पत्नी भी उस स्थल पर पहुँच जाती है, जिससे परिस्थिति की गहनता और भी बढ़ जाती है । जब वह अपने पति को एकपत्नी व्रत के पवित्र धर्म का स्मरण कराती है तो वह उसका उपहास करता है—

> **दुर्गावती—मैं यह जानती हूँ—लेकिन आप मेरे काम के क्यों नहीं रहे ? आपने मेरा हाथ नहीं पकड़ा···उस दिन···उस रात को··· उस मण्डप में वेद-मन्त्रों के बीच···**
>
> **मुनीश्वर—(हँसते हुए) पगली···(लड़की की ओर एकटक देखकर) स्त्री और पुरुष के भीतर जो प्रकृति है उसकी ओर न देखकर, मण्डप, वेदमंत्र, कन्यादान की माया में अब तक···इतने दिन तक पड़ी रह गई**···इत्यादि । (प्रथम अंक)

कथानक का विकास कई घटनाओं में से होकर होता है, और अन्त में असग़री मुनीश्वर के साथ रहना मान लेती है ।

'मुक्ति का रहस्य' (१९३२) में भी मिश्र जी ने विवाह की पवित्र संस्था के विरुद्ध विद्रोह की आवाज़ उठाई है । नाटक की नायिका आशा उमाशंकर के घर में रहती है, और अपने हृदय में वह उससे प्रेम करती है । उमाशंकर की पत्नी चिरकाल से बीमार है, और आशा अपना मार्ग निष्कण्टक करने के लिए एक डाक्टर की सहायता से उसे विष दिलाकर मार डालती है । तदनन्तर

जब आशा उस डाक्टर के लिए भी अपने प्रेम को स्वीकार कर लेती है, तो भावावेश में उमाशंकर आशा को डाक्टर के लिए छोड़कर स्वयं अकेला रहने का निश्चय करता है। आशा का विवाह डाक्टर के साथ हो जाता है। भावातिरेक में उमाशंकर अपने सारे धन को त्याग देता है जो कि उसके विचार में मुक्ति के मार्ग में बाधा बना हुआ था।

मिश्र जी के अन्य नाटक, विशेषतः 'राजयोग' (१६३४) और 'सिन्दूर की होली' (१६३४) भी नारी की समस्या को लेकर चले हैं। सैक्स की उलझी हुई समस्या का हल ढूंढने में मिश्र जी ने बड़े साहस और निर्भीकता से काम लिया है। मिश्र जी के प्रमुख स्त्री-पात्र (मनोरमा, आशा, किरणमयी, मालती आदि) प्रायः बड़े प्रगल्भ और निर्भीक हैं। काम तथा प्रेम के प्रति उनका व्यवहार तथा दृष्टिकोण ऐसा है जिससे हमारा रूढ़िवादी हिन्दू-समाज सहमत नहीं हो सकता। मिश्र जी के अधिकतर स्त्री-पात्र प्रेम तथा विवाह के बीच समझौता करके ही इस जटिल समस्या को सुलझाते हैं। उदाहरण के लिए किरणमयी मुरलीधर से प्रेम करती है जब कि वह दीनानाथ की विवाहिता पत्नी है। आशा भी उमाशंकर से प्रेम करती है, और साथ में डाक्टर के साथ भी उसका काम-संबंध है। इसी प्रकार मनोरमा के निम्नलिखित शब्द भी रूढ़िवादी समाज को चकित एवं विक्षुब्ध कर देने वाले हैं—

> **मनोरमा—···मैं विधवा हूँ···इस ज्वालामुखी को यदि मैं कुछ समय के लिए छिपा भी रखूं···तब भी मैं किस की बनूं, तुम्हारी या डिप्टी साहब की ? जहाँ तक मेरी बात रही मैं तो उन्हें जी भर घृणा करना चाहती हूँ और तुम्हें जी भर प्रेम···अगर तुम मेरे प्रेम का अर्थ समझ सको···मुझे उसका अवसर दो। मैं तुम्हें अपना दूल्हा तो नहीं बना सकती लेकिन प्रेमी बना लूंगी।**
>
> (सिन्दूर की होली, द्वितीय अंक पृष्ठ ५७–५८)

कई अवसरों पर मिश्र जी ने संसार के तथ्यों को बड़े तीखे परन्तु यथार्थ ढंग में स्पष्ट किया है, जैसे—

> **मुरारीलाल—···आजकल का क़ानून ही ऐसा है। इसमें सज़ा उसको नहीं दी जाती जो कि अपराध करता है···सज़ा तो केवल उसको होती है जो अपराध छिपाना नहीं जानता।** इत्यादि।
>
> (सिन्दूर की होली, प्रथम अंक, पृष्ठ ३६)

अथवा—

मनोरमा—हिन्दू विधवा से बढ़कर कविता और दर्शन कहीं नहीं मिलेगा। (उपर्युक्त, पृष्ठ ८२)

यद्यपि मिश्र जी ने प्रेम, काम तथा विवाह की समस्याओं का बड़े साहस के साथ प्रतिपादन किया है तथा उनका समाधान प्रस्तुत करने में भी रूढ़िवादी समाज से विद्रोह किया है, तथापि यह बात विचारणीय है कि जो समस्याएँ मिश्र जी ने अपने नाटकों में हमारे सम्मुख रखी हैं, क्या वे सामान्य श्रेणी के भारतीयों के दैनिक जीवन की वास्तविक समस्याएँ हैं या कि वे केवल बौद्धिक हैं तथा मिश्र जी के मस्तिष्क की ही उपज हैं। मिश्र जी के नाटकों में पाई जाने वाली समस्याओं तथा उनके समाधान का ध्यानपूर्वक अध्ययन करने के पश्चात् हम इस निश्चय पर पहुँचते हैं कि वे निश्चय ही साधारण भारतीय जन-जीवन की समस्याएँ नहीं, विशेषत: आज से बीस-पच्चीस वर्ष पहले के सामान्य भारतीयों की जब कि ये नाटक लिखे गये थे। अधिक-से-अधिक ये केवल उन थोड़े से उच्च-शिक्षा-प्राप्त भारतीय युवक-युवतियों के जीवन की समस्याएँ कही जा सकती हैं, जिनके जीवन में बुद्धि का व्यापार साधारण आदमी के जीवन की अपेक्षा अधिक होता है, तथा जो पाश्चात्त्य रहन-सहन के तरीक़ों को बहुत अधिक अपना चुके हैं। वास्तव में ये समस्याएँ तथा इनका समाधान हमारे देश के लिए समय से कुछ पहले की (Premature) बात हैं। ज्ञात होता है कि मिश्र जी ने इन समस्याओं तथा जटिलताओं को हमारे जीवन में उनके प्रतिदिन घटित होने से प्रभावित होकर अपने नाटकों में ग्रहण नहीं किया वरन् उन्होंने ये समस्याएँ सीधी पश्चिम के यथार्थवादी साहित्य से ली हैं, और तब उनको अपने देश के थोड़े से पाश्चात्त्य जीवन के लोगों के चरित्र में अंकित कर दिया है।

अपने समस्या-नाटकों में मिश्र जी ने सामयिक जीवन का सच्चा चरित्र उपस्थित करने का दावा किया है। उनके नाटकों का सूक्ष्म अध्ययन यह बताता है कि उन्होंने न तो जीवन को उस प्रकार चित्रित किया है जैसा कि वह है और न ही उस प्रकार जैसा कि वह होना चाहिए। वे यथार्थवादी के समान यथार्थ जीवन को देखते हैं और आदर्शवादी के समान उसे अच्छा बनाने के स्वप्न देखते हैं। अपने दावा किये हुए बुद्धिवाद के बावजूद वे पाश्चात्त्य भौतिकवाद के विरुद्ध आदर्शवादी प्रतिक्रिया को आगे बढ़ाते हैं, तथा पूर्व के आदर्शवाद के लिए उन्हें मोह बना रहता है। उनके बुद्धिवाद के भीतर भावुकता का भी समावेश स्थान-स्थान पर मिलता है, यद्यपि सिद्धान्त रूप में वे भावुकता का विरोध करते हैं।

यथार्थवाद के जोश में मिश्र जी ने स्वगत-भाषणों का तथा कवित्वपूर्ण अथवा पाँडित्यपूर्ण संवादों का प्रायः बहिष्कार कर दिया है। उन्होंने मनोविश्लेषण की शैली सफलता से अपनाई है, इसलिए कथोपकथन को स्वाभाविक तथा यथार्थ बनाने के उद्देश्य से सरल तथा टूटे हुए वाक्यों का प्रयोग किया गया है। गीतों की अवतारणा भी नहीं की गई। कई स्थलों पर वार्तालाप को स्वाभाविक बनाने के लिए अंग्रेज़ी के वाक्यांश तथा वाक्य भी रख दिये गये हैं। कुछ नाटकों में (उदाहरण के लिए 'संन्यासी' में) दृश्य इतनी शीघ्रता के साथ बदलते हैं तथा पात्रों के प्रवेश-प्रस्थान आदि इतने अधिक हैं कि रंगमंच पर गड़बड़-सी पैदा हो जाती है। अपने 'आधी रात' नाटक में मिश्र जी ने अतिप्राकृतिक तत्त्व का भी समावेश किया है, जो कि यथार्थवादी नाटक में सुन्दर, संगत अथवा स्वाभाविक नहीं लगता। मिश्र जी के नाटकों के रंग-संकेत भी विशेष महत्त्वपूर्ण हैं जिनमें उन्होंने पात्रों, स्थानों आदि का सजीव तथा सचित्र वर्णन किया है।

पृथ्वीनाथ शर्मा के 'दुविधा' (१९३८) में भी नारी-समस्या का प्रतिपादन किया गया है। इस नाटक की समस्या आज की उच्च-शिक्षा-प्राप्त युवती की दुविधा है। शिक्षा समाप्त करने के उपरान्त सुधा के सामने विवाह का प्रश्न आता है। वह स्वतन्त्र जीवन के आनन्द का किंचिद् आस्वादन कर चुकी है। दूसरी ओर वैवाहिक जीवन के बन्धन आदि के विषय में भी वह बहुत कुछ सुन चुकी है। इन दोनों के बीच उसका मन भटक जाता है। यही उसकी दुविधा है। वह केशव से प्रेम करती है। पर उसे इस बात का पता नहीं कि केशव का प्रेम सच्चा है अथवा झूठा। केशव पहले ही विवाहित है, और उसके एक सन्तान भी है। पर इन बातों को वह सुधा से छिपाये रखता है। अन्त में केशव की पत्नी मोहिनी सुधा को यह भेद बताकर उसके मन की दुविधा को दूर करती है।

'अपराधी' (१९३९) के मूल में सामाजिक आदर्शवाद की भावना है। इसमें यह दिखाया गया है कि जिस व्यक्ति को समाज अथवा क़ानून अपराधी कहता है वह स्वभाव से अपराधी नहीं है—वह केवल परिस्थिति के कारण अपराधी है। इसी भावना के वश होकर भावुक युवक अशोककुमार चोर मातादीन को पकड़ कर भी छोड़ देता है, और स्वयं उसके अपराध का फल भोगने को तैयार हो जाता है। मैजिस्ट्रेट के मन में भी अशोक के निरपराध होने में सन्देह नहीं। परन्तु अशोक के विरुद्ध इतने दृढ़ प्रमाण हैं कि वह क़ानून की दृष्टि से उसे मुक्त नहीं कर सकता। अन्त में अपराधी मातादीन का मानव-स्वभाव जागृत हो जाता है, और वह कचहरी में आकर अपना अपराध स्वीकार कर लेता है। नाटककार ने इस शुष्क विषय को सरस बनाने के लिए लीला के प्रेम-कथानक

की अवतारणा की है। नाटक में दो प्रधान पुरुष पात्र हैं—नाटक का नायक अशोक तथा मातादीन चोर। ये दोनों ही भावुक हैं। इन दोनों के भावों को नारी से प्रेरणा मिलती है—अशोक को लीला से तथा मातादीन को आया से। नाटक में तीन स्त्री-पात्र हैं—लीला, रेणु तथा आया। लीला सरल-हृदया नारी है जो कि अशोक के गुणों पर मुग्ध हो जाती है। रेणु आत्म-संयम और बलिदान की भावना को लिये हुए है। आया अशोक की सरलता से प्रभावित होती है।

पृथ्वीनाथ शर्मा के 'साध' (१६४४) में भी विवाह तथा काम की समस्या का ही प्रतिपादन है। यह नाटक ऊपर के दोनों नाटकों की अपेक्षा प्रौढ़ और सुन्दर है। जहाँ नाटककार ऊपर के दोनों नाटकों की भांति इस नाटक में भी वस्तु-संगठन में सफल हुआ है, वहाँ प्रधान पात्रों के विकास में उसे पहले की अपेक्षा अधिक सफलता मिली है। नाटक की नायिका कुमुद पर पाश्चात्त्य रहन-सहन की गहरी छाप है, जैसा कि प्रथम अंक में ही उसके मेक-अप तथा रहन-सहन के ढंग से विदित है। वह स्वच्छन्द प्रेम में विश्वास रखती है और विवाह को बंधन समझती है। वह विवाह को केवल बंधन समझकर ही घृणा नहीं करती। जिस बात से उसे अधिक भय तथा घृणा है वह है विवाह के पश्चात् बच्चे पैदा करने का झंझट—

कुमुद—उसके बाद तुम्हारे हृदय में अनन्त वर्षों से छिपी हुई अपने प्रतिरूप की, अपने उत्तराधिकारी की लालसा जागृत होगी। फिर उस लालसा को पूरा करने के लिए मुझे धड़ाधड़ बच्चे पैदा करने होंगे। (जरा कांप कर) न, मुझसे इस जंजाल में न फँसा जायगा।

(प्रथम अंक, पहला दृश्य)

उसके मन में भीषण संघर्ष चलता है कि वह विवाह करे या आजीवन अविवाहित रहे। उसे अजीत से प्रेम है परन्तु कई बार वह अपनी सखी मृदुला की बात याद करके डर जाती है कि वह अजीत के साथ सुखी नहीं रह सकेगी। दूसरी ओर वह अपनी मां की उपदेशभरी बातों को सोचती है जिनके अनुसार उसे अजीत से अच्छा साथी कभी न मिल सकेगा। कुमुद के मन में इन दोनों विचारों के बीच चलते सघर्ष को बड़ी कुशलता के साथ चित्रित किया गया है। परन्तु उसके मन का यह संघर्ष और भी तीव्र हो उठता है जब कि अजीत के साथ विवाह कर लेने के पश्चात् नारी के वक्ष में सदाकाल से छिपी हुई मातृत्व की भावना को वह बरबस दबाने की चेष्टा करती है। एक ओर पाश्चात्त्यता के प्रभाव तथा स्वच्छन्द जीवन से प्रेम के कारण उसे सन्तानोत्पादन से घृणा तथा भय

है। दूसरी ओर शाश्वत काल की वात्सल्य की भावना तथा मां बनने की अभिलाषा उसे रह-रह कर अपने इस हठ को छोड़ने के लिए प्रेरित करती है। सन्तानोत्पादन के इस प्रश्न पर उसका केवल अपने पति अजीत के साथ ही मतभेद नहीं, अपितु उसके अपने मन में भी यह संघर्ष निरन्तर चलता रहता है और धीरे-धीरे उग्र रूप धारण किये जाता है। तृतीय अंक के पहले और दूसरे दृश्यों में नाटककार ने कुमुद के अन्तर्द्वन्द्व का बड़ा सुन्दर चित्रण किया है। अन्त में बालक मोहन के सम्पर्क में आने से उसका सन्तानोत्पादन से घृणा का भाव मिट जाता है। इस बालक के संग में कुछ दिन तक रहने मात्र से कुमुद को उस बालक से सहज स्नेह हो जाता है, और मोहन के रूप में समस्त बालक-वर्ग से। और जब अपनी इस अवस्था का वर्णन कुमुद अपनी स्नेहमयी माता से करती है, तब वह मातृत्व की भावना से पूर्णतया अभिभूत हो जाती है—

कुमुद—कल अस्पताल चला गया है। उसकी मां और बुआ की यही इच्छा थी। वे उनकी अपनी जो ठहरीं। (गला रुँध जाता है)।.........

रामेश्वरी—वैसा क्या ? तुमने मोहन के सिवाय कोई बालक देखा ही कब है ?......जिन बच्चों का लालन-पालन ठीक ढंग से हुआ करता है, उनमें वही दिल लुभाने वाला जादू होता है जो मोहन में है। जो कुछ तुम्हें मोहन में दीखा है, उससे भी अधिक तुम्हें अपने बच्चे में दीखेगा।

कुमुद—(ज़रा चौंककर) अपना बच्चा, मेरा बच्चा ? (लज्जा से मुख लाल हो जाता है)।

रामेश्वरी—हाँ, तुम्हारा बच्चा ! कुमुद, विश्वास मानो, इस असार मायामय संसार में बच्चे ही यथार्थ हैं, सत्य और सुन्दर हैं। इसलिए बेटी, इस झूठी चमक वाली सभ्यता के मोह में फंस कर बच्चों से विमुख न हो। (तृतीय अंक, दूसरा दृश्य)

अपनी मां के यह शब्द कुमुद के कानों में गूँजते रहते हैं, यहाँ तक कि जब वह सिनेमा देखने जाती है तो सिनेमा-हाल में बैठी हुई सारा समय इसी प्रश्न-सम्बन्धी विचारों में डूबी रहती है। उसके घर लौटने पर जब उसका पति चित्र के सम्बन्ध में पूछता है तो वह साफ़ कह देती है कि उसे चित्र की ज़रा भी ख़बर नहीं, वह सारा समय उन्हीं विचारों में उलझी रही। वह अजीत को अपने विचार-परिवर्तन की भी सूचना दे देती है कि अब उसने बच्चे पैदा करने अथवा पालन करने के भय तथा घृणा को सर्वथा त्याग दिया है।

यद्यपि नाटककार ने अजीत के चरित्र को कुमुद की अपेक्षा कम स्थान दिया है, तथापि नाटक में इसका चरित्र बड़ा महत्त्वपूर्ण है। यह अजीत ही है जो अपनी कुशलता, दूरदर्शिता एवं नीति से धीरे-धीरे कुमुद के मन में (उस लड़की के मन में जो कि पूर्णतया पश्चिमी सांचे में ढली हुई थी) सर्वथा भारतीयता का संचार कर देता है। अजीत शांत, सरल एवं गंभीर प्रकृति का युवक है जो कि सभी अवस्थाओं में अविचल रहता है। स्वयं कुमुद ने उसके चरित्र का परिचय इन शब्दों में दिया है—

कुमुद—झगड़ा ? वे झगड़ा करना सीखे कहाँ ? हाँ, मैंने कई बार उनके साथ जरूरत से ज्यादा छेड़छाड़ की, किन्तु उनकी शांति न भंग कर सकी। कभी उनकी बालकों-सी सरलता ने मेरे अस्त्रों को बेकार कर दिया और कभी उनके नेत्रों की सागर जैसी गहराई से मैं परास्त हो गई।

(द्वितीय अंक, पहला दृश्य)

अजीत का दृष्टिकोण तथा व्यवहार पूर्णतया भारतीय है। पश्चिमी सभ्यता तथा रहन-सहन के ढंग पर उसके विचार सूत्र रूप में ये हैं—

अजीत—......बात यह है कि पश्चिमी साँचे में ढलकर हमारा जीवन अस्वाभाविक हो गया है, जिसके कारण उस पर नीरसता और अशांति छाई रहती है। उसी नीरसता और अशांति से उन्मुक्त होने के लिये हम उत्तेजना की राह टटोलते हैं। ब्रिज की मेज पर, घुड़दौड़ के मैदान में, जगमगाते नाचगृह में इसी उत्तेजना की तलाश में हम सब भटका करते हैं, परन्तु इससे बन कुछ भी नहीं पाता। उत्तेजना की प्यास उल्टी और भी भड़क उठती है। (प्रथम अंक, पहला दृश्य)

उदयशंकर भट्ट के 'कमला' में भी नारी की समस्या को ही आधार बनाया गया है। नाटक का नायक देवनारायण एक शक्की और चिड़चिड़ा वृद्ध है। नारी को वह अन्य उपकरणों की भांति केवल पुरुष के उपभोग की वस्तु मात्र समझता है। इसी विचार को लेकर वह कमला नाम की एक सुशिक्षित युवती से बुढ़ापे में विवाह करता है। यहीं पर उस संघर्ष का आरंभ होता है जो पुरुष के अभिमान तथा स्त्री को दासी बनाये रखने की उसकी अभिलाषा में और आधुनिक नारी की नारी-भावना तथा स्वतन्त्रता-प्राप्ति की लालसा के बीच चलता है। नाटककार को देवनारायण तथा कमला के चरित्र-चित्रण में कुछ हद तक सफलता मिली है, परन्तु फिर भी वह कमला के चरित्र में उतना बल नहीं ला सका, जितना कि हम लक्ष्मीनारायण मिश्र के प्रमुख स्त्री-पात्रों में अथवा 'साध' के स्त्री-पात्रों में देखते हैं।

'प्रेम की वेदी' (१९३३) में मुंशी प्रेमचन्द ने भी विवाह की समस्या को लिया है। जेनी एक ईसाई बाला है, पर वह योगराज नाम के हिन्दू से विवाह करना चाहती है। धर्म दोनों के मार्ग में बाधा बनता है। जेनी के मन में अपने सच्चे प्रेम तथा धार्मिक रूढ़ियों के बीच संघर्ष चलता है। प्रश्न यही है कि प्रेम की वेदी पर किसका बलिदान किया जाय। वास्तव में नाटककार धर्म की रूढ़िबद्ध तथा संकुचित परिभाषा के विरुद्ध विद्रोह करना चाहता है। जेनी के इन शब्दों में उसने बड़े साहस तथा निर्भीकता के साथ धर्म पर अपने विचार प्रकट किये हैं—

जेनी—लोगों ने तरह-तरह के मत बनाकर कितना द्वेष फैलाया है। क्या धर्म इसीलिए आया है कि आदमियों की अलग-अलग टोलियाँ बनाकर उनमें भेदभाव भर दे? ऐसा धर्म लुटेरों का हो सकता है, स्वार्थियों का हो सकता है, मूर्खों का हो सकता है। ईश्वर का नहीं हो सकता है···इत्यादि। (सातवां दृश्य)

अन्त में नाटककार ने धर्म के ऊपर सच्चे प्रेम की विजय दिखाई है जबकि जेनी कहती है—

जेनी—····· **अब मुझे कोई शंका नहीं, कोई बाधा नहीं। आज मैं इन सारे ढकोसलों को, इन सारे बनावटी बन्धनों को, प्रेम की वेदी पर अर्पण करती हूँ। यही ईश्वर का धर्म है।**······**खुदा का धर्म प्रेम है और मैं इसी धर्म को स्वीकार करती हूँ।**······**मेरे लिए हवनकुण्ड और आल्टर में कोई अंतर नहीं रहा। मुझे शक्ति दो ईश्वर! कि आजीवन इस व्रत को निभा सकूं।** इत्यादि। (सातवां दृश्य)

वस्तु के विकास, चरित्र-चित्रण तथा कला की दृष्टि से यह नाटिका साधारण कोटि की है।

'छाया' में हरिकृष्ण 'प्रेमी' ने एक और ही समस्या को लिया है। इस नाटक में प्रधान पात्र प्रकाश है, जो यद्यपि एक प्रतिभाशाली तथा प्रसिद्ध लेखक है, किन्तु फिर भी उसे शोषणशील प्रकाशकों की दया पर जीना पड़ता है। प्रकाश एक सुविख्यात कवि है किन्तु जहां वह अपने गीतों द्वारा संसार को प्रकाश देता है, वहाँ उसके अपने जीवन में निपट अंधकार है। बड़ी निराशा और क्षोभ के साथ वह कहता है—

"संसार को प्रकाश के गीत चाहिएँ, प्रकाश नहीं चाहिए। लोग कहते हैं तुम्हारी कविता साहित्य की अमूल्य सम्पत्ति है, किन्तु कोई यह नहीं देखता कि विश्व-साहित्य को अमलय सम्पत्ति देने वाला कवि अपनी

पत्नी की इज्जत ढकने के लिए एक धोती ख़रीदने में भी समर्थ नहीं, अपनी बच्ची को दूध पिलाने को भी दाम नहीं पाता। उस दिन जब साहित्य-सभा के मन्त्री मुझे मानपत्र दे रहे थे, सभा के बाहर कचहरी का प्यादा समन लिये खड़ा था। इस तरह कब तक अपना लोहू पीकर मैं साहित्य का संसार भर सकूँगा।"

नाटककार ने प्रकाशकों के पूंजीवादी व्यवहार की कड़ी आलोचना की है, जो कि अपने लाभ के लिए लेखकों का शोषण करते हैं। परन्तु वह समस्या जिसको 'प्रेमी' जी ने इस नाटक में उठाया है केवल प्रकाश या प्रेमी जी की समस्या नहीं। यह प्राय: प्रत्येक लेखक का जलता हुआ प्रश्न है जो प्रकाशकों द्वारा शोषित किये जाने पर दुखी होता है। परन्तु प्रेमी जी इस जलती समस्या का कोई हल नहीं बता सके।

नाटक का नायक प्रकाश बड़ा भावुक है। वह जीवन की प्रत्येक घटना, प्रत्येक बात का भावुकता के साथ निरीक्षण करता है, और उसकी कठिनाइयाँ तथा कष्ट अधिकतर उसके चरित्र की इसी दुर्बलता के कारण हैं। नाटक पर प्रेमीजी के व्यक्तिगत जीवन की गहरी छाप है, इसलिए नायक के संभाषणों में विशेष तीखापन है। प्रेमीजी को चरित्र-चित्रण तथा वस्तु-संगठन में पर्याप्त सफलता मिली है, परन्तु कई बार पात्रों का प्रवेश तथा प्रस्थान इतना जल्दी जल्दी होता है तथा दृश्यों का परिवर्तन भी इतनी शीघ्रता से होता है कि अभिनय के समय दर्शक इसको दोष-सा मानेंगे।

व्यक्ति की समस्या से सम्बन्ध रखने वाले नाटकों पर विचार करने के अनन्तर अब हम उन नाटकों को लेते हैं जिनमें सामाजिक अथवा राजनीतिक समस्याओं का प्रतिपादन किया गया है। इस वर्ग के नाटककारों में सेठ गोविन्ददास का स्थान सबसे महत्त्वपूर्ण और प्रमुख है। सेठजी ने 'सिद्धान्त-स्वातन्त्र्य', 'सेवा-पथ', 'संतोष कहाँ', 'त्याग या ग्रहण', 'महत्त्व किसे', 'पाकिस्तान' और 'ग़रीबी और अमीरी' आदि अनेक समस्या-नाटकों की रचना की है। ये नाटक पिछले कुछ वर्षों की सामाजिक तथा राजनीतिक समस्याओं को लेकर लिखे गये हैं। इन नाटकों के पीछे सेठ जी का व्यक्तित्व है और उनके व्यक्तित्व के पीछे पिछले युग का अभिजात-वर्ग। इन सभी नाटकों में हमें लेखक के मन पर गांधी जी के सिद्धांतों का गहरा प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है। वह व्यावहारिक आदर्शवाद जो सेठ जी ने इन नाटकों में बड़ी दृढ़ता के साथ प्रस्तुत किया है, उनके पारिवारिक जीवन तथा परिस्थितियों के प्रति प्रतिक्रिया का परिणाम है। सेठ जी का जन्म एक बड़े धनाढ्य वंश में हुआ है जिससे उन्हें दो वस्तुएँ

उत्तराधिकार में प्राप्त हुईं—एक तो महान् वैभव, ऐश्वर्य तथा स्वार्थ का जीवन और दूसरे रूढ़िवादी दृष्टिकोण। परन्तु प्रायः देखा जाता है कि उद्बुद्ध तथा प्रगतिशील मन में शीघ्र ही पारिवारिक रूढ़ियों के प्रति विद्रोह की भावना जागृत हो जाती है। मन जीवन की एकरसता एवं एकरूपता से ऊब जाता है, चाहे वह एकरसता वैभव और सुख-सम्पत्ति की ही क्यों न हो। सेठ जी के जागृत तथा उद्बुद्ध मन ने भी परिवार की रूढ़ियों और उत्तराधिकार के प्रति विद्रोह किया। अतिशय वैभव के जीवन के प्रति प्रतिक्रिया सादे जीवन के रूप में प्रकट हुई तथा स्वार्थ एवं विलास के विरुद्ध प्रतिक्रिया देश-प्रेम तथा मातृ-भूमि के लिए कष्ट सहने की भावना के रूप में व्यक्त हुई। उनकी स्वतन्त्र विचार-धारा तथा बुद्धिवाद ने परिवार के रूढिबद्ध दृष्टिकोण का स्थान ले लिया। इन सभी तत्त्वों के समन्वय ने सेठ जी में एक व्यावहारिक आदर्शवाद को जन्म दिया, जो गांधी जी की नीति के व्यावहारिक पक्ष से बहुत अधिक प्रभावित है। उसी का चित्रण हमें सेठ जी के समस्या-नाटकों में मिलता है।

'सिद्धांत-स्वातन्त्र्य' सेठ जी का सबसे पहला समस्या-नाटक है। यह १९३८ में जेल में लिखा गया था। इसमें केवल दो अंक हैं, जिनका विभाजन दृश्यों में नहीं किया गया। नाटक के कथानक में काल की एकता (unity of time) के नियम की भारी अवहेलना की गई है, क्योंकि प्रथम अंक की घटनाएँ सन् १९०५ में घटती हैं, जबकि दूसरे अंक की घटनाओं का संबंध सन् १९३० से है। नाटक में केवल तीन प्रधान पात्र हैं—चतुर्भुजदास, उसका पुत्र त्रिभुवनदास तथा पौत्र मनोहरदास। नाटक में कार्य की मात्रा अधिक नहीं है, अतः कथावस्तु के संगठन का प्रश्न नहीं उठता। चरित्र-चित्रण में नाटककार ने चतुर्भुजदास को—जो कि एक बड़ा धनी ज़मींदार है—एक अत्यन्त वात्सल्य-पूर्ण पिता और पितामह के रूप में चित्रित किया है। उसके जीवन का एक-मात्र सिद्धांत यही है कि उसका पुत्र तथा पौत्र सुखी रहें, समृद्ध रहें—

चतुर्भुज—मेरे तो कोई सिद्धान्त ही नहीं। मेरे सिद्धान्त तो तुम हो। तुम सुखी रहो, तुम आराम से रहो, तुम पर कभी कोई किसी तरह की भी आफ़त न आने पावे, यही मेरे सिद्धान्त हैं। (प्रथम अंक)

चतुर्भुजदास का पुत्र त्रिभुवनदास जो कि पहले अंक में युवा है, स्वभाव का बड़ा भावुक है। वह विचारों तथा सिद्धांतों के स्वातंत्र्य में विश्वास रखता है, और इसी सिद्धान्त-स्वातन्त्र्य के कारण वह प्रथम अंक में अपने पिता की अवज्ञा करता है और दूसरे अंक में अपने पुत्र की उपेक्षा करता है। जिस सिद्धांत-स्वातन्त्र्य के मार्ग का उसने अपने यौवन में अनुसरण किया था, और

जिसका कड़ा विरोध स्नेहवश उसके परमस्नेही पिता ने उस समय किया था, उसी मार्ग का उसने प्रौढ़ावस्था में परित्याग कर दिया। परन्तु स्वतन्त्र सिद्धांतों तथा देशसेवा का मार्ग उसका अपना पुत्र मनोहर—जो कि पिता के यौवनकाल के समान ही भावुक तथा प्रचण्ड है—अपना लेता है। इस नाटक में लेखक ने कई स्थलों पर अपने विचारों और सिद्धान्तों को दृढ़ता के साथ प्रकट किया है, जैसे—

> **त्रिभुवन—किन्तु मैं अकर्मण्य सुख का जीवन बिताकर केवल खा-पी और चैन उड़ाकर शूकर के समान मोटा नहीं होना चाहता। मैं संसार में कुछ करके कुछ होना चाहता हूँ। मैं अपने देश की सेवा करूँगा और पराधीनता की जंजीरों से अपनी मातृभूमि को स्वतन्त्र बनाऊँगा।** (प्रथम अंक)

'सेवा-पथ' (१९४३) में सेठ जी ने सेवा के कठिन पथ को विषय बनाया है। इस नाटक में भी तीन प्रमुख पात्र हैं। नाटक का नायक दीनानाथ एक निर्धन युवक है जो कि गाँधी जी के सेवा तथा त्याग के सिद्धान्तों का कट्टर अनुयायी है। शक्तिपाल ऊँचे मध्यमवर्ग का व्यक्ति है। उसका समाजवाद में वश्वास है। उसका उद्देश्य भी सच्चे मन से देश की सेवा करना है, किंतु इसके लिए वह अपने वैभव और शक्ति को तिलांजलि देना आवश्यक नहीं समझता। श्रीनिवास अभिजातवर्ग का आदमी है। साथ में वह भोगवादी भी है, और उसका उद्देश्य जीवन में सुख और आनन्द का उपभोग करना ही है। वह देश की अथवा संसार की समस्याओं से अपने मस्तिष्क को कष्ट देना नहीं चाहता।

इस नाटक में भी कार्य का प्रायः अभाव है। नाटककार ने केवल इन तीनों भिन्न-भिन्न विचारधाराओं के बीच संघर्ष का चित्रण करके अन्त में गाँधीवाद की विजय दिखलाई है। शुष्क सिद्धान्त-प्रतिपादन में उलझे हुए इस नाटक में सेठ जी ने मार्गरेट के चरित्र द्वारा सरसता तथा रोमांस का कुछ संचार कर दिया है। मार्गरेट शक्तिपाल की यूरोपियन पत्नी है। उसके चरित्र में नाटककार ने पाश्चात्त्य चरित्र की उच्छृङ्खलता, अस्थिरता, स्वार्थ तथा भोग-लिप्सा का अच्छा परिचय दिया है। इस नाटक का अभिनय दो बार सफलता-पूर्वक प्रस्तुत ग्रन्थ के लेखक के निर्देशन में किया जा चुका है।

'त्याग या ग्रहण' (१९४३) भी एक सुन्दर सामाजिक नाटक है, जिसमें सेठ जी ने गाँधीवाद तथा साम्यवाद के सिद्धान्तों एवं व्यवहार का तुलनात्मक अंकित किया है। धर्मध्वज गाँधी जी के सिद्धान्तों का प्रतिनिधि है, परन्तु ˆराज के विचार एवं व्यवहार साम्यवादी हैं। धर्मध्वज त्याग में विश्वास

रखता है परन्तु नीतिराज ग्रहण की नीति को श्रेष्ठ मानता है। अन्त में त्याग का गाँधीवादी सिद्धान्त स्वार्थमय ग्रहण के सिद्धान्त पर विजय पाता है। नाटक की नायिका विमला एक सुशिक्षित युवती है, जिसके विचारों का झुकाव कुछ साम्यवाद की ओर है। जब वह पहली बार धर्मध्वज तथा नीतिराज को देखती है तो क्षणभर के लिए उसे दोनों के प्रति समान आकर्षण हो जाता है। किन्तु शीघ्र ही नीतिराज उसे अपनी ओर खींचने में सफल हो जाता है, और साम्यवादी सिद्धान्तों के अनुसार विमला और नीतिराज विवाह-बंधन में बँधे बिना परस्पर सामाजिक तथा काम-संबंध स्थापित कर लेते हैं। रूढ़िवादी हिन्दू-समाज उन दोनों के खुले पापाचार पर क्रोध से भड़क उठता है। केवल धर्मध्वज ही ऐसा व्यक्ति है, जो उनके इस आचरण का समर्थन करता है। धर्मध्वज के मत में ये दोनों सच्चे साम्यवादी हैं जो कि केवल सिद्धान्त में ही साम्यवाद के नियमों का पालन नहीं करते बल्कि उनको व्यवहार में लाने में भी समाज से नहीं डरते।

परन्तु जहाँ विमला ने तो केवल साम्यवादी सिद्धान्तों में विश्वास रखने के कारण इस अन्यथा अनुचित संबंध को उचित माना और उसका पालन किया था, वहाँ नीतिराज के हृदय में साम्यवादी सिद्धान्तों के पालन के भाव की अपेक्षा विमला के रूप-यौवन के प्रति आकर्षण और भोग-लिप्सा अधिक थी। विमला इस संबंध को रखते हुए भी मन में अपना नैतिक पतन नहीं होने देती, वह अपने सिद्धान्तों के लिए समाज की कड़ी निन्दा तथा आलोचना सहन करने को तैयार है। परन्तु नीतिराज में इतना नैतिक साहस नहीं अतएव जब विमला उसके काम-संबंध के फल-स्वरूप गर्भवती हो जाती है, तब उसे नीतिराज का असली रूप तथा उद्देश्य जानकर बड़ा क्रोध आता है। नीतिराज विमला के गर्भवती होने की बात सुनते ही काँप उठता है, और उसे गर्भपात कराने के लिए कहता है। अब विमला की आँखें खुलती हैं कि नीतिराज ने उसके साथ काम-संबंध केवल भोग-लिप्सा के कारण जोड़ा था, न कि साम्यवाद के सिद्धान्तों का पालन करने के विचार से अन्यथा इस बात में नीतिराज को समाज से डरने की क्या पड़ी थी। विमला नीतिराज को तथा उसके घृणित ग्रहण के स्वार्थपूर्ण सिद्धान्त को कोसती है। उसका सच्चा रूप देखकर वह नीतिराज को सदा के लिए छोड़ देती है, और धर्मध्वज के पास इस विषम परिस्थिति में परामर्श करने जाती है। यहाँ नाटककार ने धर्मध्वज के चरित्र को आदर्श बना दिया है। विमला को धर्मध्वज के घर के पास भड़के हुए लोगों की भीड़ घेर लेती है। धर्मध्वज क्रुद्ध भीड़ से विमला की रक्षा करता है, और

इसी उपक्रम में उसे विमला पर किये गये जनता के प्रहार सहने पड़ते हैं। जब विमला धर्मध्वज को नीतिराज के साथ अपने सारे संबंध की तथा अब के विच्छेद की कहानी सुनाती है, तो वह उसकी सहायता को आगे बढ़ता है, और उसके साथ विवाह तक करने को प्रस्तुत हो जाता है, यद्यपि उसे यह ज्ञात है कि विमला का नीतिराज के साथ देर तक यौन-संबंध रहा है, तथा वह गर्भवती है।

नाटककार ने रमाकान्त के चरित्र पर भी काफ़ी प्रकाश डाला है। वह स्नेही तथा दयालु स्वभाव का आदमी है, परन्तु अपने सिद्धान्तों पर अटल है। जहाँ नाटककार ने इस नाटक में गाँधीवाद के आदर्श का प्रचार किया है, वहाँ दूसरी ओर उसने भारतीय युवक-युवतियों को, जो कि कभी-कभी सहज ही साम्यवादी भावनाओं से आकर्षित हो जाते हैं, साम्यवादी सिद्धान्तों को व्यवहार में लाने के परिणाम से भी सचेत कर दिया है।

'सन्तोष कहाँ' (१९४५) में सेठ जी ने मानव-जीवन की एक साधारण समस्या को लिया है—अर्थात् सच्चा संतोष कहाँ और किसमें है। मनुष्य को कभी संतोष नहीं होता। जब वह एक अवस्था में होता है, तब वह दूसरी के लिए अधीर होता है। जब वह उस दूसरी अवस्था को प्राप्त कर लेता है तो फिर उसे सन्तोष नहीं होता, और वह किसी तीसरी अवस्था की इच्छा करता है। इस नाटक के नायक मनसाराम के जीवन की भी ठीक यही समस्या है। आरम्भ में वह स्कूल का निर्धन अध्यापक है, जो सदा पढ़ने-लिखने में ही मग्न और प्रसन्न रहता है। दूसरे अंक में हमें उसके दर्शन एक शानदार बंगले में होते हैं। वह अब बड़ा धनवान् हो चुका है, और मनसाराम से सर मनसाराम बन गया है। परन्तु वैभव, ऐश्वर्य तथा सम्मान के उस जीवन में उसे सन्तोष नहीं मिलता। तीसरे अंक में हम उसे एक काँग्रेसी के वेश में देखते हैं—सिर से पैर तक खादी पहने तथा एक आश्रम में निवास करते हुए। पर यहाँ भी संतोष की प्राप्ति उसे नही होती। चौथे अंक में वह एक मिनिस्टर बनकर हमारे सामने आता है परन्तु फिर भी असन्तुष्ट। आखिर वह इस प्रकार के जीवन को भी त्याग देता है, और अब खुले प्राकृतिक वातावरण में सादा जीवन बिताने, कला और संगीत में मन लगाने, ग्रामों में पाठशालाएँ तथा अस्पताल खोलने में सन्तोष-लाभ करता है। दूसरे शब्दों में वह गाँधी जी द्वारा प्रचारित रचनात्मक कार्यक्रम के जीवन में सन्तोष को पाता है। अन्त में नाटककार ने नाटक की मूल भावना को इन शब्दों में मुखरित किया है—

मनसाराम—सन्तोष का मार्ग खोजते रहना चाहिए और सच्चा संतोष कदाचित् असंतोष में ही है। इत्यादि

इस नाटक में कुल चार पात्र हैं। परन्तु वास्तव में अकेला मनसाराम ही कथानक को अपने साथ आगे चलाता है। नीतिव्रत तथा रमा की अवतारणा केवल मनसाराम के साथ वार्तालाप का क्रम जारी रखने के लिए, केवल 'हाँ' या 'न' करने के लिए ही की गई है। मनोहर का भी नाटक में प्रायः कोई काम नहीं है। इस प्रकार 'संतोष कहाँ' को पाँच अंकों का मोनोड्रामा (एकपात्री नाटक) कहा जा सकता है, जिसमें केवल मनसाराम ही अपने दृष्टिकोण की व्याख्या करता जाता है।

ऊपर के नाटक से कहीं उत्कृष्ट सेठ जी का 'पाकिस्तान' (१९४६) है। यह तीन अंकों का सुन्दर राजनीतिक नाटक है जिसमें उन्होंने पाकिस्तान की समस्या पर अपने विचार प्रस्तुत किये हैं। यह नाटक पाकिस्तान की स्थापना से पूर्व लिखा गया था, इसलिए इसकी कथावस्तु तथा घटनाएँ आदि सभी नाटककार की कल्पना-प्रसूत है। लेखक यह कल्पना करता है कि मातृ-भूमि के शुभ-चिन्तक देशप्रेमियों के प्रयत्नों के बावजूद भारतवर्ष का विभाजन हो जाता है तथा पाकिस्तान की स्थापना हो जाती है। परन्तु ऐसा हो जाने पर भी प्रति-दिन का वैमनस्य तथा अल्पसंख्यक जातियों की समस्या जो कि संयुक्त भारत में झगड़े का सबसे बड़ा कारण थी और जिसको हल करने के लिए ही पाकि-स्तान की स्थापना आवश्यक समझी गई थी—वैसी ही बनी रहती है। दोनों देशों की अल्पसंख्यक जातियों में असंतोष तथा अविश्वास फिर भी बना रहता है। कुशल नाटककार ने वास्तव में इस नाटक की रचना पाकिस्तान की अनिष्ट-कारी माँग की हानियों को दिखाकर उसे दबाने के उद्देश्य से की थी परन्तु देशभक्त नाटककार को यह ज्ञात न था कि मुसलमान जनता में मुस्लिम लीग द्वारा साम्प्रदायिकता का विष इतना अधिक भरा जा चुका है कि उसका परि-णाम देश-विभाजन तथा पाकिस्तान की स्थापना का रूप लिये बिना नहीं रहेगा।

नाटक का कथानक बड़ा रोचक एवं सुसंगठित है, और इस नाटक में कार्य की मात्रा भी काफ़ी है। नाटककार ने शांतिप्रिय तथा जहानआरा के चरित्रों का उद्घाटन सुन्दर ढंग से किया है, तथा उनके मन में होने वाले संघर्ष अथवा अन्तर्द्वन्द्व का भी सुन्दर चित्रण किया है। दोनों पात्र साम्प्रदायिकता से ऊपर हैं और दोनों जातियों को भाई तथा मित्र की दृष्टि से देखते हैं। थोड़े समय के लिए जहानआरा मुस्लिम लीग के प्रभाव से कुछ हद तक साम्प्रदायिकता के वशी-भूत हो जाती है, और वह भी पाकिस्तान की माँग का समर्थन करने लग जाती है परन्तु उसके चरित्र का मानव-पक्ष फिर भी बलवान बना रहता है। वह पाकिस्तान के मन्त्रि-मण्डल में शामिल होना भी स्वीकार कर लेती है, परन्तु

केवल अपने देश पाकिस्तान की दशा सुधारने तथा पड़ोसी देश भारत के साथ मित्रतापूर्ण सम्बन्ध बढ़ाने के उद्देश्य मात्र से। किन्तु जब उसे पाकिस्तान के प्रधानमन्त्री के धर्मान्धतापूर्ण तथा अनुचित दृष्टिकोण का परिचय मिलता है, और वह उसके विचारों तथा उद्देश्य में छल, कपट तथा असत्य का अधिकार पाती है, तो वह तुरन्त मन्त्रिमण्डल से त्यागपत्र दे देती है, और दिल्ली लौट कर अपने पुराने मित्र शांतिप्रिय से मिल जाती है। ये दोनों अब फिर से दोनों देशों के एकीकरण के लिए प्रयत्नशील हो जाते हैं।

अमरनाथ तथा महफ़ूज़खां के चरित्र की रेखाओं को भी नाटककार ने काफ़ी स्पष्ट कर दिया है। दोनों जातियों के बीच समझौता कराने के लिए ये दोनों भरसक प्रयत्न करते हैं। दूसरी ओर पीरबख़्श तथा दुर्गा का दृष्टिकोण सर्वथा साम्प्रदायिक है। जहाँ पीरबख़्श हृदय से पाकिस्तान की मांग का समर्थक है, वहाँ दुर्गा भी अखण्ड भारत में हिन्दू-राज्य स्थापित किये जाने के लिए कटि-बद्ध है।

नाटक में जहानआरा के तोते गंगाराम तथा शांतिप्रिय की कुतिया रूबी की अवतारणा कुशल नाटककार की चतुर सूझ तथा दूरदर्शिता की परिचायक है। ये दोनों पात्र नाटककार को अपने-अपने स्वामियों के मन के अन्तरतम भावों को प्रकट करने तथा उनके मन के उतार-चढ़ाव को अंकित करने के कई अवसर प्रदान करते हैं। इन दो पात्रों के अभाव में नाटककार को शान्तिप्रिय तथा जहान-आरा के मन की विरोधी भावनाओं के यथोचित चित्रण के लिए कई बार शुद्ध स्वगत की योजना करनी पड़ती, यद्यपि इनके साथ वार्तालाप भी एक प्रकार से स्वगत ही कहा जायगा।

सेठ जी का अगला नाटक 'महत्त्व किसे' (१९४७) भी बड़ा रोचक है। इस नाटक में इस विषय पर वाद-विवाद किया गया है कि क्या महत्त्व धन में है अथवा निर्धनता में। यह वाद-विवाद विस्तारपूर्वक नाटक के नायक कर्मचन्द तथा उसकी पत्नी सत्यभामा के बीच चलता है। सत्यभामा व्यावहारिक दृष्टि-कोण की स्त्री है, और उसका दृढ़ विश्वास है कि धन के बिना मनुष्य का कोई मूल्य अथवा महत्त्व नहीं। धन के बिना मनुष्य का कहीं भी मान नहीं होता, यहाँ तक कि उसकी जीवन-यात्रा भी धन के बिना संभव नहीं। दूसरी ओर कर्म-चन्द गांधीवादी आदर्श का अनुयायी है। उसका निश्चित मत है कि अन्त में कभी-न-कभी दरिद्रनारायण की ही विजय होगी, निर्धनता का ही मान, महत्त्व तथा शासन होगा। पत्नी में सांसारिक बुद्धि-विवेक पर्याप्त मात्रा में है। वह इस लोक की नारी है और संसार की प्रत्येक वस्तु को यथोचित महत्त्व देती है।

इसके प्रतिकूल उसका पति आदर्श भावनाओं के लोक में रहता है। अपने सिद्धांतों में ही नहीं, अपितु व्यवहार में भी वह आदर्शवादी है। पति-पत्नी के दृष्टिकोण के इस अन्तर की ओर पत्नी सुन्दरता से संकेत करती है—

सत्यभामा—आप स्वप्न के स्वर्ग में रहने वाले देवता हो सकते हैं, लेकिन मैं तो इसी मृत्युलोक में रहने वाली मानवी हूँ। और मेरा तो यही मत है कि स्वप्न के लिए जीवन की बाज़ी लगाना कोई बुद्धिमानी नहीं। आप पार्थिवता से सूक्ष्मता, मस्तिष्क से हृदय, शरीर से आत्मा के अधिक निकट हैं। अस्तु, यह न भूलिए कि हम इस पार्थिव संसार में निवास करते हैं। (नाटक का अन्तिम पृष्ठ)

नाटक के मुख्य प्रश्न को नाटककार ने बड़ी सुन्दरता के साथ इस प्रकार स्पष्ट किया है—

सत्यभामा—···देखना है कि आगे आने वाले ज़माने में भी संपन्नता और दरिद्रता में···(कुछ सोचते हुए) सम्पन्नता और दरिद्रता में···(चुप हो जाती है)

कर्मचन्द—(सत्यभामा की ओर देखते हुए) हो, सम्पन्नता और दरिद्रता में···?

सत्यभामा—है महत्त्व किसे ? (दोनों एक दूसरे की तरफ़ देखते हैं)

नाटक के विषय पर ज़ोर देने के लिए नाटक में ठीक यही शब्द इसी प्रकार पति-पत्नी के वार्तालाप में तीन बार दुहराये गये हैं। परन्तु प्रभाव को बढ़ाने के स्थान पर ठीक इन्हीं शब्दों की इसी ढंग में तीन बार आवृत्ति से नाटकीय प्रभाव तथा सौंदर्य कम ही होता है, उसकी वृद्धि नहीं होती। नाटक का अन्त अनिश्चय में किया गया है जो स्वाभाविक ही है। सेठ जी यह मानने को तैयार नहीं कि महत्त्व धन में है। और न ही वे संसार के व्यवहार से यह सिद्ध कर सकते हैं कि महत्त्व दरिद्रता में है। अतः उन्होंने दूरदर्शिता और विवेक के साथ नाटक का अन्त अनिश्चय में किया है।

सेठ जी का सर्वश्रेष्ठ समस्या-नाटक उनका 'ग़रीबी और अमीरी' (१९४७) है। इस पर उन्हें १२००) का पुरस्कार हिन्दुस्तानी एकेडेमी इलाहाबाद की ओर से मिल चुका है। इस नाटक की समस्या भी वही है जो पिछले नाटक की थी। धन तथा निर्धनता के बीच निरन्तर संघर्ष चलता है। भिन्न-भिन्न अवसरों पर दोनों में से एक की विजय होती है, परन्तु अन्त में साहस एवं सद्गुणों से युक्त निर्धनता के जीवन को ही विजय का श्रेय दिया है।

कथानक बड़ा रोचक तथा सुसंगठित है। विद्याभूषण, अचला तथा लक्ष्मीदास के चरित्रों का चित्रण भी सुन्दर ढंग से हुआ है। जहाँ सेठ जी के पहले नाटकों में पात्र अधिकतर टाइप हैं, वहाँ इस नाटक में पात्रों का (टाइप होते हुए भी) अपना विशिष्ट व्यक्तित्व है। भिन्न-भिन्न सिद्धान्तों एवं आदर्शों का प्रतिनिधित्व करने के अतिरिक्त ये पात्र निश्चय ही संसार के साधारण स्त्री-पुरुष हैं, जिनमें सामान्य गुण-दोष तथा भावनाएँ भी पाई जाती हैं। उदाहरण के लिए लक्ष्मीदास एक प्रकार-गत (typical) पूंजीपति है जिसने अपनी पूंजी निर्धन मजदूरों का शोषण करके जुटाई है। किन्तु वह केवल एक विशिष्ट पूंजीपति ही नहीं; साथ में वह कोमल हृदय का वात्सल्यपूर्ण पिता भी है। जहाँ शेष संसार के लिए उसका हृदय पाषाण की भांति कठोर है, वहाँ अपनी लाड़ली बेटी अचला के लिए उसका हृदय फूल से भी अधिक कोमल है—

लक्ष्मीदास—···मुझे शायद सारे संसार का ख़ून देखकर चक्कर न आयेगा, उसकी नदियाँ देखकर भी नहीं, पर बेटा, तेरे आँसुओं की दो बूंदें, हाँ दो बूंदें मेरे पैर कँपाने के लिए, अरे! मुझे बहा तक देने के लिए काफ़ी हैं। (प्रथम अंक, दूसरा दृश्य)

दूसरा पात्र नाटक का नायक विद्याभूषण है जो कि एक निर्धन कहानीकार है। वह किसी धनवान की आर्थिक सहायता से शिक्षा प्राप्त कर सका है। परन्तु उसे धन से घृणा है क्योंकि उसके मतानुसार धन की प्राप्ति ग़रीबों के शोषण से ही होती है। करोड़पति लक्ष्मीदास की पुत्री अचला तथा विद्याभूषण में गहरा तथा सच्चा अनुराग है किन्तु विद्याभूषण एक आदर्शवादी तथा भावुक युवक है। वह अचला से तब तक विवाह करने को तैयार नहीं जब तक कि वह अपने पूंजीपति पिता को और उसकी सारी सम्पत्ति को त्याग नहीं देती। विद्याभूषण के प्रेमावेश में अचला अपने पिता की सारी सम्पत्ति से हाथ धोने को तैयार है, पर वह अपने पिता को छोड़ नहीं सकती, जिसके हृदय में अपनी मातृहीना पुत्री के लिए असीम स्नेह का भाव भरा हुआ है। इस पर विद्याभूषण अचला को छोड़ कर चला जाता है किन्तु उसके हृदय के एक कोने में अभी तक अचला के लिए मोह बना हुआ है। अन्त में अचला भावुकता के वश होकर उसकी शर्त को मान ही लेती है, और दोनों का विवाह हो जाता है।

अचला का स्नेही पिता विद्याभूषण को धन का महत्त्व समझाने की बहुतेरी कोशिश करता है, पर वह दुराग्रही भावुक युवक अपने आदर्शों से तिल भर भी हटने को तैयार नहीं। अचला को अब विद्याभूषण के साथ दरिद्रता का जीवन व्यतीत करना पड़ता है। कहाँ तो आज तक वह अपने करोड़पति पिता के घर

में राजकुमारियों के समान सुख का जीवन व्यतीत करती थी, और कहाँ अब उसे नितान्त निर्धनता का जीवन काटना पड़ता है, जिसमें अभाव ही अभाव है। थोड़े ही दिनों में अचला दरिद्रता के जीवन से ऊब जाती है। विद्याभूषण के प्रेम में उसने जो महान् उत्सर्ग किया था, अब उसे वह क्षणिक आवेश तथा भावुकता का दण्ड मात्र समझती है। तृतीय अंक में विद्याभूषण के साथ उसकी इसी बात पर झड़प हो जाती है, और तब जोश में आकर वह अपने हृदय के अन्तरतम भावों को खोल कर रख देती है। कठिनाइयों तथा कष्टों से भरे उस निर्धनता के जीवन से तंग आकर अब वह पति को छोड़कर पुनः पिता के पास चली जाती है।

अचला का पिता उसका स्वागत करता है किन्तु पिता के यहाँ भी अब उसे संतोष नहीं। शीघ्र ही वह देखती है कि उसका पिता उसकी अपेक्षा अब उसके (अचला के) नन्हे बेटे से अधिक लाड़-प्यार करता है। इसमें वह अपनी अवहेलना समझकर फिर भारतवर्ष लौट आती है और अपने पति से अलग रहकर निर्धनता तथा कठोरता का जीवन व्यतीत करने लगती है, जिससे कि वह अपने को अपने पति के आदर्शों के अनुसार ढाल सके। इस कठिन साधना में वह सफल होती है, और तब वह अपने पति के पास जाने का निश्चय करती है। अभी वह जाने की तैयारी ही करती है कि इतने में अकस्मात् विद्याभूषण उसके पास पहुँच जाता है। इधर अचला अपने पति द्वारा निर्दिष्ट आदर्शों तक दृढ़तापूर्वक पहुँचने में सफल हो जाती है, उधर इतने समय में उसके पति के चरित्र में नैतिक दुर्बलता आ चुकी है। जीवन के कटु अनुभवों के कारण उसने अपने विचार बदल दिये हैं, और अब वह इस परिणाम पर पहुँचा है कि जीवन की सफल यात्रा के लिए धन की बड़ी आवश्यकता है। किन्तु इससे पूर्व कि विद्याभूषण तथा अचला के बीच इस मत-परिवर्तन पर वाद-विवाद अथवा विचार-विनिमय हो सके, विद्याभूषण की सहसा हृदय की गति रुक जाने से मृत्यु हो जाती है। शायद इस रहस्य के उद्घाटन का अवसर टालने के विचार से ही नाटककार ने तुरन्त भूषण का गला घोंट दिया है। विद्याभूषण का अकस्मात् आगमन तथा उसकी आकस्मिक मृत्यु कुछ अस्वाभाविक और अतिनाटकीय-सी बन गई है।

अचला का चरित्र भी बड़ा मनोरंजक, सुन्दर एवं सबल है। वह बड़ी भावुक युवती है। आरम्भ में उसे पिता तथा प्रेमी के अनुराग के बीच संघर्ष की चोट सहनी पड़ती है। भावुकता के आवेश में ही वह भूषण की शर्त मान लेती है किन्तु जब उसे भूषण के आदर्शों के अनुसार जीवन-यापन करना पड़ता है

तो उसे अपनी भूल का ज्ञान होता है। तदनन्तर अपने स्नेहयुक्त पिता के घर में तनिक-सी अवहेलना उसे असह्य हो उठती है, यहाँ तक कि आवेश में वह पिता का गृह त्याग देती है, और पुनः अपने को भूषण के आदर्शों के अनुसार ढालने का निश्चय करती है। इस बार वह अपने प्रयास में सफल हो जाती है। परन्तु अचला की अनुपस्थिति में भूषण की अटलता और नैतिक दृढ़ता बहुत कुछ विचलित हो जाती है और वह अपने सिद्धांत बदल लेता है। वास्तव में अचला ही विद्याभूषण की शक्ति और प्रेरणा का स्रोत थी, उसका व्यक्तित्व ही भूषण की सफलता का कारण था। अचला की अनुपस्थिति ही भूषण की हार का कारण बन गई।

नाटक के पूर्व एक लम्बी भूमिका में सेठ जी ने अपने नाटक के कथानक के आधारों की ओर संकेत किया है, और नाटकीय विधान पर अपने नवीनतम प्रयोगों पर भी कुछ टिप्पणियां लिखी हैं। जहाँ पूर्व के समस्या-नाटकों में सेठ जी ने गीतों की योजना नहीं की, वहाँ इस नाटक की भूमिका में उन्होंने इस नाटक में स्वगत तथा गीतों के प्रयोग का समर्थन किया है।

अपने सभी नाटकों में सेठ गोविन्ददास ने व्याख्यात्मक शैली का अवलम्बन किया है, व्यंग्यात्मक शैली का नहीं। उनके पात्रों को जो बात कहनी होती है स्पष्ट शब्दों में तथा निःसंकोच कह देते हैं। वार्तालाप में उनके प्रधान पात्र अपने-अपने दृष्टिकोण को बड़े मित्रतापूर्ण परन्तु प्रभावोत्पादक ढंग से प्रस्तुत करते हैं, जिससे उनके शब्द तथा तर्क दूसरे व्यक्ति के हृदय में उतर जायँ। अपने कथन में न वे व्यंग्य का उपयोग करते हैं, न ही वाद-विवाद के बीच अपने प्रतिपक्षी के साथ झगड़ा बढ़ाने की कोशिश करते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि सेठ जी के अपने चरित्र तथा उनके राजनैतिक जीवन के अनुभव ने उनकी शैली में इस प्रवृत्ति को विकसित किया है।

सेठ जी के नाटकों का वातावरण अभिजात-वर्गीय है, तथा उनकी समस्याएँ अधिकतर धनवान तथा बड़े लोगों की समस्याएँ हैं। उनके पात्रों में हमें लखपति तथा करोड़पति, मिनिस्टर तथा बड़े लोग मिलते हैं, और उन्हीं लोगों के अपव्यय एवं आत्म-दंभ की, तथा सार्वजनिक जीवन में यश और मान पाने की समस्याएँ ही अधिकतर मिलती हैं।

सेठजी के अधिकतर नाटकों (उदाहरण के लिए 'सिद्धांत-स्वातंत्र्य,' 'महत्त्व किसे', 'सेवापथ' आदि) में कार्य का प्रायः अभाव है। उनमें प्रायः भिन्न-भिन्न पात्रों के बीच भिन्न-भिन्न मतों एवं सिद्धांतों पर वाद-विवाद या विचार-विनिमय ही मिलता है। कोरे वाद-विवाद तथा सिद्धांत-प्रतिपादन की इस प्रचुरता के कारण

अभिनय के समय दर्शकों के उकता जाने का भय बना रहता है। साधारण दर्शक कोरे विचार-विनिमय की अपेक्षा घटनाओं तथा कार्य में अधिक आनन्द का अनुभव करते हैं। निःसंदेह राजनैतिक रुचि वाले दर्शकों को, जिनका उनमें से किसी एक मत या सिद्धांत के साथ सम्बन्ध हो, यह नाटक बड़े सुन्दर तथा प्रभावोत्पादक प्रतीत होंगे। जान पड़ता है कि सेठजी ने स्वयं अपने पहले नाटकों में कार्य के अभाव को महसूस किया, इसी कारण अपने बाद के नाटकों में उन्होंने कार्य का इतना अभाव नहीं रहने दिया। उनमें कार्य की मात्रा अपेक्षाकृत अधिक है, यद्यपि भिन्न-भिन्न सिद्धांतों का प्रतिपादन तथा वाद-विवाद उनमें भी चलता है।

समस्या-नाटकों के अनुकूल ही सेठजी ने अपने कथोपकथन प्रायः सरल और संयत रखे हैं। अपने बाद के नाटकों विशेषतः 'ग़रीबी और अमीरी' में उन्होंने लम्बे-लम्बे स्वगत भाषणों का प्रयोग भी किया है, जो कि कई बार खटकने लगता है, यद्यपि सेठजी लम्बे स्वगत भाषणों को बड़ा प्रभावोत्पादक तथा नाटकोचित समझते हैं। केवल अति कुशल तथा अनुभवी अभिनेता ही इन लम्बे स्वगत भाषणों में सरसता तथा नाटकोचित प्रभाव भर सकता है। इसके अतिरिक्त कथोपकथन को स्वाभाविक बनाने के उद्देश्य से उसका निर्वाह इतने टूटे हुए वाक्यों में किया गया है कि कई बार निरन्तर चलने वाले ये टूटे वाक्य कानों को चुभने लगते हैं। सभी नाटकों में सेठजी ने प्रधान पात्रों के लिए सरल हिन्दी का प्रयोग किया है। कहीं-कहीं शिक्षित अथवा अभिजात वर्ग के पात्रों के वार्तालाप में अंग्रेज़ी के शब्दों तथा वाक्यों का प्रयोग भी किया गया है। कहीं-कहीं सेठजी ने गौण पात्रों के लिए प्रादेशिक भाषाओं का भी उपयोग किया है (उदाहरण के लिए 'सेवा-पथ' के द्वितीय अंक के दूसरे तथा चौथे दृश्यों में)। नौकरों आदि से भी कहीं-कहीं गँवारू भाषा का व्यवहार कराया गया है, जैसे 'त्याग या ग्रहण' तथा 'सिद्धांत-स्वातन्त्र्य' आदि में।

सेठ गोविंददास के 'विकास' (१९४०) को भी समस्या-नाटकों की श्रेणी में रखा जा सकता है, यद्यपि यह एक अनोखे ढंग का नाटक है। यह एक सुन्दर स्वप्न-नाटक है जिसमें लेखक ने सृष्टि के विकास के प्रश्न पर दो भिन्न-भिन्न मत प्रस्तुत किये हैं। रात्रि के समय नाटक का नायक तथा नायिका इसी विकास के प्रश्न पर वाद-विवाद करते सो गये। स्वप्न में नायक के मन में फिर वही विचार प्रबल हो उठे, और सोने से पूर्व इस विषय पर किया गया सारा तर्क-वितर्क मूर्त्त रूप धारण करके उसके सामने उपस्थित हो गया। स्वप्न में युवा नायक ने आकाश का रूप धारण कर लिया और उसकी युवती पत्नी ने पृथ्वी का।

दोनों का मत एक दूसरे से भिन्न है। पृथ्वी की धारणा है कि—

'सतत नियति से निश्चित इसका पतन और उत्थान'। (पृष्ठ २)

उसके कथन का अभिप्राय यह है कि सृष्टि चक्र की भांति घूमती है और इसका उत्थान और पतन सदा नियति के द्वारा निश्चित रहता है। न यह सदा पतनोन्मुख रहती है और न ही सदा इसका उत्थान होता रहता है। दूसरी ओर आकाश का दृढ़ मत है कि—

शैशव को आक्रान्त कर, चढ़ विकास सोपान,
ज्ञान उच्चतम शिखर को प्रकृति नित्य गतिमान;

वह पृथ्वी के मत का विरोध करते हुए कहता है कि सृष्टि निरन्तर उत्थान की ओर ही अग्रसर रहती है। उसका अनवरत विकास ही होता है, पतन नहीं। उसके विचार में पतन से रहित विकास ही सृष्टि का सतत नियम है। अपने-अपने मत की पुष्टि के लिए पृथ्वी और आकाश दोनों संसार के इतिहास के भिन्न-भिन्न कालों से उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। वे भगवान् बुद्ध, अशोक, ईसा और गांधीजी के जीवन की अनेक घटनाओं की ओर संकेत करते हैं, और दोनों ही उन घटनाओं से अपने-अपने मत का समर्थन करते हैं। पृथ्वी और आकाश के बीच चलते हुए इस विवाद का अन्त अनिश्चय में होता है। दोनों ही अपने-अपने मत पर जमे रहते हैं, और ज्योंही वे अपने-अपने लोक को लौटते हैं, त्योंही युवक की नींद खुल जाती है। वह पास सोई हुई अपनी पत्नी को जगाता है और उसे सूचना देता है कि अभी-अभी उसने एक सपना देखा है, जिसे वह उसको सुनाने को उत्सुक है।

वस्तु-संगठन और चरित्र-चित्रण की दृष्टि से इस नाटक का कोई महत्त्व नहीं है। यह नाटक पृथ्वी और आकाश के बीच चलता हुआ एक लम्बा संवाद-मात्र है। इसीलिए लेखक ने इसे नाटक न कहकर 'नाटकीय संवाद' की संज्ञा दी है। परन्तु इस संवाद के बीच नाटककार ने कुशलता के साथ बड़े सुन्दर, प्रभावोत्पादक और नाटकीय महत्त्व के दृश्यों की अवतारणा की है। उन्हीं दृश्यों के द्वारा कथोपकथन के बीच ही पर्याप्त मात्रा में कार्य-व्यापार का समावेश हो गया है। नाटक का महत्त्व उसके सुन्दर, रंग-बिरंगे, रोमांटिक दृश्य-विधान में है जिसमें सेठजी ने नाटककार तथा इतिहासकार दोनों रूप में अपनी योग्यता एवं प्रतिभा का परिचय दिया है। नाटककार ने इस एक ही नाटक में भिन्न-भिन्न देशों (भारत, चीन, रोम आदि) तथा भिन्न-भिन्न कालों (बुद्ध, अशोक, ईसा आदि) की प्रमुख घटनाओं का समावेश कर दिया है। इस कारण यह नाटक भिन्न-भिन्न रुचियों तथा देशों के दर्शकों और पाठकों का एक साथ मनोरंजन कर

सकता है। सेठ जी ने अपनी सूक्ष्म बुद्धि तथा प्रतिभा के द्वारा विविध देशों और कालों के उज्ज्वल और गौरवशाली चित्र अंकित करने में अद्भुत सफलता पाई है और विषमता प्रस्तुत करने के लिए पतन एवं उत्थान दोनों के चित्र साथ-साथ उपस्थित करके उन दृश्यों के सौन्दर्य तथा प्रभाव को बढ़ा दिया है।

इस स्वप्न-नाटक पर सिनेमा के टेकनीक का प्रभाव स्पष्ट है, और रजतपट पर यह नाटक बड़ी सफलता के साथ खेला जा सकता है। नाटककार ने पहले दृश्य को ही बड़ी सुन्दरता और सफ़ाई के साथ प्रस्तुत किया है। जैसे-जैसे युवा नायक के स्वप्न का विस्तार होता जाता है, वैसे-वैसे हमारे नेत्रों के सामने पृथ्वी तथा आकाश के भिन्न-भिन्न दृश्य—क्षितिज, ज्योत्स्ना, पर्वत, वृक्ष, नदियां, भवन आदि—आते जाते हैं। बड़े ही सुन्दर ढंग से नाटककार ने परस्पर मिलने के लिए धीरे-धीरे उतरते हुए आकाश तथा धीरे-धीरे ऊपर उठती हुई पृथ्वी का दृश्य, उनके मिलने तथा बीच-बीच चुम्बन आदि के दृश्य अंकित किये हैं। चुम्बन-आलिंगन आदि के दृश्य सिनेमा के विधान के अनुकूल हैं, जब कि ये भारतीय सिद्धांतों के प्रतिकूल हैं।

उपेन्द्रनाथ 'अश्क' का 'स्वर्ग की झलक' (१९३९) एक सामाजिक व्यंग्य है, जिसका मूल विषय स्त्री-शिक्षा की समस्या है। इस नाटक में लेखक ने इस बात पर ज़ोर दिया है कि जहाँ बिल्कुल अशिक्षित तथा असभ्य स्त्री परिवार को सुखी नहीं बना सकती, वहाँ आज की पाश्चात्त्य-प्रभाव ग्रस्त उच्चशिक्षा-प्राप्त युवती भी इस काम में कभी सफल नहीं हो सकती। उसे तितली बनने की इच्छा रहती है, अच्छी पत्नी बनने के योग्य वह नहीं है। नाटककार का अभिप्राय स्त्री-शिक्षा का खंडन या विरोध करना नहीं है वरन् हमारी आज की शिक्षित स्त्रियों के पश्चिमी रहन-सहन तथा व्यवहार का विरोध करना है। भूमिका में 'अश्क' जी ने लिखा है—

> **"नाटक का उद्देश्य शिक्षा अथवा आधुनिक नारी के विरुद्ध न होकर, उस मनोवृत्ति के विरुद्ध होना है, जो हमारे यहाँ की अधिक शिक्षित लड़कियों में पैदा होती जा रही है कि वे अपना बाहर सँवारने के जोश में घर बिगाड़ती जाती हैं।......आज प्रत्येक शिक्षित लड़की के लिए शिक्षित, पूर्ण रूप से आधुनिक, साथ ही धनी पति का मिलना कठिन है, इसलिए यदि उसे विवाह करके सादा (normal) जीवन बिताना है तो उसे इस जीवन पर नाक-भौं न चढ़ाना चाहिए।"**

नाटककार इस बात पर ज़ोर देना चाहता है कि जहाँ शिक्षा पाकर नारी स्वाभिमान, आत्म-विश्वास, व्यापक ज्ञान तथा समाज-सेवा की भावनाएँ पाये,

वहाँ उसे अपना मानसिक सन्तुलन भी क़ायम रखना चाहिए तभी समाज में व्यवस्था क़ायम रह सकेगी।"

इस नाटक में लेखक ने यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि जिसको हमारा आज का युवक स्वर्ग समझता है, वह वास्तव में स्वर्ग न होकर केवल-मात्र उसकी झलक है। नाटक का नायक रघु एक थोड़ी शिक्षा पाई हुई लड़की से इसलिए विवाह करना नहीं चाहता क्योंकि वह समझता है कि एक उच्च-शिक्षिता पत्नी से उसका जीवन स्वर्ग के समान सुखी बन जायगा। परन्तु जब वह तनिक समीप से उच्च-शिक्षा-प्राप्त आधुनिक स्त्री के व्यवहार और जीवन को देखने का अवसर पाता है तो उसकी आँखें खुल जाती हैं। उसके मित्र मिस्टर अशोक तथा प्रो० राजेन्द्र की पत्नियाँ उच्चशिक्षिता हैं तथा पाश्चात्यता का उन पर पूरा प्रभाव है। रघु का अनुमान है कि उनके जीवन में स्वर्ग का-सा आनन्द खेलता है। किन्तु जब वह उनके जीवन का यथार्थ चित्र देखता है और यह जान पाता है कि ऊपर से जो स्वर्ग दीखता है वह वास्तव में नरक है, तो बह तुरन्त अपने विचारों को बदल देता है। अब वह उच्च-शिक्षिता युवती के प्रस्ताव को ठुकरा कर उसी अल्पशिक्षिता युवती से विवाह करने का निश्चय कर लेता है।

नाटक की कथावस्तु का संगठन अच्छा है। परन्तु चरित्र-चित्रण में लेखक केवल प्रो० राजेन्द्र के चरित्र को ही व्यक्तित्व प्रदान कर सका है। शेष पात्र अधिकतर टाइप हैं। मिसेज़ राजेन्द्र, मिसेज़ अशोक तथा उमा typical आधुनिक शिक्षित युवतियाँ हैं। मिस्टर अशोक एक पत्नी-भीरु पति हैं। रघु तथा भाई साहब के चरित्र भी कुछ हद तक टाइप बन गये हैं। भाई साहब रूढ़िवादी वर्ग के प्रतिनिधि हैं, जब कि रघु आज के उस युवक-समुदाय का प्रतिनिधि है जो कि ऊपर के प्रसाधनों और चटक-भड़क से जगमगाती हुई आधुनिक युवतियों की ओर अनायास आकृष्ट हो जाता है। बीच-बीच में भाई साहब तथा प्रो० राजेन्द्र के चरित्रों में लेखक का सुधारक रूप मुखरित हो उठा है। नाटक की भाषा सरल है और यह नाटक अभिनय के लिए बड़ा सुन्दर है। इस नाटक का सफल अभिनय प्रस्तुत ग्रन्थ के लेखक के निर्देशन में १० दिसम्बर १९४९ को शिमला के कालीबाड़ी हाल में किया गया था। उत्सव का उद्घाटन पंजाब के उस समय के शिक्षामंत्री श्री नरोत्तमसिंह जी ने किया था।

'अश्क' के 'छठा बेटा' पर भी हम इसी अध्याय में विचार करेंगे। 'विकास' की भाँति यह भी एक स्वप्न-नाटक है। इसमें लेखक ने बड़े सुन्दर ढंग से यह दिखाया है कि मनुष्य का मन किस प्रकार वास्तव में अपनी इच्छा की पूर्ति न

हो सकने पर स्वप्न में उसकी पूर्त्ति देखकर संतुष्ट होना चाहता है । नाटक की कथावस्तु इस प्रकार है —

एक बूढ़े आदमी को, जिसके छः बेटे हैं, शराब पीने की बुरी आदत है । शराब पीने को बुरा समझने पर भी वह अपनी आदत से विवश है । उसने स्वयं कष्ट उठाकर भी अपने पाँच बेटों का भली भांति पालन-पोषण किया और उन्हें शिक्षा दिलाई । परन्तु बुढ़ापे में जब उसका और कोई सहारा न रहा, तो पाँचों बेटों ने भी उससे मुँह फेर लिया । वृद्ध का छटा बेटा तंग आकर घर से निकल गया था, और उसके बाद किसी ने उसको खोजने की चिन्ता अथवा कष्ट नहीं किया ।

बूढ़े को बाज़ार से आटा लाने के लिए दस रुपये का नोट दिया जाता है परन्तु वह आटा लाने की बजाय कुछ रुपयों की शराब और शेष का एक लाटरी का टिकट (तीन लाख रुपये का) ख़रीद लेता है और पी हुई हालत में घर लौटता है । आते ही वह चारपाई पर गिर पड़ता है और उसे नींद आ जाती है । नींद में उसे स्वप्न आता है जो उसकी अभिलाषाओं की पूर्त्ति के साथ-साथ बड़ा मनोरंजक और शिक्षाप्रद है । स्वप्न में वह वृद्ध देखता है कि उसकी तीन लाख रुपये की लाटरी निकल आई है । लाटरी के तीन लाख रुपये मिलते ही उसके पाँचों स्वार्थी बेटों का पिता के प्रति व्यवहार एकदम बदल जाता है । उसमें आकाश-पाताल का अन्तर आ जाता है । अब वे पुत्र अपने पिता से उस धनराशि को छीनने के उपाय सोचते हैं । जिस पिता की तनिक-सी बात अथवा अशिष्ट व्यवहार पहले उनको सह्य न था, अब उसी की गालियों तथा दुर्व्यवहार को वे चुपचाप सह लेते हैं ।

आख़िर पाँचों पुत्र विविध उपायों से पिता का अधिकांश रुपया छीनने में सफल हो जाते हैं । शेष थोड़ा-सा रुपया वह वृद्ध शराब में बरबाद कर देता है । जब पिता के पास फिर कुछ शेष नहीं रह जाता तो उसके वही नीच पुत्र उससे फिर मुँह मोड़ लेते हैं । नाटक का अंतिम दृश्य बड़ा ही मार्मिक है जब उन बेटों की माँ एक-एक करके पाँचों पुत्रों से करुणापूर्ण ढंग में अनुरोध करती है कि वे अपने पिता की देखभाल करें, जिसने उन्हें पढ़ाया-लिखाया तथा कमाने योग्य बनाया किंतु नीच और स्वार्थी पुत्र अपनी माँ की बातों की परवाह नहीं करते और अपने असहाय पिता को उसकी हालत पर छोड़ देते हैं । इधर जब वृद्धा माँ अपने स्वार्थी पुत्रों के नीच व्यवहार पर खिन्न होती है, तब उसका छटा बेटा, जो कई वर्षों से खोया हुआ था, अकस्मात् वहाँ पहुँच जाता है, और अपने बूढ़े माता-पिता के पालन-पोषण का भार अपने ऊपर ले लेता है ।

इस नाटक में बड़ी कुशलता के साथ यथार्थ रीति से जीवन के एक यथार्थ

विषय को लेकर उसकी परीक्षा की गई है। यह नाटक उन स्वार्थी पुत्रों पर एक तीखा व्यंग्य है, जो माता-पिता से सदा लेने को हाथ फैलाये रहते हैं, परन्तु अपना पुत्रोचित कर्तव्य निभाने के समय जी चुराते और बहाने लगाते हैं। नाटक के चौथे दृश्य में शराब पीने की निन्दा की गई है तथा आज की सभ्यता के खोखलेपन की कड़ी आलोचना की गई है। नाटक में रंग-संकेतों की बहुलता है, जिनमें नाटककार ने अनेक स्थलों पर बड़े सूक्ष्म तथा सुन्दर ढंग से पात्रों की मानसिक दशा अथवा भावों पर प्रकाश डाला है, जैसे—

[चाननराम—'तुम अभी बच्चे हो, तुम्हारी यह चंचलता क्षम्य है' के से भाव से हँसते हैं।] (पृष्ठ २७)

अथवा—

(मुँह बनाता है, जैसे नाम ही से उसका चित्त मितलाने लगा हो) (पृष्ठ ४०)

इसके अतिरिक्त नाटककार का भिन्न-भिन्न पात्रों का परिचय देने का ढंग भी बड़ा मनोरंजक है, जो कि उसकी सूक्ष्म अन्वीक्षण-शक्ति का परिचायक है, जैसे—

(आयु अट्ठाइस वर्ष से अधिक नहीं, लेकिन डाकखाने की बैठक ने उसे बत्तीस पैंतीस का बना दिया है। चेहरे की दो चार रेखाएँ 'डिलिवरी','बुकिंग', 'सार्टिंग' की विरसता का पता देती हैं, जिन विभागों में कि वह क्रम से अब तक काम करता आया है। मूँछें बढ़ी हुई हैं, इसलिए नहीं कि उसे बढ़ी हुई मूँछें पसंद हैं, बल्कि इसलिए कि मूंछें कटवाने का समय उसे नहीं मिला। हँसमुख है, किन्तु अब उसकी हँसी ऐसी ही ठिठुरती हुई प्रकट होती है जैसे शरत् के बादल भरे आकाश में पीली श्वेत-सी सूरज की मुस्कान। (पृष्ठ ३४)

परन्तु जहाँ शब्दों में ऊपर की अवस्था का वर्णन करना आसान है, वहाँ अभिनय के समय मुख पर के इन सूक्ष्म भावों को ठीक इसी प्रकार दिखाना असंभव नहीं तो अति कठिन अवश्य है। इस नाटक का सफल अभिनय भी प्रस्तुत लेखक के निर्देशन में कालीबाड़ी हाल, शिमला में १० अगस्त १९४९ को हुआ था।

वृन्दावनलाल का 'धीरे धीरे' (१९३९) राजनैतिक नाटक है, जिसका विषय देश की सामयिक राजनीति से संबंध रखता है। नाटककार ने कुशलता से काँग्रेस-शासन की धीरे-धीरे की नीति को व्यंग्य का लक्ष्य बनाया है। गत महायुद्ध के पश्चात् जब कांग्रेस ने कौंसिलों में प्रवेश स्वीकार किया, तो अपने

मन्त्रि-मंडल बनाने पर भी, शासन की बागडोर सँभालने पर भी, वह अपनी धीरे-धीरे की नीति के कारण कुछ विशेष काम न कर सकी।

इस विषय पर लिखते हुए लेखक के दृष्टिकोण में जहाँ सहानुभूति का स्पर्श नहीं, वहाँ उसके व्यंग्य में कटुता भी नहीं है। नाटककार ने अपने व्यक्तित्व को तटस्थ-सा रखा है। यही मानसिक सन्तुलन इस नाटक की प्रधान विशेषता है। कलात्मक दृष्टि से नाटक का विशेष महत्त्व नहीं है।

'बंधन' में हरिकृष्ण प्रेमी ने पूंजीपतियों तथा श्रमिकों के बीच संघर्ष का चित्रण किया है। मिल-मालिक रायबहादुर ख़ज़ानचीराम पूंजीवादी चेतना का प्रतिनिधि है, जब कि मोहन मज़दूरों का नेता तथा पथप्रदर्शक है। पूंजीपतियों तथा श्रमिकों के हितों में संघर्ष होता है, और अन्त में श्रमिकों की जीत होती है। मोहन के चरित्र पर गाँधी जी के सत्याग्रह, अहिंसा तथा त्याग की भावनाओं का प्रभाव है। नाटक में बाह्य संघर्ष तो प्रचुर मात्रा में विद्यमान है, परन्तु अन्तर्द्वन्द्व का प्रायः अभाव है, यहाँ तक कि प्रमुख पात्रों का मनोविश्लेषण भी इस नाटक में नहीं मिलता। स्त्री-पात्रों में सरला का चरित्र बड़ा स्वस्थ, सबल एवं उज्ज्वल है। वह केवल अपने भाई मोहन के लिए ही शक्ति एवं प्रेरणा का कारण नहीं है, बल्कि सभी श्रमिकों को उसके व्यक्तित्व से उत्साह मिलता है। पूंजीपति तथा श्रमिकों के झगड़े के मूल विषय में पूंजीपति ख़ज़ानची राम की पुत्री मालती का श्रमिक नेता मोहन के प्रति अनुराग दिखाकर कथानक में शृंगार का पुट दे दिया गया है। अन्त में मोहन और मालती का विवाह हो जाता है।

'अंगूर की बेटी' (१९३७) में गोविन्दवल्लभ पन्त ने मदिरापान के दुष्परिणाम दर्शाये हैं। नाटक का विषय बहुत पुराना है, और क्योंकि इसकी समस्या बड़ी सूक्ष्म नहीं है, इसलिए सूक्ष्म या गम्भीर विश्लेषण के लिए विशेष स्थान नहीं था। तथापि लेखक ने प्रभावोत्पादक ढंग से मदिरा पीने के दोष दिखाकर इस व्यसन को छोड़ने का सुकर उपाय भी बताया है।

चन्द्रशेखर पाण्डेय के 'जीत में हार' (१९४२) में भी एक पुराने विषय का ही प्रतिपादन है, जिसको लेकर मुंशी प्रेमचन्द अपनी अनेक कहानियों तथा उपन्यासों की तथा मिश्रबन्धु अपने 'नेत्रोन्मीलन' नाटक की रचना कर चुके हैं। लेखक ने नाटक के विषय के सम्बन्ध में इस प्रकार कहा है—

"मुकद्दमा लड़ने के कारण किस प्रकार दोनों पक्ष तबाह हो जाते हैं और वकील तथा निठल्लों का भला होता है, इसी बात का सजीव चित्रण इस नाटक में किया गया है। मुकद्दमा से केवल धन ही की

हानि नहीं होती, वरन् झूठ, छल, कपट, ईर्ष्या, वैर आदि दुर्गुण मन में घर कर लेते हैं।" इत्यादि।

नाटक सामान्य कोटि का है। वस्तु-संगठन साधारण है और चरित्र अधिकांश टाइप हैं। तथापि नाटककार को ग्रामों का यथार्थ वातावरण उपस्थित करने में पर्याप्त सफलता मिली है। नाटककार ने गाँव के जीवन का तथा उसके ईर्ष्या-द्वेष आदि दोषों का सच्चा तथा स्पष्ट चित्र खींचा है। रामधन और सुखई दो पड़ोसी किसान हैं जो ज़मीन के एक तनिक से सवाल पर आपस में लड़ पड़ते हैं, मारपीट करते हैं और फिर कचहरी पहुँचते हैं। वे ऐसे दो typical ग्रामीण हैं जिनमें झूठे अभिमान की अधिकता है। दोनों ही अपना सर्वनाश करके भी एक-दूसरे को नीचा दिखाने के लिए उत्सुक हैं। लेखक ने ग्रामीण लोगों पर यह स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है कि उनकी जीत वास्तव में उनकी हार है, यदि इसके कारण उनका सर्वस्व नष्ट हो जाय। गोविन्ददास का चरित्र नाटककार के मन पर गांधी जी के प्रभाव को स्पष्ट करता है।

बाईसवां अध्याय

गीति-नाटक

साधारण रूप में गीति-नाटक से उस नाटक का अभिप्राय है जो पूरा पद्य में लिखा गया हो। किन्तु गीति-नाटक के लिए इतना ही आवश्यक नहीं कि उसका माध्यम गद्य न होकर पद्य हो। गीति-नाटक के लिए पद्य की अनिवार्यता के साथ-साथ भाव-प्रचुरता भी आवश्यक है। भावों की प्रधानता के कारण इसमें स्वभावत: कार्य तथा बाह्य संघर्ष इतना अधिक नहीं होता। कार्य की अपेक्षा इस नाटक में भावों का महत्त्व अधिक होता है। इसमें जो द्वन्द्व मिलता है वह अधिकांश अन्तर्द्वन्द्व है अर्थात् एक ही पात्र के मन की विविध भावनाओं के बीच संघर्ष। इस प्रकार मानसिक संघर्ष, जो कि भावों के सुन्दर एवं सूक्ष्म चित्रण को जन्म देता है, इस नाटक की प्रमुख विशेषता है। गीति-नाटक में जहाँ बाह्य संघर्ष की अवतारणा की जाती है, वहाँ इसका उद्देश्य आन्तरिक संघर्ष को ही तीव्रतर बनाना होता है।

यद्यपि संस्कृत नाटकों में भी भावों की प्रचुरता तथा पद्य की बहुलता है, तथापि संस्कृत में एक भी ऐसा नाटक नहीं है जो सारे का सारा पद्य में हो। बँगला में रवीन्द्रनाथ ठाकुर का 'चित्रा' तथा द्विजेन्द्रलाल राय का 'सीता' आदि गीति-नाटक के सुन्दर उदाहरण हैं। अंग्रेजी में शैली, ब्राउनिंग तथा स्विनबर्न के गीति-नाटक प्रसिद्ध हैं। हिन्दी साहित्य में प्रसाद का 'करुणालय' (१९१२) ही गीति-नाटक का पहला उदाहरण है।

'करुणालय' का कथानक ऐत्तरेय ब्राह्मण के शुनःशेप आख्यान से लिया गया है। कथानक के उत्तर भाग में नाटककार ने किसी अन्य पौराणिक सूत्र के प्रभाव से अथवा अपनी कल्पना से कुछ परिवर्तन कर दिया है।

राजा हरिश्चन्द्र ने अपने पुत्र रोहित की वरुण के निमित्त बलि देने की प्रतिज्ञा की थी। पुत्र-प्राप्ति के पश्चात् वह उस प्रतिज्ञा को भूल जाता है परन्तु प्रतिज्ञा का स्मरण कराने पर जब वह उसे पूरा करने का निश्चय करता है, तो उसका पुत्र रोहित, जो मरने के लिए तैयार नहीं, पिता का घर छोड़कर बन में चला जाता है। घूमते-घूमते उसकी भेंट ऋषि अजीगर्त तथा उसके परिवार से होती है, जो कि भूख से पीड़ित है। रोहित उससे पुत्र को बेच देने का प्रस्ताव करता है, और क्षुधा-पीड़ित अजीगर्त सौ गौओं के बदले उसके पास अपने पुत्र शुनःशेप

को बेच देता है। अब रोहित अपने पिता के राज्य में लौट आता है। पिता उसे अपनी अवज्ञा के लिए धिक्कारते हैं किन्तु रोहित अपनी युक्तियों से उनके क्रोध को शांत कर देता है, और अपने स्थान पर शुनःशेप को बलि के लिए भेंट करता है।

अब यज्ञ की तैयारी शुरू होती है। वह दृश्य एकदम बड़ा मर्मस्पर्शी और भयंकर है जब अन्य सभी के इन्कार कर देने पर शुनःशेप का पिता एक सौ गौओं के बदले अपने हाथ से अपने पुत्र का वध करने को उद्यत हो जाता है। यहाँ परिस्थिति की तीव्रता चरमोत्कर्ष पर पहुँच जाती है। परन्तु यह प्रसंग की तीव्रता शीघ्र ही शिथिल पड़ जाती है, जब विश्वामित्र सुव्रता के साथ वहाँ पहुँच जाते हैं और इस रहस्य का उद्घाटन करते हैं कि शुनःशेप वास्तव में अजीगर्त का पुत्र नहीं, वरन् उनका अपना पुत्र है।

इस नाटक में, जो कि प्रसाद जी की आरम्भकालीन नाटकीय रचनाओं में से है, नाटककार गम्भीर मानसिक संघर्ष प्रस्तुत करने में सफल नहीं हो सका। कथानक में कई ऐसे क्षण आते हैं जहाँ नाटककार अपने पात्रों के मन में संघर्ष का चित्रण बड़ी सूक्ष्मता एवं सुन्दरता के साथ कर सकता था। उदाहरण के लिए वह राजा हरिश्चन्द्र के अन्तर्द्वन्द्व का बड़ा सुन्दर चित्रण कर सकता था जब एक ओर राजा को अपनी प्रतिज्ञा पूरी करने का ख्याल है, और दूसरी ओर पुत्र का मोह है। कर्तव्य और प्रेम के बीच यह संघर्ष बड़ा सशक्त हो सकता था, परन्तु नाटककार इसे वैसा नहीं बना सका। इसी प्रकार नाटककार ने अजीगर्त के मन में भी किसी संघर्ष का चित्रण नहीं किया, जब वह पुत्र को बेचना स्वीकार करता है, और तदनन्तर जब वह अपने हाथ से उसका वध करने को प्रस्तुत हो जाता है। शुनःशेप के जन्म-सम्बन्धी रहस्य का उद्घाटन करने से तो अन्तर्द्वन्द्व की भावना और भी क्षीण हो जाती है। फिर भी नाटक में कवित्व का अभाव नहीं है। कुछ अवसरों पर संभाषणों में बड़ी भावुकता आ गई है। उदाहरण के लिए क्षुधा-पीड़ित अजीगर्त की उक्तियों में बड़ी मार्मिकता है। रोहित की भावनाओं में भी शक्ति तथा कोमलता का सुन्दर समन्वय है।

अगला गीति-नाटक मैथिलीशरण गुप्त का 'अनघ' (१९२५) है। इसमें प्रधान पात्र मघ है जो कि भगवान् बुद्ध का एक साधनावतार है। वह सद्गुणों का भण्डार है और सदा लोकहित के कार्यों में लगा रहता है। उसका चरित्र सेवा तथा बलिदान की भावनाओं का प्रतीक है, जैसा कि उसने स्वयं एक जगह कहा है—

जहाँ कुछ भी समाज का हित हो,
वहीं यह मेरा तनु अर्पित हो।　　(पृष्ठ २४)

मघ अछूतोद्धार का समर्थन करता है और इसी कारण कुलीन लोगों के क्रोध का भाजन बनता है। किन्तु वह सर्वथा अहिंसावादी है अत: सभी कष्ट शांति से सहन कर लेता है। अन्त में उसकी निर्दोषता तथा महानता को सब मान लेते हैं, और उसके चरित्र का उत्कर्ष सब पर प्रकट हो जाता है।

मघ के चरित्र के विविध गुणों, उसकी सेवा और बलिदान की भावना तथा अछूतोद्धार के लिए उसके जोश आदि से यह स्पष्ट है कि मघ के चरित्र-चित्रण में लेखक के मन पर गांधी जी के व्यक्तित्व का विशेष प्रभाव पड़ा है, और मघ का सारा चरित्र ही गांधी जी के आदर्शों के अनुसार ढाला गया है।

इस नाटक में गीति-तत्त्व बड़ा क्षीण है। पात्रों के मनोवैज्ञानिक विश्लेषण के दर्शन भी इसमें नहीं होते, यहाँ तक कि सुरभी के चरित्र में भी अन्तर्द्वन्द्व का अभाव है। पद्य के प्रयोग के अतिरिक्त लेखक ने कुछ स्थलों पर गीतों की योजना भी की है, जैसे—

सुरभी—प्रेम करता है तो कर त्याग,
नहीं तो है वह कोरा राग।
प्रकट कर चित्त, न अपनी चाह,
भरम खो दे न मरम की आह।
सिंधु सम सह तू अन्तर्दाह,
और रह धीर गँभीर अथाह।
बुझे तुझ में ही तेरी आग,
प्रेम करता है तो कर त्याग। इत्यादि (पृष्ठ ९१)

हरिकृष्ण प्रेमी के 'स्वर्ण-विहान' में भी सामयिक राष्ट्रीय आन्दोलन का प्रभाव दृष्टिगोचर है। इसमें अहिंसा के सिद्धान्त का प्रतिपादन है और अन्त में हिंसा के ऊपर अहिंसा की विजय का वर्णन है। नाटककार ने देश की राष्ट्रीय जागृति का वर्णन किया है जिससे प्रभावित होकर देश का युवक-समुदाय उत्तेजना एवं आवेश में हिंसात्मक कार्यों का आश्रय लेना चाहता है; परन्तु नाटककार इन शब्दों में उसे अहिंसा का उपदेश देता है—

नहीं नहीं ऐ पगले यौवन,
जीत प्रेम से पापाचार।
अरे पाप से पाप मिटाना
महा भूल है, व्यर्थ विचार।
... ...
... ...

कहीं आग से आग बुझाना
है संभव, ऐ युवक विचार।
सत्य धर्म जिस ओर रहेंगे,
उसी ओर होंगे करतार।

इन शब्दों में गांधी जी के सत्य, प्रेम तथा अहिंसा के उपदेश की गूंज है। यद्यपि इस नाटक में लेखक ने अपनी कवित्व-शक्ति का, सुन्दर शब्दचित्र प्रस्तुत करने की योग्यता का, तथा कोमल भावनाओं को व्यक्त करने की कुशलता का यथेष्ट परिचय दिया है, फिर भी इस गीति-नाटक में नाटकीय तत्त्व विशेष सबल नहीं है। परिस्थिति की सघनता तथा प्रमुख पात्रों के गम्भीर मनोवैज्ञानिक विश्लेषण का इसमें अभाव है। तथापि 'अनघ' की अपेक्षा 'स्वर्ण-विहान' गीति-नाटक के रूप में अधिक सफल है।

परन्तु इस काल के प्रमुख गीति-नाटककार वास्तव में उदयशंकर भट्ट तथा सेठ गोविन्ददास हैं। भट्ट जी ने तीन सुन्दर गीति-नाटकों—'मत्स्यगंधा', 'विश्वामित्र' तथा 'राधा'—की रचना की है। 'मत्स्यगंधा' में प्रधान चरित्र धीवर-कन्या मत्स्यगंधा का है जो कि राजा शान्तनु के साथ विवाह होने के पश्चात् सत्यवती नाम से विख्यात हुई। यौवन के उस मादक स्पर्श से वह युवती चंचल और अधीर हो उठती है, जो स्पर्श उसके हृदय में तरंग तथा अंगों में रोमांच भर देता है। सुन्दर प्रकृति के मनोहर विलास को देखकर उसकी यौवन-सुलभ भावनाएँ मचलने लगती हैं, परन्तु शीघ्र ही उसे अपनी अवस्था का ध्यान हो आता है कि वह प्रकृति के समान स्वतन्त्र तथा स्वच्छंद नहीं है—

दुःखहीन, लक्ष्यहीन, स्वरहीन, लय-हीन
एक ही प्रमत्त मति, एक ही प्रमत्त गति। (पहला दृश्य)
ऐसे ही तो मैं भी बही जा रही हूँ, किंतु मैं तो
नाविका हूँ, केवट की बेटी, काम जिसका है
पार पहुँचाना। नहीं लहर सी मुक्त हूँ मैं, इत्यादि।

उसी समय उसे अनंग (कामदेव) के दर्शन होते हैं। अनंग को देखकर वह लड़की कह उठती है—

कैसे तुम सुन्दर, ज्यों मिश्रण हो शैशव का,
यौवन का, तारिका का, विधु का, विलास सब। इत्यादि।

अनंग उसे अपना परिचय देता है और उसे चिरयौवन का वरदान देना चाहता है, परन्तु वह युवती अपने को हीन तथा उस उच्च वर के अयोग्य समझती है। किन्तु जब अनंग अन्तर्धान हो जाता है, तो उसके वक्ष में बरबस

दबाये हुए यौवन-सहज भाव फिर प्रबल हो उठते हैं, और मत्स्यगंधा अपनी मानसिक दशा में विशेष परिवर्तन को अनुभव करती है—

घूमता सा देखती अलात चक्र ऐसा चित्त,
रह रह काँपती हैं रोमराजियाँ निखिल । (प्रथम दृश्य)

मत्स्यगंधा के मन में भावों का बवण्डर मच रहा है, जो उसके विवेक की शक्ति को नष्टप्राय कर रहा है। इसी समय दूसरे दृश्य में बूढ़े ऋषि पराशर उसके पास खड़े उससे अपनी नौका द्वारा पार ले जाने की प्रार्थना करते दिखाई देते हैं। युवती को एक साथ अपने चंचल, भावुक मन तथा नदी में उठते हुए तूफ़ान का भय है और उसके इन शब्दों में दोनों की ओर संकेत है—"जीर्ण नाव, शीर्ण बल, अनिल प्रबल।"

जब मत्स्यगंधा तथा पराशर मंझधार में पहुँचते हैं तो बूढ़े ऋषि का जवान मन सहसा वासनाभिभूत हो उठता है। वे मत्स्यगंधा से अपनी वासना-तृप्ति के लिए याचना करते हैं। इस पर धीवर-कन्या यह उत्तर देती है—

यह तो अनय प्रभो, कैसे मान लूँ मैं यह,
हीन जाति तो भी है, समाज का अनन्त भय।
कैसे यह आप ही बताइये, बताइये न ?

धीवर-कन्या की युक्ति में कितनी विवशता है। वह पराशर के विषयभोग के निमंत्रण को स्वीकार करने में इसलिए संकोच करती है कि उसे समाज का भय है, इसलिए नहीं कि उसका अपना मन उस कर्म को पाप समझता है। इसका अभिप्राय यह है कि स्त्री जिस कर्म से बचती है उसका कारण सर्वदा उस कर्म के प्रति उसकी अपनी घृणा या विरोध नहीं होता, बल्कि उसके इन्कार का बड़ा कारण समाज की निन्दा का भय है।

परन्तु पराशर मत्स्यगंधा की युक्ति को नहीं मानते। वासनाभिभूत होकर वह उसे समझाते हैं कि संसार में कुछ भी धर्म नहीं है, कोई भी कर्म भला या बुरा नहीं है। केवल अपना दृष्टिकोण ही भिन्न-भिन्न कर्मों को भला और बुरा देखता है। समाज की दृष्टि में आज जो धर्म है, वही परिस्थिति के परिवर्तन के कारण कल पाप बन जाता है।

मत्स्यगंधा भली भांति जानती है कि स्त्री का हृदय तुरन्त ही वासना से अभिभूत हो जाता है, किन्तु वह साथ ही समाज में नारी की कोमल स्थिति से भी परिचित है—

नारी के स्वरूप, सुख, शोभा में छिपे हैं देव
संख्याहीन अभिशाप, संख्याहीन यातना ।

वासना का वेग बहता है अति भीम वहाँ
कृच्छ्रदमनीय । वह प्रलोभन - पुंज और
आकर्षण । नारी एक श्वेततम पट सम
जिस पै तनिक बिन्दु-पात भी कलंक है ।　(तृतीय दृश्य)

परन्तु जब पराशर मत्स्यगंधा का ध्यान प्रकृति के स्वच्छन्दाचरण की ओर दिलाते हैं कि वही नदियां जो सदा सीमाबद्ध रहती हैं, पावस में वही अपनी सीमाओं को तोड़ डालती हैं, तो युवती मत्स्यगंधा की यौवन-सुलभ लालसा समाज के भय को त्याग कर उनकी बात मान लेती है । परन्तु इससे पूर्व कि वह आत्मसमर्पण करे, वह पराशर से चिर-यौवन तथा कन्यकात्व का वरदान मांग लेती है । ऋषि उसे समझाते हैं कि जैसे प्यारी वस्तु भी सदा प्रिय नहीं लगती इसी प्रकार चिर-यौवन भी सुन्दर और प्रिय नहीं लगेगा । परन्तु जब मत्स्यगंधा अपने हठ को नहीं छोड़ती, तो तुरन्त वह उसका आग्रह मानकर 'एवमस्तु' कह देते हैं । इस पर युवती भी 'एवमस्तु प्रियतम' कहकर उन्हें तत्क्षण आत्मसमर्पण कर देती है । यह दृश्य बड़ा ही महत्त्वपूर्ण तथा नाटकीय प्रभाव से युक्त है । मत्स्यगंधा के मन में धीरे-धीरे उठती हुई हलचल एकदम अपने चरमोत्कर्ष पर पहुँच जाती है, और मानों इसी के फलस्वरूप चारों ओर अंधकार छा जाता है । इस (मानसिक एवं प्राकृतिक) अंधकार के बीच ये आवाजें उठती हैं—

(पहली आवाज)—नाथ, वह कन्यकात्व ?
(दूसरी आवाज)—वह भी कलंकहीन ।
(पहली आवाज)—माननीय होगा क्या ?
... ...
... ...
(पहली आवाज)—नाथ, वही इष्ट मुझे ।
(दूसरी आवाज)—एवमस्तु, एवमस्तु—
(पहली आवाज)—एवमस्तु प्रियतम ।　(तृतीय दृश्य)

इन शब्दों में आत्मसमर्पण से पूर्व मत्स्यगंधा के मन में उठते हुए विचारों और भावों की गूंज है ।

चौथे दृश्य में मत्स्यगंधा पराशर के साथ विलास के अनन्तर हमारे सामने आती है, और अपनी मानसिक दशा के विचित्र परिवर्तन का वर्णन करती है—

क्या हुआ हा, कैसा यह, याद पड़ता न कुछ
रोम रोम बहा नवचेतन अनन्त आज,

और लगता है जैसे विश्व अभिनव ने ही
मद का उदधि भर डाला मानो देह में। (चतुर्थ दृश्य)

पाँचवें दृश्य में हम मत्स्यगंधा को राजा शान्तनु की रानी सत्यवती के रूप में देखते हैं। छटे दृश्य में वह विधवा हो चुकी है, और अब उसका चिर-यौवन उसे कष्टप्रद तथा असह्य हो उठता है। अब अनंग फिर उसके सम्मुख आता है, कटे पर नमक छिड़कने के लिए तथा उसे अपनी भूल याद कराने के लिए। अब सत्यवती अनंग से चिर-यौवन का वरदान वापिस लेने के लिए प्रार्थना करती है, परन्तु अनंग यह व्यंग्यभरा उत्तर देकर चला जाता है—

पियो कण्ठ तक पियो ओंठ तक ढाल ढाल,
यौवन महान है, अलभ्य है जगत में।

इस पर सत्यवती निराशा, शोक और दुःख में इतना कहकर आत्म-वेदना से मूर्च्छित हो जाती है—

डूबो नभ, डूबो रवि, डूबो शशि, तारिकाओ,
डूबो धरे, वेदना में मेरी ही युगांत की।

और नाटक का अन्त हो जाता है।

'मत्स्यगंधा' एक सुन्दर गीति-नाटक है, जिसमें कुशल नाटककार ने सुन्दर ढंग से नारी के हृदय में होने वाले संघर्ष का चित्रण किया है। एक ओर उसके मन में चिर-यौवन और स्वच्छन्दाचरण की लालसा है, और दूसरी ओर प्रकृति तथा समाज की शक्तियाँ उसे बन्धन में बाँधने का प्रयत्न करती हैं। अन्त में नारी की लालसा प्रकृति की शक्ति के आगे हार मान लेती है।

उदयशंकर भट्ट के 'विश्वामित्र' (१९३८) में विश्वामित्र अभिमान तथा बल आदि पुरुषोचित भावों का प्रतिनिधि है; मेनका प्रेम, कोमलता तथा नम्रता आदि नारी-गुणों की प्रतीक है, और शाश्वत काल से पुरुष तथा नारी में जो संघर्ष चलता है, वही इस गीति-नाटक का विषय है।

विश्वामित्र, जो कि अभिमान की मूर्त्ति है, विश्व पर अधिकार करने की भावना से समाधि लगाता है। संयोगवश मेनका तथा उर्वशी भी वहाँ पहुँच जाती हैं। विश्वामित्र की समाधि के उद्देश्य को जानकर उर्वशी के हृदय में पुरुष की दूसरों पर शासन करने की भावना का ध्यान करके कटुता भर आती है। प्रतिस्पर्धा और रोष के भाव से वह कहती है—

जब नारी नर दोनों ही से सृष्टि है,
एक बड़ा छोटा हो क्योंकर दूसरा। इत्यादि।

मेनका इस उत्तर से उर्वशी को शान्त करने का यत्न करती है—

यद्यपि हम में नहीं भुजा का बुद्धि का
बल, तो भी तो एक हृदय-बल पास है।
यदि चाहूँ तो अभी तपस्वी को उठा,
नाच नचाऊँ जड़ पुतली कर काम की।

उर्वशी, जिसके हृदय में नारी जाति की हीनता तथा पराजय-भावना का अधिकार है, मेनका की इस गर्वोक्ति पर विश्वास नहीं करती। परन्तु मेनका भली भाँति पुरुष तथा स्त्री दोनों की विशेषताओं, बल तथा दुर्बलताओं को जानती है। जहाँ उर्वशी स्त्री-जाति की दुर्बलता और दासतापूर्ण स्थिति पर खेद प्रकट करती है, वहाँ मेनका स्त्री-जाति के बल तथा गौरव की प्रशंसा करती है—

उर्वशी—नारी प्राण-विहीन चेतना से रहित,
एक भावना-पुंज पराई आस है।
जो साधन है जग में मानव-सौख्य की,
सुख-हीना है स्वयं, अपर का सुख सदा।
वह विलास स्वच्छन्द पुरुष के प्राण की,
मदिरा जिसको स्वयं नशा होता नहीं।　　इत्यादि
मेनका—वह सत्ता है, कोमल जग के तत्त्व की,
और कल्पना सहज विधाता हृदय की,
मानव के नैराश्य-पुंज में रूप की,
ज्योति-शिखा है नारी-नर की चाहना।
यदि इस जग में न रहे बुद्धि-विवेक तो,
नारी कोमल हृदय-तन्तु की स्फूरणा।

उर्वशी को नारी की वास्तविक शक्ति का प्रमाण देने के विचार से मेनका अभिमानी विश्वामित्र को पराजित करने का निश्चय करती है। उसकी इच्छा-मात्र से वसन्त और कामदेव का आविर्भाव होता है। समस्त प्रकृति यौवन-मद में झूमने लगती है। विश्वामित्र की समाधि टूटती है और उसकी आँखों में क्रमशः विस्मय, क्रोध, जड़ीभूत चेतना और अन्त में प्रेम की मादकता के भाव झलकते हैं। जब वह मेनका को देखता है तो उसका संयम एकदम टूट जाता है। नारी के दर्शन से विश्वामित्र के हृदय में कोमलता का संचार होता है और वह कठिन तपस्या के जीवन को नीरस तथा विषयों से विमुख होने के विचार को मूर्खता समझने लगता है। वह मेनका से अनुनय-विनय करता है, परन्तु

जब मेनका उसकी प्रार्थना की अवहेलना करती है तो विश्वामित्र आत्महत्या करने को उद्यत हो जाता है। इस पर मेनका तुरन्त लौटकर उसे रोकती है, और पुरुष पर विजय-प्राप्ति के अपने लक्ष्य में सफल हो जाने के कारण अब विश्वामित्र को आत्मसमर्पण कर देती है।

इस नाटक में लेखक ने मानवी भावनाओं तथा चेतनाओं के चित्रण की ओर विशेष ध्यान दिया है, अतः गीति-तत्त्व की इस नाटक में प्रचुरता है। फिर भी पात्रों का मनोवैज्ञानिक चित्रण बहुत दुर्बल है। किसी भी पात्र के मन में नाटककार ने अन्तर्द्वन्द्व को भली भाँति चित्रित नहीं किया। कई अवसरों पर तो अन्तर्द्वन्द्व का चित्रण करने के बड़े उपयुक्त अवसर भी नाटककार को प्राप्त थे। उदाहरण के लिए जब मेनका विश्वामित्र जैसे कठोर तपस्वी के सामने सहसा प्रकट होती है, उस समय लेखक बड़ी सूक्ष्मता के साथ विश्वामित्र के मानसिक संघर्ष का वर्णन कर सकता था। किन्तु नाटककार ने इस अवसर पर विश्वामित्र के मन में कोई संघर्ष उत्पन्न किये बिना उसे एकदम मेनका के रूप और आकर्षण से अभिभूत कर दिया है। उसे अपने अभिमान तथा तपस्वि-सुलभ प्रतिष्ठा का विचार तक नहीं आने पाया।

इन गीति-नाटकों में हमें भट्ट जी का कवि-रूप ही अधिक मिलता है, और इन नाटकों में कवित्वगुण की तथा रंगीन कल्पना-चित्रों की प्रचुरता है। गीति-कवि के रूप में भट्ट जी के लम्बे अनुभव तथा योग्यता के कारण उनको इन गीति-नाटकों में विशेष सफलता मिली है, क्योंकि यहाँ भावना की आवश्य-कता अधिक होती है और कार्य-व्यापार की कम। यहाँ कवि की कल्पना तथा भावना मुक्त रूप से अपना चमत्कार दिखा सकी है, जिनसे गीति-नाटक के सौंदर्य की वृद्धि होती है।

सेठ गोविन्ददास का 'स्नेह या स्वर्ग' (१९४६) भी एक उत्कृष्ट गीति-नाटक है। नाटक का मूल विषय होमर की इलियड (Iliad) से लिया गया[1] है, परन्तु प्रतिभाशाली नाटककार ने उसमें पूर्णतया भारतीय रंग भर दिया है। नाटक का विषय प्रेम तथा उसके प्रति नारी-हृदय की प्रतिक्रियाओं की शाश्वत समस्या को लेकर चला है। दो युवक एक युवती पर अनुरक्त हैं, और नाटक में उस युवती के आन्तरिक संघर्ष का सुन्दर चित्रण है तथा जो प्रतिक्रियाएँ उसके मन में दोनों प्रेमियों के अनुनय-विनय के फलस्वरूप होती हैं, उनका वर्णन है।

नाटक के कथानक में रोचकता तथा सौंदर्य की वृद्धि करने के लिए दोनों में से एक प्रेमी को इस मर्त्य जगत् का साधारण व्यक्ति तथा दूसरे को दिव्य

१. देखिए नाटक की भूमिका।

बनाया गया है। नाटक का नायक अजेय एक मर्त्य युवक है जिसे मानवी युवती स्नेहलता के प्रति अगाध अनुराग है। दोनों में बचपन से ही प्रगाढ़ मित्रता रही है, और अब यौवन आने पर उस मित्रता ने प्रेम का रूप धारण कर लिया है। स्नेहलता के अद्भुत सौंदर्य के कारण देवराज इन्द्र का पुत्र जयन्त उस पर मुग्ध हो जाता है और स्नेहलता के पिता से उसके साथ विवाह का प्रस्ताव करता है। अब स्नेहलता को दोनों में से—अजेय तथा जयन्त में से—एक को चुनना है। उनमें से एक साधारण मानव है, और दूसरा देवता है, जिसके साथ विवाह करके उसे स्वयं भी अनायास अमरत्व तथा स्वर्ग का राज्य प्राप्त हो जायगा। अब स्नेहलता विचित्र उलझन में पड़ जाती है। उसका पिता, जिसके मन में धन तथा दिव्य वैभव के प्रति विशेष मोह है, जयंत के पक्ष में है। किन्तु स्नेहलता को धीरे-धीरे इस बात का निश्चय हो जाता है कि जयन्त का प्रेम केवल स्वार्थ है, उसके रूप की भोग-लिप्सामात्र है, जब कि अजेय का प्रेम सच्चा एवं स्वार्थहीन है। इस निश्चय के साथ ही वह देवता की उपेक्षा करके मानव का वरण करती है और इस प्रकार यह सिद्ध कर देती है कि संसार में नारी स्वर्ग की अपेक्षा सच्चे स्नेह को अधिक महत्त्व देती है।

चरित्र-चित्रण में लेखक ने स्नेहलता को दृढ़ तथा स्वतन्त्र विचारों की युवती दिखाया है। जयन्त उसके पास अपनी बहन शुचिता को तथा अजेय अपने मित्र प्रभाकर को भेजता है। दोनों अपने-अपने पक्ष में युक्तियाँ प्रस्तुत करते हैं। परन्तु स्नेहलता अपने को इन दोनों के अनुनय-विनय तथा प्रलोभन आदि से प्रभावित नहीं होने देती। उसका दृढ़ निश्चय है कि वह अपने जीवन-साथी को पक्षपात के बिना केवल उसके व्यक्तिगत गुणों के आधार पर ही चुनेगी। शुचिता उसके समक्ष स्वर्ग के दिव्य वैभव तथा अमरत्व के गुण गान करती है। दूसरी ओर प्रभाकर भी अपने ढंग से उससे अनुरोध करता है किन्तु वह अपने मानसिक सन्तुलन तथा विवेक की शक्ति को बनाये रखती है। नाटककार ने शुचिता के विमान का तथा उसके उतरने आदि का बड़ा सुन्दर तथा विशद वर्णन किया है परन्तु रथ के दर्शन रंगमंच पर नहीं कराये जाते और उसे नेपथ्य में ही रखा जाता है, क्योंकि अभिनय के समय रंगमंच पर वायुयान का तथा उसकी गति का स्वाभाविकता के साथ दिखाना बड़ा कठिन होता।

दूसरी ओर जब प्रभाकर निराश लौटता है तो अजेय स्वयं स्नेहलता के पास जाने का निश्चय करता है। जाने में उसका उद्देश्य इस बात पर ज़ोर देना नहीं है कि स्नेहलता उसी को वरण करे ; वरन् वह केवल एक सच्चे मित्र तथा हितैषी के समान केवल स्नेहलता को जयन्त के भोग-लिप्सारूपी प्रेम से सावधान कर देना

चाहता है—

जयन्त है अनन्त और अनन्त उसकी
प्रेयसी भी हैं। स्नेह स्वर्ग का सदा रहता
पारावत-प्रेम-सा, सारस-सा, स्नेह नहीं
... ...
... ...
उसके उर में न प्रेम किंतु है लालसा।

जब जयन्त इस विवाह-संबंधी झगड़े का निर्णय करने के लिए अजेय को द्वन्द्व-युद्ध की चुनौती देता है, तो अजेय मर्त्य होते हुए भी देवता जयन्त के साथ युद्ध की चुनौती को सहर्ष स्वीकार कर लेता है। इस पर स्नेहलता इन शब्दों से अजेय को रोकने की चेष्टा करती है—

अजेय, अब तक न मैंने तुमको चुना
समर-समाप्ति पर चुन लूँगी यह भी
आश्वासन नहीं, अतः मृग-मरीचिका पै
शरीरों के जूए में दाव यह शरीरी का। इत्यादि।

इस विषय पर स्नेहलता तथा अजेय में तर्क-वितर्क होता है, परन्तु अजेय युद्ध से रुकने को तैयार नहीं। वह अपने प्रेम तथा त्याग-भावना का ब; प्रभावशाली ढंग से परिचय देते हुए कहता है—

बिना प्रत्यर्पण के अर्पण की महानता
प्रेम के पथ का पथिक ही जान सकता
....
....
फिर निज को अर्पण किया तुमने नहीं,
पर कर चुका मैं तो अर्पण अपने को;
मेरी ओर से बोली, बोली जा चुकी क्रय की।
बिना प्रत्यर्पण प्राण-अर्पण में तेज जो
प्रत्यर्पण पश्चात् कदाचित् हो नहीं सकता।

अजेय की इन बातों और व्यवहार से स्नेहलता को पूर्ण विश्वास हो जाता है कि अजेय का प्रेम सच्चा एवं स्वार्थहीन है। अतः वह मन में इस बात का दृढ़ निश्चय करके अजेय के पीछे युद्धभूमि में जाती है कि यदि अजेय द्वन्द्वयुद्ध में विजयी हुआ तो वह उसी के साथ विवाह करेगी और यदि वह युद्ध में मारा गया तो वह भी सती होकर उसके पीछे स्वर्ग में चली जायगी।

यद्यपि देवता तथा मानव के बीच द्वन्द्वयुद्ध न्यायपूर्ण तथा बराबर का नहीं, तथापि अजेय युद्ध में असीम साहस और वीरता का परिचय देता है। जब घमासान का युद्ध चल रहा है तो देवराज इन्द्र युद्धस्थल पर पहुंच जाते हैं और दोनों योद्धाओं को युद्ध रोकने का आदेश देते हैं। वह स्नेहलता को विवाह-संबंधी अंतिम निश्चय करने के लिए कुछ क्षणों का अवकाश देते हैं। अब स्नेहलता इस प्रश्न पर शान्तिपूर्वक विचार करने के लिए अपनी सखी चपला के साथ एकांत में चली जाती है और जयन्त तथा अजेय के गुणों की तुलना करती है—

······जहाँ स्वर्ण, रत्नों की
राशि राशि रेणु है, किन्तु नेह-नीर का
सागर नहीं गागर नहीं, बिन्दु भी नहीं।
स्वेच्छाचारी औ' अप्सरा-विहारी जयन्त में
आभा है अभिमान की, स्नेह स्नेह का नहीं।
मुख से, मुद्रा से, स्वर से, शब्दों से, सब से
सखि, बार बार ध्वनि एक ध्वनित होती
लालसा, लालसा, लालसा, लालसा, लालसा !
औ' इसके विपरीत विनम्रता कितनी,
त्याग कितना, तप कितना, प्रेम कितना,
इस अनूप, इस अभिराम, अजेय में।

यहाँ भी उसकी सखी चपला उसे जयन्त के पक्ष में निर्णय करने को कहती है परन्तु स्नेहलता उसकी युक्तियों से सहमत नहीं होती। अन्त में स्वतंत्रतापूर्वक विचार करके वह वरमाला अजेय के गले में डाल देती है और कहती है—

बालकाल का स्नेह यौवन में प्रेम बना।
स्नेह या स्वर्ग—बना जीवन-संघर्ष मेरा।
अन्त में हुआ है विजयी स्नेह, स्वर्ग हारा।
हृदय कहता मिलेगा स्वर्ग-सुख यहीं।

इस प्रकार सच्चा प्रेम दिव्य वैभव तथा अमरत्व पर विजय पाता है। नाटककार ने स्नेहलता के मन में निरंतर संघर्ष का बड़ा सुन्दर चित्रण किया है। बड़ी गंभीरता और सावधानी के साथ वह अजेय तथा जयन्त के गुणों की तुलना करती है, और बड़े तीव्र अन्तर्द्वन्द्व के पश्चात् सच्चे स्नेह के पक्ष में निर्णय कर पाती है। नाटककार ने इस नाटक में बाह्य संघर्ष का समावेश

भी अजेय तथा जयन्त के युद्ध का दृश्य उपस्थित करके किया है। परन्तु इस बाह्य संघर्ष का उद्देश्य केवल नायिका के मानसिक संघर्ष को और भी तीव्र तथा गहन बनाना है। नायिका के मन में सतत एवं सबल अन्तर्द्वन्द्व का चित्रण करने में यह नाटक ऊपर के सभी गीति-नाटकों से उत्कृष्ट है। नाटक के प्रमुख पात्रों, विशेषत: अजेय तथा स्नेहलता के संभाषणों में बड़ी भावुकता है। अनुप्रास आदि अलंकारों का प्रयोग करके नाटककार ने भाषा को भी विभूषित करने का प्रयास किया, जैसे—

शुभ्रांशु-शोभित शुभ्र शर्वरी पूर्णिमा की (प्रथम अंक, दूसरा दृश्य)
चम-चम, चमक-चमक चक्षुओं को ये (प्रथम अंक, तीसरा दृश्य)
घन घुमड़-घुमड़ घोर घोष करते (द्वितीय अंक, चौथा दृश्य)

भगवतीचरण वर्मा का 'तारा' भी एक सुन्दर गीति-नाटक है, जिसमें अन्तर्द्वन्द्व प्रचुर मात्रा में है। आरम्भ से अन्त तक नायिका के मन में दो परस्पर विरोधी भावनाओं के बीच संघर्ष चलता है। यह संघर्ष उसकी यौवन-सहज कामनाओं तथा नैतिक आदर्शों के बीच होता है। उसका चरित्र भावुक नारी के मन का सुन्दर विश्लेषण प्रस्तुत करता है, जहाँ एक भावना कुछ क्षणों तक अधिकार जमा कर दूसरी विरोधी भावना के आगे हार जाती है, और यह दूसरी भावना भी कुछ क्षण पश्चात् पुन: पहली भावना से अभिभूत हो जाती है। इस नाटक में बृहस्पति की पत्नी तारा को हम पति के आत्म-संयम के कारण खिन्न देखते हैं। उसका भावुक मन विषयों की तृप्ति के लिए उत्कंठित है, और उसे कुमार्ग पर घसीटने का यत्न करता है। परन्तु शीघ्र ही वह अपने मन के कुत्सित भावों को दबाने में प्रयत्नशील होकर उसमें कुछ सफल भी हो जाती है। बृहस्पति के उपदेश से भी उसकी वासना थोड़ी देर के लिए दब जाती है, किंतु बृहस्पति के शिष्य चन्द्रमा को देखते ही वासना का सागर पुन: उसके पक्ष में उमड़ पड़ता है, और एक बार फिर नैतिक सिद्धांतों तथा यौवन-सहज कामनाओं के बीच भारी संघर्ष होता है। उधर चन्द्रमा के मन में भी तारा के रूप-यौवन के लिए लालसा उत्पन्न हो जाती है, परन्तु वह भी उसे दबाने का यत्न करता है। तारा तथा चन्द्रमा के हृदय में संघर्ष चलता रहता है। कभी नैतिक भावनाओं का अधिकार हो जाता है और कभी वासना बलवती हो उठती है। अन्त में तारा चन्द्रमा को आत्म-समर्पण कर देती है।

यद्यपि 'तारा' में रंग-संकेतों का प्राय: अभाव है, तो भी इसमें अन्तर्द्वन्द्व तथा पात्रों (तारा तथा चन्द्रमा) के मनोविश्लेषण की प्रचुरता है। नाटककार ने बड़ी सुन्दरता से युवती की मानसिक दशा का चित्रण किया है, जिसमें कर्तव्य

तथा नैतिकता की भावना प्रबल है, और साथ में यौवन-सहज कामनाओं का भी आधिपत्य है।

जहाँ सुशिक्षित, सुरुचिसंपन्न तथा भावुक पाठकों एवं दर्शकों का इन गीति-नाटकों से विशेष मनोरंजन होना स्वाभाविक है, वहाँ साधारण दर्शकों तथा पाठकों में इनका विशेष प्रचार नहीं हो सकता। सामान्य लोगों का अधिक मनोरंजन ऐसे नाटकों द्वारा हो सकता है जो गद्य में हों तथा जिनमें कार्य तथा घटनाओं की अधिकता हो। इसके विपरीत गीति-नाटकों का माध्यम पद्य होता है और इनमें कार्य की मात्रा अधिक न होकर भावना की प्रधानता होती है। सामान्य दर्शकों में तो गद्य-नाटकों का भी विशेष प्रचार नहीं है, क्योंकि वे सिनेमा में अधिक रुचि रखते हैं। किन्तु फिर भी भावुक प्रकृति के शिक्षित तथा संस्कृत लोगों के लिए गीति-नाटकों का अपना विशेष महत्त्व तथा आकर्षण है। आशा है कि उदयशंकर भट्ट तथा सेठ गोविंददास जैसे प्रतिभाशाली और अनुभवी नाटककार कलात्मक गीति-नाटकों की रचना में अपनी कल्पना तथा कला का उपयोग करते रहेंगे, और अन्य नाटककार भी इस प्रकार के नाटकों की रचना की ओर ध्यान देंगे।

तेईसवां अध्याय

प्रतीकवादी नाटक

जयशंकर 'प्रसाद' के 'कामना' नाटक के पश्चात्, जिसका वर्णन हम सोलहवें अध्याय में कर चुके हैं, अगला प्रसिद्ध प्रतीकवादी नाटक सुमित्रानन्दन पन्त का 'ज्योत्स्ना' (१६३४) है। पन्त जी मूलरूप में कवि हैं और इस नाटक में भी वे नाटककार की अपेक्षा कविरूप में ही अधिक प्रकट हुए हैं। नाटक में कथा-वस्तु विशेष नहीं है। पहले अंक में हमें सन्ध्या तथा छाया के वार्तालाप से सूचना मिलती है कि राजा इन्दु पृथ्वी का शासन-भार अपनी पत्नी सम्राज्ञी ज्योत्स्ना को इस आशा से सौंपना चाहते हैं कि वह भूलोक में सुख और शांति का साम्राज्य स्थापित कर देगी। दूसरे अंक में राजा तथा रानी अपने राजसी वैभव के साथ उपस्थित होते हैं और सम्राट् इन्दु सम्राज्ञी ज्योत्स्ना को भूलोक का शासन-कार्य देकर वहाँ स्वर्ग का-सा वातावरण उपस्थित करने का आदेश देते हैं। तीसरे अंक में ज्योत्स्ना पवन तथा सुरभी के संग में मर्त्यलोक में उतरती है। वह पवन से मृत्युलोक की वास्तविक दशा के विषय में पूछती है, और पवन बड़े प्रभावोत्पादक ढंग से मर्त्यलोक की सच्ची दशा का चित्रोपम वर्णन करता है—

पवन—...एक ओर धर्मान्धता, अंधविश्वास और जीर्ण रूढ़ियों से संग्राम चल रहा है। दूसरी ओर वैभव और शक्ति का मोह मनुष्य की छाती को लोह-शृङ्खला की तरह जकड़े हुए है। बुद्धि का अहंकार, प्रखर त्रिशूल की तरह बढ़कर मनुष्य के देवत्व-प्रिय स्वभाव एवं आदर्श-प्रिय हृदय को स्वार्थ की नोक से छेद रहा है।......विकासवाद के दुष्परिणाम से, भौतिक ऐश्वर्य पर मुग्ध एवं इन्द्रिय-सुख से लुब्ध मनुष्य-जाति, समस्त वेग से जड़वाद के गर्त की ओर अग्रसर हो रही है।

इत्यादि, इत्यादि।

उसी समय झींगुर भयानक वेश में प्रवेश करता है। वह मर्त्यलोक में 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' के सिद्धांत के प्रचलन की सूचना देता है—

जो है समर्थ, जो शक्तिमान,
जीने का है अधिकार उसे
उसकी लाठी का बैल विश्व,
पूजता सभ्य संसार उसे। इत्यादि

यह सुनकर ज्योत्स्ना अपने कार्य में विलम्ब करना उचित नहीं समझती। वह पवन तथा सुरभी को क्रमशः स्वप्न तथा कल्पना का रूप देकर उन्हें आज्ञा देती है कि वे कला, काव्य तथा संगीत के द्वारा मानव के सम्मुख मानवता के उच्च आदर्शों को स्थापित करें, तथा उसे जड़ से चेतन की ओर, स्थूल से सूक्ष्म की ओर अग्रसर होने के लिए प्रेरित करें। स्वप्न तथा कल्पना उसकी आज्ञा को शिरोधार्य करते हैं, और सोती हुई मानव जाति के मन में प्रवेश करके लोगों में सत्य, दया, त्याग, प्रेम तथा भक्ति आदि सत्प्रवृत्तियों को जागृत करते हैं। फलस्वरूप मर्त्यलोक में प्रेम तथा भ्रातृभाव के एक नये युग का सूत्रपात होता है, और इस प्रकार भूलोक में अपना कार्य समाप्त करके ज्योत्स्ना स्वर्ग को लौट जाती है। चौथे अंक में हम देखते हैं कि सत्प्रवृत्तियों का प्रसार तथा प्रभाव बढ़ जाने से मानव की क्षुद्र तथा असत् प्रवृत्तियाँ धीरे-धीरे अंधकार में लुप्त हो जाती हैं। उषा के आगमन की सूचना मिलती है। पाँचवें अंक में मानव लोक ज्योति और प्रकाश से परिपूर्ण दिखाई देता है। उषा के आगमन से मर्त्यलोक में स्वर्गीय आनन्द और उल्लास की अवतारणा होती है और भूलोक का प्रत्येक प्राणी आनन्द के गीत गाने लगता है।

वस्तु-संगठन तथा चरित्र-चित्रण की दृष्टि से इस प्रतीकवादी नाटक का कोई महत्त्व नहीं है। कथानक में कोई विशेष कार्य नहीं है, न ही चरित्र-चित्रण के लिए अवकाश है। यद्यपि कतिपय पात्रों (इन्दु, ज्योत्स्ना, पवन आदि) की रूप-रेखाएँ बहुत स्पष्ट हैं, तथापि उनका कोई मांसल व्यक्तित्व नहीं है। इस नाटक का सब से अधिक महत्त्व इसके रंगीन दृश्यों, मधुर गीतों तथा दार्शनिक उद्देश्य में है। पन्त जी को अपने रंगीन तथा मनोहर दृश्य-विधान में अद्भुत सफलता मिली है। प्रकृति के सूक्ष्म निरीक्षण तथा अनूठी कल्पना-शक्ति ने उनको अमूर्त्त वस्तुओं के बड़े सुन्दर तथा सजीव मूर्त्त रूप अंकित करने में समर्थ बना दिया है। निम्नलिखित शब्दों में पन्त जी ने ज्योत्स्ना का मूर्त्त चित्र अंकित किया है—

> **"ज्योत्स्ना अनिंद्य सुन्दरी; आलोक-बिम्ब आनन; उषा-स्मित कपोल; विशाल-नील-नभ नयन; प्रलंब पक्ष्मल आँखें; विद्युत् रेखाओं-सी भृकुटि; प्रवाल-ज्वाल अधर; मुक्तातप दशन; लंबी सौन्दर्य-शिखाओं-सी उंगलियाँ; आलोक-रोओं की आधी बाँह कंचुकी; कदम्ब-गेंद से उठे हुए उरोज; सलमेसितारे की हल्की नीहारिका-सी साड़ी—"** इत्यादि, इत्यादि।

अन्य अमूर्त्त तथा वायवी पात्रों के मांसल चित्र अंकित करने में भी पन्त जी ने यथेष्ट कुशलता एवं सूक्ष्म निरीक्षण का परिचय दिया है। इसके अतिरिक्त

उन्होंने भिन्न-भिन्न अवसरों पर कई प्रकार की गीतों की योजना भी की है, जिनको भिन्न-भिन्न प्राकृतिक पात्रों के मुख में डाला गया है। यदि एक स्थान पर छाया का अलसाया हुआ गीत है, तो दूसरी जगह पवन की मर्मर ध्वनि है तथा अन्यत्र जुगुनुओं का जगमग गीत है। इन गीतों से पन्त जी की कोमल भावनाओं का, उनकी कल्पना की उड़ान का, शब्द-शक्ति की विचित्रता का, तथा भाषा और भाव-व्यंजना की शक्ति का यथेष्ट परिचय मिलता है।

जैसा कि हमने ऊपर कहा है, नाटक के पीछे कवि का दार्शनिक उद्देश्य है। वास्तव में मानव जीवन को महान् बनाने तथा उसमें स्वर्ग का-सा आनन्द भरने तथा उसे अनेक वर्तमान दोषों से मुक्त करने के अभिप्राय से ही पन्त जी ने इस नाटक की रचना की है। इस कथन का समर्थन भी नाटक के कई पात्रों के संभाषणों से हो जाता है। देखिए, संध्या पन्त जी के स्वप्न का परिचय इन शब्दों में देती है—

संध्या—हाँ, आदर्श-साम्राज्य ! वह मनुष्य के हृदय में नवीन कल्पना, नवीन उच्छ्वास, उसकी पलकों में नवीन सौंदर्य, नवीन सपनों की सृष्टि करेगी। पशुवृत्तियों से मनुष्य को ऊपर उठाकर उसके स्वभाव को मार्जित बनायेगी। चारों ओर स्नेह, सुख, सौंदर्य, संगीत का सागर उमड़ पड़ेगा। एक शब्द में, संसार में स्वर्ग उतर आयेगा। (पृष्ठ १५)

इसी प्रकार ज्योत्स्ना के इन शब्दों में पन्त जी ने एकता तथा विश्व-संस्कृति पर ज़ोर दिया है—

ज्योत्स्ना—"'ये अभ्रभेदी पर्वत और दुस्तर समुद्र भी इसकी (पृथ्वी की) एकता को नष्ट नहीं कर सकते। जिस प्रकार यह बाहर से एक है, इसी प्रकार भीतर से भी इसे एक आत्मा, एक मन, एक वाणी और एक विराट् संस्कृति की आवश्यकता है। यह समस्त विश्व-चक्र एक ही अखंड सत्ता है, एक ही विराट् शक्ति के नियमों से संचालित है। मानव-जाति अपने ही भेदों के भुलावे में खो गई है। उसे इस अनेकता के भ्रम को आत्मा की एकता के पाश में बाँधकर, समस्त विभिन्नता को एक विश्वजनीन स्वरूप देकर नियंत्रित करना होगा।

इत्यादि। (पृष्ठ ४३-४४)

भगवतीप्रसाद वाजपेयी का 'छलना' (१९३९) भी एक सफल और सुन्दर प्रतीकवादी नाटक है। इस नाटक में और प्रसाद के 'कामना' तथा पन्त के 'ज्योत्स्ना' में एक विशेष अन्तर है। जहाँ 'कामना' की पृष्ठ-भूमि में फूलों का द्वीप है, और 'ज्योत्स्ना' में इन्दुलोक की छटा है, वहाँ 'छलना' में हमें अपने

सामयिक समाज के तथा उसके संघर्ष और समस्याओं के दर्शन होते हैं। इस नाटक के पात्र हमारे मानव समाज के साधारण व्यक्ति हैं, जिनमें कालिज का विद्यार्थी, प्रोफ़ेसर तथा सिनेमा के अभिनेता आदि शामिल हैं।

प्रतीकवादी नाटक होते हुए भी 'छलना' को एक समस्या-नाटक कहा जा सकता है। इसमें नारी की चिरन्तन समस्या का विवेचन किया गया है। इसके तीन स्त्री-पात्रों में कल्पना उस स्त्री-वर्ग की प्रतिनिधि है जो चंचल, असन्तुष्ट तथा विलास की ओर आकर्षण रखने वाली है। निस्संदेह उसे बलराज के प्रति (जो पुरुष के गंभीर, स्वाभिमानी और आत्म-संयत रूप का प्रतीक है) गहरी श्रद्धा है, और उसके चरित्र की महानता के लिए विशेष आदर है। तथापि वह बलराज के संतुष्ट एवं संयमशील स्वभाव से खिन्न है। कल्पना और बलराज के विचारों में आकाश-पाताल का अन्तर है। बलराज सभी अवस्थाओं में संतुष्ट रहना जानता और मानता है किन्तु कल्पना अभावों के कारण सदा असंतुष्ट तथा खिन्न रहती है। विलास पुरुष के चरित्र के दूसरे पार्श्व का चित्र है। वह बाहरी आकर्षण में विश्वास रखने वाला, दूसरों को अपने धन तथा फ़ैशन से लुभाने तथा वश में करने वाला है। उसके बाहरी रूप-रंग और चिकनी-चुपड़ी बातों से कल्पना थोड़ी देर के लिए उसकी ओर आकृष्ट होती है। परन्तु कल्पना को पूर्णतया अपने वश में करने की शक्ति और गुण विलास में नहीं। जब कल्पना विलास के अन्तःकरण में निहित भावों को समझ पाती है, तो वह विलास से बचने की कोशिश करती है। कल्पना के हृदय में आरम्भ से अन्त तक विलास के प्रति मोह बना रहता है, परन्तु उसके आकर्षण तथा प्रलोभन में वह कभी अंधी नहीं होती, और विलास के अनेक उपाय करने पर भी अपने को गिरने नहीं देती।

इस प्रकार कल्पना दो पुरुष-शक्तियों के बीच भटकती है। उनमें से एक में आन्तरिक शक्ति और चरित्र-बल है, दूसरे में बाह्य आकर्षण और रंगीनी है। यही उसके जीवन की छलना है। लेखक का अभिप्राय यह है कि यदि नारी प्रकृत पुरुषत्व से असंतुष्ट होकर आकर्षक किंतु कृत्रिम पुरुषत्व की ओर आकृष्ट होगी, तो उसका अन्त अवश्य दुःखमय होगा।

कामना आधुनिक शिक्षित नारी के उस स्वरूप का चित्र है जो चंचल है तथा बाहरी बनावट और फ़ैशन को अधिक महत्त्व देती है। उसके तथा विलास के स्वभाव में बड़ी समानता है, अतएव उन दोनों में परस्पर मैत्री है, और कुछ देर तक कामना विलास के चंगुल में फँस भी जाती है। परन्तु कामना बलराज के व्यक्तित्व से भी प्रभावित हुए बिना नहीं रहती। वह उसके सामने अभिनेत्री

निद्रा के रूप में प्रकट होती है, और उसे मोहित करने की चेष्टा करती है। परन्तु बलराज उसकी ओर थोड़ा झुकने पर भी अपने-आपको उससे सर्वथा असंपृक्त रखता है। यहाँ नाटककार का यह अभिप्राय है कि चंचल तथा कृत्रिमता की उपासना करने वाली स्त्री चरित्र तथा बल के पुरुष को तनिक आकर्षित भले ही कर ले, किन्तु वह उस पर प्रभुत्व जमाने में कभी सफल नहीं हो सकती।

तीसरी स्त्री चम्पी स्त्री-चरित्र के रूढ़िवादी पक्ष की प्रतिनिधि है। उसके पति ने उसे छोड़ रखा है, किन्तु फिर भी वह उसकी मधुर स्मृति मात्र से सन्तुष्ट है। चम्पी का यह आदर्शवादी तथा स्वार्थहीन चरित्र ही उसे कल्पना तथा कामना दोनों की अपेक्षा अधिक सुखी बनाये हुए है, यद्यपि उसकी वास्तविक दशा उन दोनों से अधिक शोचनीय है।

जहाँ 'कामना' और 'ज्योत्स्ना' में सुख तथा आनन्द के आदर्श लोक की सृष्टि करने का उद्देश्य है, वहाँ 'छलना' में मानव-मन के मनोवैज्ञानिक विश्लेषण को प्रस्तुत किया गया है। इसमें हमारे प्रतिदिन के जीवन का चित्रण है, जिसमें नारी की समस्या हमारे सामने यथार्थ रूप में प्रस्तुत की गई है। इस नाटक में प्रतीकवादी तत्त्व बहुत दुर्बल है, और इसके पात्र केवल नाम को ही प्रतीक हैं। अन्यथा वे मूर्त्त और मांसल हैं और अन्य नाटकों के पात्रों की भांति उनका अपना व्यक्तित्व है। भाषा में भी भावुकता तथा कवित्व की छाप है और गीतों में माधुर्य है। परन्तु इस नाटक में कुछ दोष भी हैं। कुछ पात्रों (चम्पी, जगेसर, सूरे, नवीन आदि) का मुख्य कथानक के साथ कोई सम्बन्ध नहीं। नवीन की अवतारणा तो बलराज (तथा कुछ हद तक कामना) के चरित्र की विशेषताओं को स्पष्ट तथा प्रभावोत्पादक बनाने के लिए की गई है। सूरे आदि के चरित्र द्वारा नाटक में विश्राम के स्थल उपस्थित किये गये हैं, तथा चम्पी का चरित्र कल्पना तथा कामना के साथ तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करने के लिए शामिल किया गया है।

सेठ गोविन्ददास का 'नवरस' और ही ढंग का प्रतीकवादी नाटक है। इसमें सेठ जी ने संस्कृत नाट्य-शास्त्र के नौ प्रधान रसों को मूर्त्त रूप देकर उन मानवीकृत रसों के आधार पर युद्ध तथा शांति की समस्या का विवेचन किया है। नाटक का नायक वीरसिंह वीर रस का प्रतीक है और नायिका प्रेमलता शृङ्गार रस की प्रतिनिधि है। रुद्रसेन रौद्र रस का, भीम भयानक रस का, लीला हास्य रस की, करुणा करुण रस की, शांता शांत रस की, अद्‌भुतचन्द्र अद्‌भुत रस का तथा ग्लानिदत्त बीभत्स रस का प्रतीक है।

नाटककार ने भिन्न-भिन्न रसों के मानवीकृत पात्रों का केवल नामकरण ही

उपयुक्त नहीं किया, अपितु उन रसों के रूप-रंग और वेश-भूषा आदि का वर्णन भी प्राचीन शास्त्रों के प्रायः अनुकूल ही किया है। उदाहरण के लिए लीला श्वेत वस्त्र धारण किये है, रुद्रसेन का वसन लाल है, भीम के वस्त्र काले हैं, वीरसिंह के हेमवर्ण तथा अद्भुतचन्द्र के पीले इत्यादि।

इसके अतिरिक्त इन प्रतीक पात्रों का व्यवहार तथा क्रिया-कलाप भी उनके अपने-अपने रसों के अनुकूल है। वाणी तथा कर्म द्वारा ये प्रतीक पात्र अपने-अपने रस का सुन्दर निर्वाह करते हैं। उदाहरण के लिए पहले दृश्य में ही शांता (जो शांत रस की प्रतीक है) शांति तथा अहिंसा में अपने अटल विश्वास का परिचय देती है। वह मधु के विरुद्ध अपने भाई के युद्ध-प्रस्ताव का विरोध करती है। वह शक्ति का उपयोग रचनात्मक क्षेत्र में करने के पक्ष में है, न कि रुद्रसेन की भांति विध्वंसकारी कामों में। वह युद्ध के इतनी विरुद्ध है कि जनता तथा सेना को भी युद्ध से विमुख करने का पूरा प्रयत्न करती है।

इसी प्रकार करुणा के शब्दों तथा व्यवहार में यथोचित करुणा है जैसा कि प्रथम अंक के दूसरे तथा तृतीय अंक के पहले दृश्यों से स्पष्ट है। करुणा के इस गीत में भी कितनी करुणा है—

खुद मैंने ही नष्ट किये, सखि,
प्रियतम के सुख-चिह्न मनोहर !
उनको क्या देखूं दुनिया में
जब न देख पाती लोचन-धन
मेरे इन विरही नयनों में
आज सकल जग केवल जल-कन !
प्रियतम की तस्वीर मिटाई,
हां, मैंने लोचन-घट भर-भर। इत्यादि।

लीला (जो कि हास्य रस की प्रतीक है) के व्यवहार में भी हास्य तथा चपलता की विशेषता है, जैसा कि प्रथम अंक के तीसरे तथा तृतीय अंक के पहले दृश्यों से स्पष्ट है। विशेषतः तृतीय अंक के तीसरे दृश्य में अद्भुतचन्द्र के साथ उसका वार्तालाप बहुत ही हास्यपूर्ण है। इसी प्रकार मधु तथा रुद्रसेन आदि में भी अपने-अपने रस का संचार है। किन्तु वीरसिंह (जो कि वीर रस का प्रतीक है) के चरित्र में वांछित शक्ति, वीरता और आवेश का प्रायः अभाव है, जैसा कि प्रथम अंक के पहले तथा चौथे दृश्यों तथा द्वितीय अंक के तीसरे दृश्य से ज्ञात होता है। इसी प्रकार प्रेमलता में शृङ्गार-रसोचित भावुकता तथा रोमांस के दर्शन नहीं होते।

इन प्रतीक पात्रों के बीच परस्पर मित्रता-द्वेष आदि दिखाने में भी नाटककार ने विवेक से काम लिया है। प्रेमलता तथा वीरसिंह को विवाह-बंधन में बांधकर नाटककार ने इस नैसर्गिक न्याय की रक्षा की है कि वीरता को ही सौंदर्य के उपभोग का अधिकार है। फिर प्रेमलता को भी ठीक ही लीला की बहन बनाया है। शांता का रुद्रसेन से विरोध है, और वह उसकी युद्ध तथा उत्पीड़न की नीति का समर्थन नहीं करती। अन्त में वीरसिंह और प्रेमलता का विवाह शांता के प्रयत्नों के फलस्वरूप होने में भी विशेष महत्त्व और सार्थकता है। इस घटना के द्वारा कवि ने वीरता तथा प्रेम के ऊपर शांति का अधिकार स्थापित होने की आवश्यकता की ओर संकेत किया है।

इस प्रतीकवादी नाटक में सेठ जी ने युद्ध की समस्या का विवेचन किया है, और इस समस्या का जो समाधान नाटककार ने प्रस्तुत किया है, वह वही है जिसका गांधी जी ने प्रचार किया है, अर्थात् अहिंसा के द्वारा शांति की स्थापना। शांता अहिंसा की प्रतीक है और उसके कई एक कार्यों, भाषणों एवं युक्तियों में गांधी जी के सिद्धान्तों की प्रतिध्वनि है।

नाटक के द्वितीय अंक का छठा दृश्य बड़ा महत्त्वपूर्ण है। इसमें नाटककार ने स्पष्ट रूप से हिंसा के ऊपर अहिंसा की विजय दिखाई है। शान्ता के उपदेशों तथा प्रचार के फलस्वरूप सेना रुद्रसेन की हिंसात्मक नीति के विरुद्ध विद्रोह कर देती है। सैनिक रुद्रसेन की सत्याग्रहियों पर गोली चलाने की बर्बरतापूर्ण आज्ञा का पालन करने से इन्कार कर देते हैं और 'सत्याग्रह की जय', 'अहिंसा की जय' के नारे लगाते हैं।

कुमार-हृदय का 'नक़्शे का रंग' (१९४१) भी एक प्रतीकवादी नाटक है। यह एक राजनीतिक नाटक है और इसमें भी अहिंसा के सिद्धान्त का प्रतिपादन है। दीनमेष दासता-ग्रस्त भारतवर्ष का प्रतीक है। करुणा उसकी जीवन-संगिनी है, जिसका मतलब यह है कि नाटककार करुणा को ही दास भारत की चिरसंगिनी समझता है। शांति इन दोनों की सन्तान है, और वह अहिंसा तथा शांति की प्रतीक है। कलाकुमार का परिचय नाटककार ने इस प्रकार दिया है—'संसार-संस्कृति का केन्द्ररूप'। उसको अनाथ दिखाया गया है, जिससे नाटककार का अभिप्राय यह है कि वास्तविक तथा नैसर्गिक कला, जो संसार को सुख-शांति प्रदान कर सकती है, की इस संसार में अवहेलना होती है। अराजकेतु एक मदोन्मत्त बर्बर है, जो एक फ़ासिस्ट जाति का नेता है। उसके चरित्र में आधुनिक झूठी सभ्यता के उस विशिष्ट समर्थक का चित्रण किया गया है जो ऊपर से तो पिछड़ी हुई जातियों तथा देशों को सभ्य तथा समुन्नत बनाना चाहता है,

परन्तु जो वास्तव में स्वार्थी है। वह मानवता और अनुकम्पा के भावों से रहित है। अपने स्वार्थ को सिद्ध करने के लिए वह क्रूरता तथा पाशविकता का व्यवहार करता है।

शांति तथा कलाकुमार रूढ़िगत भारतीय हैं। वे सरल, सौम्य, निर्दोष तथा निर्मल हैं परन्तु सभी कठिनाइयों तथा परीक्षाओं में दृढ़ तथा अटल बने रहते हैं। वे जो कुछ और जैसे हैं, वैसे ही सुखी हैं। पाश्चात्य भावनाओं और आदर्शों को ग्रहण करने की उन्हें लालसा नहीं। अपने बर्बर शत्रु के बंधन में भी ये दोनों भारतीय अपने आदर्शों पर स्थिर रहते हैं। ये दोनों महात्मा गांधी की अहिंसा तथा सत्याग्रह की नीति का दृढ़ता से पालन करते हैं, और सभी कष्टों तथा अत्याचारों में भी अपने आदर्शों पर अटल तथा अविचल बने रहते हैं।

नाटक में कार्य की मात्रा अधिक नहीं है, किन्तु नाटककार ने सजीव एवं सशक्त संवादों में शांति, कलाकुमार, दीनमेष तथा अराजकेतु के चरित्रों का सुन्दर चित्रण किया है। नाटक में पश्चिम की जड़वादी (Materialistic) तथा रक्तपिपासु नीति तथा भारत की महान् एवं आध्यात्मिक सभ्यता का तुलनात्मक चित्र उपस्थित किया गया है।

प्रस्तुत ग्रन्थ के लेखक का 'उषा की विजय' भी एक प्रतीकवादी एकांकी है, जिसमें सजीव एवं चित्रोपम ढंग से उषा तथा रजनी के बीच सदाकाल से चलने वाले संघर्ष का वर्णन किया गया है।

चौबीसवां अध्याय

हिन्दी एकांकी

यद्यपि एकांकी नाटक हिन्दी-साहित्य में कोई नई वस्तु नहीं है, तथापि हिन्दी-एकांकी का जैसा रूप आज हम देख रहे हैं वह संस्कृत-साहित्य की अपेक्षा पश्चिमी साहित्य के प्रभाव का फल अधिक है। हमारे आज के हिन्दी-एकांकी का टेकनीक पश्चिम से लिया गया है, और हमारे आज के एकांकी पर इब्सन, शॉ, गाल्सवर्दी आदि पाश्चात्त्य नाटककारों का विशेष प्रभाव है। निःसंदेह भारतेन्दु के समय से लेकर आज तक एकांकियों की एक अविच्छिन्न परम्परा चली आ रही है, तथापि जहाँ हमारे उन्नीसवीं शताब्दी के तथा बीसवीं शताब्दी के आरम्भकाल के एकांकियों का अपना कोई स्वतन्त्र नाट्य-विधान नहीं था और वे अधिकांश प्राचीन संस्कृत नाटकों के प्रभाव के अधीन लिखे जाते थे, वहाँ आधुनिक हिंदी एकांकी पर नाट्य-विधान एवं विषय दोनों में पाश्चात्त्य प्रभाव स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है।

आरम्भ में कुछ वर्षों तक एकांकी को साहित्य में एक कृत्रिम वस्तु माना जाता था। लोगों का विश्वास था कि नाटक का यह रूप केवल पश्चिमी साहित्य के अनुकरण-मात्र में अपनाया गया है, और हिन्दी-साहित्य में इसका कोई वास्तविक तथा स्वाभाविक स्थान नहीं है। किन्तु थोड़े ही वर्षों में नाटक के इस नये रूप ने बड़ी लोकप्रियता प्राप्त कर ली है, और आज यह स्थिति है कि बड़े नाटकों की अपेक्षा एकांकी अधिक लोकप्रिय हो गया है। व्यवसायी एवं अव्यवसायी रंगमंच पर, स्कूलों तथा कालिजों में तथा रेडियो पर भी एकांकी बड़े नाटकों की अपेक्षा अधिक बार खेले जाते हैं। इतना ही नहीं; उच्चकोटि के कई नाटककारों ने इसकी रचना में अपना विशेष ध्यान तथा योग भी दिया है। एकांकी के उदय तथा लोकप्रियता के दो मुख्य कारण हैं। पहली बात तो यह है कि प्राचीन काल में तथा मध्य काल में भी लोगों के पास पर्याप्त अवकाश होता था जिसमें वे बड़े नाटकों तथा मनोरंजन के अन्य साधनों को देखने के लिए लम्बे समय तक प्रेक्षागृह में बैठ सकते थे। परन्तु हमारा आज का जीवन पहले की अपेक्षा कहीं अधिक संघर्षमय तथा व्यस्तताओं से पूर्ण है। अवकाश कम होने के कारण लोग अब मनोरंजन के छोटे साधनों को अधिक पसन्द करते हैं, जिनके द्वारा थोड़े समय में उनका मनोरंजन हो सके। समय की इस मांग तथा

अधीन आज सिनेमा के शो भी पहले की अपेक्षा कुछ छोटे
ुछ ही वर्ष पहले सिनेमा के शो तीन-तीन घण्टे के हुआ करते थे,
अधिकांश सिनेमा-चित्र ढाई घण्टे या सवा दो घण्टे के ही होते हैं।
ा की लोकप्रियता का दूसरा कारण है रेडियो का निरंतर बढ़ता हुआ
चार। समय कम लगने के कारण रेडियो पर पूरे नाटक की अपेक्षा एकांकी अधिक सफल एवं अनुकूल रहता है। इस प्रकार एकांकी आज हिन्दी-साहित्य का महत्त्वपूर्ण अंग बन गया है।

पश्चिम में एकांकी को यह रूप धीरे-धीरे Curtain Raisers से प्राप्त हुआ। कर्टेन रेज़र्स मनोरंजन की छोटी-छोटी रचनाएँ होती थीं, और इनमें प्रायः हास्य की प्रधानता होती थी। थिएटरों में जो लोग बड़ा नाटक शुरू होने के नियत समय से कुछ पहले आ जाते थे, उन्हें व्यस्त रखने के लिए ये छोटे नाटक बड़ा नाटक आरंभ होने से पहले दिखाये जाते थे। हिन्दी-साहित्य में आधुनिक एकांकीकारों ने एकांकी का नाट्य-विधान सीधे पश्चिम से ग्रहण किया है। इससे पूर्व कि हम आज के हिन्दी एकांकियों पर विचार करें, यह उचित है कि एकांकी के उदय, उसके प्राचीनतम रूप तथा उसके आज तक के विकास की भिन्न-भिन्न अवस्थाओं पर कुछ प्रकाश डाल दिया जाय।

संस्कृत-साहित्य में रूपक के दस भेदों में से छः (भाण, व्यायोग, प्रहसन, वीथी इत्यादि) तथा उपरूपक के अठारह भेदों में से लगभग दस (गोष्ठी, भाणिका, नाट्य-रासक, प्रेङ्खण, काव्य, विलासिका आदि) भेदों में केवल एक-एक अंक ही होता था। भिन्न-भिन्न प्रकार के इन एकांकियों के परस्पर अन्तर का आधार प्रायः उनकी वृत्तियां, पात्र, संधियां तथा विषय आदि होते थे। ये एकांकी विशेष लक्षणों की संकुचित परिधि में घिरे रहते थे, तथा शास्त्रकारों[1] की परिभाषाओं के कड़े नियमों में जकड़े रहते थे। उदाहरण के लिए भाण की परिभाषा यह है कि इसका कथानक कल्पित होता है। इसमें अकेला विट, जो निपुण और पंडित होता है, अपनी अनुभूत अथवा दूसरों की अनुभूत बातों को रंगमंच पर प्रकाशित करता है। उक्ति-प्रत्युक्ति आकाश-भाषित द्वारा होती है। इसमें वीर तथा श्रृंगार दोनों रसों का समावेश रहता है। वृत्ति प्रायः भारती होती है और इसमें मुख तथा निर्वहण संधियां होती हैं। संस्कृत के इन एकांकी रूपकों में वास्तविक जीवन की तथा उसकी विविध समस्याओं और संघर्षों की अभिव्यक्ति प्रायः नहीं होती थी।

जिस प्रकार हिंदी-साहित्य में बड़े नाटक का आरंभ वास्तव में भारतेन्दु से

1. Keith : Sanskrit Drama, page 345 ff.

होता है, उसी प्रकार एकांकी की परम्परा का सूत्रपात भी उसी प्रतिभाशाली नाटककार ने किया। भारतेन्दु के 'नीलदेवी' तथा 'विषस्य विषमौषधम्' में एक-एक अंक ही हैं। श्रीनिवासदास का 'प्रह्लाद-चरित', राधाचरण गोस्वामी के 'श्रीदामा नाटक' तथा 'सती चंद्रावली', कृष्णदेवशरणसिंह का 'माधुरी रूपक', प्रतापनारायण मिश्र का 'कलिकौतुक रूपक', काशीनाथ खत्री के 'तीन ऐतिहासिक रूपक', देवकीनन्दन त्रिपाठी का 'जय नारसिंह की', राधाकृष्णदास का 'दु:खिनी बाला' आदि अनेक उन्नीसवीं शताब्दी के हिंदी-नाटक एकांकी ही हैं। इन सब पर पाँचवें तथा छठे अध्यायों में विचार किया जा चुका है। ये एकांकी अधिकतर प्रहसन हैं अथवा इनमें देश की सामाजिक तथा धार्मिक कुरीतियों आदि का वर्णन है। इनमें कुछ एक ऐतिहासिक भी हैं। नाट्य-कला के विचार से ये रचनाएँ बड़ी सामान्य हैं। इनका कोई निश्चित नाट्य-विधान नहीं है, यद्यपि संस्कृत-नाटकों के विधान का इन पर प्रभाव अवश्य दृष्टिगोचर होता है।

हिन्दी-एकांकी के विकास की प्रारंभिक अवस्था भारतेन्दु के साथ शुरू होती है तथा सन् १६२६ तक चलती है, जिस वर्ष प्रसाद का 'एक घूंट' प्रकाशित हुआ। एकांकी की दूसरी अवस्था १६२६ से १६३५ तक चलती है। वास्तव में 'एक घूंट' हिन्दी का पहला ऐसा एकांकी है जिसमें एकांकी के आधुनिक टेकनीक का निर्वाह हुआ है। प्रसाद की कला पर प्राचीन नाट्य-पद्धति का भी पर्याप्त प्रभाव है, अतः इस एकांकी का वातावरण भी कुछ अंशों में प्राचीनता की झलक लिये हुए है। किन्तु संघर्ष का जो रूप इस एकांकी में मिलता है वह आधुनिक ढंग का है। स्थान तथा समय की एकताओं का भी इसमें निर्वाह हुआ है। किन्तु इस एकांकी से भी हिन्दी के लेखकों को एकांकी का भंडार भरने के लिए प्रेरणा नहीं मिल सकी।

हिन्दी-एकांकी के विकास की तीसरी अवस्था भुवनेश्वर के 'कारवां' (१६३५) के साथ आरम्भ होती है। इस काल में हिन्दी के कुछ एकांकीकारों के मन में यह प्रवृत्ति प्रबल हो उठी कि हिन्दी में भी पाश्चात्त्य एकांकी के ढंग पर एकांकी की रचना की जाय। इस प्रवृत्ति के परिणामस्वरूप बर्नार्ड शॉ, गाल्सवर्दी, ओनील आदि का हमारे एकांकीकारों पर विशेष प्रभाव पड़ा। समस्या-नाटकों की भांति एकांकी में भी बुद्धिवाद तथा यथार्थवाद की प्रवृत्तियों ने अधिकार जमाना शुरू किया, और इस अवस्था (Stage) में हिन्दी के कई एकांकीकार अपनी रचनाओं में सामयिक समस्याओं का बुद्धिवाद के अनुसार प्रतिपादन करने लगे।

इस काल में हमें दो प्रकार के एकांकी मिलते हैं। प्रथम प्रकार के एकांकियों

में नाट्य-विधान तो पश्चिम से लिया गया है, परन्तु उनमें नाटककारों ने भारतीय दृष्टिकोण, कथानक और वातावरण का उपयोग किया है। डा० रामकुमार वर्मा इस वर्ग के एकांकीकारों में प्रमुख हैं। दूसरे वर्ग के अन्तर्गत वे एकांकीकार आते हैं, जिन्होंने पश्चिम से केवल अपने एकांकियों की टेकनीक को ही उधार नहीं लिया, वरन् अपने एकांकियों के लिए समस्याएँ, वातावरण और तर्क-वितर्क आदि में भी पाश्चात्य लेखकों का ही अनुसरण किया है। इस वर्ग के एकांकी-कारों में भुवनेश्वर का नाम विशेष उल्लेखनीय है।

१९४० तक आधुनिक हिन्दी-साहित्य में एकांकी अपना स्थान प्रतिष्ठित कर चुका था। तदनंतर एकांकी के क्षेत्र में और भी प्रगति हुई और इस दिशा में नये प्रयोग भी किये गये। जहां पिछले कुछ वर्षों में हमारे एकांकीकारों ने पश्चिम के प्रभाव को बड़ी तेजी के साथ ग्रहण किया था, वहाँ वह प्रभाव अब धीरे-धीरे घटना शुरू हुआ। जिस पाश्चात्य बुद्धिवाद का प्राधान्य हुआ था वह अब शिथिल पड़ने लगा। अब प्रतिभाशाली लेखक अपने एकांकियों, में अपने स्वतन्त्र टेकनीक का प्रयोग करने लगे। सेठ गोविंददास, सुदर्शन, उदयशंकर भट्ट, रामकुमार वर्मा तथा उपेन्द्रनाथ 'अश्क' आदि ने अब धीरे-धीरे पाश्चात्य प्रभाव का परित्याग करके अपने एकांकियों के नाट्य-विधान तथा आत्मा में मौलिकता का संचार शुरू किया।

आज हमारे कई एकांकीकार और भी यथार्थवादी तथा प्रगतिवादी हो रहे हैं। आज प्रतिदिन की घटनाएँ और विषय, सामान्य जनों के जीवन की समस्याएँ तथा सभी प्रकार के पात्र उनकी रचनाओं में मिलते हैं। कुछ एकांकीकार तो इतने यथार्थवादी हो गये हैं कि उन्होंने अपने एकांकियों में सारे रोमांस तथा रंगीनी का बहिष्कार कर दिया है।

एकांकी का कला-विधान

मूल रूप में एकांकी उस नाटक का नाम है, जिसमें केवल एक ही अंक हो। परन्तु 'एकांकी' संज्ञा पाने के लिए किसी नाटक के लिए केवल इतना ही अपेक्षित नहीं कि उसमें केवल एक अंक हो। इसके अतिरिक्त कुछ और विशेषताएँ भी सफल एकांकी के लिए आवश्यक हैं। एकांकी की कला का उद्देश्य जीवन की किसी महत्त्वपूर्ण तथा मार्मिक घटना का वर्णन कम-से-कम शब्दों में अधिक-से-अधिक सुन्दर तथा प्रभावोत्पादक ढंग से करना है। जहाँ बड़े नाटक में अनेक प्रकार की घटनाएँ तथा कार्य आदि रहते हैं, वहाँ एकांकी का विषय केवल एक चित्र, एक अनुभव तथा जीवन की एक झाँकी होता है। इसमें एक ही अनुभव, एक ही गहन प्रसंग, एक ही महत्त्वपूर्ण घटना का वर्णन होता है। एकांकी में व्यर्थ

के विस्तार के लिए स्थान नहीं होता। अपनी संकुचित सीमाओं के भीतर भी एक सफल एकांकी में वह प्रभाव उत्पन्न करने की शक्ति होती है, जो कई बार एक बड़ा नाटक अपने सारे विस्तार के साथ नहीं कर पाता। एकांकी में लेखक एक छोटी-सी परन्तु महत्त्वपूर्ण घटना को चुन लेता है, और फिर अपने समस्त कला-कौशल तथा प्रतिभा को उसी एक विषय पर केन्द्रीभूत कर देता है, और इस प्रकार उसे अधिक-से-अधिक प्रभावोत्पादक और ड्रैमेटिक बनाने का प्रयास करता है।

कथानक तथा कार्य-व्यापार की एकता के अतिरिक्त समय एवं स्थान की एकता भी एकांकी नाटक के लिए बड़ी उपयोगी है। इनमें से समय की एकता तो एकांकी के लिए अनिवार्य-सी है। परन्तु जहाँ इनमें से एक अथवा दोनों एकताओं का पालन किये बिना भी सुन्दर एकांकी की रचना हो सकती है, वहाँ कथावस्तु तथा प्रभाव की एकता तो इसके लिए अनिवार्य है। कार्य की एकता तथा एकाग्रता से प्रायः आकस्मिकता का जन्म होता है, जिससे चरमोत्कर्ष में स्पंदन की सृष्टि हो जाती है। आकस्मिकता तथा कौतूहल एकांकी के लिए अनिवार्य तो नहीं हैं, किन्तु इससे कई बार नाटकीय प्रभाव तथा सौंदर्य की वृद्धि हो जाती है। कौतूहल के बिना भी अच्छे एकांकी लिखे जा सकते हैं और लिखे गये हैं, यहाँ तक कि उदयशंकर भट्ट आदि विद्वान् तो एकांकी के लिए कुतूहल को आवश्यक ही नहीं मानते।

एकांकीकार की कुशलता मुख्यतः दो बातों में होती है, एक तो अपनी लेखनी के लिए उपयुक्त विषय चुनने की उसकी बुद्धिमत्ता में, दूसरे अपनी रचना में यथेष्ट शक्ति, प्रभाव तथा रोचकता उत्पन्न करने में। एकांकी के कथानक का विकास स्वाभाविक तथा कलापूर्ण ढंग से होना चाहिए। इसमें किसी गौण कथानक या विषय का समावेश नहीं होना चाहिए। कथावस्तु के विकास में जीवन, प्रवाह तथा गति होनी चाहिए, और कथानक के विकास के साथ दर्शक की उत्सुकता में भी वृद्धि होती जानी चाहिए। केवल यही आवश्यक नहीं कि कथानक में चरमोत्कर्ष तक पहुँचने तक ही एक स्थायी रोचकता बनी रहे, वरन् चरमोत्कर्ष के पश्चात् अन्त तक पहुँचने में भी सजीवता तथा रोचकता बनी रहनी चाहिए। यदि लेखक एकांकी में कुतूहल की आवश्यकता में विश्वास नहीं रखता, तो उसे शिथिलता से बचने में विशेष सावधान रहना चाहिए, जो कि कुतूहल के अभाव से कथानक में आनी सम्भावित है।

एकांकी के संवाद शक्तिशाली, सजीव, संक्षिप्त तथा प्रभावोत्पादक होने चाहिएँ। उनमें प्रवाह तथा विषयानुकूल तीखापन अथवा कोमलता आदि होने

चाहिएँ। लम्बे, अनाटकीय संवाद जिनसे वातावरण तथा प्रभाव के नष्ट होने का भय हो, एकांकी में नहीं आने चाहिएँ। स्वगत की योजना भी जहाँ तक हो सके, कम करनी चाहिए। पात्रों की संख्या भी एकांकी में यथाशक्ति कम होनी चाहिए, और प्रधानता तो केवल एक या दो पात्रों को ही दी जानी चाहिए। किसी पात्र का समावेश व्यर्थ ही अथवा केवल मनोरंजन के उद्देश्य से न किया जाय। प्रत्येक पात्र का अपना-अपना विशेष कार्य होना चाहिए, और उसे किसी-न-किसी प्रकार से कथावस्तु के विकास में सहायक होना चाहिए। जहाँ तक और जहाँ भी हो सके, एकांकीकार को अपने पात्रों के मानसिक संघर्ष को भी व्यक्त करना चाहिए। परन्तु अन्तर्द्वन्द्व का चित्रण करने में उसे अधिक विस्तार में नहीं जाना चाहिए। पात्रों के मनोभावों की एक तीखी चमकती झलक मात्र ही प्रस्तुत करनी चाहिए, तथा उनके मन की विरोधी प्रवृत्तियों की ओर संकेत मात्र कर देना चाहिए।

एकांकी में लंबे रंग-संकेतों की प्रवृत्ति भी प्रबल होती जा रही है। इन रंग-संकेतों के द्वारा भवनों, कक्षों, व्यक्तियों तथा दृश्य-दृश्यांतर का सजीव चित्र अंकित किया जाता है, जिससे अभिनय के समय ये रंग-संकेत विशेष उपयोगी सिद्ध होते हैं। कई नाटककार इन रंग-संकेतों के द्वारा अपने पात्रों की अन्तर्-प्रवृत्तियों का भी सूक्ष्म चित्रण करते हैं, जैसे उपेन्द्रनाथ 'अश्क' ने 'छठा बेटा" में अपने पात्रों के मनोभावों पर इन्हीं रंग-संकेतों द्वारा प्रकाश डाला है।

सारांश यह कहा जा सकता है कि एकांकी साहित्य का एक पृथक् भेद है, जिसका अपना स्वतन्त्र नाट्य-विधान और महत्त्व है। यह बड़े नाटक के एक अंक से भिन्न है, क्योंकि बड़े नाटक का अंक एकांकी की भांति स्वतंत्र तथा सम्पूर्ण रचना नहीं होता। एकांकी को बड़े नाटक का संक्षिप्त रूप भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि यह बात भ्रमपूर्ण तथा असत्य है कि एकांकी अपने आकार को छोड़कर शेष सब बातों में बड़े नाटक के समान है। जैसा कि हम ऊपर बता चुके हैं, एकांकी की अपनी निजी विशेषताएं हैं, और इसका टेकनीक भी बड़े नाटक से बहुत भिन्न है।

प्रमुख एकांकीकार

यद्यपि आज अनेक नाटककार अपनी प्रतिभा का प्रयोग एकांकी के क्षेत्र में कर रहे हैं, फिर भी डा० रामकुमार वर्मा को वास्तव में आधुनिक हिंदी एकांकी का जन्मदाता कहा जा सकता है। निस्संदेह प्रसाद जी के 'सज्जन' आदि तथा 'एक घूंट' (जो कि एकांकी हैं) डाक्टर वर्मा के इस क्षेत्र में पदार्पण करने से पूर्व प्रकाशित हो चुके थे। तो भी, जैसा कि हम पहले कह चुके हैं, वे प्राचीनता

के प्रभाव से सर्वथा मुक्त नहीं कहे जा सकते। डा० रामकुमार वर्मा पहले एकांकीकार हैं जिन्होंने अपनी रचनाओं में विदेशीय टेकनीक का निर्वाह किया है। इसके अतिरिक्त उनकी एक विशेषता यह भी है कि उन्होंने अपनी प्रतिभा के क्षेत्र को केवल एकांकी की परिधि तक ही सीमित रखा है, और कभी बड़ा नाटक लिखने की इच्छा अथवा प्रयास नहीं किया। स्वयं अभिनेता एवं निर्देशक होने के कारण डा० वर्मा एकांकी लिखते समय रंगमंच की सुविधाओं को सदा ध्यान में रखते हैं, और उनके प्रायः सभी एकांकी रंगमंच अथवा रेडियो पर अभिनीत हो चुके हैं।

यद्यपि वर्मा जी ने 'चारुमित्रा' जैसे कुछ सुन्दर ऐतिहासिक एकांकी भी लिखे हैं, तथापि उनके नाटकों का आधार अधिकतर सामाजिक रोमांस है। वे बहुधा उच्च-शिक्षित तथा भद्र-समाज की समस्याओं का ही अपने नाटकों में विवेचन करते हैं। उच्च-शिक्षित तथा पाश्चात्यता-प्रभावित लोगों के शिष्टाचार, व्यवहार तथा फ़ैशन और कृत्रिमता का वातावरण प्रायः उनकी रचनाओं में दृष्टिगोचर होता है। उनके नाटकों के विषय भी भद्रजीवन की समस्याओं—प्रेम, संदेह, ईर्ष्या, असंतोष और दंभ आदि होते हैं। यद्यपि वर्मा जी ने जीवन की विविध समस्याओं का विवेचन अधिकतर यथार्थवादी रीति से किया है, तथापि कई बार नाटक के अन्त में आदर्शवाद का प्रभाव स्पष्ट दीखता है (उदाहरण के लिए 'परीक्षा', 'चारुमित्रा' आदि में)। इन नाटकों में नाटककार स्वाभाविक तथा यथार्थवादी रीति का सहारा लेकर कथानक का विकास करता है, किंतु परिणाम में नैतिक आदर्शवाद की ओर झुक जाता है ('परीक्षा', '१८ जुलाई की एक शाम' आदि में)।

डा० वर्मा ने बहुत से उत्कृष्ट एकांकियों की रचना की है। उनकी आरम्भ-कालीन रचनाओं में, जो कि 'पृथ्वीराज की आँखें' में संगृहीत हैं, हमें वर्मा जी की कला के शैशव के दर्शन होते हैं। किन्तु बाद के नाटकों में (जो कि 'सप्त-रश्मि' तथा 'चारुमित्रा' आदि में संगृहीत हैं) उनकी नाट्य-कला और कुशलता निश्चय ही प्रौढ़ता को प्राप्त कर चुकी है। वर्मा जी एकांकी में कुतूहल की उपयोगिता में दृढ़ विश्वास रखते हैं, और प्रायः सभी नाटकों में उनका कथानक धीरे-धीरे चरमोत्कर्ष की ओर बढ़ता है। दर्शकों की उत्सुकता अन्त तक बनाये रखी जाती है, और कई बार तो यह खिचाव इतना गहन होता है कि दर्शक परिणाम को जानने के लिए अधीर हो उठते हैं। चरमोत्कर्ष के अनन्तर भी नाटककार अपने नाटक की शक्ति तथा रोचकता को नष्ट नहीं होने देता, वरन् अन्त तक उसे सावधानी से बनाये रखता है। वर्मा जी प्रायः अपने पात्रों का

मनोविश्लेषण भी सजीव तथा सशक्त रूप में प्रस्तुत करते हैं, यद्यपि स्थानाभाव के कारण यह चित्रण संक्षिप्त होता है। थोड़े शब्दों में वे अपने पात्रों के चरित्र की स्पष्ट रेखाएं खींच देते हैं। भाषा पर भी वर्मा जी को अच्छा अधिकार है।

'परीक्षा' डा० वर्मा के उत्कृष्ट एकांकियों में से है। यह आधुनिक हिन्दू पत्नी के नैतिक आदर्श की मनोवैज्ञानिक परीक्षा है। हमारी आज की उच्चशिक्षिता स्त्रियां प्रायः कृत्रिमता, बाह्याडम्बर तथा झूठे पाश्चात्त्य शिष्टाचार के वातावरण में रहती हैं। पाश्चात्त्य शिक्षा तथा संस्कृति का उनपर विशेष प्रभाव पड़ा है। अतः इस बात की आशंका है कि उनके आदर्श भारतीय चरित्र की दृढ़ता कहीं इस प्रभाव के कारण शिथिल न हो गई हो। इस एकांकी में वर्माजी ने एक ऐसी ही युवती—रत्ना—की मनोवैज्ञानिक रीति से परीक्षा की है, और इस परीक्षा में उसे पूर्णतया सफल सिद्ध किया है। रत्ना आदर्श भारतीय रमणी के रूप में अंकित की गई है। वह स्वयं बीस वर्ष की है, परन्तु उसके पति की आयु पचास की है। तो भी वह पति को अपना सर्वस्व मानती है। पति के तनिक से अनिष्ट की आशंका से वह घबरा जाती है, और पति के बूढ़ा हो जाने पर स्वयं भी यौवन का मोह त्याग कर बूढ़ी बनने को उद्यत हो जाती है।

परीक्षा में उत्तीर्ण होकर रत्ना यह सिद्ध कर देती है कि विदेशीय सभ्यता से प्रभावित तथा पाश्चात्त्य प्रसाधनों से विभूषित होने पर भी आधुनिक भारतीय नारी के हृदय में पतिव्रत धर्म तथा चरित्र की दृढ़ता वैसी ही अटल और अविचल बनी हुई है। इस सफलता से रत्ना का चरित्र निःसंदेह रत्न-सम उज्ज्वल हो उठा है। परन्तु हमें संदेह है कि यह पाश्चात्त्य प्रभाव से अभिभूत आज की भारतीय युवती के मन का यथार्थ चित्रण नहीं है। नाटककार ने आधुनिक उच्च-शिक्षिता भारतीय स्त्री का यथार्थ नहीं वरन् आदर्श चित्र ही अंकित किया है। किन्तु नाटककार ने पहले ही प्रो० केदार के डा० रुद्र के साथ वार्तालाप में रत्ना के विशिष्ट स्वभाव, उसकी सरलता तथा संयम आदि सद्गुणों की ओर संकेत कर दिया है। अतः वह साधारण उच्चशिक्षिता तथा पाश्चात्त्यता की पुजारिन भारतीय स्त्रियों से बहुत भिन्न है।

नाटककार ने रत्ना के चरित्र का तथा उसके मन की घबराहट का सुन्दर चित्रण किया है। डा० रुद्र तथा प्रो० केदार में भी कुछ व्यक्तिगत विशेषताएँ हैं। नाटक में जो निरंतर करुणा की भावना तथा अनिश्चय चलता है, उसका अन्त नाटककार ने बड़े विनोदात्मक ढंग से किया है।

उदयशंकर भट्ट ने भी बहुत-से बड़े नाटकों के अतिरिक्त कई एकांकी नाटकों की भी रचना की है। एकांकी नाटकों की रचना में भी भट्टजी को गीति-नाटकों

की भांति बड़ी सफलता मिली है। भट्टजी एकांकी में कुतूहल की आवश्यकता को नहीं मानते, और न ही अपने एकांकी नाटकों में वे इसका उपयोग करते हैं। किन्तु कुतूहल के अभाव में उनकी रचनाओं में शिथिलता अथवा निर्जीवता नहीं आने पाती। भट्टजी ने मनोविश्लेषण की शैली का अपने एकांकियों में बड़े सुन्दर ढंग से उपयोग किया है, और पात्रों के मानसिक संघर्ष का चित्रण इनके नाटकों को बड़ा मनोरंजक तथा आकर्षक बना देता है। पात्रों के संवाद प्रायः सजीव, स्वाभाविक तथा गतिशील होते हैं; भाषा भी प्रायः पात्रों तथा भावों के अनुकूल होती है।

भट्टजी के एकांकियों के तीन संग्रह—'अभिनव एकांकी' (१९४२), 'स्त्री का हृदय' (१९४२) तथा 'समस्या का अन्त' (१९४८)—प्रकाशित हो चुके हैं, जिनमें क्रमशः छः, सात तथा नौ एकांकी हैं। इनकी कला की विवेचना के लिए हम उनके 'दस हज़ार' शीर्षक एकांकी को ले सकते हैं। इस एकांकी में भट्टजी ने बड़ी कुशलता से नाटक के नायक विशाखाराम के मन की दो प्रधान प्रवृत्तियों के बीच संघर्ष का चित्रण किया है। विशाखाराम के हृदय में दो विरोधी भावनाओं, पुत्र-प्रेम तथा धन के लोभ के बीच संघर्ष होता है और अन्त में धन-लोभ पुत्र-प्रेम की भावना को परास्त कर देता है। वात्सल्य के ऊपर लोभ की विजय दिखाकर भट्टजी ने यथार्थवादी प्रवृत्ति का पालन किया है। जहाँ डा० रामकुमार वर्मा अथवा कोई अन्य आदर्शवादी नाटककार दोनों भावनाओं के बीच संघर्ष दिखाकर शायद अन्त में वात्सल्य की विजय दिखा देता, वहाँ भट्टजी ने लोभ की विजय दिखाकर कठोर यथार्थवाद का परिचय दिया है, क्योंकि भट्टजी यह जानते हैं कि आज भी हमारे समाज में ऐसे लोभी लोगों का अभाव नहीं जिन्हें धन अपने पुत्र से क्या, अपने प्राणों से भी अधिक प्यारा होता है।

सेठ गोविंददास ने विविध प्रकार के बड़े नाटकों की रचना करके ही प्रसिद्धि प्राप्त नहीं की, वरन् एकांकीकारों में भी उनका प्रमुख स्थान है। उनके एकांकी-नाटकों के बहुत से संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं जिनमें से 'सप्त-रश्मि' (१९४१), 'पंचभूत' (१९४२), 'एकादशी' (१९४२) तथा 'दो नाटक' (१९४२) उल्लेखनीय हैं। उनके बड़े नाटकों की भांति सेठजी के एकांकियों का विषय भी अधिकतर सामाजिक होता है। अपने एकांकियों में सेठ जी ने अधिकतर सामाजिक अथवा राजनीतिक समस्याओं का प्रतिपादन किया है, अथवा वर्तमान समाज की किसी विशेष प्रवृत्ति की ओर संकेत किया है। समस्याओं की व्याख्या तथा सिद्धांत-प्रतिपादन की प्रधानता के कारण उनके नाटकों में कुतूहल का प्रायः अभाव होता है। पात्रों की संख्या के विषय में सेठ जी बड़ी सावधानी एवं दूरदर्शिता

से काम लेते हैं, और अपने एकांकी नाटकों में (तथा बड़े नाटकों में भी) थोड़े-से पात्रों को इकट्ठा करते हैं। कहीं-कहीं अन्तर्द्वन्द्व का सुन्दर चित्रण भी इनके एकांकियों में मिलता है। कथोपकथन को सेठ जी यथाशक्ति सार्थक, सुन्दर और उपयोगी बनाने का प्रयत्न करते हैं। भाषा पर भी सेठ जी का यथेष्ट अधिकार है। सेठ जी एकांकी-नाटकों की रचना अपनी नाट्य-कला का परिचय देने के उद्देश्य से इतना नहीं करते, जितना कि अपने सिद्धांतों के प्रतिपादन के विचार से।

सेठ जी की कला की समीक्षा के लिए उनके 'मानव-मन' को लिया जा सकता है। इस एकांकी में लेखक ने मानव-मन की दो विभिन्न प्रवृत्तियों के बीच संघर्ष उपस्थित किया है। नाटक की नायिका पद्मा के चरित्र में मनुष्य के हृदय की मूलभूत प्रवृत्तियों का आदर्शवाद की कठोर परन्तु अस्त्राभाविक प्रवृत्ति के साथ संघर्ष होता है। आरम्भ में उसके मन पर दृढ़ आदर्शवादी भावना का अधिकार है। परन्तु धीरे-धीरे आदर्श तथा यथार्थ के बीच संघर्ष बढ़ता जाता है, और अन्त में मानव-मन की नैसर्गिक मूल चेतना आदर्श की भावना पर विजय पा लेती है। दूसरे शब्दों में, आदर्शवाद पर यथार्थवाद की विजय होती है, क्योंकि लेखक के मतानुसार हृदय की मूल प्रवृत्ति नैसर्गिक अतः अधिक बलवती है, जबकि आदर्शवादी प्रवृत्ति अस्वाभाविक और कृत्रिम है इसीलिए दुर्बल है।

साधारण एकांकियों के अतिरिक्त सेठ जी ने कतिपय एकपात्री नाटकों (mono-dramas) की रचना भी की है। उनका 'चतुष्पथ' चार एकपात्री नाटकों का संग्रह है। यद्यपि भारतेन्दु का 'विषस्य विषमौषधम्' भी एकपात्री है, तथापि प्रौढ़, व्यवस्थित तथा कलापूर्ण एकपात्री नाटक का हिंदी-साहित्य में प्रचार करने का श्रेय सेठ गोविन्ददास जी को है। सेठ जी के एकपात्री नाटकों में भारतेन्दु के 'विषस्य विषमौषधम्' की भांति स्वगत-भाषण-मात्र नहीं होता, वरन् इनके नाटकों में प्रधान पात्र किसी अन्य व्यक्ति या वस्तु को संबोधित करके, या कभी-कभी अपनी नोट-बुक आदि से पढ़कर कथानक को आगे बढ़ाता है।

'शाप या वर' सेठ जी का सुन्दर मोनोड्रामा है। यह दो भागों में विभाजित है, और इसमें भारतीय दाम्पत्य जीवन के दो विपरीत चित्रों का चित्रण है। पूर्वार्द्ध में नगर के एक असन्तुष्ट तथा अव्यवस्थित धनी परिवार का चित्र है, जिसमें स्नेह तथा सद्भावना के स्थान पर स्वार्थ का अधिकार है, अतएव सुख और शांति का अभाव है। उत्तरार्द्ध में ग्राम के एक संतुष्ट दम्पती का चित्र है, जिनके जीवन में स्नेह तथा सद्भावना के कारण स्वर्गीय सुख और आनन्द

खेलता रहा है। नाटक के प्रत्येक भाग में दो पात्र हैं, एक स्त्री तथा एक पुरुष। दोनों में स्त्री आवेश में बोलती जाती है और पुरुष चुपचाप उसकी बातों को सुनता जाता है, अथवा बीच-बीच में मुख-मुद्रा आदि को बदलकर उसके द्वारा ही उत्तर देता है। नाटक में मनोविश्लेषण तथा वैषम्य का अत्यन्त सुन्दर चित्र उपस्थित किया गया है। पूर्वार्द्ध में स्त्री मरते समय स्नेहहीन, स्वार्थी और कठोर पति तथा उसके वंश को शाप देती है—

स्त्री—(एकाएक तेज़ स्वर में) देखो···देखो···शायद मैं जा रही हूँ। सुनो···सुनो···जाते-जाते शाप···हां, शाप देती हूँ। तुम्हारा वंश निर्वंश हो जाय। कोई जीव इस जड़ में गड़ने के लिए उत्पन्न न हो। यह सोना-चाँदी, ये हीरे, मोती, यह निर्जीव वैभव, यह सारा द्रव्य, भावनाओं और आत्मा से हीन आयोजन,···(अत्यन्त क्षीण स्वर में) यदि सब कुछ होते हुए भी मैं धर्म अनुसार सती···सती रही हूँ, तो मेरे···शाप से···भस्म···।

परन्तु उत्तरार्द्ध में स्त्री निर्धनता के होते हुए भी स्नेह तथा सुख का जीवन बिताकर, सुखपूर्वक मरती हुई पति को वर देती है और उससे आग्रह करती है कि—

स्त्री—जाते-जाते भगवान् से प्रार्थना करती हूँ कि मुझे जन्म-जन्म तुम-सा पति, तुम्हारे मां-बाप-से सास-ससुर तथा तुम्हारे घर-सा ही घर मिले। और···और···हृदयनिधि, तुमसे···तुमसे एक वर···एक वरदान मांगती हूँ। वह···वह तुमने न···न दिया तो उस···उस सुख से न जा सकूंगी, जिससे तुम्हारे साथ रही हूँ।

(पुरुष रोते-रोते उत्सुकता से स्त्री की ओर देखता है और अपने सिर को दोनों हाथों पर रख लेता है।)

स्त्री—वर दो, नाथ, घर सूना न रखोगे; अपना जीवन अकेला न चलाओगे, इस शिशु को माता-विहीन न रहने दोगे।···स्वर्ग जा रही हूँ, हृदयेश, स्वर्ग; नरक क्यों जाऊँगी ? स्वर्ग से तुम्हारा विवाह देखूंगी, उसे देखकर मुझे और मेरे सास-ससुर को जो सुख होगा, उसकी तुम कल्पना नहीं कर सकते।···तुम अकेले रहे तो मुझे स्वर्ग···स्वर्ग में भी तुम्हारी चिन्ता···लगी···रहेगी।···कौन तुम्हें···खिलायेगा···पिलायेगा ···कौन···खेत पर···तुम्हारी रोटी···रोटी ले जायगा ? कौन···रात

को···तुम्हारे···पैर···चापेगा ? कौन···कौन इस···बच्चे···क···का···
प···पा···ल···न·····करे···गा···वर···व··· ।

(स्त्री की आँखें बन्द हो जाती हैं)

उपेन्द्रनाथ 'अश्क' ने भी बहुत से सुन्दर एकांकी नाटकों की रचना की है। फुटकर एकांकियों के अतिरिक्त, जो समय-समय पर पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होते रहे हैं, 'अश्क' जी के एकांकी नाटकों का एक संग्रह भी 'देवताओं की छाया में' (१६४०) नाम से प्रकाशित हो चुका है। इस संग्रह में सात एकांकी हैं, जिनमें 'अधिकार का रक्षक' तथा 'लक्ष्मी का स्वागत' प्रमुख हैं। 'अश्क' जी अपने नाटकों को रंगमंच के अनुकूल बनाने का विशेष ध्यान रखते हैं और उनके पात्रों का चरित्र-चित्रण भी बड़ा यथार्थ तथा जीवन के अनुरूप होता है। इनका 'छुटा बेटा' भी, जिस पर हम इक्कीसवें अध्याय में विचार कर चुके हैं, एक लम्बा एकांकी ही है। 'अश्क' जी ने घरेलू तथा सामाजिक समस्याओं का बड़े सशक्त और प्रभावोत्पादक ढंग से विवेचन किया है। हमारे सामाजिक जीवन की तह में जाकर 'अश्क' जी उसकी कमज़ोरी को बड़े मार्मिक ढंग से अभिव्यक्त करते हैं। उनके जीवन के कटु अनुभवों ने उनकी शैली तथा अभिव्यक्ति में तीखापन भर दिया है। पात्रों के मानसिक संघर्ष की सुन्दर झलक भी कहीं-कहीं इनके एकांकियों में मिल जाती है।

'अश्क' जी ने कहीं-कहीं हास्य का तथा अनेक बार व्यंग्य का उपयोग अपने नाटकों में किया है। परन्तु न तो इनके व्यंग्य में घृणा या क्रोध है और न हास्य में दर्प या दंभ है। केवल व्यक्तिगत स्पर्श के कारण कहीं-कहीं इनके व्यंग्य में करुणा का तीखापन आ गया है। रंगमंचीय प्रभाव को उत्पन्न तथा तीव्र करने के लिए ये बड़े उपयुक्त साधनों का प्रयोग करते हैं। नाटक के विकास में उनकी घटनाएं धीरे-धीरे क्रमपूर्वक आगे बढ़ती हैं।

'अधिकार का रक्षक' 'अश्क' जी का सुन्दर सामाजिक व्यंग्य है। इसमें उन्होंने हमारे आज के सामाजिक जीवन का एक व्यंग्यपूर्ण चित्र अंकित किया है। मिस्टर सेठ इस नाटक के नायक हैं। उनके सामाजिक तथा व्यक्तिगत जीवन में, उनके बाह्य तथा वास्तविक व्यवहार में भारी अन्तर और वैषम्य है। निर्वाचन में वोट प्राप्त करने के लिए अपने सार्वजनिक जीवन में सेठ महोदय बड़े कोमल तथा वात्सल्यपूर्ण स्वभाव का स्वांग भरते हैं, किन्तु घर पर अपने पुत्र के साथ निर्दयता का व्यवहार करते हैं। वे जनता को विश्वास दिलाते हैं कि सभा में जाने पर श्रमिक-वर्ग के अधिकारों की रक्षा के लिए संघर्ष करेंगे, परन्तु घर पर अपने नौकरों पर अत्याचार करते हैं। इसी प्रकार अन्य बातों में

भी मिस्टर सेठ के व्यक्तिगत जीवन तथा सामाजिक जीवन में आकाश-पाताल का अन्तर है। छल, कपट तथा झूठ ही उनके साधन हैं। उनके अन्तःकरण में केवल स्वार्थ का अधिकार है, परन्तु ऊपर से वे सेवा और परमार्थ का ढोंग रचते हैं। ऐसे लोग सभा में जाकर जनता के हितों की क्या रक्षा करेंगे, लोगों के दृष्टिकोण का क्या प्रतिनिधित्व करेंगे ?

एकांकी की भाषा सरल, स्वाभाविक तथा पात्रों के अनुकूल है। उर्दू के सरल तथा नित्य के बोल-चाल के शब्दों का प्रयोग भी किया गया है।

भुवनेश्वरप्रसाद का उन लेखकों में प्रमुख स्थान है, जिन्होंने अपने एकांकी नाटकों में पश्चिम से बहुत कुछ लिया है। उनकी शैली, कथावस्तु, तर्क-वितर्क, टेकनीक तथा वातावरण, सभी पर पाश्चात्त्य एकांकीकारों—विशेषतः शॉ का—गहरा प्रभाव है। उनके लगभग सभी एकांकी पाश्चात्त्य नाटककारों के प्रभाव के अधीन लिखे गये हैं और इस बात को उन्होंने कई स्थानों पर स्वयं स्वीकार किया है। उदाहरण के लिए 'कारवां' की भूमिका में वे मानते हैं कि—"लिखने के बाद मुझे प्रतीत हुआ कि मेरे 'शैतान' के एक सीन में शॉ की छाया तनिक मुखर हो गई है, इसे मैं निर्विवाद स्वीकार करता हूँ।"

जहाँ भुवनेश्वर के 'शैतान' पर शॉ के Devil's Disciples का गहरा प्रभाव है, वहाँ इनका 'श्यामा' भी शॉ के Candida का रूपांतर ही है। उनके 'प्रतिभा का विवाह' तथा 'रोमांस : रोमांच' का वातावरण भी पूर्णतया पाश्चात्त्य है। यदि इन नाटकों में पात्रों के भारतीय नामों के स्थान पर पाश्चात्त्य नाम प्रयुक्त कर दिये जायँ, तो ये नाटक पाश्चात्त्य जीवन के यथार्थ चित्र बन सकते हैं। भुवनेश्वर के नाटकों की समस्याएं अधिकतर प्रेम तथा विवाह की संस्था से संबंधित हैं। परन्तु इस संबंध में एक बात विशेष रूप से ध्यान में रखने योग्य है। उनके नाटकों में प्रेम तथा विवाह की समस्याएं इतनी काम-समस्याएं (Sex-Problems) नहीं हैं, जितनी कि सामाजिक। इन नाटकों में लेखक सेक्स-चेतना के आन्तरिक या मनोवैज्ञानिक संघर्ष का इतना चित्रण नहीं करता, जितना कि इस प्रश्न के बाह्य अथवा सामाजिक पक्ष का।

यद्यपि भुवनेश्वर ने कलाकार के लिए भावुकता को विष माना[1] है, तथापि वे स्वयं कई स्थलों पर भावुक तथा कवित्वपूर्ण बनने से बच नहीं सके (उदाहरण के लिए 'श्यामा' के मनोज में)। टेकनीक में इन्हें काफ़ी सफलता मिली है, और आकस्मिकता ही भुवनेश्वर के टेकनीक की बड़ी विशेषता है। उदाहरण के लिए 'रोमांस : रोमांच' में पात्रों का व्यक्तित्व आरम्भ से अन्त तक रहस्य में

१. देखिए 'कारवां' की भूमिका।

छिपा रहता है, और चरमोत्कर्ष में भी आकस्मिकता है ।

गणेशप्रसाद द्विवेदी ने भी कुछ एकांकी नाटकों की रचना की है । इनमें से छः 'सोहाग-बिन्दी' में संगृहीत हैं । द्विवेदी जी सौंदर्य के उपासक हैं और अपने नाटकों में वे सदा किसी सुन्दर एवं कलापूर्ण वस्तु की रचना करने का उद्देश्य रखते हैं ।[1] वे एकांकी की रचना अवश्यमेव रंगमंच पर सफलतया अभिनीत होने के उद्देश्य से नहीं करते, वरन् पात्रों के मन का स्पष्ट एवं सशक्त विश्लेषण प्रस्तुत करने के लिए ही करते हैं । उनके नाटकों का साधारण विषय (उदाहरण के लिए 'सोहाग-बिंदी', 'वह फिर आई थी' इत्यादि में) दोनों सैक्सों का पारस्परिक आकर्षण है । किन्तु भुवनेश्वर के नाटकों के विपरीत द्विवेदी जी के नाटकों में संघर्ष पात्र तथा समाज के बीच नहीं चलता, वरन् प्रायः एक ही मन की दो परस्पर विरोधी प्रवृत्तियों के बीच दिखाया जाता है । दूसरे शब्दों में द्विवेदी के नाटकों की काम-समस्या एक मनोवैज्ञानिक समस्या है, जबकि भुवनेश्वर के नाटकों की समस्या प्रायः सामाजिक है ।

द्विवेदी जी ने प्रेम के सूक्ष्म, प्रायः मानसिक, रूप को ही ग्रहण किया है । वे प्रेम को मनुष्य के हृदय की एक स्थायी, सूक्ष्म तथा तीव्र चेतना मानते हैं । किन्तु प्रेम के प्रश्न के प्रतिपादन में उन्होंने यथार्थवाद का आश्रय लिया है, आदर्शवाद को प्रायः नहीं अपनाया । अपने 'सोहाग-बिन्दी', 'दूसरा उपाय ही क्या था', तथा 'सर्वस्व-समर्पण' में नाटककार ने नारी के मन का विश्लेषण किया है, और 'वह फिर आई थी', 'परदे का अपर पार्श्व' तथा 'शर्मा जी' में पुरुष के मन का विश्लेषण प्रस्तुत किया है । चरित्र-चित्रण में, जो कि द्विवेदी जी के नाटकों की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता है, नाटककार ने घटनाओं की अपेक्षा मनोविश्लेषण तथा कथोपकथन का आश्रय अधिक लिया है । इसी कारण उनकी कथावस्तु में घटनाओं का प्रायः अभाव रहता है, परन्तु मनोविश्लेषण तथा संवादों की काफ़ी शक्ति रहती है ।

प्रमुख एकांकीकारों का संक्षिप्त परिचय देने के अनन्तर अब हम कुछ अन्य नाटककारों का उल्लेख करेंगे जिन्होंने केवल थोड़े से एकांकियों की रचना की है, तथा एकांकी के साहित्य में जिनका स्थान अपेक्षाकृत गौण है । इनमें सर्वप्रथम बेचन शर्मा 'उग्र' का नाम लिया जा सकता है । 'उग्र' जी आरम्भकाल के एकांकीकारों में से हैं । उन्होंने थोड़े से एकांकी नाटकों की रचना की है, जिनमें 'अफज़ल वध', 'उजबक', 'चार बेचारे', 'भाईमियां' आदि उल्लेखनीय हैं । 'उग्र' जी गंभीर समस्याओं का विवेचन तथा समाधान बड़े विनोदपूर्ण ढंग से करते हैं ।

१. देखिए 'सोहाग-बिंदी' की भूमिका ।

इनकी भाषा चुस्त और मुहावरेदार होती है, तथा कथोपकथन में शक्ति, सजीवता तथा वेग होता है।

भगवतीचरण वर्मा एक सफल उपन्यासकार, कवि तथा कहानीकार हैं। इसके अतिरिक्त इन्होंने थोड़े से एकांकियों की रचना भी की है, जिनमें 'मैं और केवल मैं' तथा 'सबसे बड़ा आदमी' प्रसिद्ध हैं। इन दोनों नाटकों में लेखक ने जीवन की कठोर वास्तविकता की ओर संकेत किया है। 'मैं और केवल मैं' में इस स्वार्थी संसार का चित्र खींचा गया है, जिसमें हर कोई अपने ही सुख और सुविधा की अभिलाषा तथा चेष्टा करता है, दूसरे के दुःख से दुखी होने तथा दूसरे की सहायता करने का भाव किसी में नहीं है। रामेश्वर एक आदर्शवादी युवक है। वह परोपकारी तथा भावुक है। दुखी लोगों के प्रति वह मौखिक सहानुभूति ही प्रकट नहीं करता, वरन् दूसरे की सहायता के लिए सदा तत्पर रहता है। परन्तु जब रामेश्वर संसार में स्वार्थ तथा अन्याय का प्रसार देखता है तो वह स्वयं भी निर्दय और कठोर बन जाता है। नाटककार ने इस नाटक में यह दिखाने का प्रयत्न किया है कि इस संसार में, जहाँ स्वार्थ, अन्याय और अत्याचार का राज्य है, आदर्शवाद सफल नहीं हो सकता।

नाटक की भाषा मुहावरेदार तथा प्रवाहयुक्त है। कथोपकथन में भी भावुकता तथा कवित्व की छाप है। वर्माजी की शैली प्रभावयुक्त होते हुए भी सरल है।

सद्गुरुशरण अवस्थी ने भी बहुत से एकांकी नाटकों की रचना की है, जो कि भिन्न-भिन्न पत्रिकाओं के अतिरिक्त 'मुद्रिका' तथा 'दो एकांकी' (१९४०) आदि संग्रहों में प्रकाशित हो चुके हैं। अवस्थी जी का एकांकी के प्रति एक निश्चित दृष्टिकोण है, जिसको उन्होंने 'दो एकांकी' की भूमिका में व्यक्त किया है। उनकी धारणा है कि नाटक अवश्यमेव रंगमंच के लिए अथवा मनोरंजन के उद्देश्य से ही नहीं रचे जाने चाहिएं। उनका मत है कि "एकांकी नाटकों में ही नहीं, आजकल के समस्त साहित्य की सबसे बड़ी विशेषता ऊँची चिन्तना का प्रवेश है।······आज का युग तो चिन्तनाओं के संघर्ष से ही प्राण ग्रहण करता है। उसके बिना नाटक ही नहीं, सारा साहित्य ही हँसने और रोने की वस्तु हो जायगी।"

इसी कारण अवस्थी जी के नाटकों में टेकनीक का यथेष्ट निर्वाह नहीं है। उनके नाटकों में गति, संघर्ष तथा समय और स्थान आदि की एकता का अपेक्षाकृत अभाव होता है। अवस्थी जी अपने कथोपकथन को रोचक, सजीव तथा प्रभावशाली बनाने का प्रयास नहीं करते। कथोपकथन का उपयोग वे बहुधा

विषय के सभी पक्षों की व्याख्या करने के लिए, अथवा सिद्धान्तों के प्रतिपादन के लिए करते हैं। न ही वे वाक्यों को संक्षिप्त, सारयुक्त तथा चुस्त बनाने की ओर ध्यान देते हैं। इन कारणों से उनके एकांकी कला तथा अभिनय की दृष्टि से विशेष सुन्दर नहीं बन पड़ते।

हरिकृष्ण प्रेमी ने अनेक बड़े नाटकों के अतिरिक्त कुछ एकांकी नाटकों की रचना भी की है। उनके 'मंदिर' (१९४२) में सात एकांकी संगृहीत हैं, जिनके नाम ये हैं—सेवा-मंदिर, मातृ-मंदिर, राष्ट्र-मंदिर, मान-मंदिर, न्याय-मंदिर, वाणी-मंदिर, तथा गृह-मंदिर। इन नाटकों के विषय प्रायः इनके शीर्षक से ही स्पष्ट हो जाते हैं। प्रेमी जी सामाजिक, राजनीतिक अथवा घरेलू समस्याओं का विवेचन करते हुए भी इतिहास का लोभ संवरण नहीं कर सके। उनके 'मान-मंदिर' तथा 'न्याय-मंदिर' ऐतिहासिक एकांकी हैं। प्रेमी जी के एकांकियों, विशेषतः ऐतिहासिक एकांकियों की कला तथा वातावरण प्रायः वैसा ही है जिसके दर्शन उनके लंबे ऐतिहासिक नाटकों में होते हैं। यहाँ भी स्थान-स्थान पर गीतों की योजना की गई है। बड़े नाटकों की भाँति ऐतिहासिक एकांकियों में भी चारिणी अथवा किसी गायक की अवतारणा की गई है, जो निराश एवं हतोत्साह पात्रों को अपने गीतों द्वारा शक्ति और प्रेरणा देता है (उदाहरण के लिए 'सेवा-मंदिर' तथा 'न्याय-मंदिर' में)।

'सेवा-मंदिर' प्रेमी जी का सुन्दर एकांकी है। जिसमें उन्होंने एक ग्रामीण लड़की राधा के मन के संघर्ष का सुन्दर चित्रण किया है। राधा विधवा है किन्तु उसकी यौवन-सहज कामनाएँ अभी तक बड़ी बलवान हैं। वह माधव से विवाह का प्रस्ताव करती है। एक ओर राधा माधव को अपने मन की वास्तविक दशा का परिचय देते हुए कहती है—

> **राधा—नहीं, मैं एक दुर्बल नारी हूँ। मुझे भूख लगती है। मुझे प्यास लगती है। मुझे भोजन चाहिए, मुझे पानी चाहिए। तुम मेरे हृदय की भूख मिटाओ, माधव! तुम मेरे प्राणों की प्यास बुझाओ।**
> इत्यादि।　　　　　　　　　　　　　　　(प्रथम दृश्य)

दूसरी ओर माधव राधा को आदर्शवादी आचरण का उपदेश देता है। जब माधव उसे समाज से डरने तथा समाज की परवाह करने का परामर्श देता है, तो राधा आग्रह के साथ कहती है—"**मेरा जीवन मेरा अपना है। समाज उसका स्वामी नहीं है।** इत्यादि　　　　　　　　(पहला दृश्य)

लेखक विस्तार के साथ राधा के आन्तरिक संघर्ष का चित्रण करता है। उसकी व्यक्तिगत कामनाएं समाज के बंधनों से टकराती हैं। अन्त में माधव

उसे इन शब्दों में प्राणी-मात्र की सेवा का उपदेश देता है—

माधव—···यह सम्पूर्ण विश्व भगवान् का मंदिर है। प्रत्येक प्राणी भगवान् की मूर्ति है। उनकी सेवा करने में ही सच्ची शांति मिलती है, राधा! मैं जब से सेवा-मंदिर का साधक बना हूँ, मेरे ओछे-पन के कपड़े छिन्न-भिन्न हो गये हैं। इत्यादि।

अब वह राधा को अपनी पत्नी तो नहीं, किन्तु अपने निःस्वार्थ सेवा के मार्ग की संगिनी बना लेता है। प्रेमी जी ने सरल भाषा का प्रयोग किया है, और उनके संवादों में वही शक्ति तथा सजीवता है जो उनके बड़े नाटकों में।

शंभुदयाल सक्सेना ने भी कुछ वर्षों से एकांकी के क्षेत्र में पदार्पण किया है। उनका 'वल्कल' चार एकांकी नाटकों का संग्रह है, जिनके शीर्षक 'वल्कल', 'प्रहरी', 'आतिथ्य' तथा 'सोने की मूर्ति' हैं। इन चारों एकांकियों के कथानक का संबंध श्रीराम के जीवन की भिन्न-भिन्न घटनाओं से है, और कलात्मक दृष्टि से ये सभी नाटक साधारण कोटि के हैं। बैकुंठनाथ दुग्गल का 'रणभेरी' चार सुन्दर ऐतिहासिक एकांकियों का संग्रह है। इन एकांकीकारों के अतिरिक्त कुछ अन्य लेखकों ने भी फुटकर एकांकी नाटकों की रचना की है, जो कि पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होते रहे हैं। इनमें कमलाकान्त का 'सूर्योदय', श्री विष्णु प्रभाकर का 'माँ बाप', धर्मप्रकाश आनन्द का 'दीनू' और 'सितमगर', अविनाशचन्द्र का 'राह के काँटे' तथा हमारे लिखे 'उषा की विजय' और 'अभिशाप'[1] उल्लेखनीय हैं।

---

१. 'चाँद' जनवरी १९४६ में प्रकाशित।

पच्चीसवां अध्याय

आधुनिक नाट्य-विधान

उन्नीसवीं शताब्दी के हिन्दी-नाटकों पर दो नाट्य-पद्धतियों का प्रभाव विशेष रूप से पड़ा था—प्राचीन संस्कृत-नाट्य-सिद्धांतों का, तथा पाश्चात्य नाट्य-विधान का। थोड़े से नाटकों पर नाटक के मध्यकालीन रूपों, रासलीला, रामलीला तथा नौटंकी आदि का प्रभाव भी कुछ मात्रा में पड़ा था। परन्तु आज के हिन्दी-नाटकों पर मध्यकालीन रूपों के प्रभाव का तनिक भी चिह्न दिखाई नहीं देता। प्राचीन संस्कृत-नाटकों का प्रभाव भी, जो कि उन्नीसवीं शताब्दी के हिंदी-नाटकों पर विशेष रूप से पड़ा था, समय के साथ धीरे-धीरे कम हो गया, और आज हिंदी-नाटकों में संस्कृत के नाट्य-विधान का पालन बहुत ही कम देखा जाता है, जैसा कि पिछले पाँच-छः अध्यायों के अध्ययन से स्पष्ट है। इसके विपरीत पाश्चात्य नाटकों का प्रभाव तथा पाश्चात्य नाट्यविधान का प्रचार हिंदी-नाटक में वेग से बढ़ रहा है। हमारे समस्या-नाटकों तथा एकांकी नाटकों के विकास में तो पाश्चात्य नाटकों का विशेष प्रभाव पड़ा है। इसके अतिरिक्त कुछ वर्षों से हिंदी-नाटककारों में सिनेमा के टेकनीक का अनुकरण करने की प्रवृत्ति भी बढ़ रही है। नाटक की रचना करते समय आज के कई हिंदी-नाटककार रंगमंच की बजाय चित्रपट के क्षेत्र तथा सुविधाओं को ध्यान में रखते हैं। अपने नाटकों में वे अनेक ऐसे दृश्यों तथा प्रसंगों का समावेश कर देते हैं, जिनको रंगमंच पर दिखाना तो अति कठिन अथवा असंभव होता है, किंतु चित्रपट पर बड़ी सफलता एवं उपयोगिता के साथ उनका प्रदर्शन किया जा सकता है। इस बात को चन्द्रगुप्त विद्यालंकार ने अपने 'अशोक' तथा 'रेवा' की भूमिका में, तथा सेठ गोविंददास ने अपने 'कर्ण' में तथा 'विकास' की भूमिका में स्वयं स्वीकार किया है। उदयशंकर भट्ट के 'मुक्तिपथ', गोविंदवल्लभ पंत के 'वरमाला' तथा 'अंगूर की बेटी' आदि कुछ अन्य नाटकों पर भी सिनेमा के टेकनीक का प्रभाव स्पष्ट दृष्टिगोचर है।

उन्नीसवीं शताब्दी के कई नाटकों में संस्कृत नाटकों के अनुकरण में नान्दी की योजना की गई थी, और कुछेक नाटकों में पाश्चात्य प्रभाव के कारण इसका बहिष्कार कर दिया गया था। किन्तु आज के सभी नाटककारों ने नान्दी को अपने नाटकों में स्थान देना बंद कर दिया है। पाश्चात्य प्रभाव के फलस्वरूप

प्रस्तावना को भी आधुनिक हिन्दी-नाटक से निकाल दिया गया है। उसके स्थान पर लम्बी भूमिकाएं अथवा प्राक्कथन लिखने की प्रथा पश्चिम से ग्रहण कर ली गई है। पाश्चात्य नाटकों में भूमिकाएं लिखने की प्रवृत्ति बड़ी प्रबल है, यहाँ तक कि जार्ज बर्नार्ड शॉ के नाटकों की भूमिकाओं का उनके नाटकों की अपेक्षा अधिक महत्त्व माना जाता है। हिंदी के आधुनिक नाटककारों ने भी पश्चिम से यह प्रवृत्ति उधार ले ली है, और अपने नाटकों की भूमिकाओं तथा प्राक्कथनों में वे कभी नाटक की कथावस्तु पर विस्तारपूर्वक विचार अथवा बहस करते हैं (जैसे प्रसाद के ऐतिहासिक नाटकों में तथा सेठ गोविंददास के 'शशिगुप्त' आदि में), कभी नाटक लिखने के लिए अपनी ओर से सफ़ाई पेश करते हैं (जैसे 'अश्क' के 'छटा बेटा' तथा सेठ गोविंददास के 'शशिगुप्त' आदि में)। कभी-कभी नाटककार भूमिका में किसी सिद्धान्त अथवा मत की शिक्षा देते दिखाई पड़ते हैं (जैसे उदयशंकर भट्ट के 'मुक्तिपथ' में)।

पाश्चात्य नाटकों के अनुकरण के फलस्वरूप आज के हिन्दी-नाटककार अपने अधिकांश नाटकों में अंकों का उपविभाजन दृश्यों में करते हैं (उदाहरण के लिए प्रसाद, प्रेमी, चन्द्रगुप्त विद्यालंकार, उदयशंकर भट्ट, पृथ्वीनाथ शर्मा आदि)। किंतु कुछ नाटकों में इस प्रवृत्ति के विरुद्ध प्रतिक्रिया-स्वरूप अंकों का विभाजन दृश्यों में नहीं किया गया। फलतः प्रसाद जी ने अपने अंतिम नाटक 'ध्रुवस्वामिनी' में अंकों को दृश्यों में विभाजित नहीं किया। लक्ष्मीनारायण मिश्र तथा सेठ गोविंददास के अधिकतर समस्या-नाटकों में दृश्य-विभाजन नहीं है। (उदाहरण के लिए सेठ गोविंददास के 'त्याग या ग्रहण', 'महत्त्व किसे', 'सन्तोष कहाँ' तथा मिश्र जी के 'राजयोग', 'सिन्दूर की होली', 'राक्षस का मंदिर' आदि में)।

भारतीय नाट्य-शास्त्र के नियमानुसार नाटक में पाँच से दस तक अंक हो सकते थे। सात अंक के नाटकों का प्रचार संस्कृत-साहित्य में अधिक था। आधुनिक काल में प्रत्येक अंक कई दृश्यों में बांटा जा सकता है (और प्रायः बांटा जाता है) और दृश्यों की संख्या पर कोई प्रतिबंध भी नहीं, इस कारण अंकों की संख्या कम होती जा रही है। सात अंकों का हिन्दी-नाटक तो आधुनिक काल में एक भी नहीं मिलता। कुछ ही वर्ष पहले तक हिंदी-नाटकों में पाँच अंक रखने की प्रथा अधिक प्रचलित थी, और बहुत से नाटकों (उदाहरण के लिए प्रेमी के 'शिवा-साधना', सेठ गोविंददास के 'संतोष कहाँ', 'कर्ण' तथा 'ग़रीबी और अमीरी' आदि में, चन्द्रगुप्त विद्यालंकार के 'अशोक' तथा 'रेवा') में पाँच-पाँच अंक ही हैं। परन्तु आज के नाटकों में केवल तीन-तीन अंक रखने की प्रवृत्ति बल पकड़ रही

है। सेठगोविंददास के 'स्नेह या स्वर्ग', 'सेवापथ', लक्ष्मीनारायण मिश्र के 'राजयोग', 'सिन्दूर की होली', 'राक्षस का मंदिर', उदयशंकर भट्ट के 'मुक्तिपथ', हरिकृष्ण प्रेमी के 'स्वप्न-भंग', 'प्रतिशोध', 'आहुति', 'रक्षाबंधन', पृथ्वीनाथ शर्मा के 'साध' तथा 'अपराधी' और प्रसाद के 'ध्रुवस्वामिनी' आदि नाटकों में तीन-तीन अंक हैं। सेठगोविंददास के 'सिद्धान्त-स्वातन्त्र्य' में तो केवल दो ही अंक हैं। यदि हिन्दी के नाटकों पर सिनेमा की टेकनीक का प्रभाव बढ़ता गया तो संभव है कि जिस प्रकार सिनेमा के खेलों में केवल एक विश्राम (interval) होता है, उसी के अनुसार नाटकों में भी केवल एक ही विश्राम रखा जायगा अर्थात् नाटक में केवल दो ही अंक हुआ करेंगे।

नाटक को तीन अंकों में बाँटने की प्रवृत्ति का एक वैज्ञानिक कारण भी है। नाटक की कथावस्तु के प्रायः तीन भाग होते हैं, अतः प्रत्येक भाग को एक अंक दिया जा सकता है। कुशल नाटककार प्रथम अंक में कथावस्तु की नींव रखता है, वातावरण की सृष्टि करता है तथा कथा के संघर्ष को आरंभ करता है। दूसरे अंक में वस्तु का विकास, crisis तथा turning point रखे जाते हैं, तथा तीसरे अंक में नाटक का चरमोत्कर्ष तथा अन्त होता है।

यह कहने की आवश्यकता नहीं कि कथोपकथन नाटक का बड़ा महत्त्वपूर्ण तत्त्व है, क्योंकि यह वस्तु के विकास तथा चरित्र-चित्रण आदि में अनेक प्रकार से सहायक होता है। अनेक प्रकार के कथोपकथन में से हम पहले स्वगत को लेते हैं। भावुक, दार्शनिक तथा रहस्यवादी पात्रों के चरित्र का यथार्थ चित्रण करने के लिए स्वगत की योजना बड़ी उपयोगी एवं आवश्यक है। यदि इस प्रकार के पात्रों के लिए भी स्वगत की योजना बिल्कुल न की जाय, तो उनके चरित्र की अन्तर्निहित विशेषताओं पर ठीक से प्रकाश पड़ना कठिन है। उनका चरित्र स्वगत-योजना के बिना अस्पष्ट रह जायगा। दर्शक उनके मन के गहनतम भावों को भली भांति जान नहीं पायेंगे, जिससे उनके चरित्र का महत्त्व तथा कथानक का सौन्दर्य कुछ नष्ट हो जायगा। उदाहरण के लिए यदि शेक्सपियर के 'हैमलेट' में से राजकुमार हैमलेट के स्वगत-भाषणों को निकाल दिया जाय तो उसके चरित्र के वास्तविक और यथार्थ रूप को समझना कठिन हो जायगा। इसी प्रकार प्रसाद के 'अजातशत्रु' में सम्राट् बिम्बसार का चरित्र स्वगत-भाषण के विना यथेष्ट रूप में स्पष्ट नहीं हो सकता। उदयशंकर भट्ट के मुक्तिपथ के द्वितीय अंक के चौथे दृश्य में सिद्धार्थ के गृहत्याग के अवसर पर स्वगत की विशेष आवश्यकता और महत्त्व है। उसके मन की तात्कालिक अवस्था को जानने तथा उसके अन्तर्द्वन्द्व के परिचय के लिए स्वगत की विशेष आवश्यकता है।

पश्चिम के यथार्थवादी नाटककार (और उनकी देखादेखी हमारे कुछेक नाटककार भी) स्वगत को अस्वाभाविक मानकर नाटक में उसकी योजना करने के सर्वथा विरुद्ध हैं। उनका तर्क है कि व्यावहारिक जीवन में कोई व्यक्ति अपने-आप से बातें नहीं करता, और यदि करता भी है तो केवल दो-चार शब्द ही बोलता है। यह बहुत हद तक ठीक है। परन्तु हमें यह भी याद रखना चाहिए कि संसार में शायद ही ऐसा कोई मनुष्य होगा जो अकेले में चिन्तन नहीं करता, अपने मन में सोच-विचार नहीं करता। प्रत्येक व्यक्ति, जब तक कि उसके मन है और मन में विचार करने की शक्ति है, भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में अपने-आप में अवश्य अनेक अवसरों पर सोचता है। जब यह बात सच है तो यदि कोई नाटककार अपने किसी पात्र के मनोभावों अथवा एकांत-चिन्तन को दर्शकों के समक्ष रखना चाहे, तो उसके पास स्वगत के अतिरिक्त और कौनसा साधन है। यह सत्य है कि यदि और जब उस पात्र के मनोभाव फल या कार्य के रूप में परिणत होंगे, तो उस फल अथवा कार्य से ही (स्वगत की सहायता के बिना) उसकी अन्तःप्रवृत्तियों तथा विचारों पर प्रकाश पड़ जायगा। किन्तु कई बार व्यक्ति के विचार कार्य या फल के रूप में परिणत ही नहीं होते, अथवा उनका फल उन विचारों से बिल्कुल उल्टा या असम्बद्ध होता है। ऐसी अवस्था में नाटककार के हाथ में स्वगत ही उस पात्र के चरित्र का यथोचित चित्रण करने का सफल, सार्थक और उपयोगी साधन है।

फलतः हम देखते हैं कि यद्यपि पश्चिम में स्वगत का घोर विरोध किया जा रहा है और हमारे कुछ नाटककारों (लक्ष्मीनारायण मिश्र तथा सेठ गोविन्ददास आदि) ने भी इस प्रभाव के कारण अपने कुछेक नाटकों में स्वगत का बहिष्कार किया है, तथापि अधिकांश आधुनिक हिन्दी-नाटकों में लंबे अथवा छोटे स्वगत-भाषणों की योजना की गई है। यहाँ तक कि सेठ गोविन्ददास ने भी, जिन्होंने स्वगत को अस्वाभाविक जानकर अपने कई एक पहले समस्या-नाटकों में इसका उपयोग नहीं किया था, अपने बाद के समस्या-नाटक 'ग़रीबी और अमीरी' में स्वगत की योजना की है, और नाटक की भूमिका में स्वगत की उपयोगिता तथा आवश्यकता सिद्ध करने का यत्न किया है।

फिर भी इतना अवश्य मानना पड़ेगा कि यद्यपि कई अवसरों पर स्वगत की योजना बड़ी उपयोगी एवं आवश्यक होती है, तथापि इसका प्रयोग साव-धानी के साथ करना चाहिए। केवल उन पात्रों के लिए उन अवस्थाओं में ही स्वगत का प्रयोग किया जाय, जिनका यथोचित एवं यथार्थ चित्रण इसके बिना न हो सके। जिन पात्रों के चरित्र का चित्रण करने के लिए, तथा जिन परि-

स्थितियों पर प्रकाश डालने के लिए स्वगत के बिना काम चल सके, वहाँ इसकी योजना नहीं की जानी चाहिए।

यह बड़े सन्तोष की बात है कि जहाँ हमारे आधुनिक हिन्दी नाटककारों ने स्वगत का पूर्णरूपेण बहिष्कार भी नहीं किया, वहाँ उसका बिना सोचे-समझे स्वच्छन्दतापूर्वक प्रयोग भी नहीं किया। कई नाटककारों ने इसकी योजना बड़ी सावधानी के साथ विशेष आवश्यकता पड़ने पर ही की है। उदाहरण के लिए उदयशंकर भट्ट 'मुक्तिपथ' में सिद्धार्थ के दार्शनिक तथा चिन्तनशील चरित्र पर समुचित प्रकाश डालने के लिए अनेक अवसरों पर स्वगत का प्रयोग कर सकते थे। परन्तु उन्होंने बड़ी कुशलता तथा बुद्धिमत्ता से सुकेशी की अवतारणा करके उसके साथ अनेक बार सिद्धार्थ का वार्तालाप कराके बड़े रोचक तथा सजीव संवादों द्वारा सिद्धार्थ के विलक्षण चरित्र को स्पष्ट किया है। केवल दो-तीन अवसरों पर ही स्वगत के अनिवार्य हो जाने के कारण इसकी योजना 'मुक्तिपथ' में की गई है।

व्यावहारिक दृष्टिकोण से 'स्वगत' (soliloquy) की अपेक्षा पृथग्भाषण अथवा अपवारित (Aside) अधिक अस्वाभाविक है, विशेषत: उस समय जब कि रंगमंच पर खड़ा पात्र उसे दूर पीछे बैठे हुए दर्शकों को सुनाने के लिए ऊँचे स्वर में कहता है। परन्तु अस्वाभाविक होते हुए भी पृथग्भाषण की उपयोगिता से इन्कार नहीं किया जा सकता। दैनिक जीवन में ऐसे अवसर अनेक बार आते हैं जब कि व्यक्ति अन्य व्यक्तियों से बातचीत करते समय अपने मन के सच्चे भावों को छिपाकर दूसरों को उनके प्रतिकूल बात कहता है, अथवा एक व्यक्ति को मन के सच्चे भाव बता कर पास ही खड़े दूसरे व्यक्ति से उन भावों को छिपाना चाहता है। ऐसी अवस्था में अपवारित की योजना आवश्यक और अनिवार्य-सी हो जाती है। किन्तु आज के बड़े प्रेक्षागृहों में इसे पूरे ज़ोर से बोलना पड़ता है इसलिए यह बड़ा अस्वाभाविक प्रतीत होता है कि दूर बैठे दर्शक तो उस बात को सुन लें, किन्तु पास रंगमंच पर खड़ा हुआ दूसरा पात्र उसे न सुन पाये। इस कारण से आज के नाटककारों ने पृथग्भाषण का प्राय: बहिष्कार कर दिया है। परन्तु पृथग्भाषण का काम एक अन्य प्रकार से, double acting अथवा दोहरे अभिनय के द्वारा चलाया जा सकता है। स्वगत को पूरे ज़ोर से उच्च स्वर में बोलने की अपेक्षा यह अच्छा है कि पात्र मन के छिपाने योग्य सच्चे भावों का दर्शकों तथा तीसरे पात्र को परिचय देने के लिए तनिक-सा मुड़कर अपने मन की गोपनीय बात या विषय को मुख की भाव-भंगी अथवा हाथ, आँख, ओंठ आदि के इशारों से व्यक्त कर दे। इससे दर्शकों को अथवा

रंगमंच-वर्त्ती तीसरे पात्र को पता लग जायगा कि जो बात उस पात्र ने दूसरे पात्र से प्रकट रूप में कही है, उसका मनोगत भाव उनसे भिन्न है। इस रीति से दोनों काम सम्पन्न हो जायेंगे। उस पात्र के यथार्थ मनोगत भावों का परिचय भी मिल जायगा, और साथ में पृथग्भाषण की अस्वाभाविकता के दोष का परिहार भी हो जायगा।

कथोपकथन के क्षेत्र में भी हमारे आधुनिक नाटककारों ने उन्नीसवीं शताब्दी के तथा बीसवीं शताब्दी के प्रथम चरण के नाटककारों की अपेक्षा बहुत अधिक सफलता प्राप्त की है। उन्होंने कथोपकथन की शक्ति, सार्थकता और महत्त्व को पहचाना है, और उनमें से अधिकतर ने (उदाहरण के लिए हरि-कृष्ण प्रेमी, पृथ्वीनाथ शर्मा, सेठ गोविन्ददास, उपेन्द्रनाथ अश्क इत्यादि ने) संवादों को बड़ा सुन्दर, सजीव और सार्थक बनाया है। उनके संवाद प्राय: कथावस्तु के विकास में सहायक होते हैं तथा चरित्र को स्पष्ट करने की क्षमता रखते हैं। इसके अतिरिक्त वे अधिकतर सजीव, सशक्त, पात्रानुकूल तथा अव-सरानुकूल होते हैं। यथार्थवादी धारा के समस्या-नाटकों के कथोपकथन तो विशेष रूप से सरल तथा स्वाभाविक हैं। जयशंकर प्रसाद को छोड़कर प्राय: शेष सभी ऐतिहासिक तथा पौराणिक नाटकों के रचयिताओं ने भी इस बात का ध्यान रखा है कि उनके कथोपकथन साधारण दर्शकों की समझ तथा आस्वादन से बाहर न होने पावें। प्रसाद के नाटकों में कथोपकथन कई बार बड़े क्लिष्ट हो गये हैं, जिन्हें केवल एक बार पढ़ने या सुनने से उनका अर्थ और आस्वादन भली भांति नहीं हो सकता। साधारण दर्शक या पाठक को इस प्रकार के संभाषण दो या तीन बार सुनने अथवा पढ़ने से ही उनका भाव स्पष्ट हो सकता है—

देवगुप्त—वाह, कितना सुरभित समीर है। घ्राण तृप्त हो गया; मस्तिष्क जैसे हँसने लगा और ग्लानि का तो पता तक नहीं। सुरमा, तुम्हारा स्थान कितना सुरम्य है। (देखकर) अरे ! तुम्हारा बाल-व्यजन भी बन गया; कितना सुन्दर है। इत्यादि इत्यादि।

('राज्यश्री', प्रथम अंक पहला दृश्य)

इस प्रकार के क्लिष्ट और कवित्वपूर्ण संवाद पढ़ने के लिए भले ही सुन्दर तथा रोचक हों (और वे भी उच्च-शिक्षित पाठकों के लिए ही), परन्तु रंगमंच पर अभिनय के समय वे कदापि उपयुक्त नहीं कहे जा सकते। अभिनय के समय इस प्रकार के कवित्वपूर्ण और कठिन संवादों का अर्थ भली भांति समझने के लिए दर्शकों को समय देने के लिए अभिनेता रुकेंगे नहीं। इसके अतिरिक्त

साधारण अभिनेताओं को रंगमंच पर उनका ठीक ढंग से उच्चारण करने में भी कठिनाई होगी।

इसके अतिरिक्त प्रसाद के कथोपकथन कई स्थलों पर इतने रहस्यवादी एवं दार्शनिक हो जाते हैं कि उनको केवल रंगमंच पर समझना ही कठिन नहीं, वरन् अकेले में पढ़ते समय भी उनके ठीक समझने के लिए उन पर गम्भीरता-पूर्वक सोचने की आवश्यकता है। उदाहरण के लिए निम्नलिखित संवाद के अर्थ और भाव को पूर्णतया समझने के लिए उच्च-शिक्षित पाठक को भी सोचना पड़ेगा—

कृष्ण—सखे ! सृष्टि एक व्यापार है ! उसका कुछ-न-कुछ उद्देश्य अवश्य है; फिर ऐसी निराशा क्यों ? द्वन्द्व तो कल्पित है, भ्रम है, उसी का निवारण होना आवश्यक है। देखो, दिन का अप्रत्यक्ष होना ही रात्रि है, आलोक का अदर्शन ही अंधकार है। ये विपक्षी द्वन्द्व अभाव हैं। क्या तुम कह सकते हो कि अभाव की भी कोई सत्ता है ! कभी नहीं।

अर्जुन—पर यदि कोई दुःख, रात्रि, जड़ता और पाप आदि को ही सत्ता माने और अंधकार ही को निश्चय जाने तो ?

कृष्ण—तो फिर जीव दुःख के भँवर में भी आनन्द की उत्कट अभिलाषा क्यों करता है ? रात्रि के अंधकार में दीपक क्यों जलाता है ? क्या वास्तव में वास्तविकता की ओर उसका झुकाव नहीं ? वयस्य ! जिन पदार्थों की शक्ति अप्रकाशित रहती है उन्हें लोग जड़ कहते हैं, किन्तु देखो, जिन्हें हम जड़ कहते हैं, वे जब कभी विशेष मात्रा में मिलते हैं तो उनमें एक विशेष शक्ति उत्पन्न हो जाती है, स्पन्दन होता है, जिसे जड़ता नहीं कह सकते। इत्यादि। ('नागयज्ञ,' प्रथम अंक पहला दृश्य)

परन्तु अधिकांश आधुनिक हिन्दी-नाटककारों ने अपनी रचनाओं में प्रसाद के संवादों में पाये जाने वाले दोषों से बचने की कोशिश की है। स्वयं प्रसाद के नाटकों में भी सरल और प्रभावोत्पादक संवादों की कमी नहीं है, जैसा कि हम चौदहवें अध्याय में बता चुके हैं।

आधुनिक हिन्दी-नाटक में एक और प्रवृत्ति जो पर्याप्त बल पकड़ती जा रही है, लंबे रंग-संकेतों का समावेश है। आधुनिक हिन्दी-नाटककार प्रत्येक अंक अथवा दृश्य के आरम्भ में, तथा कई बार दृश्यों के बीच भी लम्बे रंग-संकेतों की अवतारणा करते हैं, और इनको अधिकाधिक उपयोगी और महत्त्व-पूर्ण बनाने की कोशिश करते हैं। इन रंग-संकेतों में पात्रों, स्थानों, उद्यानों, भवनों तथा प्राकृतिक दृश्यों आदि का बड़ा विशद तथा वास्तविक चित्र उपस्थित

किया जाता है। आज से कुछ वर्ष पहले के अधिकांश नाटककार पात्र, स्थान तथा दृश्य आदि के वर्णन में दो-एक पंक्तियाँ लिखकर ही सन्तुष्ट हो जाते थे। 'ध्रुवस्वामिनी' को छोड़ प्रसाद के शेष सभी नाटकों के रंग-संकेत प्रायः छोटे-छोटे हैं। चन्द्रगुप्त विद्यालंकार के 'अशोक' में भी यही हाल है। किन्तु आज के कई नाटककारों ने (विशेषतः सेठ गोविन्ददास ने अपने ऐतिहासिक नाटकों में, विद्यालंकार ने 'रेवा' में, तथा प्रसाद ने भी अपने अन्तिम नाटक 'ध्रुवस्वामिनी' में) पात्रों, स्थानों तथा प्राकृतिक दृश्यों आदि का वर्णन बड़ी विशदता के साथ लम्बे रंग-संकेतों में किया है। उदाहरण के लिए सेठ गोविन्ददास के 'शशिगुप्त' के प्रथम दृश्य का रंग-संकेत ३८ पंक्तियों का है। उनमें से कुछ पंक्तियाँ हम नीचे उद्धृत करते हैं—

समय—उषःकाल

[पीछे और दोनों ओर गिरि-शृङ्ग दीखते हैं। पीछे के पर्वत ऊंचे हैं जो दोनों ओर से ढालू होते हुए सामने नीचे हो गये हैं। पीछे के शृङ्गों में दूर ऊंचे-ऊंचे तीन शिखरों वाला एक शृङ्ग दिखाई देता है; यह सब शृङ्गों में ऊंचा है। इसकी चोटियां हिम से आच्छादित हैं। नीचे की श्रेणियां वृक्षों और तृणों से हरी हैं। भिन्न-भिन्न तरु भिन्न-भिन्न वर्णों तथा आकारों के पत्रों तथा पुष्पों से लदे हुए हैं। इन हरित श्रेणियों में यत्र-तत्र जल के प्रपात गिर रहे हैं। उदय होते हुए सूर्य की सुनहरी किरणें हिमाच्छादित शृङ्गों तथा जल-प्रपातों को सुवर्ण के समान बना रही हैं। शृङ्गों के वृक्षों की चिकनी पत्रावली, कुसुम-समूह तथा तृण चलती हुई पवन में लहराते हुए रवि-करों से अद्भुत रंग पा रहे हैं। एक चपटे से शिला-खण्ड पर शशिगुप्त और चाणक्य बैठे हैं इत्यादि, इत्यादि।]

इसके आगे नाटककार ने बड़े विस्तार और विशदता के साथ शशिगुप्त तथा चाणक्य के व्यक्तित्व तथा वेश का चित्रोपम वर्णन किया है। लंबे रंग-संकेतों की प्रवृत्ति हिन्दी-नाटक तथा एकांकी में ज़ोर पकड़ती जा रही है, और नाटककार इनको अधिकाधिक उपयोगी और महत्त्वपूर्ण बनाने की चेष्टा करते हैं। कहीं-कहीं तो (उदाहरण के लिए 'शशिगुप्त' के पंचम अंक के पहले दृश्य में) रंग-संकेतों को कथोपकथन की अपेक्षा अधिक स्थान और महत्त्व दिया गया है।

उन्नीसवीं शताब्दी के नाटकों में संवादों तथा स्वगत के बीच पद्य का योग प्रचुरता से किया जाता था। बीसवीं शताब्दी के प्रथम चरण में भी इस प्रवृत्ति का प्रचार बना रहा। किंतु संवादों के बीच पद्य का प्रयोग प्रायः अस्वा-

भाविक तथा भद्दा लगता है, इस कारण आधुनिक हिन्दी-नाटककारों ने इसका सर्वथा बहिष्कार कर दिया है। दूसरी ओर उन्होंने ऐसे प्रौढ़ तथा उपयुक्त गद्य का प्रयोग शुरू किया है, जिसमें सभी प्रकार के भावों, विचारों तथा रसों को अभिव्यक्त करने की क्षमता है। प्रसाद के नाटकों में तो भावुकतापूर्ण तथा कवित्वमय गद्य का प्रयोग अधिकता के साथ किया गया है। परन्तु दूसरे आधुनिक नाटककारों की रचनाओं में भी कवित्वपूर्ण तथा भावुक गद्य का अभाव नहीं।

कवित्वपूर्ण तथा भावुक गद्य के अतिरिक्त द्विजेन्द्रलाल राय ने अपने बंगला-नाटकों में कवित्वमय वातावरण की सृष्टि एवं वृद्धि के लिए मधुर गीतों की योजना करने की प्रथा चलाई थी। उसी के अनुकरण में हिन्दी के अधिकतर नाटककारों ने इस प्रवृत्ति को ग्रहण करके अपने नाटकों के वातावरण को कवित्वमय बनाने की चेष्टा की है। यद्यपि भारतेन्दु तथा उन्नीसवीं शताब्दी के कुछ अन्य उच्चकोटि के नाटककारों ने भी अपने नाटकों में मधुर तथा भावपूर्ण गीतों की योजना अवसरानुकूल की है, तथापि आज के कुछ हिन्दी-नाटककारों में गीतों की प्रवृत्ति विशेष बलवती दिखाई पड़ती है (प्रसाद तथा प्रेमी के नाटकों में)। अधिकतर ये गीत भावुकता, कोमलता तथा माधुर्य से भरे हुए हैं, परन्तु कहीं-कहीं पर ये गीत दार्शनिक तथा रहस्यवादी ढंग के बन गये हैं (उदाहरण के लिए प्रसाद के 'अजात-शत्रु' में)। कहीं-कहीं इन गीतों में वीरता का उल्लास है, जैसे—

सुनो वीर ! बजती रणभेरी, करती दूर तुम्हें आह्वान
चलो विजय-लक्ष्मी वर लावें, प्राप्त करें वैभव-धन-मान।
स्तब्ध विश्व है निशा अँधेरी
वन-पर्वत नगरी सुनसान,
यही समय है शत्रु-शिविर पर
जा बरसें बनकर तूफ़ान ! इत्यादि-इत्यादि।

परन्तु जहाँ अधिकतर आधुनिक हिन्दी-नाटकों में सुन्दर और मधुर गीतों का समावेश किया गया है, वहाँ हमारे समस्या-नाटकों में गीतों का प्रायः अभाव है। विशेषतः लक्ष्मीनारायण मिश्र तथा सेठ गोविंददास के समस्या नाटकों में गीतों की योजना नहीं की गई। किंतु सेठ गोविंददास ने 'ग़रीबी और अमीरी' में गीतों का प्रयोग किया है।

आधुनिक हिन्दी-नाटकों की भाषा-शैली (diction) का एक महत्त्वपूर्ण अंग भिन्न-भिन्न पात्रों के द्वारा भिन्न-भिन्न भाषाओं तथा उपभाषाओं का प्रयोग है।

विविध भाषाओं के प्रयोग से नाटक के वातावरण में स्वाभाविकता की वृद्धि होती है। संस्कृत के नाटकों में भाषा-भेद के नियम का पालन किया गया है। उन्नीसवीं शताब्दी के कुछ एक नाटकों में भिन्न-भिन्न पात्रों के लिए भिन्न-भिन्न भाषाओं तथा बोलियों का प्रयोग किया गया था, किंतु अधिकांश नाटकों में एक ही भाषा को व्यवहार में लाया गया था। इसी प्रकार अधिकांश आधुनिक नाटककारों ने भी अपनी रचनाओं में एक ही भाषा का प्रयोग किया है, भाषा-भेद की ओर ध्यान नहीं दिया। किंतु कुछ नाटकों में यथार्थता और स्वाभाविकता की रक्षा करने के लिए भिन्न-भिन्न भाषाओं का प्रयोग किया है, जैसे सेठ गोविंददास ने 'सेवापथ' में भिन्न-भिन्न प्रांतों के लोगों के लिए उनके अपने प्रान्तों की भाषाओं का व्यवहार किया है—

अगरवाला—तो अब महाशयो ! हज़रात ! लेडीज़ एन्ड जेंटलमेन ! मैं एक प्रस्ताव आपकी सेवा में उपस्थित करता हूँ, एक तजवीज़ आपकी ख़िदमत में पेश करता हूँ, एम मूविंग ए रिज़ोल्यूशन नाउ……

एक बंगाली—(खड़े होकर) शॅभापॅति मॅहोदॅय ! और मॅहाशॅय लोगो ! हमें ईश रिज़ोल्यूशन का मन से शॅकिंड करता हूँ (कुछ तालियाँ बजती हैं) हमारा शुजॅलां शुफॅलां मलॅयॅज शीतलां जोठो बंग भूमि हैं, ऊश का लोग हॅमारा बंगला भाई जोठो शक्रेटरियॅट में काम करता………

एक सिक्ख—(हाथ में मोटा-सा डंडा ले खड़े होकर) अरे, इक्क भी हुश्यार ठेकेदार इस पार्टी दे नेडे नई जायगा। पी० डब्ल्यू० डी० में इक्क दो ठेकेदारां दी इमारत गिराई हो, हज़ारां दी गिरा दई………

एक मराठा—(खड़े होकर अपनी बड़ी-सी लाल पगड़ी सम्हालते हुए) पोलपाट लाटणा लेकर घर में पतल्या पतल्या पोल्या लटवाता और खाता है, चांगला-चांगला कापड़ पेनता है, मोठ्या-मोठ्या बंगला में रेता है और सोशलिस्ट बनता है। इत्यादि। (द्वितीय अंक, चौथा दृश्य)

परन्तु आज के अधिकांश नाटककारों ने भाषा-भेद की प्रथा का पालन नहीं किया। प्रसाद ने अपने सभी नाटकों में ('प्रायश्चित्त' को छोड़कर), उदयशंकर भट्ट ने 'मुक्तिपथ' में, सेठ गोविंददास ने 'शशिगुप्त' तथा 'हर्ष' में, 'उग्र' ने 'गंगा का बेटा' में, चन्द्रगुप्त विद्यालंकार ने 'अशोक' तथा 'रेवा' में तथा कई अन्य नाटककारों ने अपने सभी पात्रों के लिए केवल एक ही भाषा का उपयोग किया है। उनके सभी पात्र, चाहे वे स्त्री हों अथवा पुरुष, उच्च हों अथवा नीच, भारतीय हों अथवा विदेशीय, शिक्षित हों अथवा अशिक्षित, शुद्ध हिन्दी का ही प्रयोग करते हैं।

सारांश में यह कहा जा सकता है कि आधुनिक हिन्दी-नाटक के टेकनीक पर प्राचीन भारतीय नाटच-सिद्धांतों का प्रभाव प्रायः समाप्त होता जा रहा है, और दूसरी ओर पाश्चात्य नाटच-विधान तथा सिनेमा के टेकनीक का प्रभाव बढ़ता जा रहा है। हमारे नाटककारों ने यथार्थवाद को तथा रंगमंच की आवश्यकताओं को पश्चिम से ग्रहण कर लिया है। उन्होंने नान्दी, प्रस्तावना तथा भरतवाक्य को अपने नाटकों से हटा दिया है। अपने नाटकों में रस को महत्त्व देने के स्थान पर उन्होंने कथानक के सौन्दर्य तथा घटना-वैचित्र्य को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है।

किंतु यदि तनिक गंभीरतापूर्वक विचार किया जाय, तो आज भी हम हिन्दी-नाटक पर प्राचीन भारतीय नाटकों का प्रभाव किसी-न-किसी रूप में देख सकते हैं। उदाहरण के लिए पश्चिम का प्रभूत प्रभाव होते हुए भी आज के अधिकांश नाटककारों ने न केवल कवित्वपूर्ण वातावरण बनाये रखने की चेष्टा की है, बल्कि अपने नाटकों में भावपूर्ण तथा मधुर गीतों की योजना करके उस वातावरण को और भी कवित्वमय बनाने का प्रयास किया है। दूसरे, यद्यपि पश्चिमी नाटक-साहित्य के प्रभाव से यथार्थवाद में हमारे आधुनिक नाटककारों की विशेष अभिरुचि है, तथापि भारतीय आदर्शवाद का प्रचार और प्रभाव आज भी हमारे नाटकों में कम नहीं है। इसके अतिरिक्त संस्कृत-नाटच-शास्त्र के नियमानुसार दुःखान्त नाटकों की रचना वर्जित है। हमारे आधुनिक हिन्दी-नाटक में यद्यपि पाश्चात्य साहित्य तथा जीवन के प्रति अपने स्वतन्त्र दृष्टिकोण अथवा अनुभव के फलस्वरूप 'आहुति', 'स्वप्न-भंग', 'दाहर' तथा 'रेवा' आदि कतिपय दुःखान्त नाटकों की रचना भी हुई है, तथापि दुःखान्त नाटकों की संख्या तथा महत्त्व आज भी हिन्दी-साहित्य में सुखान्त नाटकों की अपेक्षा बहुत कम है।

छब्बीसवां अध्याय

(क) हिन्दी-रङ्गमंच

प्रथम अध्याय में हम यह सिद्ध कर चुके हैं कि हमारे संस्कृत-नाटक अधिकतर रंगमंच पर खेले जाने के उद्देश्य से लिखे जाते थे। वे प्रायः धार्मिक, राजकीय तथा ऋतु-संबंधी उत्सवों के अवसर पर खेले जाते थे, और उनके अभिनय के केन्द्र प्रायः प्रसिद्ध देवमंदिर अथवा राजदरबार होते थे। किन्तु समय के बीतने पर धीरे-धीरे संस्कृत-नाटकों का प्रचार कम होता गया। भारतवर्ष के इतिहास के मध्यकाल में राजनीतिक कलह और अशांति, मुस्लिम शासकों की नाटक-विरोधी धार्मिक प्रवृत्ति तथा Vernaculars का प्रचार हो जाने आदि के कारण संस्कृत-रंगमंच का प्रचार बंद हो गया। किंतु यद्यपि संस्कृत-रंगमंच का अन्त ग्यारहवीं अथवा बारहवीं शताब्दी ईस्वी में हो गया, तथापि उसी समय अथवा उसके शीघ्र बाद ही किसी अन्य नियमित रंगमंच की स्थापना नहीं हो सकी। परन्तु इतना अवश्य हुआ कि संस्कृत-रंगमंच का प्रचलन बन्द होने के कुछ ही शताब्दियों के पश्चात् मुग़ल शासनकाल में नये प्रकार की लोकप्रिय लीलाओं का उदय हुआ। इन मध्यकालीन लोकप्रिय लीलाओं में रामलीला, रासलीला और नौटंकी आदि प्रमुख थीं। इन लीलाओं में हमें सर्वप्रथम हिन्दी-रंगमंच के दर्शन होते हैं। इनका रंगमंच बड़ा सादा और घरेलू ढंग का होता था। इन लीलाओं पर दूसरे अध्याय में विचार किया जा चुका है।

रंगमंच की आवश्यकता

हिंदी के साहित्यिक नाटकों की अविच्छिन्न धारा का आरम्भ उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य में हुआ, जैसा कि हम तीसरे तथा चौथे अध्यायों में बता चुके हैं। इससे पूर्व कि हम उन्नीसवीं शताब्दी के हिन्दी-रंगमंच पर विचार करें, यहाँ इस विषय में एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न पर विचार कर लेना समीचीन होगा। प्रश्न यह है कि क्या नाटक के लिए रंगमंच आवश्यक है? क्या नाटक की उन्नति तथा विकास प्रेक्षागृह के बिना नहीं हो सकते? पहली बात तो यह है कि 'नाटक' शब्द से ही 'नट' तथा 'नाट्य' (अभिनय) के साथ इसका स्वाभाविक संबंध स्पष्ट हो जाता है। 'नाटक' का अभिप्राय ही केवल उस रचना से है, जिसका रंगमंच पर नाट्य (अभिनय) किया जाय। इस परिभाषा के अनुसार

वे सभी नाटकीय रचनाएँ जो केवल पढ़ने के उद्देश्य से रची गई हैं अथवा जिनका अभिनय नही हो सकता, नाटक नहीं कहला सकतीं।

किंतु यहाँ एक विरोधी तर्क प्रस्तुत किया जा सकता है। मान लिया कि नाटक के लिए रंगमंच अनिवार्य है, परन्तु यह रंगमंच बाह्य (अर्थात् प्रेक्षागृह का) न होकर मानसिक हो सकता है। थिएटर में किसी नाटक का सफल अभिनय तभी हो सकता है जब कि अभिनेता तथा निर्देशक कला-कुशल हों, उनके पास पर्याप्त अभिनय-संबंधी साधन हों, तथा अभिनय पर पर्याप्त धन व्यय किया जाय। इसके विरुद्ध यदि किसी रसज्ञ तथा सहृदय पाठक की कल्पना-शक्ति विशेष सबल तथा सूक्ष्म है, तो वह नाटक को पढ़ते या सुनते समय उसका अभिनय साथ-साथ ही बड़ी कुशलता तथा उत्तमता से अपने मन के रंगमंच पर कर सकता है। इस प्रकार वह थिएटर के साधारण अथवा घटिया अभिनय की अपेक्षा उस रचना का अधिक अच्छी प्रकार से आस्वादन अपने मन में कर सकता है।

और यह बात बहुत हद तक ठीक भी है। किंतु यहाँ एक और बात जो विचार करने योग्य है वह यह है कि ऐसी सूक्ष्म तथा विशद कल्पना वाले लोगों की संख्या कितनी है ? सुशिक्षित तथा सुसंस्कृत मनुष्य भी नाटक पढ़ने की अपेक्षा थिएटर में उसका अभिनय देखकर अधिक आनन्द लाभ करते हैं। आज असंख्य स्त्री-पुरुष सिनेमा देखने जाते हैं। भला उनमें से कितनों को उन सिनेमा-चित्रों के डायलॉग की कापियां पढ़कर उतने ही आनन्द की प्राप्ति होती होगी, जितनी कि उन चित्रों को रजतपट पर देखकर होती है। केवल पढ़ने की अपेक्षा नाटक का अभिनय देखने से उसी रचना का आनन्द और आकर्षण कई गुणा बढ़ जाता है। यदि दो आने की कापी पढ़कर उतना ही आनन्द प्राप्त हो सकता, तो दो रुपये तथा दो-ढाई घण्टे खर्च करके कोई सिनेमाघर को क्यों भागा जाता ? घर बैठे-बिठाये उसका आनन्दास्वादन क्यों न कर लेता ? इससे यह सिद्ध हो जाता है कि ऐसे लोगों की संख्या बहुत ही कम है, जो थिएटर के रंगमंच की भाँति अथवा उससे भी अधिक अपने मन के रंगमंच पर नाटक का अभिनय करके आनन्द लाभ कर सकते हैं।

अतः हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि नाटक का यथेष्ट रसास्वादन करने के लिए रंगमंच अनिवार्य है। परन्तु फिर भी बहुत से नाटक ऐसे हो सकते हैं और होते हैं जिनका अभिनय न कभी हुआ है और न हो सकने की संभावना है। आज भी हिन्दी के नाटकों को रंगमंच पर अभिनीत करने की अपेक्षा उनको पढ़ने का प्रचार अधिक है। इसका प्रमुख कारण रंगमंच का तथा उसके प्रचार का अभाव है। किन्तु इस तथ्य से किसी प्रकार इन्कार नहीं किया

जा सकता कि चाहे किसी नाटक का अभिनय किया जाय अथवा न किया जाय, नाटक का लक्ष्य तथा सार्थकता अभिनीत होने में ही है। चाहे नाटक पढ़ने से भी उतना ही मनोरंजन हो जाय जितना कि उसका अभिनय देखने से, तथापि नाटक लिखा इसी उद्देश्य से जाता है कि उचित वातावरण और अवस्था में उसका सफल अभिनय किया जा सके।

यह बात ठीक है कि कभी-कभी उच्चकोटि के नाटक भी घटिया अभिनय के कारण बिगाड़ दिये जाते हैं। ऐसी दशा में विशेष कलाप्रेमी तथा सहृदय रसिकजन, जिनकी कल्पना-शक्ति बड़ी सूक्ष्म तथा सबल है, उत्कृष्ट नाटकों के निकृष्ट अभिनय से डरते हुए उन नाटकों का थियटर में अभिनय देखने की अपेक्षा मन में उसका यथेष्ट अभिनय करके संतोष प्राप्त कर लेते हैं। नाटक वास्तव में रंगमंच पर अभिनीत होने के लिए ही उद्दिष्ट है, परन्तु नाटक के कुछ सच्चे प्रेमी नाटक को थियटर की अपेक्षा मन के रंगमंच पर अभिनीत करना अधिक पसन्द करते हैं।

उन्नीसवीं शताब्दी में हिन्दी-रंगमंच

रासलीला, रामलीला तथा नौटंकी आदि लीलाओं के मध्यकालीन रंगमंच के अतिरिक्त उन्नीसवीं शताब्दी में हिन्दी-रंगमंच के दो विशिष्ट रूप थे–पारसी व्यवसायी रंगमंच तथा साहित्यिक रंगमंच। पारसी रंगमंच अंग्रेज़ों के भारतवर्ष में स्थापित रंगमंच से उधार लिया गया था। अंग्रेज़ लोग बम्बई, कलकत्ता आदि बड़े-बड़े नगरों में उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य से बहुत पहले आबाद हो चुके थे। अपने मनोरंजन के लिए उन्होंने कहीं-कहीं अपने प्रेक्षागृह भी स्थापित कर लिये थे, जिनमें वे अंग्रेज़ी के नाटकों तथा प्रहसनों का और कभी-कभी 'शकुन्तला' आदि संस्कृत के प्रसिद्ध नाटकों के अंग्रेज़ी अनुवादों का अभिनय किया करते थे। अंग्रेज़ों की इन प्रायः अव्यवसायी नाटक-कम्पनियों के अनुकरण में पारसियों ने बम्बई, दिल्ली तथा कलकत्ता आदि बड़े-बड़े नगरों में अपनी थिएट्रिकल कम्पनियां स्थापित कर लीं। अपने थिएटरों के लिए उन्होंने उसी अंग्रेज़ी ढंग के रंगमंच को अपनाया। सातवें अध्याय में हम संक्षेप से भिन्न-भिन्न रंगमंचीय नाटक-कम्पनियों तथा उनके नाटकों पर विचार कर चुके हैं। यद्यपि अधिकतर थिएट्रिकल कम्पनियों ने बम्बई तथा दिल्ली में अपने स्थायी प्रेक्षागृह बना लिये थे, तथापि वे कई बार देश के दूरवर्ती प्रदेशों का भ्रमण भी किया करती थीं। रंगमंच तथा अभिनय-संबन्धी सारा सामान वे एक स्थान से उठाकर दूसरे स्थान को ले जाती थीं। उनका रंगमंच प्रायः चौकोर होता था, जो कि चारों ओर से ढका रहता था। यवनिका जो कि ड्राप-सीन का काम देती थी,

रंगमंच को दर्शकों के बैठने के स्थान (auditorium) से जुदा करती थी। यवनिका के पीछे दो-तीन परदे और होते थे जो कि राजभवन, वन, उपवन, आश्रम और नदी आदि विविध दृश्यों को दिखाने के लिए प्रयोग में लाये जाते थे। रंगमंच के दाईं और बाईं ओर छोटे परदे (wings) लटकते रहते थे, और पात्रों का प्रवेश तथा प्रस्थान आदि इन्हीं wings से हुआ करता था।

ग्रीम-रूम अथवा नेपथ्य प्रायः रंगमंच के पीछे होता था, किन्तु यह दाईं या बाईं ओर के wing के पीछे भी हो सकता था। वाद्य-संगीत की योजना प्रायः रंगमंच के बाहर से की जाती थी। क्योंकि ये थिएटर प्रायः एक स्थान से दूसरे स्थान का भ्रमण करते थे, अतः वे रंगमंच के निर्माण पर अधिक धन का व्यय नहीं करते थे। अच्छे तथा सुन्दर रंगमंच के निर्माण की अपेक्षा उनको अधिक चिन्ता प्रत्येक नाटक के प्रतिदिन के अभिनय को सफल एवं सुन्दर बनाने की होती थी, और उसी की सामग्री तथा तैयारी पर वे अधिक धन तथा परिश्रम लगाते थे, जिससे वे उसे अधिकाधिक आकर्षक तथा प्रभावोत्पादक बना सकें। इन थिएट्रिकल कम्पनियों का प्रधान उद्देश्य धनोपार्जन होने के कारण इनका ध्यान सदा अपने नाटकों में अधिक-से-अधिक मनोरंजन तथा हास्य की सामग्री भरने, अतिनाटकीय तथा रोमांचकारी दृश्यों की अवतारणा करने, भड़कीली वेश-भूषा तथा रंग-बिरंगे परदों का प्रबन्ध करने आदि की ओर रहता था। कला और सुरुचि की ओर ये विशेष ध्यान नहीं देते थे।

इसके साथ हमें यह भी याद रखना चाहिए कि यद्यपि पारसी-रंगमंच की स्थापना सर्वप्रथम बम्बई में सन् १८७० में हुई थी, इसी ढंग का एक और रंगमंच अवध के नवाब वाजिदअली शाह के दरबार में भी स्थापित किया जा चुका था, जिस पर सन् १८५३ में 'अमानत' का 'इन्दर-सभा' खेला गया था। किंतु इन दोनों रंगमंचों का आधार एक ही था, और वह था भारतवर्ष में विद्यमान यूरोपियन रंगमंच, जिसकी स्थापना यूरोपीय लोगों ने अपने मनोरंजन के लिए कर रखी थी।

हिन्दी के साहित्यिक नाटक ने भी, जिसका उदय यथार्थ रूप में भारतेन्दु से माना जा सकता है, अपने अभिनय के लिए इसी रंगमंच को अपनाया। भारतेन्दु तथा उनके साथी पारसी-रंगमंच के विरुद्ध नहीं थे। वे तो केवल पारसी-रंगमंच के भद्दे और घटिया मनोरंजन, कुत्सित और अश्लीलतापूर्ण वातावरण तथा निकृष्ट नैतिक स्तर के विरोधी थे। इसलिए साहित्यिक नाटकों के रंगमंच में विशेष अन्तर केवल यही था कि उनके नाटकों का वातावरण अधिक शुद्ध तथा अश्लीलता से मुक्त होता था। परन्तु जनता की रुचि कुत्सित

एवं अशिष्ट होने के कारण अधिकांश लोग पारसी थिएटर के अभिनयों से ही अपना मनोरंजन करते थे। केवल थोड़े-से साहित्य-प्रेमी, सुसंस्कृत तथा सुरुचि-सम्पन्न लोग ही साहित्यिक नाटकों को अपनाते थे। भारतेन्दु के अनुसार 'जानकी-मंगल' हिन्दी का पहला साहित्यिक नाटक था, जिसका अभिनय सन् १८६२ में बनारस के एक थिएटर में हुआ। सन् १८७७ में लखनऊ में 'विद्यान्त नाट्य-शाला' नामक थिएटर विद्यमान था, जिसमें प्राय: बंगला-नाटकों के हिंदी-अनुवाद अभिनीत होते थे। साहित्यिक नाटकों के रंगमंच में जीवन तथा शक्ति का संचार करने के लिए भारतेन्दु स्वयं साहित्यिक नाटकों के अभिनय में सक्रिय भाग लेते थे।

बीसवीं शताब्दी का हिंदी-रंगमंच

रासलीला, रामलीला तथा सांगीत आदि मध्यकालीन लीलाएँ जो उन्नीसवीं शताब्दी में बहुत लोकप्रिय थीं, बीसवीं शताब्दी के प्रथम चरण में भी देश में काफ़ी लोकप्रिय रहीं। पारसी व्यवसायी रंगमंच का भी बीसवीं शताब्दी के पहले तीस वर्षों में विशेष प्रचार रहा। यद्यपि पारसी थिएट्रिकल कम्पनियों की प्राय: सभी प्रमुख विशेषताएँ जो उन्नीसवीं शताब्दी में थीं, वही बीसवीं शताब्दी में भी बनी रहीं, तथापि इनमें दो महत्त्वपूर्ण परिवर्तन बीसवीं शताब्दी में हुए (जैसा कि हम सातवें अध्याय में लिख चुके हैं)। एक तो इस शताब्दी में पारसी-रंगमंच पर हिंदी को उचित स्थान मिलने लगा, और दूसरे, पारसी थिएट्रिकल नाटकों के कथानक अब फ़ारसी के प्रेमाख्यानों की अपेक्षा अधिकतर रामायण, महाभारत और पुराण आदि भारतीय धार्मिक तथा लोकप्रिय ग्रंथों से लिये जाने लगे। धीरे-धीरे सिनेमा के बढ़ते हुए प्रचार के कारण थिएट्रिकल नाटकों का प्रचार कम हो गया।

पारसी थिएट्रिकल कम्पनियों के अतिरिक्त बीसवीं शताब्दी में दो अन्य व्यवसायी नाटक कम्पनियाँ भी विशेष विख्यात थीं—एक मेरठ की 'व्याकुल भारत नाटक-मंडली' तथा दूसरी काठियावाड़ की 'श्री सूर-विजय कम्पनी'। इन दोनों कम्पनियों ने अपने रंगमंच पर शुद्ध हिंदी को स्थान दिया, और जनता की भद्दी रुचि का परिष्कार करने का भी प्रयत्न किया।

इन व्यवसायी कम्पनियों के अतिरिक्त हिंदी-भाषी प्रदेश के भिन्न-भिन्न भागों में अनेक अव्यवसायी नाटक-कम्पनियाँ भी चल रही थीं। सन् १९०८ में पं० माधव शुक्ल ने इलाहाबाद में 'हिंदी-नाट्य-समिति' की स्थापना एक पुरानी नाटक-मण्डली के अवशेष पर की। इस नाट्य-समिति ने बहुत से हिंदी नाटकों का अभिनय किया, जिसमें राधाकृष्णदास का 'महाराणा प्रताप' तथा

पं० माधव शुक्ल का 'महाभारत (पूर्वार्द्ध)' विशेष उल्लेखनीय हैं। दूसरी मंडली भारतेन्दु जी के दो भतीजों—व्रजचन्द्र तथा कृष्णचन्द्र द्वारा स्थापित 'भारतेन्दु-नाटक-मण्डली' थी। इस कम्पनी ने भारतेन्दु के विभिन्न नाटकों का तथा राधाकृष्णदास के 'महाराणा प्रताप' का अभिनय किया। तीसरी मण्डली, जो कि 'काशी-नागरी-नाटक-मण्डली' कहलाती थी, ने भी साहित्यिक नाटकों को अपने रंगमंच पर अभिनीत किया।

उपरिलिखित व्यवसायी तथा अव्यवसायी नाटक-कंपनियों के अतिरिक्त आजकल स्कूलों और कालिजों में भिन्न-भिन्न अवसरों पर साहित्यिक हिन्दी-नाटकों का अभिनय किया जाता है। उत्तरप्रदेश, दिल्ली, पूर्वीय पंजाब तथा राजपूताना आदि प्रदेशों में बड़े-बड़े स्कूलों तथा कालेजों में संस्थापना-दिवस, स्वतन्त्रता-दिवस, पारितोषिक-वितरणोत्सव तथा दीक्षान्तोत्सव आदि के अवसर साहित्यिक हिन्दी-नाटक खेले जाते हैं। परन्तु स्कूलों तथा कालिजों के अभिनयों में बहुधा कई एक कठिनाइयाँ होती हैं। इन अव्यवसायी नाटक-समितियों के पास अभिनय के पर्याप्त साधनों का प्रायः अभाव होता है। न उनके पास अनेक प्रकार के परदे होते हैं, न वेश-भूषा तथा मेक-अप की यथेष्ट सामग्री होती है, और कई बार प्रकाश का नाटकोचित प्रबन्ध भी नहीं होता। कई स्कूलों तथा कालिजों में तो स्त्री-पात्रों का अभिनय भी लड़कों को ही करना पड़ता है। इसके फल-स्वरूप कभी-कभी उनका अभिनय इतना स्वाभाविक नहीं हो पाता, क्योंकि भरसक प्रयत्न तथा निर्देशन से भी लड़के उतनी स्वाभाविकता के साथ लड़कियों का अभिनय नहीं कर सकते, जितना कि लड़कियाँ। किन्तु यह सन्तोष की बात है कि रंगमंच पर अभिनयों में लड़के और लड़कियों को पृथक् रखने की प्रवृत्ति कम हो रही है, और अब लड़के तथा लड़कियाँ दोनों ही मिलकर अपने-अपने सेक्स के पात्रों का अभिनय करते हैं। इससे अभिनय की सफलता, स्वाभाविकता तथा प्रभाव की वृद्धि हो जाती है।

(क) आज का हिन्दी-रंगमंच

पाश्चात्त्य देशों में रंगमंच की उन्नति चित्रपट के साथ-साथ बड़े वेग से हो रही है। विविध प्रकार के उपायों तथा वैज्ञानिक साधनों की सहायता से अनेक प्रकार के रंगमंचीय भ्रम (stage illusions) बड़ी सफलता से उत्पन्न किये जा सकते हैं। समुद्र, वर्षा, बादल, बर्फ़ गिरने तथा युद्ध आदि के कठिन दृश्य भी इन साधनों के द्वारा बड़ी सुगमता के साथ रंगमंच पर दिखाये जा सकते हैं, जिससे रंगमंच पर स्वाभाविकता एवं यथार्थता का वातावरण सफलतापूर्वक उपस्थित किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त पाश्चात्त्य देशों में घूमने वाले

रंगमंच (revolving stage) का भी प्रचार है, जिस पर अनेक दृश्य एक ही समय में सजाये जा सकते हैं। जब पहला दृश्य समाप्त हुआ तो बिजली के स्विच द्वारा उसे हटा दिया जाता है और बिना तनिक भी समय खोये दूसरे स्विच के द्वारा दूसरा दृश्य (जो कि पहले ही सजाया गया होता है) प्रेक्षकों के सामने उपस्थित कर दिया जाता है। इस प्रकार पाश्चात्य देशों में थिएटर का विशेष रूप से विकास हो चुका है, और इसी विकास तथा उन्नति के कारण वह सिनेमा के साथ सफलता से टक्कर लेने में समर्थ है ।

हमारे देश में रंगमंच की अवस्था बहुत भिन्न है। बिना विशेष संकोच के यह कहा जा सकता है कि आज भी हिन्दी का अपना कोई व्यवस्थित तथा प्रचलित रंगमंच नहीं है। हमारे हिन्दी-नाटककारों के सम्मुख ऐसा कोई भी नियमित तथा व्यवस्थित रंगमंच नहीं है, जिसको वे नाटक लिखते समय ध्यान में रख सकें।

आज पारसी रंगमंच का लगभग अभाव हो चुका है। इसके अतिरिक्त हमें हिन्दी-नाटक में तीन प्रकार के रंगमंच के दर्शन होते हैं—अव्यवसायी रंगमंच, सिनेमा तथा रेडियो। अव्यवसायी नाट्य-समितियों में अधिकतर स्कूलों तथा कालिजों के विद्यार्थी होते हैं, अथवा नगर के वे सहृदय कलाप्रेमी स्त्री-पुरुष, जिनकी नाटक के अभिनय में विशेष रुचि होती है। ऐसी ड्रैमेटिक क्लबें आज प्राय: प्रत्येक नगर में पाई जाती हैं। किन्तु केवल थोड़ी-सी इन अव्यवसायी नाटक-क्लबों का रंगमंच सम्पन्न तथा सभी आवश्यक साधनों से युक्त होता है ; अन्यथा न इनके पास काफ़ी संख्या में परदे होते हैं, न आवश्यक वेश-भूषा और न ही विविध दृश्यों को स्वाभाविक तथा प्रभावोत्पादक बनाने के लिए प्रकाश का उचित प्रबन्ध होता है। किन्तु एक प्रोत्साहन की बात इन क्लबों में यह पाई जाती है कि अधिकतर इनमें दोनों वर्गों के लोग—स्त्रियाँ तथा पुरुष—अभिनय में तथा रंगमंच-संबन्धी अन्य काम में योग देते हैं। इसी सहयोग के कारण उनके अभिनय प्राय: स्वाभाविक, सफल तथा कलापूर्ण होते हैं।

अव्यवसायी रंगमंच के अतिरिक्त बड़े-बड़े नगरों में व्यवसायी नाटक-कम्पनियाँ भी कहीं-कहीं विद्यमान हैं। पृथ्वीराज कपूर की व्यवसायी नाटक-कम्पनी को कौन नहीं जानता।

रंगमंच का दूसरा रूप आज हमें चित्रपट या सिनेमा में मिलता है। यद्यपि भारतवर्ष में इसका प्रचार हुए थोड़े ही वर्ष बीते हैं, तो भी इस अल्प-काल में सिनेमा ने आश्चर्यजनक उन्नति तथा लोकप्रियता प्राप्त कर ली है। आज अनेकों फ़िल्म-कम्पनियाँ रजतपट के लिए चित्र बनाती हैं। किन्तु यह खेद की

बात है कि इनमें से अधिकांश कम्पनियाँ पुरानी पारसी थिएट्रिकल कम्पनियों के ही विकसित रूप मात्र हैं। उनकी विशेषताएँ प्रायः वही हैं जो थिएट्रिकल कम्पनियों की थीं और उनका नैतिक स्तर तथा वातावरण प्रायः वैसा ही है। तथापि न्यू थिएटर्ज़, राजकमल कलामन्दिर, बाम्बे टाकीज़, मिनर्वा टाकीज़ आदि कुछ फ़िल्म-कम्पनियों ने कला, नैतिकता तथा अभिनय के काफ़ी ऊँचे स्तर को बनाये रखा है। उनके चित्रों में प्रायः मौलिकता भी होती है।

सिनेमा को एक विशेष सुविधा प्राप्त है। यह रंगमंच के बहुत से प्रतिबन्धों, संकुचित सीमाओं तथा विवशताओं से मुक्त है। सभी प्रकार के कठिन तथा अतिप्राकृत दृश्य, जिनका अभिनय रंगमंच पर नहीं हो सकता, अथवा बहुत कठिनता से हो सकता है, चित्रपट पर आसानी से दिखाये जा सकते हैं। चित्रपट के लिए रचना करते समय नाटककार को अपनी कल्पना-शक्ति को संकुचित सीमाओं में बांधना नहीं पड़ता, बल्कि अपने मस्तिष्क तथा लेखनी को वह पूरी स्वतन्त्रता दे सकता है। इस स्वतन्त्रता के कारण रजतपट के चित्र रंगमंच के अभिनय की अपेक्षा अधिक सफल, सुन्दर और प्रभावोत्पादक बन जाते हैं।

जहाँ हमारे नाटककार पहले नाटक-रचना करते समय रंगमंच को ध्यान में रखते थे, वहाँ आज बहुत से नाटककार चित्रपट को दृष्टि में रखकर नाटक-रचना करते हैं। जैसा कि हम पच्चीसवें अध्याय में बता चुके हैं, चन्द्रगुप्त विद्यालंकार, सेठ गोविन्ददास, गोविन्दवल्लभ पन्त तथा उदयशंकर भट्ट आदि अनेक नाटककारों ने अपनी रचनाओं में ऐसे दृश्यों का समावेश भी कर दिया है जो चित्रपट पर ही सफलता से दिखाये जा सकते हैं। किन्तु अभी तक सिनेमा-कम्पनियों ने अपने चित्रों के लिए नाटकों को अपनाना शुरू नहीं किया। कभी-कभी किसी उपन्यास को लेकर उसके कथानक के आधार पर चित्र बनाया जाता है (जैसे प्रेमचन्द की 'रंगभूमि' तथा Thomas Hardy के Tess को लेकर)। परन्तु प्रायः प्रत्येक कम्पनी के अपने आदमी कथानक, कथोपकथन तथा गीतों आदि की रचना करते हैं। इस प्रकार एक चित्र को बनाने के लिए अनेक कलाकार योग देते हैं।

सिनेमा में एक बड़ी सुविधा यह भी है कि एक बार प्रभूत धन तथा परिश्रम व्यय करके एक चित्र बना लिया जाता है, और बाद में इच्छानुसार तनिक से धन और परिश्रम से उस चित्र की अनेक प्रतिलिपियाँ बनाई जा सकती हैं, और एक ही चित्र को एक ही समय में अनेक स्थानों पर दिखाकर असंख्य लोगों का मनोरंजन तथा अतुल धन का उपार्जन किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त एक ही चित्र कई महीनों अथवा वर्षों तक बिना दूसरी बार खर्च किये दिखाया जा सकता है। रंगमंच के अभिनय को ये सुविधाएँ प्राप्त नहीं।

रंगमंच का अन्तिम तथा नवीनतम रूप हमें रेडियो-नाटकों में मिलता है। रेडियो का आविष्कार हुए चिरकाल नहीं हुआ। विशेषतः हमारे देश में इसका प्रचार थोड़े वर्षों से ही हुआ है। किन्तु इसके सुनने वालों की संख्या बहुत अधिक है। छोटे-छोटे रूपक, प्रायः एकांकी नाटक, रेडियो पर बहुधा खेले जाते हैं। किन्तु रेडियो-नाटकों से लोगों के मन तथा कानों का ही मनोरंजन हो सकता है, आँखों का नहीं। चलचित्रों में नाटककार, अभिनेता तथा निर्देशक तीनों का सहयोग होता है; इसमें दर्शकों का कोई योग नहीं होता। किन्तु रेडियो-नाटक में निर्देशक का महत्त्व भी गौण हो जाता है। इसमें प्रधानतः नाटककार और अभिनेता का ही काम होता है, और नाटक का वास्तव में अभिनय नहीं किया जाता, वरन् विशेष अभिनयानुकूल ढंग में नाटक माइक्रोफ़ोन में केवल पढ़ा जाता है।

रेडियो-नाटक मनोरंजन का सबसे सरल, सुखद तथा सस्ता साधन है। मनुष्य आराम के साथ अपने घर में बैठकर, अकेला या परिवार तथा मित्रों सहित इसके द्वारा अपना मनोरंजन कर सकता है। न उसे घर से बाहर निकलकर सिनेमाघर तक जाने का कष्ट उठाने की ज़रूरत है, न परिवार-भर के लिए टिकट ख़रीदने अथवा बॉक्स रिज़र्व कराने की। परन्तु यहाँ एक बात की विशेष आवश्यकता है। मनुष्य के पास सबल तथा कुशल कल्पना-शक्ति होनी चाहिए, जिसकी सहायता से वह रेडियो पर पढ़े जाते हुए नाटक का साथ-साथ अपने मन में अभिनय करके उसका यथेष्ट आस्वादन करता जाय। उन-उन दृश्यों को अपनी कल्पना-द्वारा साक्षात् रूप में देखता जाय, जिन-जिनका वर्णन रेडियो पर किया जा रहा हो।

कुछ भी हो, रेडियो-नाटक का प्रचार वेगपूर्वक बढ़ रहा है, और सिनेमा की भांति असंख्य लोग इसमें भी रुचि रखते हैं और इससे अपना मनोरंजन करते हैं।

(ख) हिन्दी-नाटक का भविष्य

शताब्दियों की दासता के पश्चात् भारतवर्ष आखिर स्वतन्त्र हो गया है। स्वतंत्रता के संघर्ष के एक युग के उपरान्त स्वतन्त्रता के युग का सूत्रपात हुआ है। स्वतंत्रता का नया उल्लास अपने साथ नये दायित्व भी लाया है। लोग दासता-वृत्ति तथा हीनता के भाव को तेजी से त्याग रहे हैं, और उनमें स्वतंत्र विचारों तथा स्वतंत्र दृष्टिकोण का विकास हो रहा है। स्वतंत्रता-प्राप्ति के शुभ दिन से लेकर बड़े परिवर्तन देश में हो चुके हैं, और उनसे भी अधिक महत्त्वपूर्ण परिवर्तन होने को हैं।

ब्रिटिश-दासता की शृङ्खलाओं को तोड़ देने के साथ हिन्दी-भाषा तथा साहित्य की प्रतिष्ठा विशेष रूप से बढ़ गई है। ब्रिटिश शासन-काल में अंग्रेजी भाषा तथा साहित्य का प्रचार एवं उन्नति शासकवर्ग के संरक्षण एवं प्रोत्साहन के कारण विशेष रूप से हुई। अंग्रेज़ी केवल राजभाषा ही नहीं थी, वरन् लोगों में फ़ैशन की तथा अनुकरणीय चीज़ भी बन गई थी। इसके विपरीत हिंदी को किसी भी दिशा से प्रोत्साहन अथवा सहायता ब्रिटिश शासनकाल में न मिलती थी। फिर भी नागरी-प्रचारिणी सभा काशी, हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन प्रयाग तथा अन्य प्रान्तों तथा नगरों की इसी प्रकार की अन्य हिंदी-प्रचारिणी सभाओं के परिश्रम से तथा थोड़े से विशेष हिंदी-प्रेमी शिक्षित लोगों के प्रयत्नों के फलस्वरूप हिन्दी का प्रचार देश में बना रहा, यद्यपि अनेक कठिनाइयों तथा विषमताओं के कारण यह बहुत मन्दगति से हो सका।

परन्तु अब अवस्था बहुत बदल चुकी है। विदेशीय शासकों के भारत छोड़ जाने के पश्चात् विदेशीय भाषा भी चिरकाल तक उसी प्रतिष्ठित पद पर नहीं रह सकती। इसका स्थान तथा महत्त्व निश्चय ही किसी देशीय भाषा को प्राप्त होगा। हमारी आधुनिक देशीय भाषाओं में से हिंदी ही ऐसी भाषा है जिसको सब से अधिक लोग बोल तथा समझ सकते हैं। इसी सत्य को ध्यान में रखते हुए भारत की विधानसभा ने देवनागरी में लिखित हिन्दी-भाषा को देश की राजभाषा बनाने की घोषणा कर दी है। इसके साथ ही अनेक प्रकार की व्यावहारिक कठिनाइयों को ध्यान में रखते हुए राजभाषा के इस परिवर्तन के लिए पन्द्रह वर्ष की अवधि निश्चित कर दी गई है। भारतवर्ष के स्वतंत्र विधान के लागू होने के पन्द्रह वर्ष पश्चात् हिन्दी को सभी क्षेत्रों में वही स्थान और महत्त्व प्राप्त हो जायगा जो ब्रिटिश शासनकाल में अंग्रेज़ी को प्राप्त था।

पन्द्रह वर्ष की निश्चित अवधि समाप्त हो जाने पर ज्यों ही हिन्दी को अपना निर्दिष्ट पद प्राप्त हो जायगा, त्यों ही उसका साहित्य और भी लोकप्रिय हो जायगा। आज जनता में हिंदी-नाटक का उतना प्रचार नहीं जितना कि उपन्यास तथा छोटी कहानी का। जनता नाटकों की अपेक्षा उपन्यासों को अधिक अपनाती है, शायद इसलिए कि उपन्यास में लेखक अपनी ओर से पात्रों तथा परिस्थितियों की व्याख्या करता जाता है। किंतु नाटक में केवल पात्र तथा उनके क्रिया-कलाप ही बोलते हैं। फिर भी नाटक हिंदी-साहित्य का उपेक्षित अंग नहीं है। लोगों की पर्याप्त संख्या नाटक में भी प्रेम तथा रुचि रखती है, और नाटक पढ़ने तथा देखने से अपना मनोरंजन करती है। यदि कविता, छोटी कहानी तथा उपन्यास के क्षेत्र में बड़े-बड़े विद्वान् लेखकों ने काम किया है तो

नाटक भी इस दिशा में पीछे नहीं है। अतः यह सर्वथा स्वाभाविक है कि भविष्य में ज्यों-ज्यों हिन्दी पढ़ने वालों की संख्या बढ़ती जायगी तथा हिंदी-साहित्य में लोग अधिक रुचि दिखाने लगेंगे, इसके साथ ही नाटककार भी अधिक-से-अधिक संख्या में इस क्षेत्र में उतर पड़ेंगे। केवल हिंदी-साहित्य में नाटककारों की संख्या में ही वृद्धि नहीं होगी, वरन् नये नाटककारों में असाधारण प्रतिभा तथा विलक्षण योग्यता के लेखक भी निकलेंगे, जो अपनी अमर कृतियों से हिन्दी-नाटक के भंडार की समृद्धि करेंगे।

पश्चिम का प्रभाव हिन्दी-नाटक पर आज भी कम नहीं, और आगामी कुछ वर्षों में इसके और भी बढ़ जाने की संभावना है। परन्तु आवश्यकता इस बात की है कि हमारे नाटककार, पाश्चात्त्य नाटककारों से प्रभावित होने पर भी, अपनी रचनाओं में मौलिकता का परिचय दें। उनके नाटकों में पाश्चात्यता के स्थान पर भारतीयता के दर्शन हों। नाट्य-विधान के क्षेत्र में भी वे पश्चिम का अनुसरण मात्र करने की अपेक्षा इसमें अपनी मौलिकता का एवं विलक्षणता का परिचय दें। हमें पूर्णतया भारतीय 'इब्सन' और 'शॉ' चाहिएँ, जो कि मौलिकता तथा भारतीयता के साथ सामयिक समस्याओं का विवेचन करने में उतनी ही, अथवा उससे भी अधिक, विलक्षण प्रतिभा का परिचय दें, जितना कि 'इब्सन' तथा 'शॉ' ने दिया।

आज रेडियो-नाटक बहुत लोकप्रिय हैं, और अभी उनका प्रचार और भी बढ़ रहा है। इनके द्वारा मनुष्य आराम के साथ अपने घर में बैठकर अपना मनोरंजन कर सकता है। विशेषतः वे सुरुचिसम्पन्न लोग जो थिएटर के घटिया अभिनय से डरते हैं और अपनी सूक्ष्म कल्पनाशक्ति से नाटक का अधिक अच्छा अभिनय और आस्वादन अपने मन में कर सकते हैं, वे रेडियो-नाटकों को बहुत पसन्द करते हैं, यदि ये नाटक उच्च-कोटि के नाटककारों द्वारा लिखे गये हों।

रेडियो-नाटकों से भी अधिक प्रचार सिनेमा का है। परन्तु जैसा कि हम पहले कह चुके हैं, केवल थोड़ी-सी फ़िल्म-कम्पनियाँ ही कला तथा नैतिकता के उच्च स्तर को बनाये रखने का प्रयत्न और ध्यान करती हैं। अन्यथा अधिकांश फ़िल्म-कम्पनियों की कला, मनोरंजन तथा वातावरण पारसी थिएट्रिकल कम्पनियों से विशेष ऊँचा नहीं है। फ़िल्म-कम्पनियों के मालिकों तथा डायरेक्टरों को इस बात की ओर ध्यान देना चाहिए कि स्वतन्त्र भारत में अब उन्हें पहले की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण कार्य करना है। क्योंकि सिनेमा-दर्शकों की संख्या बहुत अधिक है और अशिक्षित तथा सुशिक्षित, स्त्री तथा पुरुष, सभी सिनेमा देखते हैं, अतः इन कम्पनियों को धीरे-धीरे जनता की रुचि का परिष्कार करना चाहिए,

तथा लोगों में सुरुचि, सभ्यता तथा देशभक्ति आदि का प्रसार करने की ओर ध्यान देना चाहिए।

किन्तु सिनेमा तथा रेडियो-नाटकों के होते हुए भी नाटक का वास्तविक स्थान रंगमंच अथवा थिएटर ही है। जब लोग सिनेमा की तेज़ी के साथ बढ़ती हुई लोकप्रियता को देखते हैं तो उन्हें स्वभावतः ही इस बात की शंका होने लगती है कि सिनेमा का बढ़ता हुआ प्रचार कहीं थिएटर को सर्वथा समाप्त न कर दे। सिनेमा के आकर्षण से थिएटर के लिए काफ़ी दर्शक ही शेष न बचें, तथा अच्छे अभिनेता और अभिनेत्रियाँ भी सिनेमा-कम्पनियों द्वारा खींच लिये जायँ। इसके अतिरिक्त चित्रपट पर सभी प्रकार के दृश्य सुगमता से दिखाये जा सकते हैं, जब कि रंगमंच के लिए अनेक विवशताएँ तथा संकुचित सीमाएँ हैं। प्रत्येक थिएटर के लिए अभिनय तथा रंगमंच सम्बन्धी इतनी अधिक वस्तुओं और सामग्री की आवश्यकता होती है, जब कि सिनेमा में केवल एक बार सारे परिश्रम और धन आदि के साथ चित्र बना लेने पर उसकी अनेकों प्रतिलिपियाँ बिना विशेष परिश्रम अथवा धन के बनाई जा सकती हैं और एक ही चित्र अनेक बार अनेक स्थानों पर दिखाया जा सकता है।

किन्तु अपनी सभी सुविधाओं के होते हुए भी चित्रपट रंगमंच के उद्देश्य को पूरा नहीं कर सकता, न ही वह रंगमंच का मूलोच्छेदन कर सकता है। सिनेमा आख़िर एक छाया है, और छाया कभी वास्तविकता का स्थान नहीं ले सकती। सिनेमा का चित्र देखते हुए दर्शक इस बात को नहीं भूल सकते कि जो स्त्री-पुरुष उनके सामने स्क्रीन पर अभिनय कर रहे हैं वे वास्तविक नहीं, केवल उनकी छाया-मात्र हैं। जीवित अभिनेताओं तथा अभिनेत्रियों का अपना विशेष महत्त्व तथा आकर्षण होता है, जो चलचित्रों में कभी पाया नहीं जा सकता।

इसके अतिरिक्त थिएटर में अभिनय में रहा हुआ छोटा-सा दोष भी दूसरे दिन के अभिनय में दूर किया जा सकता है। किन्तु चल-चित्र के दोष स्थायी रूप से बने रहते हैं। इसके अतिरिक्त रंगमंच के अभिनेता प्रत्येक अभिनय के समय दर्शकों के सम्पर्क में आते हैं, और उनकी आलोचना अथवा साधुवाद से लाभ उठा सकते हैं, दर्शकों के विचारों को जानकर अपने अभिनय आदि में सुधार कर सकते हैं। फ़िल्म-अभिनेता को यह अवसर प्राप्त नहीं होता। फ़िल्म की शूटिंग के समय भी प्रायः थोड़े से दर्शक उपस्थित होते हैं, किंतु उनके साधुवाद अथवा आलोचना का अभिनेताओं के लिए कोई मूल्य नहीं होता। उन्हें तो डायरेक्टर की या कभी-कभी प्रोड्यूसर की आज्ञा तथा निर्देशन के अनुसार चलना पड़ता है।

सिनेमा की बढ़ती हुई लोकप्रियता को देखकर पाश्चात्य देशों में भी नाटक के प्रेमियों को इस बात की आशंका हुई थी कि कहीं सिनेमा रंगमंच का अन्त न कर दे। किन्तु वे सभी डर तथा आशंकाएं निर्मूल सिद्ध हुईं। इंगलैंड, अमेरिका तथा अन्य पाश्चात्य देशों में आज भी असंख्य लोग सिनेमा की अपेक्षा रंगमंच के जीवित अभिनेताओं के वास्तविक अभिनयों को देखना अधिक पसंद करते हैं। अतः उन देशों में सिनेमा के होते हुए भी थिएटर सफलतापूर्वक चल रहे हैं। यदि सच पूछा जाय तो सभी देशों में अच्छे नाटक तथा अच्छे अभिनय आज भी भारी संख्या में दर्शकों को इकट्ठा कर लेते हैं। पृथ्वीराज कपूर के थिएटर के अभिनय को देखने के लिए लोग किस तरह टूट-टूट कर पड़ते हैं और अभिनय की निश्चित तिथियों से पूर्व ही प्रायः सारी सीटें रिजर्व करा ली जाती हैं। हम देखते हैं कि ग्रामोफ़ोन ने आरकेस्टरा को नष्ट नहीं कर दिया। कैमरा के प्रचार ने चित्रकारों का काम बंद नहीं कर दिया। रेडियो के रहते हुए भी समाचारपत्रों का प्रचार कम नहीं हुआ। इसी प्रकार सिनेमा तथा थिएटर दोनों साथ-साथ चल सकते और उन्नति कर सकते हैं। किन्तु इसके लिए इस बात की विशेष आवश्यकता है कि हिन्दी रंगमंच का वैज्ञानिक ढग से विकास किया जाय। इसमें प्रायः उन सभी उपायों तथा साधनों का प्रचार होना चाहिए जो पाश्चात्य देशों के रंगमंच को प्राप्त हैं। घूमने वाले रंगमंच का प्रचार भी बड़े-बड़े शहरों में किया जाना चाहिए। ऐसा हो जाने पर रंगमंच अधिकाधिक लोकप्रिय होता जायगा, और सिनेमा के प्रचार से इसकी हानि न हो पायेगी।

एक व्यावहारिक योजना

इस ग्रन्थ को समाप्त करने से पूर्व हम हिंदी-नाटक के यथेष्ट विकास और उन्नति के लिए सुव्यवस्थित तथा नियमित रूप से काम करनेवाले रंगमंच की आवश्यकता पर फिर से ज़ोर देना चाहते हैं। आज हिंदी-नाटक की बड़ी आवश्यकता एक ऐसा थिएटर है, जो सभी प्रकार के रंगमंच तथा अभिनय-संबंधी नवीनतम वैज्ञानिक साधनों से संपन्न हो। निस्संदेह अव्यवसायी नाटक-कंपनियां, प्राइवेट ड्रमेटिक क्लबें तथा कुछेक व्यवसायी नाटक-कंपनियाँ इस क्षेत्र में सराहनीय काम कर रही हैं। भविष्य में हमें उनसे और भी अधिक आशा है। किन्तु उनके साधन प्रायः सीमित होते हैं, और न ही प्रायः उन्हें कहीं से सक्रिय प्रोत्साहन अथवा संरक्षण प्राप्त होता है। इस दिशा में अभी एक भगीरथ-प्रयत्न की आवश्यकता है जो कि हिन्दी-नाटक के लिए वरदान सिद्ध हो सकता है। आगे हम एक ऐसी योजना का विवरण देते हैं जो सर्वथा व्यावहारिक है, और जिसके द्वारा हिन्दी-नाटक को अद्‌भुत लाभ हो सकता है।

हिंदी-नाटक के यथेष्ट विकास के लिए तथा जनता की रुचि का सुधार तथा परिष्कार करने के लिए यह अपेक्षित है कि प्रत्येक बड़े शहर में एक आदर्श प्रेक्षागृह (Model Theatre) की स्थापना की जाय । दिल्ली, इलाहाबाद तथा बम्बई जैसे नगरों में से प्रत्येक में एक से अधिक ऐसे आदर्श प्रेक्षागृह हो सकते हैं । इसके साथ यह भी आवश्यक है कि इन थिएटरों का अधिकार तथा प्रबंध आदि शासन के हाथ में हो । सरकारी धन से इनको बनाया जाय, तथा सरकारी निरीक्षण, संरक्षण तथा निर्देशन में इनको चलाया जाय । हमारा मत है कि व्यक्तिगत प्रयास (Private enterprise) इस विषय में इतना सफल और संपन्न नहीं हो सकता । परन्तु व्यक्तिगत प्रयास पर कोई प्रतिबंध भी नहीं लगाना चाहिए । सरकार के मॉडल थिएटरों के अनुसार अपने प्राइवेट प्रेक्षागृह स्थापित करने की लोगों को भी स्वतंत्रता होनी चाहिए । जिस प्रकार गवर्नमेंट स्कूलों तथा कालिजों के रहते हुए प्राइवेट स्कूल तथा कालिज भी चल रहे हैं, इसी प्रकार सरकारी मॉडल थिएटरों के साथ-साथ प्राइवेट थिएटरों के चलने पर कोई रोक नहीं होनी चाहिए । ये मॉडल थिएटर नगरों के उपयुक्त स्थानों में बनाये जायँ, जिनके आसपास उद्यान आदि प्राकृतिक सौंदर्य के स्थान भी हों, और जहाँ स्त्री-पुरुष, बाल-वृद्ध सब को जाने में सुविधा भी हो । इन थिए-टरों में नवीनतम वैज्ञानिक साधन तथा सामग्री हो, जिससे उपयुक्त रंगमंच-प्रभाव की स्वाभाविकता के साथ सृष्टि की जा सके, तथा कठिन दृश्यों को भी सफलता के साथ अभिनीत किया जा सके । उनमें काफ़ी संख्या में विविध प्रकार के परदे, वेश-भूषा का सामान, मेक-अप के साधन तथा प्रकाश का प्रबंध होना चाहिए । इन मॉडल थिएटरों का एक Board of Directors होना चाहिए, जिसके सदस्यों के अन्तर्गत प्रसिद्ध नाटककार, निर्देशक तथा कलाविद् विद्वान् होने चाहिएँ । अभिनेताओं तथा निर्देशकों को सन्तोषजनक वेतन दिया जाय, जिससे कि उनको वेतन के प्रलोभन से थिएटर को छोड़कर सिनेमा की ओर भागने की चिन्ता न रहे । इसके अतिरिक्त अभिनेता तथा निर्देशक ऐसे लोग चुने जायँ जो केवल जीविका के लिए ही इस काम को न करें । उन्हें अपने काम से विशेष प्रेम तथा लगन होनी चाहिए और थिएटरों की सफलता एवं विकास के लिए वे अपना तन-मन पूरी तरह प्रसन्नतापूर्वक लगा सकें । कला-कौशल के अतिरिक्त उनके मन में नाट्य-कला के लिए सच्चा प्रेम होना चाहिए और थिएटर की उन्नति का विचार सदा उनके मन में सर्वोपरि रहना चाहिए ।

इन थिएटरों के अभिनय में स्त्री-पुरुष दोनों को ही निःसंकोच रूप में अपना सहयोग देना चाहिए । नाटक के स्त्री-पात्रों का अभिनय स्वाभाविकता एवं

सुन्दरता के साथ स्त्रियां ही कर सकती हैं। संभ्रान्त-कुल की सुशिक्षित तथा सुरुचि-सम्पन्न स्त्रियों के अभिनय में भाग लेने से थिएटर तथा रंगमंच की प्रतिष्ठा और प्रभाव बहुत बढ़ जायगा, और अभिनय का स्तर भी ऊँचा हो जायगा। इसके फलस्वरूप वे लोग जो सिनेमा के अभिनेताओं तथा अभिनेत्रियों तथा उनके अभिनय के पीछे पागल हुए फिरते हैं, भारी संख्या में थिएटर की ओर खिच आयेंगे।

हम यह मानते हैं कि इस योजना को कार्यान्वित करने के लिए आरंभ में सरकार को काफ़ी धन व्यय करना पड़ेगा। किंतु फिर भी स्वास्थ्य तथा शिक्षा आदि विभागों की अपेक्षा इस दिशा में लगाया गया धन बहुत कम होगा। यद्यपि इस विभाग में धन तो अपेक्षाकृत कम लगेगा, तथापि इसकी उपयोगिता और लाभ दूसरे विभागों से कम नहीं होंगे। यदि इन थिएटरों का संचालन उचित ढंग से किया जाय और इनके नाटक तथा प्रदर्शन उच्चकोटि के हों, तो इनसे जनता के मानसिक स्वास्थ्य में बड़ी उन्नति होगी, तथा लोगों की रुचि का भद्दी फ़िल्मों के दुष्प्रभाव के कारण जो धीरे-धीरे पतन हो रहा है, उसका भी सुधार हो जायगा। निस्संदेह यह गवर्नमेंट का एक स्तुत्य प्रयास तथा अपूर्व विजय होगी, यदि थोड़े से धन के व्यय के साथ वे लोगों के मानसिक स्वास्थ्य को, उनकी रुचि, दृष्टिकोण, नैतिकता तथा आचरण को सुधारने के काम में सफल हो जायँ। लोगों की रुचि का परिष्कार करने के अतिरिक्त सरकार इन थिएटरों के प्रदर्शनों द्वारा उनमें देशभक्ति, स्वाभिमान, साहस, तथा स्वातन्त्र्य-प्रेम आदि के भावों को भी बड़ी सुन्दरता और सफलता के साथ भर सकती है। केवल साहित्यिक नाटकों के अतिरिक्त इन थिएटरों में अन्य प्रकार के शिक्षा देने वाले तथा प्रचार आदि करने वाले छोटे अथवा बड़े नाटक भी कभी-कभी दिखाये जा सकते हैं, अथवा बड़े नाटकों के अभिनय से पूर्व या बीच में प्रतिदिन दिखाये जा सकते हैं।

हमें हर प्रकार से इस बात का विश्वास है कि यदि गवर्नमेंट इस दिशा में यथोचित तथा यथोक्त प्रयास करे तो उसे अवश्य ही अप्रत्याशित सफलता प्राप्त होगी। इसके अतिरिक्त ये थिएटर सरकार को सफ़ेद हाथी ही सिद्ध नहीं होंगे, किसी प्रकार घाटे का व्यवसाय नहीं बनेंगे। यदि इन थिएटरों का संचालन ठीक ढंग से किया जायगा और उच्चकोटि के कलाकारों का सहयोग प्राप्त किया जायगा तो थोड़े ही समय के पश्चात् इन थिएटरों से सरकार को काफ़ी आय होनी शुरू हो जायगी। यद्यपि आरम्भ में इन थिएटरों पर व्यय करना पड़ेगा, तथापि थोड़े ही समय के अनन्तर इन थिएटरों के प्रचार से वह व्यय किया हुआ

धनराशि प्राप्त हो जायगा और आगे को इन थिएटरों से सरकार को आर्थिक लाभ होना शुरू हो जायगा। उच्च स्तर के कलापूर्ण जीवित अभिनय का अपना विशेष महत्त्व, सौंदर्य तथा आकर्षण है जो सिनेमा के छाया-चित्रों में प्राप्त नहीं। अतः जीवित पात्रों के अभिनय आदि के कारण इन थिएटरों का प्रचार शीघ्र ही इतना बढ़ जायगा कि वे आय का साधन बन जायँगे। इसके अतिरिक्त इस योजना को कार्यान्वित करने से हिंदी-नाटक को विशेष लाभ होगा, और यह इस प्रकार तथा इस वेग के साथ उन्नति करेगा कि बीस वर्षों में यह संसार की किसी भी भाषा के नाटक के समक्ष खड़ा होने के योग्य हो जायगा।

सत्ताईसवाँ अध्याय

हिन्दी नाटक
(१९४९ ई० से आज तक)

इन वर्षों में उन सभी प्रकार के हिन्दी-नाटकों की रचना की परम्परा जारी रही, जिनका वर्णन पिछले अध्यायों में किया गया है। यद्यपि सन् १९४९ से आज तक नाना प्रकार के हिन्दी-नाटक प्रणीत हुए, तथापि ऐतिहासिक तथा सामाजिक नाटकों का विशेष रूप से प्राधान्य रहा। ऐतिहासिक नाटकों में संस्कृति-प्रधान नाटकों की संख्या भी पर्याप्त है, जिनके कथानक भारतीय इतिहास के प्राचीन काल से लिये गए। सामन्तीय चेतना-प्रधान ऐतिहासिक नाटक, जिनके कथानक इतिहास के मध्यकाल से चुने गए हैं, भी इन वर्षों में प्रकाशित हुए। दो-तीन ऐतिहासिक नाटकों के लिए तो आधुनिक काल का भी स्पर्श किया गया है। पौराणिक नाटकों का प्रणयन भी इन वर्षों में बन्द नहीं हुआ। आज बीसवीं शताब्दी के बुद्धिवादी एवं आलोचना-प्रधान उत्तरार्द्ध में भी पौराणिक नाटकों का उत्साहपूर्ण प्रचलन देखकर यह स्पष्ट हो जाता है कि भारतवासियों के हृदय से पौराणिकता का प्रेम तिरोहित नहीं हो सकता, और न ही उनकी इस रुचि का मूलोच्छेद कभी हो सकता है। इतना अवश्य है कि पौराणिक नाटकों के रचयिताओं का दृष्टिकोण अपेक्षाकृत अधिक बौद्धिक तथा मानवीय होता जा रहा है, और अंधविश्वासपूर्ण रूढ़िवादी दृष्टिकोण का परिष्कार हो रहा है।

समस्या-नाटकों की रचना की ओर यद्यपि अनेक लेखकों ने ध्यान दिया है, तथापि उनमें अधिकतर ऐसे हैं जिनकी कला अभी प्रौढ़ नहीं हो पाई अथवा जो उत्कृष्ट रचना में सफल नहीं हो सके। उच्चकोटि के समस्या-नाटक इन वर्षों में कम लिखे गए हैं। पं० लक्ष्मीनारायण मिश्र ने तो समस्या-नाटकों की रचना से हाथ खींच कर अपनी प्रौढ़ एवं परिष्कृत कला का प्रयोग ऐतिहासिक तथा पौराणिक नाटकों के क्षेत्र में और एकांकी नाटकों की रचना में करना आरम्भ कर दिया है। इन नये क्षेत्रों में मिश्र जी को अत्यधिक सफलता प्राप्त हुई है। इन वर्षों के समस्या-नाटकों के विषय में एक उल्लेखनीय बात यह भी है कि व्यक्ति की काम-समस्या को लेकर नाटकों की रचना इधर बहुत कम हुई है। अधिकांश नाटकों में सामयिक सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक समस्याओं को ही

ग्रहण किया गया है। एकांकी नाटक की लोकप्रियता तो वेगपूर्वक वृद्धि पा रही है, और इसका प्रचार तेज़ी के साथ बढ़ता जा रहा है। केवल पुराने प्रौढ़ एकांकीकारों ने ही इन वर्षों में अपनी सुन्दर कृतियों से एकांकी के भण्डार को नहीं भरा, अपितु अनेक नये लेखक भी एकांकी नाटकों की रचना में विशेष उत्साह दिखा रहे हैं। प्रतीकवादी नाटकों तथा गीति-नाटकों की परम्परा कुछ शिथिल पड़ गई है, और इन क्षेत्रों में बहुत थोड़ी रचनाएँ इन वर्षों में हो सकी हैं।

ऐतिहासिक नाटक

इन वर्षों में लिखे गये अनेक संस्कृति-प्रधान ऐतिहासिक नाटकों में अधोलिखित उल्लेखनीय हैं—उदयशंकर भट्ट-कृत 'शक-विजय' (१९४९), बैकुण्ठनाथ दुग्गल-कृत 'समुद्रगुप्त' (१९४९), वृन्दावनलाल वर्मा का 'पूर्व की ओर' (१९५०), डा० दशरथ ओझा का 'सम्राट् समुद्रगुप्त', लक्ष्मीनारायण मिश्र-कृत 'वत्सराज' (१९५०) तथा 'वितस्ता की लहरें' (१९५३), हरिकृष्णप्रेमी का 'शपथ' (१९५१), डा० कैलाशनाथ भटनागर का 'चाणक्य-प्रतिज्ञा' (१९५१), जगन्नाथ-प्रसाद 'मिलिन्द'-कृत 'गौतमनन्द', बनारसीदास करुणाकर का 'सिद्धार्थ बुद्ध' (१९५५) और देवराज दिनेश-कृत 'यशस्वी भोज' इत्यादि।

पं० उदयशंकर भट्ट का 'शक-विजय' अनेक दृश्यों में उपविभाजित चार अंकों का उच्चकोटि का ऐतिहासिक नाटक है। कथानक का सार इस प्रकार है—अवन्ती के गर्दभिल्लवंशीय राजा गंधर्वसेन ने आचार्य कालक की अति रूपवती सती बहन सरस्वती को बलात् अपने अन्तःपुर में डाल लिया। कालक की प्रार्थना पर और प्रजा के तथा उज्जयिनी के जैन-संघ के अनुरोध पर भी राजा ने उसे मुक्त नहीं किया। निराश होकर कालकाचार्य राजसत्ता की सहायता के लिए विवश हुआ। परन्तु भारतवर्ष के राजाओं में गंधर्वसेन के साथ युद्ध करने का साहस किसी में नहीं था। हठात् कालक ने सीस्तान जाकर शक विदेशियों को गंधर्वसेन के नाश के लिए प्रेरित किया। गंधर्वसेन युद्ध में शकों द्वारा पराजित होकर मारा गया। कालान्तर में भारत के वीर-शिरोमणि वरद ने (जिसे लेखक ने होने वाला संवत्-प्रवर्तक विक्रमादित्य माना है) शकों के अत्याचार से देश का उद्धार किया।

भट्ट जी ने नाटक के शीर्षक 'शक-विजय' का दो अर्थों में प्रयोग किया है—शकों की विजय तथा शकों पर विजय। कथावस्तु का संगठन कुशलता से किया गया है, किन्तु बीच में कहीं-कहीं पर कथानक का विकास रुद्ध-सा हो जाता है। उदाहरण के लिए प्रथम अंक के चतुर्थ दृश्य में नाटककार ने सरस्वती और

सौम्या के संवाद द्वारा अपने विचारों को प्रकाशित करने का ही अवसर निकाला है। इस दृश्य से कथानक को गति नहीं मिलती। इसी अंक के पाँचवें दृश्य में भट्ट जी दार्शनिकता तथा सिद्धान्त-प्रतिपादन के मोह में पड़ गये हैं, किन्तु शीघ्र ही अपने-आपको सँभाल कर वे पुनः काम की बात पर आ जाते हैं। दूसरे अंक का तीसरा दृश्य भी दार्शनिकतापूर्ण वार्तालाप मात्र होने के कारण वस्तु के विकास में बाधक है, यद्यपि पात्रों पर किंचित् प्रकाश इससे पड़ जाता है। यह सब होते हुए भी कथानक सुलझा हुआ है और काफ़ी रोचक भी है। चतुर्थ अंक के द्वितीय दृश्य में शक-शासन के पाशविक अत्याचारों की झाँकियाँ प्रस्तुत की गई हैं।

प्रमुख पात्रों—गंधर्वसेन, कालकाचार्य, वरद, सरस्वती तथा मंखलिपुत्र—का चरित्र-चित्रण भट्ट जी ने बड़े कलापूर्ण ढंग से किया है। बड़ी निपुणता एवं निष्पक्षता के साथ उन्होंने कालकाचार्य और गंधर्वसेन दोनों को गौरवपूर्ण स्थान देने की चेष्टा की है। किन्तु चरित्र-चित्रण में अन्तर्द्वन्द्व का प्रायः अभाव है, जो कि भट्ट जी जैसे प्रौढ़ कलाकार की रचना में खटकने वाली बात है। इसके अतिरिक्त प्रायः सभी पात्र आरम्भ से अन्त तक जैसे-के-तैसे बने रहते हैं। उनके चरित्र में परिवर्तन तथा विकास नहीं होता। केवल कालकाचार्य के चरित्र में अन्त में कुछ परिवर्तन दिखाया गया है, जब कि वह शकों को भारत में लाने के अपने कुकृत्य पर पश्चात्ताप करता है।

नाटक के कथोपकथन बड़े सरस, सजीव एवं सशक्त हैं। वे पात्र तथा परिस्थिति के अनुकूल हैं। उनके माध्यम से पात्रों के चरित्र पर भी सुचारु रूप से प्रकाश डाला गया है, और वस्तु के विकास में भी वे अधिकतर सहायक होते हैं। संवादों में कहीं-कहीं भावुकता और कवित्व का पुट भी मिलता है, जैसे—

> **महामात्य—···प्रस्फुटित कमल पथ पर पड़ा हुआ भी अपने सौन्दर्य को नहीं छिपा सकता। चन्दन घिसने पर और भी सुगन्धित होता है। वही अवस्था है उस रमणी की।** (प्रथम अंक, द्वितीय दृश्य)

कहीं-कहीं पर संवाद बहुत लम्बे हो गये हैं (जैसे प्रथम अंक के चतुर्थ दृश्य में सौम्या के कुछ संभाषण, तथा प्रथम अंक के पंचम दृश्य में मंखलिपुत्र के दो संवाद)। कहीं-कहीं पर संवादों में दार्शनिकता तथा रहस्यवाद का पुट भी मिलता है। स्वगत की योजना भी अनेक बार की गई है, और कुछ स्वगत तो बहुत लंबे हैं (उदाहरण के लिए द्वितीय अंक के दूसरे दृश्य में तथा तृतीय अंक के तीसरे दृश्य में आचार्य कालक के स्वगत-भाषण; तृतीय अंक के चौथे दृश्य में सरस्वती के स्वगत-भाषण)। यदि ये लंबे स्वगत काट कर कुछ छोटे कर दिये जाते, तो अधिक स्वाभाविक और नाटकीय हो जाते।

नाटक के वातावरण को स्वाभाविक तथा वास्तविक बनाने में लेखक को पूर्ण सफलता मिली है। पात्रों के, उनके पदों और उपाधियों के नाम तथा सम्बोधन आदि उस काल के अनुरूप ही रखे गये हैं। देश की राजनीतिक, धार्मिक तथा सामाजिक अवस्था पर भी यथार्थ रीति से प्रकाश डाला गया है। 'प्रारम्भिक' में लेखक ने नाटक के उद्देश्य को स्पष्ट करते हुए लिखा है—

"···लघु स्वार्थ और वृहत्स्वार्थ में विवेचन का समय आ गया है। अब व्यक्ति तथा देश के संघर्ष में हमें किसे स्वीकार करना होगा, यह भी विचारणीय है।

" आज देश धर्म से भी महान् है, व्यक्ति और समाज से भी वृहत्तर है, इस भावना को जागृत करने की आवश्यकता है; देश की स्वतन्त्रता, उसका सुख सर्वोपरि है।"

यदि ध्यानपूर्वक देखा जाय तो ज्ञात होता है नाटककार ने शेष तत्त्वों की अपेक्षा अपने इस उद्देश्य को ही प्रधानता दी है। देशभक्ति तथा राष्ट्र-हित के सुन्दर विचार उसने बार-बार अपने पात्रों से कहलाये हैं, जो अधिकतर तो उस वातावरण में स्वाभाविकता के साथ सज गये हैं, परन्तु कहीं-कहीं उनमें नाटककार स्वयं बोलता हुआ जान पड़ता है। लेखक ने ऐतिहासिकता की रक्षा करते हुए पुराने पात्रों को नये दृष्टिकोण से देखने का यत्न किया है। नाटक की शैली पर प्रसाद जी की दार्शनिकतापूर्ण, सरस तथा कवित्वमयी शैली की छाप स्पष्ट है। संवादों के अतिरिक्त लेखक का वर्णन का ढंग भी कहीं-कहीं कवित्वपूर्ण हो गया है, यथा—

"···शुभ्र शिलापट्टक पर सरस्वती गम्भीर एवं चिन्ता की मुद्रा में बैठी है। भीतर शुभ्र कंचुकी तथा एक धोती। दुग्ध के समान धवल शरीर;···बुद्धि के समान तीव्र नासिका, क्रोध के समान लाली लिये कपोल। कामदेव के प्रासाद में पहुँचने के लिए आगे खड़ी प्रतिहारी की तरह ठोड़ी। सुकुमारता के समान पतले और कोमल ओष्ठ"। इत्यादि।

नाटक की भाषा संस्कृत-गर्भित परिमार्जित हिन्दी है, जो कि सभी प्रकार के भावों को व्यक्त करने में समर्थ है। दृश्य प्रायः छोटे-छोटे हैं, किन्तु तृतीय अंक का द्वितीय दृश्य अधिक लम्बा हो गया है। दृश्यों की सैटिंग कठिन नहीं है, और नाटक अभिनय के लिए बड़ा उपयोगी है।

बैकुण्ठनाथ दुग्गल का 'समुद्रगुप्त' (१९४९) क्रमशः सात, आठ और छः दृश्यों में विभाजित तीन अंकों का सुन्दर ऐतिहासिक नाटक है। नाटककार ने सम्राट् समुद्रगुप्त के राजत्वकाल की सभी या बहुत-सी प्रमुख घटनाओं को न

लेकर केवल थोड़ी-सी घटनाओं को ही प्रस्तुत नाटक में स्थान देकर बुद्धिमत्ता का परिचय दिया है। इससे स्पष्ट है कि वह समुद्रगुप्त के चरित्र को यथावत् अंकित करना ही अपना उद्देश्य समझता है, न कि समुद्रगुप्त के जीवन की सभी घटनाओं का वर्णन-मात्र। अतएव नाटक का कथानक अधिक लम्बा अथवा जटिल नहीं है, और इसका संगठन भी सफलतापूर्वक हुआ है।

काञ्चिनरेश विष्णुगोप सम्राट् समुद्रगुप्त को कई वर्ष तक कर देने के पश्चात् वीरता के आवेश में कर देने से इन्कार कर देता है। इस पर दोनों के बीच घोर युद्ध होता है। दोनों पक्षों की भारी क्षति होती है, पर अन्त में समुद्रगुप्त विजयी होता है। इस ऐतिहासिक घटना के साथ लेखक ने प्रणय का प्रसंग जोड़कर कथानक को अधिक सरस और रोचक बना दिया है। काञ्चिनरेश की पुत्री कंचन तथा सम्राट् समुद्रगुप्त के हृदय में परस्पर प्रेम का सूक्ष्म अंकुर उत्पन्न करके नाटककार ने दोनों के चरित्र-चित्रण में विशेष कौशल का प्रदर्शन किया है। कञ्चन के मन का संघर्ष बड़ी सुन्दरता से उद्घाटित किया गया है, और उसकी कोमलता एवं कठोरता, अथाह वीरता एवं स्त्री-सुलभ कातरता पर अच्छा प्रकाश डाला गया है। कर्तव्य तथा भावना के बीच निरन्तर युद्ध उसके अन्तःकरण में होता है। सम्राट् के चरित्र की विविध विशेषताओं पर भी लेखक ने काफ़ी प्रकाश डाला है, किन्तु सम्राट् की अपेक्षा कञ्चन के चरित्र में अधिक शक्ति है। सम्राट् का चरित्र प्रभावशाली और महान् है, किन्तु कंचन का उससे भी अधिक है। विष्णुगोप और वसुबन्धु के चरित्रांकन में भी नाटककार सफल हुआ है।

कथोपकथन को सरल, सजीव एवं संक्षिप्त बनाने में नाटककार सावधान रहा है। उसके संवादों में पात्रानुकूल कोमलता अथवा कठोरता, आवेग और भावुकता आदि का समावेश है। उनमें व्यर्थ का तर्क-वितर्क और सिद्धान्त-प्रतिपादन नाटककार ने नहीं आने दिया। छोटे-छोटे स्वगत-भाषणों की योजना भी यत्र-तत्र की गई है। समुद्रगुप्त के समय का वास्तविक वातावरण उपस्थित करने में दुग्गल जी को कुछ अंश में ही सफलता मिली है। वे न तो आधुनिक काल और इसके वातावरण को पूर्णतया विस्मृत कर सके हैं, और न ही गुप्तकालीन वातावरण में पूर्णतया पैठ सके हैं। 'तूफ़ान', 'नादान', 'अरमान', 'ग़म' और 'लाशों' आदि उर्दू-फ़ारसी के शब्दों का प्रयोग भी वातावरण की स्वाभाविकता में बाधक होता है।

नाटक की शैली सरल और सरस है। इसके अतिरिक्त कठिनता से अभिनय किये जाने वाले दृश्यों के परिहार के कारण यह नाटक सफलता से अभिनीत

हो सकता है। नाटक के प्रभाव को तीखा करने के लिए इसका अन्त चरमोत्कर्ष के साथ मर्मस्पर्शी ढंग से किया गया है। कंचन की मृत्यु के कारण नाटक दुःखांत हो गया है, क्योंकि लेखक के मतानुसार "जीवन के इस नाटक में भी तो आँसुओं की ही बहुलता है, मुस्कराहटें तो बस गिनी-चुनी हैं।" नाटक के अन्त में सम्राट् द्वारा कहे गये इन शब्दों में कितनी वेदना है—

सम्राट्—इस अनंत विश्व में कौन किसे ढूंढे मन्त्री? जिस तारक-द्युति की आशा में निशीथ से प्यार किया था, उसे ढूंढकर भी खो दिया। मनुष्य अपने अन्तस्तल को ही ढूंढ ले तो बहुत है। (तृतीय अंक, छठा दृश्य)

मानव-जीवन का कवित्वमय विवेचन भी कितना सुन्दर बन पड़ा है—

समुद्र—यह जीवन भी एक पहेली है। आशा का केन्द्र बनाकर जिस डाली पर तुम अपना नीड़ बनाते हो, दूसरे ही क्षण आंधी का एक निर्मम झोंका उसे धूल में मिला देता है। चन्द्रकिरण पकड़ने के प्रयास में केवल अंधकार को ही छू पाते हो। प्यार की जिस अनूठी छवि को दिल की धड़कनों में छिपाकर रखना चाहते हो, वह पुतलियों पर मोती और अधरों पर मुस्कान बनकर निकल ही तो पड़ती है।

(तृतीय अंक, चौथा दृश्य)

वृन्दावनलाल का 'पूर्व की ओर' (१९५०) उनतीस दृश्यों के चार अंकों का तथा १६९ पृष्ठों का लम्बा ऐतिहासिक नाटक है। नाटक की घटनाएँ ईसा की तीसरी शताब्दी और उसके कुछ पूर्व काल की हैं, किंतु लेखक ने कल्पना का प्रयोग भी स्वतन्त्रता से किया है। पल्लव-वंशीय राजा वीरवर्मा का भतीजा अश्वतुंग या अश्ववर्मा (जो इस नाटक का नायक है) अपने अपराध के कारण निर्वासित होकर अपने सात सौ साथियों समेत समुद्र-यात्रा करता हुआ नागद्वीप पहुँचता है। वहाँ की रानी धारा पहले उन सब के वध की आज्ञा देती है, परन्तु राजकुमार पर मोहित हो जाने के कारण बाद में सबको मुक्त कर देती है। अश्वतुंग रानी धारा को और उस द्वीप के वासियों को सभ्य बनाता है। अन्त में धारा का, जो वास्तव में मगध के निर्वासित राजकुमार जिष्णु की पुत्री है, अश्ववर्मा के साथ विवाह हो जाता है।

नाटक का कथानक बहुत लम्बा है। व्यर्थ का विस्तार अधिक होने तथा अनावश्यक प्रसंगों के समावेश के कारण वस्तु के संगठन में शिथिलता आ गई है। पात्रों का चरित्र-चित्रण साधारण है। नाटककार न तो चरित्र की गहराई में उतर सका है, और न ही अन्तर्द्वन्द्व की अवतारणा कर सका है। धारा के चरित्र का विकास लेखक ने सफलता से दिखाया है। वह जंगली, असभ्य तथा

निष्ठुर युवती अश्वतुंग के प्रति प्रेम का भाव अंकुरित होने से धीरे-धीरे सभ्य, सदय तथा कोमल बन जाती है। नाटक के संवाद यद्यपि सरस और सजीव हैं, किंतु उनमें नाटकोचित संक्षेप का प्राय: अभाव है। उपन्यास-जैसा व्यर्थ का विस्तार अधिक है। यथार्थ वातावरण प्रस्तुत करने में भी वर्मा जी को पूर्ण सफलता नहीं मिली। आकस्मिक घटनाओं, कौतूहल, मार-काट और प्रणय-व्यवहार आदि की प्रधानता के कारण नाटक का वातावरण जासूसी उपन्यासों जैसा हो गया है। अधिक लम्बाई के कारण तथा समुद्र-यात्रा और युद्ध के दृश्यों आदि के कारण नाटक रंगमंच के लिए भी उपयोगी नहीं है।

पं० लक्ष्मीनारायण मिश्र का 'वत्सराज' (१९५०) तीन अंकों का उत्कृष्ट सांस्कृतिक नाटक है, जो उनके पहले ऐतिहासिक नाटकों से अधिक सुन्दर एवं प्रौढ़ है। मिश्रजी वत्सराज उदयन के लोकोत्तर चरित्र से, जिसका यशोगान भास, कालिदास और श्रीहर्ष आदि संस्कृत के अनेक कवि मुक्तकण्ठ से कर चुके हैं, बहुत प्रभावित हुए हैं। उसी वत्सराज के चरित्र के यथार्थ चित्रण के उद्देश्य से यह नाटक रचा गया है, क्योंकि लेखक के विचार में प्रसादजी ने उदयन के चरित्र को ठीक से न समझकर अपने 'अजातशत्रु' में उसके गौरव को नष्ट कर दिया है। प्रस्तुत नाटक में वत्सराज उदयन के सम्बन्ध की घटनाओं का मनोवैज्ञानिक, मानवीय तथा बौद्धिक रूप उपस्थित करने का यत्न किया गया है।

वस्तु-संगठन, चरित्र-चित्रण, कथोपकथन और वातावरण आदि सभी दृष्टियों से 'वत्सराज' उच्चकोटि का नाटक है। नाटक का अन्तिम अंक विशेष रूप से मिश्रजी की श्रेष्ठ नाट्यकला का परिचायक है। इसमें उन्होंने वस्तु-विकास, चरित्र-चित्रण और प्रभाव की अद्भुत कुशलता प्रदर्शित की है। दर्शक का कौतूहल तेज़ी के साथ बढ़ता जाता है, जो कि अन्त में कुमार के राजधर्म पालन करने को सहमत हो जाने पर शांत हो जाता है। अभिनेयता की दृष्टि से भी यह नाटक पूर्णतया सफल है। इसके अंकों का दृश्य-विभाजन नहीं किया गया, और तीनों अंकों का निर्माण रंगमंच पर सरलता से हो सकता है। पर इस लाभ के कारण एक हानि भी हुई है। नाटक में लगभग दस वर्षों की घटनाओं को तीन अंकों में बाँट दिया गया है, जिससे कथानक का स्वाभाविक विकास कुछ उखड़-सा गया है। अपने अगले ऐतिहासिक नाटक में मिश्रजी ने इस दोष का परिहार कर दिया है, और नाटक की घटनाओं का काल-विस्तार बहुत ही थोड़ा रखा है।

मिश्रजी का 'वितस्ता की लहरें' (१९५३) उनके 'वत्सराज' से अधिक सुन्दर और प्रौढ़ नाटक है। इसमें उन्होंने समय, स्थान तथा कार्य की एकताओं

का अधिक दृढ़ता से पालन किया है । इस नाटक में भी केवल तीन अंक हैं, जो दृश्यों में बाँटे नहीं गये । इसके कथानक का आधार यवन-विजेता सिकन्दर का सेना-सहित वितस्ता नदी के तट पर पहुँचना, रात को चोरी से वितस्ता पार करना और केकय वीर पुरु के साथ उसका युद्ध है । प्रस्तुत नाटक में मिश्रजी ने दिखाया है कि यद्यपि इतिहास सिकन्दर को महान् कहता है, किन्तु इस विजयी यवन की महानता अनेक संस्कृतियों के ध्वंस में ही दिखाई पड़ती है । फ़ारस, मिश्र तथा वितस्ता के तट तक जितनी जातियाँ उसके मार्ग में पड़ीं, उन सबका विध्वंस उसने किया । अतः सिकन्दर विध्वंस और संहार में भले ही महान् हो, सृजन और संस्कार में उसकी हीनता छिप नहीं सकती । नाटककार ने प्रस्तुत नाटक में अनेक प्रकार से यवन-संस्कृति तथा भारतीय संस्कृति की तुलना करके भारतीय संस्कृति के गौरव को, इसके सृजन, संस्कार और उदारता के भावों को प्रतिष्ठित करने की चेष्टा की है ।

कथानक में इतिहास और कल्पना का सुन्दर समन्वय दृष्टिगोचर होता है। वस्तु का विकास बड़ा स्वाभाविक एवं कलापूर्ण है । पुरु तथा अलिकसुन्दर के बीच युद्ध और उसकी तैयारी के प्रधान कथानक के बीच में युवराज रुद्रदत्त के प्रति पारस-नरेश की पुत्री रजनी के प्रेम और आम्भी-पुत्र भद्रबाहु के प्रति रजनी की बहन तारा के आकर्षण के उपकथानकों की अवतारणा करके नाटककार ने नाटक की सरसता और रोचकता में वृद्धि की है । इन उपकथानकों के समावेश से प्रधान कथानक का विकास किंचित् रुक जाता है, परन्तु अन्त में दोनों गौण कथानकों को कुशलता से प्रमुख कथानक में मिलाकर एक कर दिया गया है ।

प्रमुख पात्रों का चरित्र-चित्रण विस्तारपूर्वक किया गया है । पुरु के चरित्र की महानता पर, उसकी अपार वीरता, निर्भीकता और उदारता पर यथेष्ट प्रकाश डाला गया है । अलिकसुन्दर को केवल अंतिम अंक में रंगमंच पर उपस्थित किया गया है, यद्यपि संवादों के माध्यम से उसका चरित्र पहले दो अंकों में भी काफ़ी अंकित कर दिया गया है । रोहिणी का चरित्र उसके ईर्ष्या-मुक्त सहोदरा-तुल्य व्यवहार तथा आदर्श त्याग के कारण निस्संदेह महान् बन गया है पर अन्तर्द्वन्द्व के एकमात्र अभाव के कारण उसका चरित्र यथार्थ से कोसों दूर हो गया है । इस कारण इसके चित्रण में कलात्मक स्वाभाविकता का अभाव है ।

संवादों को मिश्रजी ने परिस्थिति तथा पात्रानुकूल गम्भीरता और आवेग, हास्य-विनोद और व्यंग्य के द्वारा सर्वथा स्वाभाविक और प्रभावोत्पादक बना दिया है । पात्रों पर प्रकाश डालने के साथ-साथ प्रस्तुत नाटक के संवाद प्रायः

कथानक को भी गति देते हैं। कार्य-व्यापार से भी अधिक संवाद के माध्यम से चरित्रों का उद्घाटन बड़ी कुशलता से किया गया है। उस काल का वास्तविक वातावरण उपस्थित करने में भी नाटककार पूरी तरह सफल हुआ है। अभिनय के लिए सरल बनाने के उद्देश्य से लेखक ने युद्धों को मंच पर न दिखाकर पात्रों द्वारा उनका सजीव वर्णन ही किया है।

इन ऐतिहासिक नाटकों की रचना से पूर्व श्री लक्ष्मीनारायण मिश्र प्रधान रूप से समस्या-नाटकों के रचयिता के रूप में ही प्रसिद्ध थे। किंतु इन उत्कृष्ट नाटकों को प्रणीत करके मिश्रजी ने ऐतिहासिक नाटक के क्षेत्र में भी विशेष प्रतिष्ठा एवं महत्त्व का स्थान प्राप्त कर लिया है।

श्री हरिकृष्ण प्रेमी का 'शपथ' (१९५१) उनका प्रथम संस्कृति-प्रधान ऐतिहासिक नाटक है। इससे पूर्व प्रेमीजी सामन्तीय युग से संबन्धित अनेक नाटकों की रचना कर चुके हैं। इस नाटक में तीन अंक हैं। नाटक का नायक यशोधर्मन है, जिसका मूल नाम विष्णुवर्धन था। उसके वंशानुगत राजा होने का प्रमाण इतिहास में कोई नहीं है। वह साधारण व्यक्ति था, किंतु उसने जनमत को उत्तेजित करके एक सफल सशस्त्र राजनीतिक क्रांति की, और विश्व-विजयी हूणों की शक्ति को धूल में मिलाकर देश की स्वतंत्रता को सुरक्षित किया।

नाटक का कथानक लंबा है, पर प्रेमीजी ने इसका संगठन बड़ी सफलता के साथ किया है। कथानक का विकास वैज्ञानिक ढंग से होता है, और व्यर्थ के प्रसंगों और दार्शनिकतापूर्ण वाद-विवाद की अवतारणा नहीं की गई। ऐतिहासिक नाटक होने के कारण पात्रों की संख्या काफ़ी है, किंतु चरित्र-चित्रण में प्रमुखता चार-पाँच को ही दी गई है। विष्णुवर्धन सच्चा देशभक्त क्षत्रिय वीर है। वह जनता तथा राष्ट्र के हित को सर्वोपरि समझता है। इसी कारण वह केवल सम्राट् न रहकर जनता का हृदय-सम्राट् बन जाता है। मिहिरकुल में बर्बरतापूर्ण पाशविकता के साथ अनेक उत्तम गुण भी विद्यमान हैं। वह कुशल कूटनीतिज्ञ है, वीरों तथा देशभक्तों का प्रशंसक है। इसी कारण वह देशद्रोही, स्वार्थी धन्यविष्णु को 'नर की खाल पहने श्वान' कहता है। हूणों के चरित्र का परिचय वह इन शब्दों में देता है—

> **मिहिरकुल—निश्चय ही, हूण कृतघ्न नहीं हैं। वे मित्र के मित्र और शत्रु के शत्रु हैं। वे जितने कठोर हैं उतने ही कोमल हैं। पृथ्वी के समान उनके हृदय में अग्नि और जल दोनों विद्यमान हैं, उनकी आँखों में सृष्टि और संहार दोनों का निवास है, वे किसी के लिए वरदान हैं तो किसी के लिए अभिशाप।** (तृतीय अंक, प्रथम दृश्य)

वत्स भट्ट, सुहासिनी और कंचनी के चरित्रों का चित्रण भी प्रेमीजी ने बड़ी सुन्दरता से किया है। परन्तु पात्रों में विकास का प्रायः अभाव है और उनके चरित्र-चित्रण में अन्तर्द्वन्द्व की अवतारणा भी प्रेमीजी ने बहुत कम की है। संवाद लिखने की कला में तो ये सिद्धहस्त हैं। सरलता, सरसता और नाटकीयता उनके संवादों की सहज विशेषताएँ हैं। उनके माध्यम द्वारा चरित्रों का उद्घाटन भी कलापूर्ण ढंग से किया गया है। वातावरण के चित्रण में प्रेमीजी इतने सफल हुए हैं कि पाठक या दर्शक अपने काल को भूल कर अपने-आपको उसी देशकाल में समझने लगता है। अभिनय के लिए सर्वथा उपयोगी होने पर भी यह नाटक आकार में कुछ अधिक बड़ा हो गया है। वत्स भट्ट के इन शब्दों में प्रेमीजी ने अपने उद्देश्य को इस प्रकार प्रकट किया है—

> **वत्स भट्ट—मैंने सोचा कि स्वाधीनता-प्रेम, देश-भक्ति और वीरत्व की भावनाओं से ओत-प्रोत नाटकों के अभिनय द्वारा जन-मन के यौवन को जागृत किया जाय।** (प्रथम अंक, सप्तम दृश्य)

डा० कैलाशनाथ भटनागर का 'चाणक्य-प्रतिज्ञा' (१९५१) संस्कृत के प्रसिद्ध नाटक 'मुद्राराक्षस' के आधार पर रचा गया है। यद्यपि नाटक का कथानक और चरित्र-चित्रण प्रायः मूल के अनुसार ही चलते हैं, तथापि प्रस्तुत नाटक में आधुनिक नाटकीय शैली के अनुकूल कुछ परिवर्तन भी किये गये हैं। जहाँ मूल नाटक में सात अंक हैं वहाँ प्रस्तुत नाटक में सारी कथावस्तु तीन अंकों में समाप्त कर दी गई है। नाटककार का प्रधान उद्देश्य इस रचना द्वारा आज के विद्यार्थियों में अनुशासन तथा गुरुओं के सम्मान का भाव उत्पन्न करना है।

जगन्नाथप्रसाद 'मिलिन्द' का 'गौतम नन्द' तीन अंकों का उत्कृष्ट सांस्कृतिक नाटक है, जिसमें गौतम बुद्ध के छोटे भाई गौतम नन्द के त्यागपूर्ण जीवन की कुछ झांकियाँ प्रस्तुत की गई हैं। गौतम बुद्ध के विख्यात चरित्र के सम्मुख उनके छोटे भाई (विमाता के पुत्र) नन्द का चरित्र पूर्णतया उपेक्षित रहा है। किंतु उसका त्याग भी महान् था, अतएव 'मिलिन्द' जी ने इस उपेक्षित परन्तु महान् पात्र को अपने कथानक का आधार बनाया है। इस नाटक में लेखक ने विवाह, नवगृहप्रवेश और राज्याभिषेक के अवसर पर गौतम नन्द के द्वारा भोग और वैभव को त्यागकर भिक्षु बनकर लोक-कल्याण के मार्ग पर प्रस्थान की कथा का मार्मिक वर्णन किया है। नाट्यकला की दृष्टि से यह रचना प्रौढ़ एवं सुन्दर है।

बनारसीदास 'करुणाकर' का 'सिद्धार्थ बुद्ध' (१९५५) मध्यम कोटि का

सांस्कृतिक नाटक है। इसमें चार अंक (दृश्यों में विभाजित) हैं, और इसमें गौतम बुद्ध के जीवन की प्रमुख घटनाओं पर प्रकाश डाला गया है। नाटक का विषय नूतन नहीं है, और इसपर पहले भी कई नाटक रचे जा चुके हैं। फिर भी लेखक अपनी रचना में मौलिकता का कुछ परिचय देने में सफल हुआ है। नाटक में भगवान् बुद्ध के जीवन की करुणा का उद्घाटन भली भाँति किया गया है, और यह करुणा उस समय पराकाष्ठा को पहुँच जाती है जब कुमार राहुल और कपिलवस्तु राज्य के अन्य उत्तराधिकारी बौद्ध धर्म में दीक्षित हो जाते हैं।

कथावस्तु का विकास सन्तोषजनक है। सिद्धार्थ, यशोधरा और शुद्धोदन के चरित्रों का चित्रण भी सुन्दर एवं स्वाभाविक है। यशोधरा तथा सिद्धार्थ के चरित्र-चित्रण में लेखक ने मानसिक संघर्ष का चित्रण भी सफलता से किया है। संवादों में भी लेखक ने बड़ी सफलता प्राप्त की है, और उन्हें सरल, स्वाभाविक तथा पात्र एवं परिस्थिति के अनुकूल बनाने की चेष्टा की है। नीचे के अवतरण से संवादों की शक्ति और मार्मिकता का पता चल जाता है—

गौतमी—आश्चर्य ! क्या तुम्हें आज भी प्रसन्नता नहीं है ?

यशोधरा—प्रसन्नता मुझे कहाँ से हो महारानी ! क्या आर्यपुत्र मुझ अभागी को फिर से ग्रहण करने आ रहे हैं ? आप प्रसन्न हों, आपका पुत्र बुद्ध होकर, सम्राटों से भी महान् बनकर आ रहा है। राज्य चलाने के लिए महाराज के पास बहुत लोग हैं। शाक्य-कुल का गौरव बढ़ा है, इससे सबको परम संतोष है। परन्तु मुझे सुख-संतोष अब कहाँ ! जब आर्यपुत्र घर छोड़कर गये थे तो वे मेरे थे और मैं उन्हें पाने को व्याकुल थी। आज जब वे लौटे भी हैं तो मेरे नहीं हैं—मैं यह निश्चय जानती हूँ। वे जितने महान् हैं, उतने मुझ से दूर हैं।

(चौथा अंक, पहला दृश्य)

नाटककार ने प्रत्येक अंक का पृथक् नामकरण किया है, और प्रत्येक अंक के लिए अलग पात्र-सूची दी है। प्रथम अंक में स्त्री-पात्रों का अभाव है। कुमार के नगर-भ्रमण-वर्णन की शैली पर संस्कृत-कवि अश्वघोष की छाप दिखाई देती है। बुद्ध पर कामदेव के प्रहार का दृश्य कुछ थिएट्रिकल-सा हो गया है, और यह सफलतापूर्वक रंगमंच पर दिखाया भी नहीं जा सकता। आकाश-वाणी के प्रयोग आदि के द्वारा अतिप्राकृतिक तत्त्व का समावेश भी इस ऐतिहासिक नाटक में कर दिया गया है।

देवराज 'दिनेश'-कृत 'यशस्वी भोज' यशस्वी राजा भोज के चरित्र को

लेकर लिखा गया तीन अंकों का सुन्दर सांस्कृतिक नाटक है। कथावस्तु की अपेक्षा नाटक का महत्त्व पात्रों के चरित्र-चित्रण में अधिक है, और नाटककार महाराज भोज के अन्यान्य गुणों—उनकी सहृदयता, प्रजारंजन तथा संगीत-साहित्य-प्रेम आदि—पर कुशलता से प्रकाश डाल सका है। संवाद सरस, सजीव और स्वाभाविक हैं और वातावरण का चित्रण भी प्रायः यथार्थ है। डा० दशरथ ओझा का 'सम्राट् समुद्रगुप्त' सामान्य श्रेणी का नाटक है, जिसमें गुप्त-सम्राट् समुद्रगुप्त के जीवन की कुछ घटनाओं का वर्णन है।

संस्कृति-प्रधान ऐतिहासिक नाटकों के अतिरिक्त इन वर्षों में कुछ सामन्तीय वातावरण-प्रधान ऐतिहासिक नाटकों की रचना भी हुई, जिनके कथानक भारतीय इतिहास के मध्यकाल से लिये गये हैं। दो-तीन नाटक आधुनिक काल से कथानक लेकर भी लिखे गये। इस श्रेणी के ऐतिहासिक नाटकों में हरिकृष्ण प्रेमी के 'उद्धार' (१९४९), 'प्रकाश-स्तम्भ' (१९५४) तथा 'कीर्तिस्तम्भ' (१९५५), वृन्दावनलाल वर्मा का 'बीरबल' (१९५०), जगदीशचन्द्र माथुर का 'कोणार्क' (१९५१), देवराज दिनेश का 'मानव-प्रताप' (१९५२), चतुरसेन शास्त्री-कृत 'छत्रसाल' (१९५४), लक्ष्मीनारायण मिश्र-कृत 'कवि भारतेन्दु' (१९५५) तथा सेठ गोविन्ददास के 'भारतेन्दु' (१९५५) और 'रहीम' (१९५५) उल्लेखनीय हैं।

'उद्धार' (१९४९) में प्रेमी जी ने राणा हमीर के द्वारा मेवाड़ के उद्धार का नाटक-रूप में वर्णन किया है। इस नाटक में वर्तमान विचारधारा के प्रभाव के कारण हमीर के चरित्र के राजसी पक्ष को महत्त्व न देकर उसे जन-नायक तथा देश के एक वीर सैनिक के रूप में ही प्रस्तुत करने का यत्न किया गया है। इसके अतिरिक्त यद्यपि 'उद्धार' की घटनाएँ ऐतिहासिक हैं, तथापि आज की राजनीति और समाजनीति की अनेक उलझनों का समाधान इसमें है। नाटककार ने अपने उद्देश्य को सर्वथा स्पष्ट करते हुए कहा है—

> **सुजान०—मेरा स्वप्न है जातियों की सीमाओं को तोड़कर मानवता का निर्माण, प्रान्तीयता की दीवारों को गिराकर राष्ट्रीयता की स्थापना। आज मेवाड़ स्वतन्त्र हो गया है, किन्तु उसे याद रखना चाहिए कि वह सम्पूर्ण भारत का अंश है और जब तक भारत के एक भी कोने पर विदेशियों का अस्तित्व है उसकी स्वाधीनता अधूरी है।**
>
> (तीसरा अंक, सातवाँ दृश्य)

नाटक के कथानक का विकास सुन्दर ढंग से तीन अंकों में हुआ है। पात्रों की संख्या भी ऐतिहासिक नाटक के लिए अधिक नहीं है, तो भी चरित्र-चित्रण में प्रमुखता तीन-चार पात्रों को ही दी गई है। हमीर तथा कमला के चरित्रों

का उद्घाटन विशेष कुशलता से किया गया है। हमीर में अगाध वीरता के साथ असीम विनम्रता है। राणा होते हुए भी उसके हृदय में निर्धनों के प्रति सच्ची सहानुभूति और उदार भ्रातृ-भावना भरी है। कमला के चरित्र में भी कोमलता के साथ-साथ निपट निर्भीकता का गुण विद्यमान है। वह देश-प्रेम के आगे दाम्पत्य-प्रेम को तथा देशहित के समक्ष व्यक्तिगत सुखों को तुच्छ समझती है। संवादों में शक्ति और ओज हैं। पहले अंक के दूसरे दृश्य में मालदेव के साथ तथा तीसरे अंक के तीसरे दृश्य में भूपति के साथ कमला के संवाद विशेष रूप से शक्तिशाली और प्रभावोत्पादक हैं।

'प्रकाश-स्तम्भ' (१९५४) में क्रमशः दो, तीन, और दो दृश्यों के तीन अंक हैं। नाटक का कथानक मेवाड़ के राजवंश के आदिपुरुष बाप्पा रावल के जीवन की प्रमुख घटनाओं पर आधारित है। उनके व्यक्तित्व के साथ जन-श्रुतियों में अनेक दैवी और चामत्कारिक घटनाएँ प्रचलित हैं, किन्तु प्रेमी जी ने उन घटनाओं को इस नाटक में स्थान न देकर यथाशक्ति बाप्पा रावल को मानवेतर बनने से बचाया है। लेखक की अभिलाषा है कि बाप्पा के कार्य और विचार हमारे आज के भारत के लिए प्रकाशस्तंभ का काम दें, इसीलिए नाटक का नाम 'प्रकाश-स्तम्भ' रखा गया है।

प्रस्तुत नाटक का टेकनीक प्रेमी जी के अन्य नाटकों से थोड़ा भिन्न है। उनके इससे पहले के प्रायः सभी नाटक पटों (पर्दों) की सहायता से खेले जाने वाले रहे हैं। परन्तु यह नाटक केवल दो सेटिंग्स पर खेला जा सकता है, और दृश्यों की संख्या भी इसमें बहुत कम है। इस नाटक में दृश्य-परिवर्तन का प्रश्न ही नहीं उठता। जहाँ दृश्य बदलता भी है, वहाँ उसी सैट पर दूसरा आरम्भ हो जाता है। अभिनय के समय कुछ लम्बे कथानकों को छोटा करना पड़ेगा। अन्यथा यह नाटक अभिनय के लिए बड़ा सरल और सुन्दर है।

वस्तु-संगठन, चरित्र-चित्रण और कथोपकथन के विचार से भी यह नाटक उत्तम है। बाप्पा, हारीत, नागदा-नरेश, पद्मा, चम्पा और ज्वाला के चरित्र की विशेषताओं को कुशलता से प्रकाशित किया गया है। बाप्पा के संवादों तथा कार्यों द्वारा नाटककार ने यह तथ्य स्थापित करने का यत्न किया है कि संसार में कोई ऊँचा या नीचा नहीं है, कोई विजातीय या विधर्मी नहीं है, सभी मानवता के नाते एक हैं। बाप्पा के इन शब्दों में प्रेमी जी ने अपना संदेश मुखरित किया है—

बाप्पा—···मेरे लिए तो संसार में केवल एक धर्म है, और वह है मानवता।

(तृतीय अंक, दूसरा दृश्य)

उच्च जाति, उच्च वंश और सत्ता के मिथ्या अभिमान को धक्का लगाने के उद्देश्य से ही बाप्पा नागदा-नरेश की पुत्री पद्मा से विवाह न करके अरबी सेना के सेनापति सलीम की बेटी हमीदा से विवाह करता है। इसके अतिरिक्त नवार्जित स्वतंत्रता की रक्षा के हेतु अपने प्राणों तक का उत्सर्ग कर देने का उपदेश भी नाटककार ने पात्रों के संवादों के बीच ही स्वाभाविकता की पूर्णतया रक्षा करते हुए दिया है। आकस्मिकता का आश्रय भी लेखक ने दो-तीन स्थानों पर लिया है। उदाहरण के लिए प्रथम अंक के द्वितीय दृश्य में जब नागदा-नरेश अपनी पुत्री पद्मा पर तलवार उठाता है, तब बाप्पा विद्युत् गति से प्रवेश करके, नंगी तलवार हाथ में लिये उसको रोक देता है। पुनः दूसरे अंक के दूसरे दृश्य में जब बाप्पा और चम्पा प्रेमपूर्ण वार्तालाप में मग्न हैं तो पद्मा सहसा प्रवेश करती है और दोनों को धिक्कारती है। किंतु ऐतिहासिक नाटकों में ऐसे प्रसंग अधिक अस्वाभाविक नहीं लगते, और कथावस्तु के यथोचित विकास के लिए ऐसी अप्रत्याशित घटनाओं का समावेश कई बार आवश्यक हो जाता है।

प्रेमी जी के 'कीर्तिस्तम्भ' (१६५५) में क्रमशः सात, पाँच और आठ दृश्यों के तीन अंक हैं। इसकी पृष्ठ-संख्या २११ है, जिससे यह नाटक अभिनय के लिए बहुत लंबा हो गया है। महाराणा कुम्भा के ज्येष्ठ पुत्र ऊदा जी ने पिता की हत्या करके मेवाड़ का राजमुकुट अपने मस्तक पर धारण किया था। तब हत्यारे के अनुज रायमल अपने अग्रज को परास्त कर मेवाड़ के राणा बने। प्रस्तुत नाटक में ऊदाजी के पुत्र सूरजमल के हृदय में मेवाड़ के राजमुकुट का मोह जागने और उसे प्राप्त करने के लिए षड्यन्त्र और युद्ध करने का, तथा महाराणा रायमल के तीनों पुत्रों संग्रामसिंह, पृथ्वीराज और जयमल में युवराज-पद पाने की प्रतिस्पर्धा का वर्णन है। नाटककार ने इस भीषण गृह-कलह का बड़ा प्रभावशाली और यथार्थ चित्रण किया है। कथानक में इतिहास के साथ कल्पना का मिश्रण करके लेखक ने नाटक को अधिक सरस और मनोरंजक बना दिया है। इसके अतिरिक्त लेखक ने दूरदर्शिता से काम लेकर समर-भूमि में अस्सी घाव खाने वाले पराक्रमी संग्रामसिंह के संपूर्ण जीवन के चित्रण के मोह में न पड़कर केवल थोड़ी-सी घटनाओं का समावेश ही नाटक में किया है। अतएव कथानक का संगठन शिथिल नहीं होने पाया और इसका विकास अत्यन्त स्वाभाविक एवं कलापूर्ण ढंग से हुआ है।

कथानक के विकास में ही नहीं, अपितु पात्रों के चरित्र-चित्रण में भी प्रेमी जी ने प्रस्तुत नाटक में अपने प्रौढ़तम कला-कौशल का परिचय दिया है। इस नाटक में मालवा के सुलतान, गुजरात के बादशाह, दिल्ली के बादशाह,

संग्रामसिंह की माता, सिरोहीनरेश और उसकी पत्नी और राव सूरतान आदि अनेक पात्रों को, जिनका कथानक से अल्प संबंध है, रंगमंच पर नहीं लाया गया। केवल प्रमुख पात्रों की अवतारणा ही नाटक में की गई है, और उनका चरित्र-चित्रण विस्तारपूर्वक बड़े ही सुंदर एवं स्वाभाविक रूप में किया गया है। तीनों राजकुमारों के चरित्र में अन्तर तो बड़ी ही कुशलता के साथ प्रकाशित किया गया है, और संग्रामसिंह के अपेक्षाकृत महान् गुणों का उद्घाटन किया गया है, जैसे—

संग्राम०—'''राजा बनने की अपेक्षा मनुष्य होना मानव के लिए अधिक गौरव की बात है, पृथ्वीराज ! प्राण लेने की वीरता से त्याग की वीरता महान् है। (पहला अंक, पहला दृश्य)

प्रस्तुत नाटक के संवादों में जहां प्रेमी जी के इससे पूर्व के नाटकों में संवादों के सभी उत्कृष्ट गुण विद्यमान हैं, वहाँ प्रेमी जी ने इस नाटक में स्वगत-भाषण का भी सर्वथा बहिष्कार कर दिया है। इस प्रकार प्रेमी जी ने स्वयं यह सिद्ध कर दिया है कि यथार्थवादी समस्या-नाटकों में ही नहीं, अपितु ऐतिहासिक नाटकों में भी स्वगत-भाषण के बिना बड़ी सफलता से काम चलाया जा सकता है। इस नाटक के कुछेक संवादों में भी पूर्ववत् अधिक विस्तार आ गया है, जिसको प्रेमी जी जैसा कलाकार आसानी से कम कर सकता था।

'कीर्ति-स्तम्भ' की भाषा में प्रेमी जी ने अपने पहले नाटकों की अपेक्षा उर्दू के शब्दों का बहुत कम प्रयोग किया है। इस प्रकार उनका झुकाव हिन्दी की ओर अधिक हो रहा है, क्योंकि अब राष्ट्रीय क्षेत्र में भी हिन्दुस्तानी के बजाय हिन्दी ही प्रतिष्ठित हो रही है। नाटक को सरलता से अभिनेय बनाने के उद्देश्य से दृश्य-विधान इस रीति से किया गया है कि यदि एक दृश्य कठिन अथवा आडम्बरपूर्ण है तो दूसरा सरल रखा गया है। हमारे यहाँ घूमनेवाले रंगमंच का अभाव होने के कारण नाटककार को अनेक बन्धनों में बँधना पड़ता है। सैटिंग की सुविधा के हेतु एक गहरे दृश्य के अनन्तर दूसरा दृश्य कम गहरा दिखाना पड़ता है। इसके अतिरिक्त बड़े-बड़े तथा भीषण युद्धों को भी रंगमंच पर दिखाया नहीं गया।

अपने पिछले नाटकों की भाँति इस नाटक की रचना भी प्रेमी जी ने विशेष उद्देश्य से ही की है। भारत ने शताब्दियों की पराधीनता के पश्चात् प्राप्त की हुई स्वतंत्रता की रक्षा ही नहीं करनी है, बल्कि राष्ट्र को सुखी, समृद्ध एवं शक्तिशाली भी बनाना है। इसलिए प्राचीन इतिहास से शिक्षा लेकर हमें गृह-कलह और मिथ्याभिमान के दोषों से बचना है। इसी संकल्प को दृढ़ करने के

लिए प्रेमी जी ने अनेक स्थानों पर अपने पात्रों से उपदेशात्मक शब्द कहलाये हैं, यथा—

राजयोगी—वे कह रहे हैं—स्वार्थ, अभिमान और क्रोध में आकर कभी जन्मभमि के हित को मत भूलो। सत्ता और सम्मान पाने के लिए प्रतिस्पर्धा की भूल मत करो। क्षणिक लाभ के लिए देश के शत्रुओं को मित्र समझने की भूल मत करो। देश के प्रत्येक व्यक्ति को अपने समान समझो। (तीसरा अंक, आठवां दृश्य)

सभी दृष्टियों से उच्च कोटि का होते हुए भी यह नाटक अभिनय के लिए बहुत लंबा है। यदि नाटककार प्रयत्न करता तो निश्चय ही नाटक की लंबाई को कम कर सकता था। यदि कतिपय प्रसंगों और कथोपकथनों को मूल से काटना उसे स्वीकार न था, तो भी वह थोड़े से परिश्रम और विचार से अनेक संवादों तथा प्रसंगों के विस्तार को कम कर सकता था। कई स्थानों पर कार्य को सीधे न पकड़कर उसने उसके लिए लंबी भूमिका अथवा विस्तृत वातावरण की सृष्टि की है। ऐसा करने में लेखक का उद्देश्य यही जान पड़ता है कि हमारे देश में अभी तक नाटक अभिनय से भी अधिक अध्ययन की सामग्री बने हुए है। पढ़ने में यह नाटक अपने वर्तमान विस्तार के कारण दोषपूर्ण नहीं कहा जा सकता, बल्कि इससे इसकी सरसता और रोचकता में वृद्धि ही हुई है। जब कभी रंगमंच पर प्रस्तुत नाटक को अभिनीत करने का अवसर प्राप्त हो, तो निर्देशक अपनी बुद्धि और विवेक से यत्र-तत्र काट-छाँट करके इसे छोटा कर सकता है।

वृन्दावनलाल वर्मा का 'बीरबल' (१९५०) तीन अंकों (तथा सत्रह दृश्यों) का मध्यम श्रेणी का नाटक है। इसमें वर्मा जी ने सम्राट् अकबर के दरबार के नवरत्नों में प्रसिद्ध बीरबल के चरित्र का मौलिक दृष्टिकोण से चित्रण किया है। प्रसिद्ध इतिहासकार श्री स्मिथ ने बीरबल को दरबारी विदूषक का सा रूप देने की चेष्टा की है। किन्तु वर्मा जी ने अकबर के समकालीन दरबारी बदायूनी और नवरत्नों में से एक अबुल फ़ज़ल के शब्दों को अधिक प्रामाणिक मानकर बीरबल के अनेक उत्कृष्ट गुणों का उद्घाटन करते हुए यह सिद्ध किया है कि यद्यपि अकबर में कई महान् गुण थे पर बीरबल उन गुणों में अकबर से भी बढ़-चढ़ कर था।

नाटक में अकबर के राज्यकाल की बहुत-सी छोटी-छोटी घटनाओं को एक सूत्र में पिरोने की चेष्टा की गई है। घटनाओं का प्रायः पारस्परिक संबंध नहीं है या बहुत कम है। इस कारण कथानक के क्रमिक विकास का प्रायः अभाव

है। वस्तु-संगठन की अपेक्षा नाटक का महत्त्व चरित्र-चित्रण में अधिक है, किंतु लेखक ने अकबर तथा बीरबल के चरित्रों का चित्रण ही यथेष्ट विस्तार के साथ किया है। जहाँ बीरबल के केवल गुणों का ही वर्णन किया गया है, वहाँ अकबर के चरित्र के गुणों तथा दोषों दोनों पर ही प्रकाश डाला गया है। अन्य पात्रों की दो-एक रेखाओं को ही लेखक ने स्पष्ट किया है। नाटक में अनावश्यक एवं अनाटकीय सामग्री काफ़ी है। संवादों में लेखक ने पर्याप्त कुशलता का परिचय दिया है।

जगदीशचन्द्र माथुर का 'कोणार्क' (१९५१) तीन अंकों की एक प्रौढ़ नाटकीय रचना है। इसका कथानक उड़ीसा में स्थित कोणार्क के प्रसिद्ध देवालय के निर्माण तथा विध्वंस की कथा को लेकर गढ़ा गया है। उड़ीसा के मन्दिरों की परम्परा में अन्तिम होने पर भी यह देवालय भग्न पड़ा है, और कुछ विद्वानों के मतानुसार इस मन्दिर का विमान (मुख्य अंश) कभी व्यवहार में लाया ही नहीं गया। इस मन्दिर के टूटने के सम्बन्ध में उड़ीसा में एक किंवदन्ती प्रचलित है। किन्तु लेखक ने उसको अंशतः ही अपनाया है, और इतिहास का उपयोग भी अल्प मात्रा में ही किया है। नाटककार ने अपनी कल्पना एवं विचार-शक्ति के बल पर प्रस्तुत नाटक में कलाकार के युग-युग के मौन पौरुष को (जो सौंदर्य-सृजन के सम्मोहन में अपने को भूल जाता है) ही जागृत और सक्रिय करना अधिक उपयुक्त समझा है। उसने यह दिखाया है कि मन्दिर का निर्माण कराने वाले राजा नरसिंहदेव के विरुद्ध जब सहसा उसके मन्त्रियों में प्रमुख पूर्वीय चालुक्य वंश के राजराज ने षड्यन्त्रपूर्ण विद्रोह किया, तो कोणार्क के बारह सौ शिल्पियों ने उसी मन्दिर से दुर्ग का काम लेकर शत्रु से यथाशक्ति युद्ध किया, और अन्त में प्रधान शिल्पी विशु ने उस युद्ध में अपने पुत्र धर्मपद के तथा अधिकांश अन्य कलाकारों के काम आ जाने पर स्वयं कोणार्क को नष्ट कर दिया।

नाटक का कथानक रोचक और सुव्यवस्थित है। नाटक का तीसरा अंक अत्यन्त सशक्त तथा प्रभावोत्पादक बन पड़ा है। कलाकार का बदला जीवन-सौंदर्य को ही चुनौती नहीं देता, अत्याचारी को भी मानो सूर्यहीन लोक के अतल अंधकार में डाल देता है। सहनशील विशु और विद्रोही धर्मपद में जैसे कला के प्राचीन और नवीन युग मूर्त्तिमान हो उठे हैं। विशु और धर्मपद में पिता-पुत्र का सम्बन्ध दिखाकर नाटककार ने अपनी रचना में प्रभावोत्पादकता तथा मार्मिकता की विशेष वृद्धि कर दी है। पिता और पुत्र के चरित्रों के अतिरिक्त लेखक ने राजा नरसिंहदेव और षड्यन्त्रकारी चालुक्य राजराज के चरित्रों की विषमता पर भी बड़े सुचारु रूप से प्रकाश डाला है। संवादों में सरसता के

साथ-साथ पात्र एवं परिस्थिति के अनुकूल कहीं ओज और कहीं पर करुण मार्मिकता का समावेश है। कथोपकथन संक्षिप्त तथा अनावश्यक विस्तार से रहित होने के कारण बड़े नाटकोपयोगी और प्रभावोत्पादक बन गये हैं। परिशिष्ट में लेखक ने निर्देशक तथा अभिनेताओं की सुविधा के लिए बड़े सूक्ष्म और उपयोगी संकेत दिये हैं, जिससे इस नाटक का सफलतापूर्वक अभिनय हो सके। नाटक के उपक्रम और उपसंहार भी लेखक के अति प्रभावशाली एवं कलापूर्ण प्रयोग हैं।

देवराज दिनेश का 'मानव प्रताप' (१९५२) तीन अंकों का सफल ऐतिहासिक नाटक है। 'आमुख' में लेखक ने कहा है—

> **"सुचारु रूप से इतिहास का अध्ययन करने वाले व्यक्ति के हृदय में महाराणा प्रताप के प्रति श्रद्धा उमड़ेगी ही।···स्वतन्त्रता की रक्षा उनका ध्येय था। वह योद्धा थे—परम योद्धा—मृत्यु से अठखेलियाँ करने वाले मानव थे—महान् मानव—करुणा और स्नेह से ओत-प्रोत मानवता के विशिष्ट नियमों को मानने वाले। अविराम संघर्ष ही उनका सखा बन गया था।"**

दिनेश जी का उद्देश्य प्रस्तुत नाटक में अपने नायक के चरित्र के महान् गुणों पर प्रभावोत्पादक ढंग से प्रकाश डालना है, और इसमें उन्हें बड़ी सफलता मिली है। महाराणा प्रताप साहसी एवं महान् मानव थे। वे वंशानुगत शत्रुता के विरोधी थे। गुणग्राही होने के कारण ही उन्होंने हल्दीघाटी के ऐतिहासिक युद्ध में हाकिमखां नामक पठान को अपनी सेना के हरावल का अध्यक्ष बनाया था। वे सदाचारी तथा वीर थे, और जाति का भेद-भाव त्याग कर वीरों का सम्मान करते थे। इस प्रकार नाटककार ने अपने नायक के उदात्त चरित्र पर सफलता से प्रकाश डाला है। वस्तु-संगठन और कथोपकथन आदि के विचार से भी नाटक संतोषजनक है।

आचार्य चतुरसेन शास्त्री का 'छत्रसाल' (१९५४) पाँच अंकों का साधारण कोटि का ऐतिहासिक नाटक है। नाटक में औरंगज़ेब के लड़खड़ाते मुग़ल साम्राज्य के विरुद्ध बुन्देले वीर चम्पतराय और उनके वीर पुत्र छत्रसाल के साहस और आत्म-त्याग का चित्रण है। इसी कथानक को लेकर हरिकृष्ण प्रेमी 'प्रतिशोध[१]' की तथा सत्येन्द्र 'मुक्तियज्ञ[२]' की रचना कर चुके हैं। आचार्यजी का नाटक नाट्यकला की दृष्टि से 'प्रतिशोध' के स्तर तक ऊँचा नहीं उठ सका। 'मुक्तियज्ञ' की भांति 'छत्रसाल' का कथानक भी महाराष्ट्र के प्रसिद्ध लेखक बालचन्द नानचन्द शाह के

१. तथा २. देखिए उन्नीसवाँ अध्याय।

मराठी उपन्यास के आधार पर लिखा गया है।

सेठ गोविन्ददास ने हिन्दी के उत्कृष्ट साहित्यकारों तथा कवियों के जीवन-वृत्त को लेकर कुछ नाटक लिखने का निश्चय किया है। इस दिशा में 'भारतेन्दु' (१९५५) उनका पहला प्रयास है। इस नाटक में वर्णित समस्त घटनाएँ हरिश्चन्द्र जी के जीवन-चरित्रों से ली गई हैं। किन्तु नाटक के गठन के लिए लेखक ने उन्हें आवश्यकतानुसार आगे-पीछे अवश्य कर दिया है। इसके अतिरिक्त भिन्न-भिन्न समयों पर घटित कुछ घटनाओं को नाटक की सुविधा तथा प्रभाव-वृद्धि के विचार से इकट्ठा कर दिया गया है। भारतेन्दु द्वारा भिन्न-भिन्न समयों पर दिये गये दानों को भी लेखक ने एक ही दृश्य में दिखा दिया है। इस नाटक में रखे गये प्रायः सभी पद्य भारतेन्दु के हैं, और हिरिया को छोड़कर सब पात्र ऐतिहासिक हैं। यद्यपि उपसंहार में सेठ जी ने भारतेन्दु की मृत्यु दिखाई है, तथापि वे नाटक को दुःखांत नहीं मानते। उनका मत है कि केवल मृत्यु के साथ नाटक का अन्त होने से कोई रचना दुःखांत नहीं कही जा सकती। नाटक का दुःखांत होना इस बात पर निर्भर होता है कि मृत्यु किन परिस्थितियों में होती है, और इस मृत्यु का पाठक तथा दर्शक के हृदय पर क्या प्रभाव पड़ता है।

नाटक की समस्त घटनाएँ काशी में घटित होने के कारण स्थान की एकता का पूर्णतया पालन हुआ है। पर संवत् १९१२ से १९४१ तक की उनतीस वर्षों की घटनाओं का समावेश इसमें होने के कारण समय की एकता रखी नहीं जा सकी। यदि उपक्रम तथा उपसंहार को हटा दिया जाय, तो कथानक का काल-विस्तार काफ़ी कम हो जाता है। लेखक ने भारतेन्दु और उनकी धर्मपत्नी मन्नोदेवी के चरित्र का चित्रण बड़े विस्तार के साथ किया है, और उनकी व्यक्तिगत विशेषताओं का कुशलता से उद्घाटन करके पति-पत्नी के चरित्र में आकाश-पाताल का अन्तर संवादों तथा कार्य-कलाप के द्वारा बड़े मार्मिकतापूर्ण ढंग से स्पष्ट किया है। स्वयं भारतेन्दु इन शब्दों में बड़े आत्म-परिताप के साथ दोनों के चरित्र की तुलना करते हुए कहते हैं—

हरिश्चन्द्र—(मन्नोदेवी को देखते हुए कातर स्वर में) कितनी··· कितनी चिन्ता है तुम्हें मेरी, मन्नो ! अब तो एक दिन की बात नहीं रह गई है, नित्य की ही हो गई है। कभी भी समय पर खाने नहीं आता, जब आता हूँ देखता हूँ तुम्हें भूखे-प्यासे प्रतीक्षा करते हुए। कभी भी समय पर सोने नहीं आता, और जब आता हूं, केवल देखता हूँ, चाहे कितनी ही रात बीत गई हो, तुम बैठी हो बाट देख रही हो। अब तो अन्य बातें भी छिपी नहीं रहीं। मेरे सदृश दुश्चरित्र, पतित पर भी

तुम्हारा वैसा ही प्रेम, वैसी ही श्रद्धा, वैसी ही भक्ति ! कहाँ···कहाँ मैं और कहाँ···कहाँ तुम, कितना···कितना पतित हूँ मैं, और···और कितनी···कितनी पावन हो तुम, कदाचित् भारतीय नारी ही ऐसी हो सकती है। (पहला अंक, तीसरा दृश्य)

नाटक में भारतेन्दु के सामाजिक जीवन तथा गृहस्थ जीवन दोनों पर यथेष्ट प्रकाश डाला गया है, और नाटककार ने अपने नायक के चरित्र के उज्ज्वल एवं मलिन दोनों पक्षों को प्रस्तुत किया है। नाटक के संवाद प्रायः संक्षिप्त, सुन्दर तथा गतिशील हैं। पात्र तथा परिस्थिति के अनुसार संवादों में गम्भीरता तथा विनोद की मात्रा भी मिलती है। किन्तु कुछ संवाद बहुत लंबे, अस्वाभाविक और अनाटकीय बन गये हैं (उदाहरण के लिए पाँचवें अंक के पहले दृश्य में काशी-नरेश का लंबा भाषण, तथा उसी दृश्य में भारतेन्दु द्वारा बहुत लंबा कविता-पाठ, पाँचवें अंक के दूसरे दृश्य में भारतेन्दु का लंबा स्वगत इत्यादि)। संवादों के बीच में पद्य का प्रयोग भी किया गया है। नाटक का अभिनय सरलता एवं सफलता से किया जा सकता है। दृश्य-योजना इस प्रकार की गई है कि अभिनय के समय सैटिंग में कठिनाई नहीं होगी। पाँचवें अंक के तीसरे दृश्य के अन्दर भारतेन्दु-कृत 'भारतदुर्दशा' नाटक के कुछ अंश का रंगमंच पर अभिनय कराया गया है, जिससे दर्शकों को भारतेन्दु की नाट्यकला का किंचित् परिचय मिल सके।

सेठ गोविन्ददास का 'रहीम' (१९५५) इस शृंखला का दूसरा नाटक है। इसमें सेठ जी ने सम्राट् अकबर के विख्यात सेनापति तथा नवरत्न अब्दुर्रहीम ख़ानख़ाना के जीवन की कुछ महत्त्वपूर्ण घटनाओं का वर्णन करके उनके चरित्र के विविध गुणों पर सुन्दरता से प्रकाश डाला है। नाटक में रहीम के राज-नीतिक जीवन के चढ़ाव और उतार, उतार के पश्चात् फिर चढ़ाव और पुनः उतार की घटनाओं का लेखक ने बड़ा कलात्मक किन्तु मर्मस्पर्शी वर्णन किया है। उन्होंने अपने जीवन में अकबर और जहाँगीर दो बादशाहों का शासन देखा था और उस शासन में प्रमुख रूप से भाग लिया था। वे केवल उन्नीस वर्ष की अवस्था में गुजरात के सूबेदार बनाये गये थे और जीवन-भर अपनी वीरता का परिचय देते रहे। उन्हें उच्चतम राजनीतिक पद तथा वैभव प्राप्त था।

प्रस्तुत नाटक में रहीम के जीवन के अन्तिम पचास वर्षों की कतिपय प्रमुख घटनाओं का समावेश है। किन्तु सेठ जी ने कथानक के विकास अथवा संगठन की ओर यथेष्ट ध्यान नहीं दिया। नायक के चरित्र का विस्तारपूर्वक चित्रण और उसकी विविध विशेषताओं का उद्घाटन ही उन्हें अभिप्रेत था, और इस

उद्देश्य में वे सफल भी हुए हैं। उन्होंने रहीम की अथाह वीरता, अपूर्व दानशीलता, अटल स्वामिभक्ति, अडिग सदाचार, धार्मिक सहिष्णुता, साहित्य-प्रेम, राग के नीचे दबी हुई विराग की भावना और श्रीकृष्ण में अगाध श्रद्धा आदि अनेक गुणों पर बड़े स्वाभाविक एवं प्रभावोत्पादक ढंग से प्रकाश डाला है। परन्तु नायक के चरित्र में अन्तर्द्वन्द्व की हल्की-सी झलक मात्र ही देकर नाटककार उसे अधिक बल और विस्तार नहीं दे सका।

इस नाटक के संवाद भी सरस, सजीव, सशक्त और अधिकतर संक्षिप्त हैं। प्रायः सभी पात्र मुसलमान होने के कारण कथोपकथन की भाषा उर्दू-मिश्रित हिन्दी है। कुछेक संवाद तथा स्वगत अधिक लंबे हैं। 'भारतेन्दु' की अपेक्षा इस नाटक में संवादों के बीच पद्य का प्रयोग अत्यधिक किया गया है। रहीम के अनेक दोहे तथा पद और तुलसी, मीरा तथा कबीर आदि के पद भी अवसर तथा प्रसंग के अनुकूल बड़ी सुन्दरता एवं स्वाभाविकता के साथ कहलाये गये हैं। पद्य के अत्यधिक प्रयोग से वस्तु के विकास में बाधा पड़ती है, और पात्रों के चरित्र पर भी उससे विशेष प्रकाश नहीं पड़ता। हाँ, संगीतमय वातावरण की सृष्टि में इससे अवश्य सहायता मिलती है। इसके अतिरिक्त नाटककार ने मुसलमान पात्रों तथा पात्रियों से बार-बार हिन्दी के दोहे तथा पद ही कहलाये हैं, उर्दू के शेर आदि का प्रयोग उसने नाटक में नहीं किया। यह कुछ अस्वाभाविक-सा लगता है।

'भारतेन्दु' की भांति इस नाटक में भी पाँच अंक हैं, और प्रत्येक अंक में तीन दृश्य हैं। 'उपक्रम' में रहीम के जीवन की सर्वप्रथम महत्त्वपूर्ण घटना गुजरात-विजय का दृश्य प्रस्तुत किया गया है, जो केवल चित्रपट पर ही सफलतापूर्वक दिखाया जा सकता है। 'उपसंहार' में रहीम को मरणासन्न दिखाया गया है, परन्तु उनकी मृत्यु नहीं दिखाई गई।

इन वर्षों में प्रणीत हुए पौराणिक नाटकों में पृथ्वीनाथ शर्मा का 'उर्मिला' (१९५०), रांगेय राघव का 'स्वर्गभूमि का यात्री' (१९५१), श्री मोहनलाल 'जिज्ञासु' का 'पर्वदान' (१९५२), वी० मुखर्जी गुञ्जन का 'शक्ति-पूजा' (१९५२), लक्ष्मीनारायण मिश्र का 'चक्रव्यूह' (१९५३) तथा श्री जगदीश का 'प्रादुर्भाव' (१९५५) उल्लेखनीय हैं। 'उर्मिला' अनेक दृश्यों में विभाजित तीन अंकों का अति रोचक तथा सफल नाटक है। इसमें हमें शर्मा जी की कला की प्रौढ़ता का परिचय मिलता है। इस नाटक में लेखक ने वाल्मीकि-द्वारा उपेक्षिता लक्ष्मण-भार्या उर्मिला की करुण कहानी को लिया है, और अपने दृष्टिकोण से उर्मिला के हृदय में उठने वाले भावों को पाठक के सामने रखने का यत्न किया है।

नाटक का कथानक पूर्णरूप से वाल्मीकीय रामायण पर आधारित है, यद्यपि उसके विकास में तथा उर्मिला के चरित्र-चित्रण में लेखक की कल्पना का समुचित प्रयोग भी हुआ है। कथावस्तु बड़ी सरल और सुव्यवस्थित है। इस नाटक में रखी गई घटनाओं की कालावधि बहुत लंबी है। नाटक का आरम्भ राम, सीता और लक्ष्मण के वन-गमन के दृश्य के साथ होता है, किन्तु नाटक के अन्त में लक्ष्मण और उर्मिला की वृद्धावस्था का आरम्भ हो चुका है। परन्तु इतने दीर्घ काल को लेकर भी नाटककार ने उर्मिला के जीवन से सम्बन्ध रखने वाली केवल थोड़ी-सी घटनाओं का ही नाटक में समावेश किया है। इस प्रकार अंकों के बीच प्रायः दीर्घ काल का अंतर पड़ गया है, जिससे कथानक के विकास में अस्वाभाविक एवं अरुचिकर झटके-से लगते हैं।

कथावस्तु की अपेक्षा 'उर्मिला' का महत्त्व तथा सौंदर्य चरित्र-चित्रण में अधिक है। लेखक ने अधिक पात्रों को नाटक में आने नहीं दिया, और उर्मिला, लक्ष्मण, राम, भरत, सुमित्रा और कौशल्या के चरित्रों का चित्रण थोड़े शब्दों में ही बड़ी कुशलता और कलात्मकता के साथ किया है। उर्मिला को छोड़ प्रायः शेष सभी पात्रों का चरित्र रामायण के अनुसार ही अंकित किया गया है। उर्मिला का चरित्र प्रस्तुत करने में नाटककार ने अपूर्व कौशल का परिचय दिया है, और उसके आन्तरिक संघर्ष का चित्रण भी कई स्थलों पर सुन्दर ढंग से किया है। उसके चरित्र को आदर्शवाद से अभिभूत न करके लेखक ने उसे स्वाभाविक और यथार्थ के रूप में ही अधिक अंकित किया है। वह एक साधारण मानवी है, पर उसके मन में स्वाभिमान की भावना प्रबल है। अकस्मात् यह सुनकर कि उसका पति भी अपने भाई-भाभी के साथ वन जा रहा है, उर्मिला अर्ध-मूर्च्छित-सी होकर गिर पड़ती है। उसके नेत्रों से अश्रुधारा प्रवाहित हो जाती है और वह लक्ष्मण के संग वन जाने का निश्चय कर लेती है। किन्तु जब लक्ष्मण प्रस्थान से पूर्व उससे विदा लेने तक के लिए नहीं आता, तो उर्मिला का आत्माभिमान जाग पड़ता है, और वह मानिनी कहती है—

> **उर्मिला—······नहीं, मैं नहीं जाऊँगी। मैं अभी तक अपना आत्माभिमान खो नहीं बैठी हूँ। वे तो मेरी ओर देखें भी नहीं, और मैं उनके तलुए सहलाऊँ। जायँ, हज़ार बार जायँ। रो-रोकर प्राण दे दूंगी किंतु जाऊँगी नहीं** इत्यादि, इत्यादि। (प्रथम अंक, द्वितीय दृश्य)

आगे चलकर उर्मिला अपने अबला नारीत्व का पुनः परिचय देती है—

> **उर्मिला—······नारी हूं, नारीत्व के बंधनों में बँधी हूँ। भावुक हृदय और सजल नेत्रों के अतिरिक्त मेरे पास और है ही क्या!**
> (प्रथम अंक, चतुर्थ दृश्य)

पर यद्यपि उर्मिला लक्ष्मण की इस भूल और अपने प्रति इस उपेक्षा के कारण रुष्ट है, किंतु सुमित्रा के सामने वह स्वयं पति का पक्ष लेकर युक्तिपूर्वक उनके इस व्यवहार का समर्थन करती है। परन्तु नाटक के अन्त में राजा राम द्वारा परित्यक्त होने पर जब लक्ष्मण आत्म-ग्लानि के कारण उर्मिला से मिले बिना ही सदा के लिए अयोध्या छोड़कर चले जाते हैं, तो पति की यह उपेक्षा उसे असह्य हो उठती है और वह अन्तर्वेदना से तड़प उठती है। 'साकेत' की उर्मिला के समान यहाँ भी उसके चरित्र में प्राचीनता के साथ-साथ आधुनिकता का प्रभाव स्पष्ट लक्षित होता है।

नाटक के कथोपकथन सरल, सबल तथा गतिशील हैं। कहीं-कहीं उनमें मार्मिक वेदना भरी पड़ी है। संवादों के सहारे प्रमुख पात्रों की व्यक्तिगत विशेषताओं पर बड़े सुन्दर ढंग से संक्षेप में प्रकाश डाला गया है। लक्ष्मण के विषय में कहे गये उर्मिला के ये शब्द कितने सार्थक हैं—

वे ठहरे अपने बड़े भैया के अनन्य भक्त, उनके प्राण"।

(प्रथम अंक, प्रथम दृश्य)

इसी प्रकार दासी के ये शब्द राम के चरित्र पर कितना गहरा प्रकाश डालते हैं—

दासी—वे दीख रहे थे सागर की भांति गंभीर। मस्तक पर एक भी बल नहीं। आज भी होंठों पर वैसी ही मुस्कराहट थी जैसी राज्याभिषेक की सूचना पर उनके होंठों पर खेली थी। इत्यादि।

(प्रथम अंक, प्रथम दृश्य)

समूचे रघुवंश के विलक्षण चरित्र का परिचय उर्मिला कितने प्रभावोत्पादक ढंग से देती है—

उर्मिला—(नयनों में आनन्दाश्रु आ जाते हैं) यह रघुकुल भी अद्भुत है। क्या राम, क्या भरत, क्या आर्यपुत्र एक से एक निराले हैं। जिस वस्तु के सहस्रांश के लिए रक्त की नदियां बह जाती हैं उसे निस्संकोच पांव से ठुकराते चले जाते हैं। नैतिक जीवन का इतना ऊँचा स्तर आज कहाँ मिल सकता है। (द्वितीय अंक, द्वितीय दृश्य)

रामायण-काल का स्वाभाविक वातावरण उपस्थित करने में लेखक को काफ़ी सफलता मिली है। परन्तु संवादों में उर्दू-फ़ारसी के शब्दों (फ़ुरसत, शिकार, तैनात, वादा आदि) का प्रयोग उस वातावरण में बाधक होता है। पात्रों के संबोधन आदि भी कई स्थानों पर आधुनिक ढंग के प्रयुक्त किये गये हैं। समय, स्थान तथा कार्य की एकताओं को बुरी तरह तोड़ा गया है, विशेषतया

तीसरे अंक के दूसरे दृश्य के बाद तो एकदम लंबी छलांग लगाकर उर्मिला और लक्ष्मण को युवा से बूढ़े दिखा दिया गया है। यह सुरुचिपूर्ण तथा कलात्मक नहीं है।

अभिनय के विचार से यह नाटक बड़ा उपयोगी है, क्योंकि दुरभिनेय घटनाओं की केवल सूचना-मात्र दी गई है। नाटक की शैली सरल तथा सुबोध है।

रांगेय राघव का 'स्वर्गभूमि का यात्री' (१९५१) सात अंकों (बत्तीस दृश्यों) का अच्छा पौराणिक नाटक है, किंतु अभिनय के लिए यह कुछ अधिक लंबा है, और दृश्यों का परिवर्तन भी अनावश्यक और अत्यधिक है। इस नाटक में महाभारत के युद्ध की अंतिम घटनाओं से लेकर पाण्डवों के राज्य त्याग कर स्वर्ग-भूमि के लिए यात्रा करने तथा युधिष्ठिर के इसी मर्त्य शरीर के साथ स्वर्ग पहुँचने का वृत्त वर्णित है। नाटक के दृश्य प्रायः छोटे-छोटे हैं, और एक-एक दृश्य में एक-एक घटना का वर्णन किया गया है। कथावस्तु बड़ी रोचक है और इसका विकास तेज़ी के साथ होता है। महाभारत में वर्णित अनेक प्रसिद्ध घटनाएँ कथानक में सँजो दी गई हैं, जैसे युद्ध में दुश्शासन का हृदय फाड़कर उसके रक्त को भीम का पीना और द्रौपदी के केशों को उसके रक्त में भिगोना, दुर्योधन का वध, द्रौपदी-पुत्रों की हत्या, युधिष्ठिर के अश्वमेध यज्ञ का आयोजन, गृह-युद्ध के कारण यादवों का नाश, श्रीकृष्ण का एक अहेरी के हाथों वध, यादव-कुल की स्त्रियों की रक्षा के लिए उद्यत वीर अर्जुन से गाण्डीव धनुष का न चढ़ सकना, पाण्डवों द्वारा राज्य-परित्याग, हिमालयारोहण, एक-एक करके चारों भाइयों तथा द्रौपदी का बर्फ़ में गिर कर प्राण दे देना, युधिष्ठिर का मर्त्य शरीर के साथ ही स्वर्ग में पहुँचना और वहाँ कौरवों को सुखोपभोग करते तथा पाण्डवों को नरक की यातनाओं में पड़े देखना आदि।

नाटककार ने कथावस्तु और चरित्र-चित्रण में महाभारत का दृढ़ता से अनुसरण किया है। न तो नाटक के प्रसंगों में अपनी कल्पना का प्रयोग किया है, और न ही पात्रों के स्वभाव तथा व्यवहार को मूल ग्रन्थ के विरुद्ध जाने दिया है। सभी के गुण-दोषों को यथावत् सुरक्षित रखा गया है। संवाद भी प्रायः संक्षिप्त, शक्तिशाली तथा नाटकोपयोगी हैं। नाटक का वातावरण स्वाभाविक तथा निर्दोष है, और नाटककार की कल्पना ने उसमें व्यर्थ का हस्तक्षेप नहीं किया। इन गुणों के साथ-साथ नाटक में कुछ दोष भी आ गये हैं। यद्यपि नाटक में घटनाओं तथा प्रसंगों की भरमार है, तथापि वे केवल वर्णन-मात्र बन

कर रह गये हैं। लेखक उनमें यथोचित बल और नाटकीय प्रभाव उत्पन्न नहीं कर सका। उदाहरण के लिए प्रथम अंक के द्वितीय दृश्य में भीम और दुर्योधन जैसे दुर्धर्ष योद्धाओं के रोमांचकारी गदा-युद्ध के दृश्य में यथेष्ट बल का अभाव है। यह दृश्य प्रभावहीन और निर्जीव-सा हो गया है। इसके अतिरिक्त अंकों की संख्या को आसानी से कम किया जा सकता था, और दृश्यों में से तो कम महत्त्व के कुछ दृश्यों को निकाल देना निश्चय ही अधिक नाटकोपयोगी होता। अभिनय के लिए नाटक के अंतिम दृश्य, जिनमें पाण्डवों का हिमालय की पर्वत-राशियों पर आरोहण और फिर नरक तथा स्वर्ग के चित्र प्रस्तुत किये गये हैं, रंगमंच पर सफलता से अभिनीत नहीं हो सकते।

'पर्व-दान' (१९५२) श्री मोहनलाल 'जिज्ञासु' का लिखा हुआ तीन अंकों का अति सुन्दर एवं कलापूर्ण पौराणिक नाटक है। नाटक का कथानक महाभारत के एक उपाख्यान पर आधारित है। सार-रूप में कथावस्तु इस प्रकार है कि महाभारत-युद्ध के पश्चात् अर्जुन, द्रौपदी, श्रीकृष्ण, सत्यभामा और सात्यकि वन-विहार के लिए वन-देवी कनकश्री के केलिवन में जाते हैं। परन्तु सहसा नारद वहाँ आकर रंग में भंग कर देता है। वह इन सब में कलह उत्पन्न करके इन्हें एक गूढ़ शिक्षा देने तथा कर्तव्य-पालन के आदर्श की स्थापना करने का निश्चय कर लेता है।

नारद कलह उत्पन्न करने की कला में इतना सिद्धहस्त है कि वह नाटक के प्रायः सभी पात्रों को प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप में अपने जाल में फँसा लेता है। उसकी धूर्तता परस्पर प्राणों से प्यारे मित्रों श्रीकृष्ण तथा अर्जुन के बीच युद्ध खड़ा कर देती है। गंधर्वराज चित्ररथ के अपराध के कारण क्रुद्ध हुए ऋषि गालव को नारद विशेष रूप से उत्तेजित करके श्रीकृष्ण के पास भेजता है, और श्रीकृष्ण बारह पहर के भीतर चित्ररथ का शिरश्छेद करने की प्रतिज्ञा कर लेते हैं। दूसरी ओर यही नारद एक असाधारण माहात्म्य वाले काल्पनिक पर्व की बात बनाकर द्रोपदी से पर्वदान करवाकर अर्जुन से चित्ररथ की प्राण-रक्षा की प्रतिज्ञा करा लेता है। अपनी-अपनी प्रतिज्ञा के पालन के उद्देश्य से श्रीकृष्ण और अर्जुन में युद्ध आरम्भ हो जाता है। अब लोगों के समझाने पर परिस्थिति की गहनता को जानकर तथा अपने ब्राह्मणत्व की सहज कोमलता के कारण ऋषि गालव चित्ररथ को क्षमा करके श्रीकृष्ण और अर्जुन के बीच युद्ध बन्द करा देते हैं। अन्त में नारद अपने स्वभाव तथा कर्म का स्वयं परिचय देता हुआ अपनी कलहप्रियता का गुणगान करता है।

नाटक का कथानक बड़ा रोचक है, और लेखक ने इसका विकास बड़े

सुन्दर ढंग से किया है। यद्यपि कथावस्तु लंबी है, तथापि इसका संगठन कुशलता से किया गया है और इसे कहीं भी उलझने नहीं दिया गया। नाटककार ने कथावस्तु को सरस एवं रोचक बनाने के लिए प्रत्येक प्रसंग के साथ लंबी भूमिका बाँधी है और विस्तृत वातावरण की सृष्टि करने का यत्न किया है। इससे नाटक की सरसता और मनोरंजकता में निस्संदेह वृद्धि हुई है, पर कहीं-कहीं इस कारण से कथावस्तु के विकास की गति शिथिल पड़ गई है। दूसरे, इसी कारण से नाटक का आकार भी बहुत बड़ा बन गया है।

नाटक में रंगमंच पर आनेवाले पात्रों की संख्या काफी है, किन्तु चरित्र-चित्रण में प्रमुखता नारद, श्रीकृष्ण, अर्जुन, कनकश्री और द्रौपदी को ही दी गई है। सात्यकि, गालव, चित्ररथ, मालती और सत्यभामा के चरित्रों की कुछ रेखाओं पर भी यथोचित प्रकाश डाल दिया गया है। सभी पात्रों की चारित्रिक विशेषताओं का निर्वाह करने में लेखक पूर्णतया सावधान रहा है, और चरित्र-चित्रण में उसे बड़ी सफलता मिली है। श्रीकृष्ण तथा अर्जुन को आदर्श क्षत्रिय के रूप में चित्रित किया गया है, और ये दोनों अपनी-अपनी प्रतिज्ञा को पूरा करने के लिए अपने-अपने प्राण-प्रिय सखा के प्राण लेने को उद्यत हो जाते हैं। परन्तु इनसे अधिक स्थान और समय नारद के चरित्र को स्पष्ट करने के लिए दिया गया है। प्रायः प्रत्येक पात्र नारद के विषय में अपना-अपना दृष्टिकोण रखता है और उसे समयानुसार व्यक्त करता है। स्वयं नारद भी अनेक स्थलों पर, कभी स्वगत में और कभी प्रकट में, अपने स्वभाव का परिचय देता है। बने हुए काम को बिगाड़ना और बिगड़ते हुए काम को पुनः बना देना उसके बायें हाथ का खेल है। अन्तरंग सखाओं में भी वह संघर्ष उत्पन्न कर देता है। किन्तु उसके सारे षड्यन्त्र का अन्त सुखमय होता है और उससे उच्च आदर्श की स्थापना होती है। यही उसके चरित्र की श्रेष्ठता है। नाटककार ने प्रमुख पात्रों के अन्तर्द्वन्द्व का चित्रण भी सुंदर रीति से किया है, इसके अतिरिक्त पात्रों की विविध प्रकार की मनोदशाओं का वर्णन बड़े ही स्वाभाविक ढंग से अनेक स्थानों पर किया गया है।

संवादों में भी लेखक को अद्भुत सफलता प्राप्त हुई है। उसके संवाद सर्वथा सुंदर, स्वाभाविक और नाटकोपयोगी हैं। उनमें सरसता और सजीवता है और वे पात्र तथा परिस्थिति के अनुकूल गंभीर अथवा विनोदपूर्ण, मंथर अथवा आवेशपूर्ण हो गये हैं। कई स्थानों में उनमें मार्मिकता और भावुकता भी पर्याप्त मात्रा में आ गई है। बीच-बीच में प्रेम, मित्रता और स्वार्थ आदि गहन विषयों को लेकर सुंदर और सबल तर्क-वितर्क भी उपस्थित किया गया है।

परन्तु कुछ एक अवसरों पर जयशंकर प्रसाद के नाटकों जैसे दार्शनिकता-पूर्ण संवाद भी रचे गये हैं, जिनको अभिनय के समय पूर्ण रूप से समझना कठिन होगा। नाटक में स्वगत की योजना भी कई बार की गई है, किन्तु अधिकांश स्वगत-भाषणों को लेखक थोड़े से और ध्यान तथा कौशल से हटा सकता था अथवा उन्हें संवाद का रूप दे सकता था।

नाटक में पौराणिक वातावरण को यथार्थ रूप में प्रस्तुत करने का यत्न किया गया है, परन्तु चैन, साक़ी, अव्वल नंबर के पाजी, ख़ैर, परवाना, ग़लत और गुञ्जायश जैसे उर्दू और अंग्रेज़ी के शब्दों का प्रयोग खटकता है, और पौराणिक वातावरण को भंग करता है। नाटककार ने प्राचीन कथानक को लेकर उसी के बीच बातों-बातों में सुन्दर शिक्षाएँ भी दी हैं। अपने कर्तव्य पर मर मिटने का सन्देश इन सब में प्रधान है। परन्तु ये शिक्षाएँ कोरे उपदेश रूप में प्रस्तुत नहीं की गईं, वरन् इन्हें बड़ी कुशलता से कथानक के अन्दर स्वाभाविकता के साथ सजा दिया गया है।

नाटक की भाषा सरल परन्तु परिमार्जित हिन्दी है। मधुर गीतों की योजना से नाटक की सरसता और भी बढ़ गई है। वस्तु-संगठन, चरित्र-चित्रण, कथोपकथन आदि सभी दृष्टियों से यह नाटक उच्चकोटि का है। अभिनय के विचार से भी यह नाटक सफल और सुंदर है, यद्यपि इसका आकार कुछ बड़ा है।

'शक्ति-पूजा' (१९५२) में वी० मुखर्जी 'गुञ्जन' ने महिषासुर के जीवन-चरित को नाटक का रूप दिया है। बंगाल में शक्ति-पूजा बहुत प्रसिद्ध है। इस पूजा को देखकर लेखक के मस्तिष्क में यह भावना उद्वेलित हुई कि वह महिषासुर कितना शक्तिशाली होगा जिसने ब्रह्मा द्वारा उसके वध के लिए सभी देवताओं की शक्ति का अंश लेकर निर्मित की गई देवी से टक्कर ली। इस पर लेखक ने अनेक ग्रन्थों से महिषासुर के जीवन का अध्ययन किया। यद्यपि उन रचनाओं में महिषासुर को एक उद्धत असुर के रूप में ही चित्रित किया गया है, तथापि 'गुञ्जन' महोदय ने इस पराक्रमी असुर को दूसरे ही रूप में देखा और चित्रित किया है। उसने महिषासुर के प्रति घृणा के स्थान पर श्रद्धा और सम्मान के भाव को उत्पन्न करने की चेष्टा की है। उसका महिषासुर अनेक उदात्त गुणों से सम्पन्न है। अपने कर्तव्य पर वह हिमालय की तरह अटल है। अपनी शक्ति पर उसे असीम विश्वास है। देवताओं की 'संघ-शक्ति' से भी वह युद्ध करता है। उसकी वीरता देखकर भगवती दुर्गा भी चकित रह जाती है।

इस प्रकार लेखक ने मूल कथा को विकृत न करते हुए अपने नायक के चरित्र के चित्रण में स्वतंत्रता से काम लिया है। महिषासुर के अतिरिक्त अन्य

असुरों के चरित्र-चित्रण में भी लेखक ने मौलिकता का परिचय दिया है। दानवी और चिक्षुर का चरित्र तो बहुत ही ऊँचा उठ गया है। परस्पर प्रेम होने पर भी ये दोनों प्रण करते हैं कि जब तक देवराज इन्द्र को बन्दी बनाकर दैत्यपुरी में नहीं लायेंगे, तब तक विवाह नहीं करेंगे। जब युद्धक्षेत्र में चिक्षुर बार-बार अपनी प्रेयसी का कुशल-समाचार जानने के लिए दूत भेजता है, तो दानवी उसे अपनी ओर से सर्वथा निश्चिंत तथा जाति-हित के लिए विशेष उत्तेजित करने के हेतु अपना सिर काटकर उसके पास भिजवा देती है।

इसके विपरीत लेखक ने देवताओं के चरित्र को अपेक्षाकृत हीन दिखाने का ही प्रयास किया है। स्वार्थ के कारण देवता लोग अनेक प्रकार के छल-कपट, पाप तथा अन्याय करते हैं। इन्द्र के चरित्र को तो और भी निकृष्ट दिखाया गया है। संवादों को सार्थक, संक्षिप्त, सशक्त तथा समयानुकूल बनाने में लेखक काफ़ी सफल हुआ है। परन्तु नाटक में दृश्यों की संख्या व्यर्थ बढ़ाई गई है। बहुत से दृश्यों में कार्य की मात्रा अत्यल्प है, और कथानक को यथोचित गति दिये बिना ही दृश्य प्रायः बदल जाता है। कई दृश्य (यथा द्वितीय अंक के पहले दो दृश्य) सरलता से काटे जा सकते थे, या केवल सूच्य हो सकते थे। रंगमंच पर अभिनय के लिए यह नाटक कठिन नहीं है। बंगाली होने के कारण लेखक का यह प्रयास प्रशस्य है।

यहाँ हम महिषासुर का एक संवाद प्रस्तुत करते हैं, जिससे उसके चरित्र पर प्रकाश भी पड़ता है, और नाटककार की संवाद-शक्ति का परिचय भी मिल जाता है—

महिषासुर—···सिंहासन के सम्मान के लिए महिषासुर के रक्त की अंतिम बूंद भी काम आयेगी, महिषासुर की तलवार के दर्पण में दानवों की राज्यश्री अपना शृङ्गार करती रहेगी। दानवों का आदर्श अक्षुण्ण रहेगा। दानव किसी पर अत्याचार या अविचार नहीं करता परंतु वह अपने पर अत्याचार या अविचार होने भी नहीं देता। विष देकर वह विष को मारना जानता है। दानवों की उच्चाकांक्षा सुमेरु के उत्तुंग शिखर से भी उन्नत है। वक्ष के शोणित से वह अभिनव इतिहास लिखा करता है। दानव प्राण देकर प्राणों की पूजा करना जानता है।
इत्यादि, इत्यादि। (तीसरा अंक, तीसरा दृश्य)

पं० लक्ष्मीनारायण मिश्र का 'चक्रव्यूह' (१९५३) एक उत्कृष्ट पौराणिक नाटक है, जो कि उत्तरप्रदेशीय सरकार द्वारा पुरस्कृत भी हो चुका है। इसमें तीन अंक हैं, और दृश्य का परिवर्तन बीच में केवल दो बार होता है। इसका

कथानक द्रोणाचार्य द्वारा चक्रव्यूह के निर्माण और वीर अभिमन्यु के उसके भीतर प्रवेश करके अद्‌भुत वीरता के साथ युद्ध करते हुए वीरगति पाने की प्रमुख घटना पर आधारित है। नाटककार ने पुत्र-वध के प्रतिशोध में अर्जुन द्वारा जयद्रथ के वध का वृत्तान्त अपने नाटक में न रखकर नाटक के शीर्षक को अत्युपयुक्त एवं यथार्थ बना दिया है।

नाट्य-कला की दृष्टि से यह रचना उच्च कोटि की है। कथावस्तु और चरित्र-चित्रण में महाभारत का अनुसरण किया गया है। परन्तु जहाँ लेखक ने अपनी कल्पना का उपयोग किया है, वहाँ भी किसी पात्र के चरित्र को विकृत अथवा असंगत नहीं होने दिया। उसने घटनाओं की व्याख्या और पात्रों का चरित्र-चित्रण बौद्धिक तथा मानवीय दृष्टिकोण से किया है, अन्धविश्वासपूर्ण पौराणिक रीति से नहीं। इसके अतिरिक्त अर्जुन तथा दुर्योधन, अभिमन्यु तथा लक्ष्मण (दुर्योधन-पुत्र) का चरित्रांकन पक्षपात अथवा घृणा से सर्वथा मुक्त होकर किया है। पाण्डव और कौरव दोनों पक्षों को क्रमशः पुण्य और पाप के प्रतीक न मानकर उन्हें अपनी परम्परा के स्वाभाविक मानवों का रूप दिया गया है।

प्रस्तुत नाटक में युद्ध के दृश्य रंगमंच पर प्रस्तुत नहीं किये गये। युद्ध का सजीव और प्रत्यक्ष जैसा चित्रण कहीं अन्य पात्रों के संवाद के सहारे किया गया है और कहीं नेपथ्य की आड़ में। अभिमन्यु के रणकौशल में वीर और रौद्र रस का अच्छा परिपाक हुआ है। अभिमन्यु-लक्ष्मण-युद्ध में करुण रस आरम्भ होकर उस समय व्यापक हो उठता है जब दुर्योधन अपने एकमात्र पुत्र लक्ष्मण की मृत्यु के अनंतर अभिमन्यु का सिर अपनी गोद में लेकर उसकी मृत्यु पर शोक प्रकट करता है। नाटक में अन्य कई स्थलों पर भी करुण रस की प्रधानता है।

'प्रादुर्भाव (१९५५) में जगदीश जी ने सृष्टि के प्रादुर्भाव का अपने विचार और अपने ढंग से वर्णन किया है। देश में फैले हुए अंधविश्वासों का निवारण करके लेखक उपनिषदों तथा पुराणों की उत्कृष्ट कथाओं में (जो महान् हैं, और वेदों के आधार पर ही…वेदों के सत्य को समझाने के लिए भिन्न-भिन्न रूपक-मात्र हैं) दिये सत्य को, रुचिकर तथा बुद्धिसंगत बनाकर लोगों में धर्मवृत्ति उत्पन्न करना चाहता है। इस दिशा में अभी तक किसी लेखक द्वारा उत्साह नहीं दिखाया गया। इसी कारण इस नाटक के लेखक ने इस पथ पर पदार्पण करना आवश्यक समझा है।

नाटक के प्रधान पात्र अ (अविनाशी ब्रह्म—शंकर), उ (हिरण्यगर्भ प्रकृति, उमा) तथा म (पंचभौतिक मल का पुतला, उमा-पुत्र जीव) हैं। सर्वप्रथम अ

(शंकर) तथा उ (उमा) का अल्पकालिक मिलन होता है। तदनन्तर शंकर उमा को यह वचन देकर कि वह अदृश्य रूप में हर समय उसके पास रहेगा और आवाज़ देने पर प्रस्तुत हो जायगा, चला जाता है। शंकर के वियोग में उमा घबरा उठती है और वृक्षों, पुष्पों तथा शिलाओं से अपने शंकर का पता पूछती है। कालान्तर में उमा स्नान करते समय अपने पंचभौतिक मल से अपने अ (शंकर) की आकृति वाला पुतला बनाती है और उसमें प्राणों का संचार करती है। धीरे-धीरे उस जीव की तृष्णा बढ़ने लगती है और वह सब पर प्रभुत्व जमाने की चेष्टा करता है। अपने पुत्र की तृष्णा का असीम प्रसार देखकर उमा चिन्तित और व्याकुल हो उठती है। इस पर शंकर उमा की ओर आते हैं, पर मार्ग में ही जीव के साथ उनका संघर्ष हो जाता है, और वे अपने त्रिशूल से उसका सिर काट देते हैं। उमा जब शोकाकुल होकर शंकर को यह बताती है कि वह जीव उनका ही पुत्र था तो शंकर विस्मय से कहते हैं—

शंकर—(आश्चर्य से) मेरा पुत्र ! इतना निर्दयी ! प्राणी-मात्र के हाथ-पाँव बाँध रखे थे जिसने ! परतंत्रता से विकल कर रखी थी सृष्टि। (विस्मय से) उमा ! मेरा पुत्र ! सत्य से कोसों दूर !

(तृतीय अंक, पंचम दृश्य)

अन्त में शंकर उमा से कहते हैं कि कर्मों का लेख मिट नहीं सकता। तुम्हारे पुत्र जीव के जैसे कर्म थे वैसा फल उसने पा लिया। बुद्धि और विवेक के होते हुए भी वह सबसे बड़ा पशु सिद्ध हुआ। उसका बल हाथी की तरह विनाशकारी था और कामुकता में तो वह गजराज से भी बढ़कर था। इस प्रकार लेखक ने गणेश जी के माथे पर सूंड होने के रूपक की व्याख्या की है, और भाँति-भाँति के पशु-पक्षियों आदि के गणों का स्वामी, पति अथवा ईश होने के कारण जीव को ही गणपति या गणेश की उपाधि दी है।

प्रस्तुत नाटक में वस्तु का संगठन और चरित्रों का चित्रण सुंदर नहीं है। वातावरण उलझा हुआ है और सृष्टि के प्रादुर्भाव की दार्शनिकतापूर्ण गाथा की व्याख्या स्पष्ट नहीं की जा सकी। संवाद साधारण हैं और भाषा पर भी लेखक का यथेष्ट अधिकार नहीं है। नाटक का अभिनय चित्रपट पर ही सफलता से हो सकता है, क्योंकि इसमें ऐसे कई दृश्य हैं जो रंगमंच पर दिखाये नहीं जा सकते।

समस्या-नाटक

ऊपर के विवेचन से स्पष्ट है कि इन सात वर्षों में अनेक ऐतिहासिक तथा कुछेक पौराणिक नाटक रचे गये। इनमें से अधिकांश नाटक उच्चकोटि के हैं, और उनमें हमें प्रौढ़ एवं परिमार्जित नाट्य-कला के दर्शन होते हैं। इन नाटकों

के मुक़ाबले में इसी अवधि में लिखे गये अधिकांश समस्या-नाटक उतने उत्कृष्ट तथा सुंदर नहीं हैं। इन वर्षों में भारी संख्या में समस्या-नाटकों की रचना हुई है, परन्तु उनमें से बहुत थोड़ी रचनाएँ उच्चकोटि की हैं। शेष कृतियाँ मध्यम कोटि की अथवा सामान्य श्रेणी की हैं। इसका एक कारण यह भी है कि इन वर्षों में प्रौढ़ तथा अनुभवी नाटककारों ने प्रायः ऐतिहासिक अथवा पौराणिक नाटकों की रचना में ही अधिक रुचि दिखाई है। समस्या-नाटकों की रचना में उत्कृष्ट तथा सिद्धहस्त लेखकों ने इन वर्षों में कम योग दिया है। पं० लक्ष्मी-नारायण मिश्र ने, जिन्होंने काम-समस्या-प्रधान समस्या-नाटकों की रचना में विशेष ख्याति उपार्जित कर ली थी, इन वर्षों में कोई समस्या-नाटक नहीं लिखा, वरन् अपनी परिमार्जित एवं प्रौढ़ कला का प्रयोग अब वे सांस्कृतिक नाटकों तथा एकांकी नाटकों के क्षेत्र में कर रहे हैं। शेष लेखकों में से भी दो-एक ने ही काम-समस्या को तथा प्रणय आदि के प्रश्न को लेकर नाटक लिखे हैं। अधिकांश नाटककारों ने सामयिक सामाजिक, राजनीतिक तथा आर्थिक समस्याओं को ही लेकर नाटकों का प्रणयन किया है।

इन वर्षों में रचित समस्या-नाटकों में निम्नलिखित उल्लेखनीय हैं—सेठ गोविन्ददास के 'सुख किस में' (१९४९) तथा 'भूदान यज्ञ', वृन्दावनलाल वर्मा-कृत 'खिलौने की खोज' (१९५०), 'नीलकण्ठ' (१९५१) और 'केवट' (५२), जगन्नाथप्रसाद मिलिन्द का 'समर्पण' (१९५०), आचार्य चतुरसेन शास्त्री का 'पगध्वनि' (१९५२), विष्णु प्रभाकर का 'चन्द्रहार' (१९५२), दयानाथ झा का 'कर्मपथ' (१९५३), उदयशंकर भट्ट-कृत 'क्रांतिकारी' (१९५३), उपेन्द्रनाथ अश्क के 'पैंतरे', तथा 'अलग अलग रास्ते' (१९५५) जयनाथ नलिन का 'अवसान', शम्भुनाथसिंह का 'धरती और आकाश' (१९५४), अभयकुमार यौधेय का 'नारी की साधना' (१९५४), रघुवीरशरण 'मित्र' का 'भारतमाता' (१९५४), श्री संतोष का 'मृत्यु की ओर', तुलसी भाटिया का 'मर्यादा', रामनरेश त्रिपाठी का 'पैसा परमेश्वर' आदि आदि।

सेठ गोविन्ददास का 'सुख किसमें' (१९४९) दो-दो दृश्यों के पाँच अंकों का दार्शनिक नाटक है। इसमें लेखक ने इस प्रश्न पर विचार किया है कि मनुष्य को सच्चा सुख किसमें मिल सकता है। नाटक का नायक सृष्टिनाथ सट्टे का बहुत बड़ा व्यापारी है। अकस्मात् लाखों का घाटा पड़ जाने पर और कहीं से भी लाखों का ऋण न मिल सकने पर वह हरिद्वार जाकर गंगा में डूब मरने को उद्यत होता है। उसके मन में संघर्ष होता है, जिसे वैराग्यवैभव नाम का साधु कुछ शांत कर पाता है। वैराग्यवैभव के आदेशानुसार एक वर्ष पर्यन्त साधना

करने पर भी जब उसके चित्त को शांति नहीं मिलती, तो वह पुन: आत्म-हत्या के लिए अग्रसर होता है। इसी क्षण प्रेमपूर्णा का गीत उसे रोक लेता है। उसके हृदय में उस युवती के प्रति आकर्षण जागृत होता है, और कुछ काल पश्चात् उन दोनों का विवाह भी हो जाता है। इस सुन्दर रमणी को पाकर भी जब वह सन्तुष्ट नहीं होता, तो पुनः आत्म-हत्या के लिए उद्यत हुए उसको मायासिद्धि समझाकर अपने साधना-मार्ग पर छः वर्षों तक चलाता है। यहाँ से निराश होकर मरने को अधीर हुए उसको बालिका मोहनमाला का गीत रोक लेता है। उस बच्ची के वात्सल्य में समर्पण के भाव को पाकर वह स्वार्थ की अपेक्षा त्यागपूर्ण और उदार दृष्टिकोण में सच्चे सुख को पहचान कर कहता है—

सृष्टि०—यह अनुभव की चीज़ है प्रेमपूर्णा, समझाने की नहीं। अनुभव ने मुझे बता दिया कि जो सब कुछ अपने लिए करता है वह सुखी हो ही नहीं सकता, जो सब कुछ अपने कब्जे में रखना चाहता है, वह सब कुछ खो देता है। (पाँचवाँ अंक, पहला दृश्य)

नाटक के पात्र प्रतीक हैं। नाटक का नायक सृष्टिनाथ है, जो समस्त भौतिक जगत् पर अधिकार करने का इच्छुक है। अदम्य अभिलाषा रख कर भी वह यथेष्ट साहस से वंचित है। श्रद्धा और निष्ठा में विश्वास न करके वह प्रत्येक विषय को तर्क और बुद्धि से जाँचता है। नाटक की नायिका प्रेमपूर्णा है, जो पथ के अंधकार में सृष्टिनाथ को अनजाने में मिली हुई आशा-किरण की प्रतीक है। उनकी पुत्री मोहनमाला सम्भवत: क्षण-भंगुर सुख की पराकाष्ठा है। अन्य पात्र वैराग्यवैभव और मायासिद्धि क्रमश: वैराग्य तथा सिद्धि की भावनाओं के प्रतीक हैं। इन सब प्रतीक पात्रों के मूलभूत प्रतिनिधि भावों तथा सिद्धान्तों का चित्रण लेखक ने सफलता से किया है। सृष्टिनाथ के चरित्र में तो अन्तर्द्वन्द्व की मात्रा भी प्रचुर है।

नाटक के कई संवाद तथा स्वगत-भाषण (उदाहरण के लिए प्रथम अंक के दूसरे दृश्य में, तृतीय अंक के दूसरे दृश्य में) बहुत लंबे हैं। लेखक उन्हें कथानक अथवा पात्रों के साथ अन्याय किये बिना छोटा कर सकता था। परन्तु प्राय: सभी समस्या-नाटकों में सेठ जी की यह प्रवृत्ति रही है कि वे अपने सिद्धान्तों अथवा विचारों को संक्षेप में न कहकर उन्हें पूरे विस्तार के साथ प्रस्तुत करके ही सन्तोष पाते हैं। उन्होंने गांधी जी के त्याग तथा समर्पण के सिद्धान्त की प्रतिष्ठा इस नाटक में की है। नाटक का कुछ भाग (चौथे अंक के पहले दृश्य का अधिकांश) केवल चित्रपट पर ही दिखाया जा सकता है। प्राय: प्रत्येक दृश्य से पूर्व दिये गये लंबे रंग-संकेत इस नाटक की विशेषता है।

'भूदान-यज्ञ' में भी सेठ गोविन्ददास ने गाँधी जी के हृदय-परिवर्तन के सिद्धान्त का ही प्रभाव दर्शाया है। इस नाटक में भिन्न-भिन्न प्रान्तों के बड़े-बड़े भूदानियों का विवरण प्रस्तुत किया गया है, और तेलंगाना में साम्यवादियों की सशस्त्र क्रांति की असफलता दिखाकर क्रान्तिकारी साम्यवादियों पर अहिंसा तथा हृदय-परिवर्तन के सिद्धान्त की विजय दिखाई है। नाटक में भूदान-यज्ञ का आज का विवरण ही नहीं दिया गया, अपितु भविष्य में इस यज्ञ की सफलता की सम्भावना पर भी प्रकाश डाला गया है।

नाटक के पात्र आचार्य विनोबाभावे, जवाहरलाल नेहरू, राजेन्द्रप्रसाद और जयप्रकाश नारायण आदि हैं। कथोपकथन सरल तथा स्वाभाविक हैं और पात्रानुकूल भाषा का प्रयोग किया गया है। पर कहीं-कहीं अपने सिद्धान्तों के आवेग में पड़कर लेखक ने अपने संदेश को आवश्यकता से अधिक मुखरित कर दिया है।

वृन्दावनलाल वर्मा का 'खिलौने की खोज' (१९५०) तीन अंकों का एक साधारण सामाजिक नाटक है। लेखक की 'धारणा है कि मनोबल को सबल बनाने से हमारी अनेक वैयक्तिक और सामाजिक व्याधियाँ दूर हो सकती हैं।' मनोबल के अभाव में मनुष्य मानसिक आघात के कारण भयंकर रोगों के चंगुल में फँस जाता है। इस नाटक के सलिल और सरूपा परस्पर विवाह न हो सकने के आघात से रोगी बन जाते हैं। परन्तु जब उनके वक्ष में बलपूर्वक दबाई हुई पूर्वस्मृतियाँ धीरे-धीरे मुक्त हो जाती हैं, तो उनकी अवस्था सुधरने लगती है।

नाटक का कथानक सुव्यवस्थित नहीं है। अनावश्यक प्रसंगों के समावेश के कारण इसके संगठन में शिथिलता आ गई है। चरित्र-चित्रण का ढंग भी साधारण और कलाहीन है। सलिल और सरूपा के चरित्रों का चित्रण कुछ-कुछ प्रभावशाली है। संवादों में नाटकोचित संक्षिप्तता प्रायः नहीं है। तीसरे अंक में नाटक के भीतर नाटक की योजना की गई है।

'नीलकण्ठ' (१९५१) के 'परिचय' में वर्मा जी ने परिचयदाता से कहलाया है—

> **"अब एटमबम का युग आ गया है। यह न साधु-तपस्वियों को, जो थोड़े ही होते आये हैं, छोड़ेगा और न एटम बम बनाने वालों या उसमें विश्वास रखने वालों को ही छोड़ेगा। सब का एक समान व्यापक बण्टाधार कर देगा। क्या साधु-शक्ति और एटम-शक्ति का, विज्ञान और योग का, आपस में मेल-जोल नहीं कराया जा सकता ?"**

इसी उद्देश्य को लेकर इस नाटक में वर्मा जी ने पदार्थवाद और अध्यात्मवाद में अरोचक-सा तर्क-वितर्क और लम्बा वाद-विवाद कराकर अन्त में दोनों

के समन्वय पर बल दिया है। पश्चिम की भोग-प्रधान संस्कृति तथा भारत की त्याग-प्रधान संस्कृति की तुलना करके नाटक के अन्त में वर्मा जी ने अपने संदेश को इन शब्दों में स्पष्ट किया है—

हरनाथ—"……समाज के हलाहल को पीते रहो, उसे पेट में न पहुँचाकर गले में रखे रहो—दूसरे के दृष्टिकोण को समझते रहने की कोशिश करते रहो; निःस्वार्थ पर-सेवा करो; विज्ञानियों की तटस्थता और त्यागियों के अहंकार से दूर बने रहो" इत्यादि।

नाटक के मुख्य कथानक में कार्य का तथा रोचकता का जो अभाव है, उसकी पूर्ति सोंटू और फत्ते आदि के गौण कथानक की अवतारणा करके की गई है। पिछले नाटक की अपेक्षा यह रचना अधिक सफल है। कथावस्तु का संगठन अपेक्षाकृत अच्छा है और अनावश्यक सामग्री भी कम है। इस नाटक में भी अनेक दृश्यों सहित तीन अंक हैं।

वर्मा जी का 'केवट' (१९५२) जासूसी उपन्यास के ढंग का तीन अंकों का नाटक है, जिसमें सामाजिक तथा राजनीतिक कथावस्तु के साथ चोरी-डाके, हत्या-वध, लूटमार और धोखा-धड़ी की घटनाओं का मिश्रण कर दिया गया है। नाटक की नायिका हिमानी डाकुओं और हत्यारों के दल की अध्यक्ष अथवा केवट है। वह लूटमार और हत्या के अनेक कांड करती है और अपने साथियों से करवाती है। अन्त में उसका भेद खुल जाता है, पर वह चतुरता से बचकर भाग निकलती है।

प्रस्तुत नाटक में स्त्री-चरित्र के दो विरोधी चित्र अंकित किये गये हैं। एक चित्र सुन्दर और स्तुत्य है तथा दूसरा कुत्सित और निन्दनीय। समाज-सेविका डा० गोदावरी प्रथम की प्रतीक है और हिमानी द्वितीय की। इस नाटक में लेखक ने लोगों को दलबन्दी के कीचड़ में फँसने की अपेक्षा देश के व्यापक हितों और राष्ट्र की कठिन समस्याओं की ओर ध्यान देने का उपदेश दिया है। इसके अतिरिक्त देश के विद्यार्थियों से निष्काम सेवा का अनुरोध करते हुए उन्हें देशोन्नति की नाव का केवट कहा गया है। अभिनय की दृष्टि से नाटक रंगमंच की अपेक्षा चित्रपट के अधिक अनुकूल है।

वृन्दावनलाल वर्मा के उपर्युक्त तीनों नाटकों में से एक भी उच्चकोटि का नहीं कहा जा सकता। सभी नाटकों में वस्तु-संगठन में न्यून या अधिक शिथिलता है। चरित्र-चित्रण की गहराई में उतरने का लेखक ने तनिक भी प्रयत्न नहीं किया। चरित्रों के मनोविश्लेषण और अन्तर्द्वन्द्व के झगड़े में पड़ना वर्मा जी को स्वीकार नहीं है। किन्तु इस बात का उन्होंने विशेष ध्यान रखा है कि

उनके नाटक जन-साधारण के लिए रुचिकर और शिक्षाप्रद हों। इनके पहले दो नाटकों में लोक-गीतों का भी बहुलता से उपयोग किया गया है, और नाटक का वातावरण भी जन-साधारण की रुचि के अधिक अनुकूल है।

जगन्नाथप्रसाद 'मिलिन्द' का 'समर्पण' (१९५०) चार-चार दृश्यों के तीन अंकों का सामाजिक-राजनीतिक नाटक है। इसमें लेखक ने गांधी-दर्शन के कुछ सिद्धांतों, जन-सेवा और उदारतापूर्ण सहनशील दृष्टिकोण आदि का प्रतिपादन किया है। नाटक के अधिकांश पात्र और पात्रियाँ इन्हीं सिद्धान्तों का यथाशक्ति पालन करते हैं। नाटक की नायिका इला तो समाज-सेवा के कार्य में विवाह को बड़ी बाधा समझती है और माता-पिता द्वारा किये गये अपने विवाह-प्रस्ताव का युक्तिपूर्वक विरोध करती है। अपनी सेवा-संस्था का सदस्य बनने के लिए वह अविवाहित रहने का नियम अनिवार्य कर देती है। पर धीरे-धीरे उसके साथ मिलकर समाज-सेवा का कार्य करने वाले स्त्री-पुरुष विवाह के सूत्र में बँध कर इस संस्था से अलग होने को विवश हो जाते हैं। नाटक का नायक नवीन भी जब एक बार इला पर अपना प्रेम प्रकट करता है तो इला चकित होकर उसकी भर्त्सना करती है। पर अन्त में वह अपने इस कठोर सिद्धांत की भूल को स्वीकार कर लेती है और नवीन के शहीद हो जाने पर अपने अन्तस्तल में दबे हुए नवीन के प्रति प्रेम की घोषणा करके अपने को उसकी विधवा तक कहने में संकोच नहीं करती।

इस प्रकार लेखक ने यह सिद्ध किया है कि यदि 'प्रेम और विवाह से किसी तरुण या तरुणी की जन-सेवा की भावना और कार्य में कोई बाधा नहीं पड़ती तो उसे इन दोनों व्यक्तिगत प्रश्नों पर इच्छानुसार निर्णय करने की पूर्ण स्वतंत्रता दी जानी चाहिए।'

कथानक में कार्य का प्रायः अभाव है, और वस्तु का विकास संवादों के सहारे ही होता है। संवाद शक्तिशाली और संक्षिप्त हैं और उनमें बीच-बीच में व्यंग्य और विनोद का पुट भी मिलता है। पर संवादों में अधिकतर कोरा तर्क-वितर्क और युक्ति-प्रतियुक्ति ही होने के कारण साधारण श्रेणी के दर्शक इससे उकता जायँगे। किंतु विनोद और गजेन्द्र के वे संवाद, जिनमें वे प्रेम के क्षेत्र में अपने-अपने प्रयोगों की कहानी सुनाते हैं, निश्चय ही दर्शकों का अच्छा मनोविनोद कर सकेंगे।

नाटक के पात्र अधिकतर टाइप हैं, अपना-अपना विशिष्ट व्यक्तित्व उनमें बहुत कम है। कथानक का संगठन सुन्दर नहीं है, और विस्तृत वाद-विवाद और सिद्धांत-प्रतिपादन से इसके विकास में शिथिलता आ गई है। अभिनय

के विचार से यह नाटक सरल एवं सफल है।

चतुरसेन शास्त्री का 'पगध्वनि' (१९५२) भी राष्ट्रपिता महात्मा गाँधी के पुनीत आदर्शों पर आधारित है। इस नाटक में छः अंक हैं जिनका विभाजन दृश्यों में नहीं किया गया। अंकों का परस्पर सम्बन्ध नहीं है, न ही कोई संगठित कथानक है। नाटक में केवल भावना के रेखा-चित्र हैं। नाटक की भूमि में केवल प्यार की पीड़ा है, प्रस्तावना में पूजा है। प्रथम-अंक में गांधी-दर्शन, दूसरे में गांधी-भावना, तीसरे में गांधी-प्रभाव, चौथे में गांधी-जीवन, पाँचवें में विरोध-निराकरण और छठे में गांधी-आदर्श हैं। देश-काल से अंक परस्पर संबंधित नहीं हैं। इस प्रकार प्रस्तुत नाटक में शास्त्री जी ने नवीन पद्धति का प्रयोग किया है।

'दो शब्द' में नाटककार ने लिखा है—

> **"महावीर और बुद्ध ने सत्य-अहिंसा को 'बहुजन-हिताय' की भावना से प्रचारित किया था। पर वह साम्प्रदायिक दलदल में फंस गया, उस अहिंसा का राजनीतिक क्षेत्र में उपयोग करने का श्रेय गांधी जी को है।**
>
> **"आज हम उस पुरुष की प्रतीक्षा कर रहे हैं जो उस पग-ध्वनि के संकेत पर 'सत्य और अहिंसा' को ले जाकर गांधी जी के प्रस्थापित देवता 'मनुष्य' की विधि-विधान से पूजा करना कोटि-कोटि जनों को सिखाये।"**

इसी से नाटक का नाम 'पग-ध्वनि' रखा गया है। छठे अंक में प्रतीकवादी पद्धति पर नागरिकता, सभ्यता, अहिंसा, राजनीति, हिंसा, पूंजी, सत्य, धर्म, सत्याग्रह और असहयोग को पात्रों के रूप में प्रस्तुत किया गया है। विरोधी वर्गों के पात्रों में संघर्ष होता है, और अन्त में परस्पर समझौता हो जाता है। अन्त में धर्म अहिंसा को गांधी जी का यही उपदेश देता है—"बहन, तुम अहिंसा की शरण लो और सत्य का अनुसरण करो।"

विष्णु प्रभाकर का 'चन्द्रहार' (१९५२) मुंशी प्रेमचन्द के प्रसिद्ध उपन्यास 'ग़बन' का नाट्य-रूपांतर है। रूपांतरकार ने बड़ी बुद्धिमत्ता से उपन्यास के अनावश्यक और अनुपयोगी प्रसंगों को छोड़कर केवल नाटकोपयोगी सामग्री को ही ग्रहण किया है। मूल उपन्यास की कथावस्तु, पात्र तथा संवादों को सुरक्षित रखते हुए जालपा के आभूषण-प्रेम और रमानाथ के मनोवैज्ञानिक चरित्र-चित्रण की कहानी को बड़ी कलात्मकता और कुशलता के साथ नाटक का परिधान प्रदान किया गया है। यह नाटक सर्वथा मौलिक-सा ज्ञात होता है। आशा है कि प्रस्तुत रूपांतरकार तथा अन्य नाटककार भी उच्चकोटि के दूसरे उपन्यासों के नाट्य-रूपांतर तैयार करने की ओर विशेष ध्यान देंगे।

दयानाथ झा ने अपने 'कर्मपथ' (१९५३) में उत्तर विहार के देहाती समाज के दो वर्गों के संघर्ष का चित्रण किया है। वहाँ का अभिजात-वर्ग शारीरिक श्रम नहीं करता; इस वर्ग के लोगों की खेती-बाड़ी और मेहनत-मज़दूरी निम्नवर्ग के लोग करते हैं। निम्नवर्ग वालों में राजनीतिक स्वतंत्रता के पश्चात् जागृति बढ़ती जा रही है। अब वे लोग उच्चवर्ग वालों की शोषण-वृत्ति का विरोध करने लगे हैं और मनुष्य होने के नाते अभिजात-वर्ग वालों की बराबरी का दावा करने लगे हैं। इन दोनों वर्गों के उत्तरोत्तर उग्ररूप धारण करते हुए संघर्ष का यथार्थ चित्रण इस नाटक में किया गया है। कला की दृष्टि से यह नाटक साधारण है।

'क्रांतिकारी' (१९५३) में पं० उदयशंकर भट्ट ने उस सामूहिक राष्ट्रीय जागरण की झाँकी प्रस्तुत की है, जिससे प्रेरित होकर अनेक देश-भक्तों ने अंग्रेज़ों के शासन से स्वदेश को स्वतंत्र कराने के लिए सशस्त्र क्रांति की थी। इसमें यद्यपि भगतसिंह और चन्द्रशेखर आज़ाद आदि क्रांतिकारियों के नाम नहीं आने पाये, पर नाटक की कथावस्तु अधिकांश यथार्थ घटनाओं पर ही आधारित है। नाटक में उस क्रांति का तथा उन क्रांतिकारियों के जीवन और उनकी कठिनाइयों का स्वाभाविक वर्णन है। नाटक में केवल एक अंक है जो चार दृश्यों में विभाजित है। परन्तु भट्ट जी ने इसे पूर्ण नाटक के रूप में ही स्वीकार किया है, क्योंकि कथा-उपकथाओं की अन्विति तथा कई दृश्य-विधानों में संगति होने के कारण यह नाटक अपने में पूर्ण है।

उपेन्द्रनाथ 'अश्क' का 'पैंतरे' बड़ा मनोरंजक नाटक है। इसका आधार व्यक्तिगत घटना को लेकर लिखी गई अश्क जी की एक कहानी है, जिसे नाटक का आवरण देने के लिए काफ़ी विस्तार दे दिया गया है। इसमें दिखाया गया है कि मकान की दुर्लभता के कारण क़ादिर साहब सारे संकोच और शिष्टाचार को त्याग कर अपने मित्र रशीद भाई के मकान में डेरा लगा देते हैं, और रशीद भाई तंग आकर अपने एक मित्र शहबाज़ की शरण लेते हैं। बेचारा शहबाज़ रशीद भाई को अपना मकान सौंपकर स्वयं मकान के बाहर सीढ़ियों के पास जाकर सो जाता है, जहाँ उसे सोया हुआ देखकर साथ वालों का नौकर पहले तो हैरान हो जाता है, और फिर उसी के पास अपने प्रतिदिन के स्थान पर बिस्तर लगाकर सो जाता है।

इसके साथ-साथ नाटक में अश्क जी ने बड़े विनोदपूर्ण ढंग से फ़िल्मी दुनिया की एक हास्यमयी झलक प्रस्तुत की है, जो बहुत कुछ यथार्थ और स्वाभाविक है। लेखक ने स्थान-स्थान पर संवादों में तथा पात्रों के कार्य-

व्यवहार में व्यंग्य और विनोद का प्रयोग करते हुए सिनेमा-जगत् के रहस्यों का उद्घाटन किया है। उस जगत् में स्वार्थ का अधिकार है, कोई किसी का भाई नहीं, कोई किसी का मित्र नहीं। अपने स्वार्थ के समक्ष शेष सब कुछ तुच्छ समझा जाता है। उस जगत् में उन्नति करने के लिए पैंतरेबाज़ी (छल-कपट और चतुराई से अपना काम निकालना) से काम लेना होता है, अपनी आत्मा का हनन करना पड़ता है, लड़कियों को अपने चरित्र से हाथ धोना पड़ता है। इस जगत् में प्रत्यक्ष दिखाई देनेवाले तीव्र प्रकाश के पीछे घोर अंधकार है।

नाटक में आदि से अन्त तक रोचकता भरी पड़ी है। नाटक का वातावरण हल्का और विनोदपूर्ण है। भाषा सरल और बोलचाल की है, और उसमें पात्रानुकूल परिवर्तन कर दिया गया है। कथानक जैसा भी है सुव्यवस्थित है। संवाद सरस और सजीव हैं। सभी प्रमुख पात्रों की विशेषताओं पर यथेष्ट प्रकाश डाल दिया गया है। रंगमंच पर अभिनय के लिए भी यह नाटक अनुकूल है।

'अश्क' जी का 'अलग अलग रास्ते' (१९५५) विवाह की समस्या को लेकर लिखा गया उच्च कोटि का सामाजिक नाटक है। वास्तव में यह उनके 'आदि-मार्ग' शीर्षक एकांकी का ही सुविकसित रूप है। किन्तु इसे मूल नाटक की अपेक्षा अधिक कलापूर्ण तथा अभिनयोपयोगी बनाने का प्रयत्न किया गया है।

'अवसान' में जयनाथ 'नलिन' ने जूआ खेलने और शराब पीने के दुष्परिणाम का वर्णन किया है। नाटक का नायक मोतीलाल अपने इन्हीं व्यसनों में सारी पैतृक सम्पत्ति नष्ट करके ऋणग्रस्त हो जाता है। पति के दुर्व्यसन और दुर्व्यवहार से दुखी होकर मोतीलाल की पत्नी आत्महत्या करने के लिए विवश हो जाती है।

नाटक का विषय नया नहीं है, परंतु नलिन जी ने कथावस्तु के निर्वाह में मौलिकता का परिचय दिया है। नाटक के तीनों अंक मोतीलाल के घर पर ही घटित होते हैं। इससे स्थान की एकता का पूर्णतया पालन हुआ है। नाटक में कोई उपकथानक नहीं है और न रोमांस और गीतों आदि का समावेश है। वातावरण यथार्थ है और चरित्र-चित्रण तथा कथोपकथन स्वाभाविक हैं।

शम्भुनाथसिंह का 'धरती और आकाश' (१९५४) चार अंकों का अभिनयोपयोगी सामाजिक नाटक है। इसमें पूंजीपति और श्रमिकवर्ग के बीच संघर्ष का चित्रण करके अन्त में पूंजीपति की जीत दिखलाई गई है। 'आमुख' में नाटककार ने कहा है कि—

"व्यक्ति की मानसिक उलझनों का कारण प्रधान रूप में यौन-वृत्ति नहीं बल्कि वे सामाजिक संबंध हैं जिनका आधार विशुद्ध आर्थिक है; इस सत्य को चरित्रों के उत्थान-पतन द्वारा स्पष्ट करने का प्रयत्न इस

नाटक में किया गया है। चरित्रों का यह उत्थान-पतन भी सामाजिक दबाव के कारण होता है, बौद्धिक या यौन कारणों से नहीं।"

नाटक में लक्ष्मीपति एक प्रतिनिधि पूंजीपति है जिसका चरित्र छल-कपट और नीचता से परिपूर्ण है। उसका प्रत्येक काम, यहाँ तक कि दान देना भी, स्वार्थसिद्धि की प्रबल भावना से प्रेरित है। अपनी अपार धनराशि के बल पर वह प्रतिभाशाली पत्रकार तथा विद्वान् वैज्ञानिक का सहयोग प्राप्त कर लेता है, और अपनी वृहद् योजनाओं की सिद्धि के मार्ग में आने वाले किसानों और कलाकारों आदि के विरोध को बलपूर्वक दबा देता है। उसका दृढ़ विश्वास है कि संसार में रुपये से सब कुछ किया जा सकता है। कला, साहित्य और विज्ञान सब पूँजी के ग़ुलाम हैं। नाटक के पात्र प्रायः वैशिष्ट्य-हीन हैं। वे अधिकतर किसी विचार अथवा वर्ग के प्रतिनिधि हैं। नाटक में बाह्य संघर्ष तो बहुत है, पर पात्रों के मानसिक संघर्ष का प्रायः अभाव है। इसके अतिरिक्त आज के प्रगतिशील युग में धन-बल के आगे जन-बल को परास्त कराना स्वाभाविक नहीं जान पड़ता। कथावस्तु, चरित्र-चित्रण और कथोपकथन आदि सभी दृष्टियों से नाटक मध्यम श्रेणी का है।

अभयकुमार यौधेय का 'नारी की साधना' (१९५४) दो अंकों का सुंदर सामाजिक नाटक है। लेखक का मत है कि यद्यपि नारी मानव जीवन के समस्त अभावों की पूर्त्ति है, तथापि पुरुष का आश्रय नारी के लिए अनिवार्य है। पुरुषत्व के आश्रित न होकर नारी जलविहीन धरती की भाँति निस्सार होकर रह जाती है। लेखक की यह कामना है कि नारी और पुरुष परस्पर शंकाशील और संघर्षपरायण न होकर अधिकाधिक स्नेहशील बनने का प्रयत्न करें।

प्रस्तुत नाटक में श्री यौधेय ने दिखाया है कि पत्नी अपने पथभ्रष्ट पति को अपनी कठिन साधना के द्वारा पुनः सन्मार्ग पर ले आती है। नाटक प्रायः पहले अंक में ही समाप्त हो जाता है। केवल उसे सुखांत बनाने के उद्देश्य से ही लेखक ने छोटे से दूसरे अंक को जोड़ दिया है। कथावस्तु का विकास संतोषजनक है, यद्यपि नाटक का विषय काफ़ी पुराना है। आकस्मिक घटनाओं का प्रयोग नाटक में अनेक बार किया गया है। चरित्र-चित्रण भी कलापूर्ण और मौलिक नहीं है। पति और पत्नी के चरित्र का वैषम्य भली भाँति स्पष्ट किया गया है, परन्तु पत्नी का आदर्श चरित्र रूढ़िवादी हो कर रह गया है। इसमें वैयक्तिक वैशिष्ट्य का लेश-मात्र भी नहीं है। अन्य पात्रों के चरित्र की रेखाओं पर भी थोड़ा-थोड़ा प्रकाश डाल दिया गया है। नाटक के संवाद सजीव, सरस और भावपूर्ण हैं। स्थान-स्थान पर स्त्री और पुरुष के अन्योन्याश्रय के

प्रश्न को लेकर तर्क-वितर्क भी प्रस्तुत किया गया है, जिसमें रूढ़िवादी पुरातन विचारों और प्रगतिशील आधुनिक सिद्धांतों के बीच संघर्ष का चित्रण करके अन्त में दोनों में सामञ्जस्य करा दिया गया है। भावपूर्ण सरस गीतों की योजना भी बीच-बीच में की गई है, जिनमें पात्र की मनोदशा का मार्मिक चित्रण है।

रघुवीरशरण मित्र का 'भारत माता' (१९५४) राष्ट्रीय स्वतंत्रता के क्रांतिकारी वीरों—चन्द्रशेखर आज़ाद और भगतसिंह आदि की साहसपूर्ण घटनाओं को लेकर लिखा गया है। नाटक में कार्य की मात्रा पर्याप्त है। संवादों में जीवन और आवेग है। भाषा सरल और प्रवाहयुक्त है। 'मृत्यु की ओर' में श्री सन्तोष ने यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि अपने निर्माण तथा विनाश के लिए मनुष्य स्वयं उत्तरदायी है। क्रोध, मोह और संशय आदि के वश में होकर मनुष्य ऐसे कार्य करता है, जो उसके नाश का कारण बनते हैं। प्रस्तुत नाटक में पहले क्रोध, अभिमान, लोभ, धैर्य और बुद्धि आदि प्रतीक पात्रों की अवतारणा की गई है और बाद में कँवल और नीला आदि मानवीय पात्रों को प्रस्तुत किया गया है जो उन वृत्तियों से परास्त हो जाते हैं। रामनरेश त्रिपाठी का 'पैसा परमेश्वर' एक लम्बा नाटक है, जिसमें दिखाया गया है कि आज के समय में क्या बड़े क्या छोटे सभी लोग पैसे को ही परमेश्वर मानते हैं और धन की ख़ातिर बुरे से बुरे काम करने को तत्पर हो जाते हैं। ये तीनों नाटक नाट्यकला की दृष्टि से विशेष महत्त्व नहीं रखते।

तुलसी भाटिया का 'मर्यादा' पं० लक्ष्मीनारायण मिश्र के समस्या नाटकों की पद्धति पर लिखा गया है। नाटक का नायक मनोज है जिससे अर्चना प्रेम करती है। किन्तु एक दूसरी लड़की मधुरिका भी मनोज से विवाह करने को उत्सुक है। वह ऐसा जाल बिछाती है कि अर्चना मर्यादा की रक्षा के लिए अपने हृदय की भावनाओं को बरबस दबाकर मनोज को राखी बाँध देती है। इस पर दोनों के मन व्यथित रहते हैं और लेखक ने इनके आन्तरिक संघर्ष का अच्छा चित्रण किया है। अन्त में मधुरिका का षड्यन्त्र प्रकट हो जाने पर अर्चना अपनी राखी लौटा कर मनोज से विवाह कर लेती है। नाटक सुन्दर तथा सफल रचना है।

इस प्रकार इन वर्षों में बहुत से समस्या-नाटक लिखे गये, जिनमें कुछेक तो उच्च कोटि के हैं परन्तु अधिकांश मध्यम श्रेणी के अथवा साधारण स्तर के हैं। थोड़े से नाटकों में गहन समस्याओं को लिया गया है, अन्यथा जीवन अथवा समाज की गहराइयों में न उतर कर केवल साधारण दनिक समस्याओं पर ही नाटकों की रचना की गई है।

एकांकी नाटक

इन वर्षों में एकांकी नाटकों की रचना विशेष वेग के साथ हुई है। एकांकी नाटकों के संग्रह धड़ाधड़ प्रकाशित हो रहे हैं, जिससे लेखकों तथा पाठकों की एकांकी के प्रति बढ़ती हुई रुचि का परिचय मिलता है। बड़े नाटक की अपेक्षा एकांकी दिनोंदिन अधिक लोकप्रिय होता जा रहा है। पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होने के अतिरिक्त एकांकियों के अनेक संग्रह पुस्तकाकार भी प्रकाशित हो चुके हैं। उनमें निम्नलिखित उल्लेखनीय हैं—डा० रामकुमार वर्मा के 'चार ऐतिहासिक एकांकी' (१९४९), 'कौमुदी महोत्सव' (१९४९), 'ध्रुवतारिका' (१९५०), 'ऋतुराज' (१९५२) और 'रजत-रश्मि'; पंडित उदयशंकर भट्ट के 'समस्या का अन्त' (१९४८), 'धूमशिखा' (१९४९), 'कालिदास' (१९५०) और 'पर्दे के पीछे'; पं० लक्ष्मीनारायण मिश्र के 'अशोक वन' (१९५०), 'प्रलय के पंख पर' (१९५१) और 'कावेरी में कमल' (१९५५); वृन्दावनलाल वर्मा के 'सगुन' (१९५०) और 'कनेर' (१९५१); उपेन्द्रनाथ 'अश्क' के 'तूफ़ान से पहले' (१९४८), 'चरवाहे' (१९४८) और 'आदिमार्ग' (१९५०); सत्येन्द्र शरत् का 'तार के खम्भे' (१९४९); राजेन्द्र शर्मा का 'ग्राम-पंचायत' (१९५१); लक्ष्मीनारायण लाल का 'पर्वत के पीछे' (१९५२); श्री यशपाल का 'नशे नशे की बात' (१९५२) तथा कृष्णचन्द्र का 'सराय के बाहर' (१९५३) इत्यादि, इत्यादि।

डा० रामकुमार वर्मा के 'चार ऐतिहासिक एकांकी' (१९४९) में ये चार एकांकी संगृहीत हैं—राजरानी सीता, औरंगज़ेब की आख़िरी रात, समुद्रगुप्त पराक्रमांक और सम्राट् विक्रमादित्य। इनमें से प्रथम दो नाटक इनके 'सप्त-किरण' (१९४७) में पहले ही प्रकाशित हो चुके हैं। 'राजरानी सीता' में रावण की अशोक वाटिका में सीता से राक्षसराज का प्रेम की भिक्षा मांगने, उसके कड़ा उत्तर देने पर उसके वध की धमकी देने, और रावण के चले जाने के अनन्तर हनुमान का श्रीराम की अंगूठी सीता जी को समर्पित करके उन्हें सान्त्वना देने का वृत्त है। तीसरे एकांकी में सम्राट् समुद्रगुप्त के भाण्डागार से दो रत्न-खंडों के चोरी हो जाने की एक घटना का सुंदर ढंग से वर्णन किया गया है। 'सम्राट् विक्रमादित्य' में संवत्-प्रवर्तक प्रसिद्ध शकारि विक्रमादित्य के शासन-काल की एक घटना को लेकर कथानक का विकास किया गया है।

'औरंगज़ेब की आख़िरी रात' का कथानक इतिहास की अपेक्षा लेखक की कल्पना से ही अधिक प्रसूत है। नवासी वर्ष का वृद्ध औरंगज़ेब अहमदनगर के क़िले में बीमार पड़ा है। उसका अन्त समीप है। जीवन के अंतिम क्षणों में

औरंगज़ेब की आत्मा निर्मल हो जाती है, और धर्मान्धता तथा स्वार्थान्धता से मुक्त होकर उसकी मनुष्यता बलवती हो उठती है। अब वह एक-एक करके अपने अत्याचारों को याद करता है जो उसने जीवन भर में अपने पिता पर, अपने सगे भाइयों पर तथा हिन्दुओं पर किये थे। अपने अत्याचारों की पश्चात्ताप-पूर्ण स्मृति से उसकी हार्दिक वेदना बढ़ जाती है और वह बेसुध हो जाता है। पर बेहोशी में भी कभी उसे अपने भाई दारा के चीखने की भयानक आवाज़ आती है, और कभी औरंगज़ेब से वध किये गये अपने प्रिय पुत्रों को माँगते हुए पिता शाहजहाँ की शक्ल दिखाई देती है।

यह नाटक अत्यन्त सुन्दर और कलापूर्ण है। परंतु इसमें थोड़ी सी अस्वाभाविकता आ गई है। एक तो औरंगज़ेब मरते दम तक बोलता रहता है। दूसरे वह तनिक भी विचलित अथवा व्यथित हुए बिना रह-रहकर पत्र लिखाते हुए कहता है 'जल्द लिखो। हमारे पास वक्त बहुत थोड़ा है', मानों वह कुछ ही क्षणों में मरने नहीं जा रहा, बल्कि किसी अन्य आवश्यक काम में उसे विलम्ब हो रहा है।

'कौमुदी महोत्सव' (१९४९) का कथानक चन्द्रगुप्त मौर्य के शासन-काल की एक महत्त्वपूर्ण घटना पर आधारित है। इसकी रचना में वर्मा जी का उद्देश्य ऐतिहासिक तथ्यों के आधार पर चन्द्रगुप्त तथा चाणक्य दोनों का यथार्थ चरित्र अंकित करना है, क्योंकि वर्मा जी के विचार में विशाखदत्त के 'मुद्राराक्षस' में, द्विजेन्द्रलाल राय के 'चन्द्रगुप्त' में तथा प्रसाद जी के 'चन्द्रगुप्त मौर्य' में इन दोनों के चरित्र-चित्रण में अन्याय हुआ है। वर्मा जी को अपने उद्देश्य में यथेष्ट सफलता मिली है '

'ध्रुव-तारिका' (१९५०) में डा० वर्मा ने औरंगज़ेब के पुत्र अकबर की बेटी सफ़ीयत-उन्-निसा और मारवाड़ के राजकुमार अजीतसिंह के परस्पर आकर्षण का वर्णन किया है। ये दोनों विवाह-बंधन में बँधने के स्वप्न देखते हैं, पर मारवाड़ का वीर सेनापति दुर्गादास राठौर दोनों को सावधान करता है, और अन्त में उसके आग्रह पर ये दोनों आपस में भाई-बहन का संबंध मानने को विवश हो जाते हैं। सफ़ीयत के इस महान् उत्सर्ग के कारण ही दुर्गादास उसे राजस्थान की ध्रुव-तारिका कहकर सम्मानित करता है।

'ऋतुराज' (पूर्वार्ध; १९५२) अधोलिखित पाँच एकांकी नाटकों का सुन्दर संग्रह है—'कादम्ब या विष', 'स्वर्णश्री', 'भरत का भाग्य', 'ज्यों की त्यों धरि दीनि चदरिया' और 'स्वागत हे ऋतुराज !' इनमें से प्रथम एकांकी में सम्राट् कुमारगुप्त की प्रेयसी रानी अनन्तदेवी के षड्यंत्रों का वर्णन है। नाटककार ने

अनंतदेवी, कुमारगुप्त और स्कन्दगुप्त का चरित्र-चित्रण बड़े ही सुन्दर ढंग से किया है। अपने संदेश को वर्मा जी ने इन शब्दों में व्यक्त किया है—"पुरुष ! स्वामी बनकर सौन्दर्य की सराहना कर, सेवक बनकर आत्म-समर्पण न कर।" समय, स्थान तथा कार्य की एकताओं का इस एकांकी में सफलता से पालन हुआ है। 'स्वर्णश्री' में मगध के सेनापति पुष्यमित्र द्वारा वहां के अंतिम मौर्य सम्राट् बृहद्रथ के वध का वर्णन है। इसमें दिखाया गया है कि शासक जब कुमार्ग-गामी होकर प्रजा के प्रति अपने कर्तव्यों से मुँह मोड़ लेता है तो उसका पतन अनिवार्य हो जाता है। 'भरत का भाग्य' भरत के भ्रातृ-प्रेम और त्यागपूर्ण आदर्श चरित्र को लेकर लिखा गया है। 'ज्यों की त्यों धरि दीनि चदरिया' में महात्मा कबीर के जीवन की कुछ झाँकियां प्रस्तुत की गई हैं, और यह दिखाया है कि उन्होंने अपने जीवन को शुद्ध और निष्काम रखकर अपने शरीर को निरीह और निर्मल बनाकर ईश्वर को सौंप दिया। 'स्वागत हे ऋतुराज !' डा० वर्मा का नूतन कोटि का एकांकी है जिसके विषय की मौलिकता सराहनीय है। इसमें वर्मा जी ने हिन्दी साहित्य के चारों कालों के प्रमुख कवियों द्वारा ऋतुराज वसन्त को श्रद्धांजलियां अर्पित कराई हैं और उससे अनुरोध किया है कि वह प्रत्येक प्राणी के जीवन में समाकर उसे आशा, उत्साह और आनन्द से भर दे।

'रजतरश्मि' में ये पाँच ऐतिहासिक एकांकी संगृहीत हैं—प्रतिशोध, तैमूर की हार, दुर्गावती, औरंगज़ेब की आखिरी रात, और कलंक-रेखा।

एकांकी-कला की दृष्टि से डा० रामकुमार वर्मा के ये एकांकी प्रायः उच्चतम कोटि के हैं। इस क्षेत्र में इनकी कला प्रौढ़ से प्रौढ़तर होती जा रही है। जहाँ पहले ये अपने एकांकियों के लिए सामाजिक विषयों को ही अधिकतर अपनाते थे, वहाँ अब इनकी रुचि उत्तरोत्तर ऐतिहासिक तथा सांस्कृतिक विषयों की ओर बढ़ रही है। इनका यह विश्वास है कि सांस्कृतिक पुनरुत्थान में एकांकी की कला ही सबसे अधिक उपयोगी सिद्ध होगी। अपने नाटकों में इन्होंने सांस्कृतिक वातावरण में पात्रों के मनोविज्ञान को प्रतिष्ठित करने का यत्न किया है। समस्त जीवन को किसी एक घटना में बाँधकर, कौतूहल को अधिक से अधिक शक्तिशाली बनाते हुए चरमोत्कर्ष की सृष्टि करना इनकी कला की विशेषता है।

डा० वर्मा ने ऐसे आदर्शवाद की प्रतिष्ठा की है जो जीवन की व्यावहारिकता से ओत-प्रोत होकर नैतिक दृष्टि से जनता के लिए कल्याणकारी है। इन्होंने भारतीय इतिहास के चरित्रों का विश्लेषण करके उनमें ऐसी प्राण-प्रतिष्ठा

की है जो ऐतिहासिक सत्य के अनुकूल होते हुए जीवन के स्पन्दन से सजीव है। इसके अतिरिक्त इनके नाटकों में न कोई अनावश्यक पात्र होता है, और न ही अकारण पात्रों का प्रवेश या प्रस्थान होता है। कथानक में व्यर्थ के प्रयोजनहीन प्रसंगों की अवतारणा ये भूल कर भी नहीं करते। इनके संवाद पात्र तथा परिस्थिति के अनुकूल, प्रभावशाली, सरस, सशक्त और संक्षिप्त होते हैं। वर्मा जी की दृष्टि में एकांकी में संकलन-त्रय का महत्त्वपूर्ण स्थान है। एक संपूर्ण कार्य एक स्थान पर एक समय में हो जाना ये एकांकी के लिए अनिवार्य समझते हैं। इसी नियम का इन्होंने अपने अधिकतर एकांकियों में पालन किया है। रंगमंच पर अभिनीत होने के विचार से भी इनकी रचनाएँ सर्वथा सफल हैं। रेडियो पर तो इनके प्रायः सभी एकांकी प्रसारित हो चुके हैं।

पं० उदयशंकर भट्ट का 'समस्या का अन्त' (१९४८) इन नौ एकांकियों का संग्रह है—समस्या का अन्त, गिरती दीवारें, पिशाचों का नाच, बीमार का इलाज, आत्म-दान, जीवन, वापसी, मंदिर के द्वार पर, और दो अतिथि। 'धूम-शिखा' (१९४९) में ये छः एकांकी संगृहीत हैं—धूम-शिखा, विस्फोट, नया नाटक, नये मेहमान, अंधकार और…?, तथा अघटित। इनमें कुछ नाटकों में समाज के भिन्न-भिन्न रूपों का चित्रण है, कुछ में घरेलू जीवन के किसी पक्ष या प्रवृत्ति पर प्रकाश डाला गया है, और कुछ में मनुष्य की विविध प्रवृत्तियों का प्रस्फुटन हुआ है। अधिकांश एकांकी बड़े सुंदर तथा रोचक हैं। सभी की रचना किसी न किसी उद्देश्य को लेकर की गई है। जीवन का विविध चित्रण इन नाटकों में तीक्ष्ण रूप से हुआ है। समाज की रूढ़ियों और अन्यान्य दुर्बलताओं की भी बड़ी स्वाभाविक परन्तु तीखी आलोचना की गई है। 'धूम-शिखा' के नाटकों में विशेष रूप से नाटककार की आत्मानुभूति की पुकार है। उनके पात्रों के रूप में भट्ट जी ने कुछ नये अभीष्ट चित्र उपस्थित किये हैं।

भट्ट जी का 'कालिदास' (१९५०) उनके तीन ध्वनि-रूपकों का सुंदर संग्रह है। इन तीनों रूपकों (कालिदास, मेघदूत और विक्रमोर्वशी) की रचना रेडियो-नाटक के टेकनीक के अनुसार की गई है, और तीनों ही सफलतापूर्वक रेडियो से प्रसारित किये जा चुके हैं। प्रथम रूपक 'कालिदास' में संस्कृत के महाकवि कालिदास की प्रतिभा का परिचय देते हुए यह बताया गया है कि महाकवि को अपने प्रसिद्ध ग्रंथों की रचना में अपनी प्रेमिका विलासवती से किस प्रकार प्रेरणा मिली। इस नाटक में कालिदास के ग्रंथों का एक-एक सुंदर प्रसंग ही पाठकों को उनकी प्रतिभा का परिचय देने के हेतु प्रस्तुत किया गया है।

'मेघदूत' में भट्ट जी ने अधिक स्वतंत्रता से काम लिया है, क्योंकि 'मेघदूत'

एक काव्य है, न कि 'कालिदास' की भाँति अमर कवि का परिचयात्मक चित्रण। यद्यपि इसमें मूल खण्डकाव्य के अधिकतर स्थलों का भट्ट जी ने केवल पद्यबद्ध अनुवाद-मात्र ही प्रस्तुत किया है, तथापि कुछ प्रसंगों में नाटकत्व लाने की चेष्टा भी की गई है। 'विक्रमोर्वशी' भी अधिकतर मूल के अनुसार ही है। मूल नाटक में से अपने प्रयोजन के प्रसंग चुनकर उनको एक सूत्र में पिरो दिया गया है। तीनों रूपकों में भट्ट जी ने प्राचीनता का स्वाभाविक वातावरण बनाने में सफलता पाई है। संवादों में सरसता, सजीवता और कवित्व है। कवित्वपूर्ण संवाद का एक उदाहरण देखिए—

पहला स्वर—उड़ते हुए भौंरे और खिले हुए तिलक के फूल, प्रातः काल के सूर्य की लाली से चमकनेवाली कोंपलें ऐसी लगती थीं, मानों वसन्तश्री रूपी लक्ष्मी ने भौंरां के अंजन से अपना मुँह चीतकर अपने माथे पर तिलक के फूल का तिलक लगाकर और प्रातःकाल निकलनेवाले सूर्य की लाली से चमकनेवाले आम की कोंपलों से अपने ओंठ रंग लिये हों।

उदयशंकर भट्ट का 'पर्दे के पीछे' उनके आठ एकांकी नाटकों का संग्रह है, जिनमें अधिकतर सामाजिक हैं।

समस्या-नाटकों के लब्धप्रतिष्ठ लेखक पं० लक्ष्मीनारायण मिश्र ने इन वर्षों में एकांकी नाटकों की रचना में भी अपनी प्रतिभा को प्रवर्तित किया है। इधर इनके तीन सुन्दर एकांकी-संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। 'अशोक वन' (१९५०) में संगृहीत एकांकी नाटकों के नाम ये हैं—अशोक वन, कौशाम्बी, विदिशा, भविष्य का गर्व, और दशाश्वमेध। 'अशोक वन' में वही कथानक है जो डा० रामकुमार वर्मा के 'राजरानी सीता' में है। 'कौशाम्बी' में इस विख्यात नगरी से संबंध रखनेवाले भिन्न-भिन्न राजाओं के शासन-काल की झाँकियां प्रस्तुत की गई हैं। सर्वप्रथम गौतम बुद्ध के समकालीन वत्सराज उदयन के काल तथा जीवन की कुछ घटनाओं का वर्णन है। फिर कनिष्क और अश्वघोष को रंगमंच पर प्रस्तुत करके और तदनन्तर समुद्रगुप्त और वसुबंधु के वार्तालाप में कौशाम्बी के वैभव तथा महत्त्व पर प्रकाश डाला गया है। अन्त में सम्राट् हर्षवर्धन तथा चीनी पर्यटक हुएनसाँग के कथोपकथन में इस नगरी की ध्वस्त अवस्था का वर्णन करके इसके उज्ज्वल भविष्य की आशा की गई है। 'विदिशा' में भी ऊपर के एकांकी की भाँति तीन भिन्न-भिन्न कालों के विदिशा नगरी के चित्र अंकित किये गये हैं। 'भविष्य का गर्व' में ईसा-पूर्व काल को लेकर भारतीय उपनिवेश स्वर्णद्वीप में भारतीय कन्या वासन्ती और भारतीय युवक

जयन्त की प्रेम-कहानी का कल्पना-प्रधान वर्णन है। 'दशाश्वमेध' में काशी के प्रसिद्ध दशाश्वमेध घाट पर जो नागों के अश्वमेध कुषाणों की प्रत्येक पराजय पर होते रहे थे, उसकी पहली कहानी है। ये सभी एकांकी अपने-अपने ढंग से सुंदर तथा सफल हैं। प्रथम तथा अंतिम नाटक में पात्रों का बड़ा यथार्थ चरित्र-चित्रण हुआ है। संवादों में भी यथेष्ट शक्ति और गति है।

जहाँ उपर्युक्त संग्रह के एकांकियों के विषय ऐतिहासिक थे, वहाँ मिश्र जी ने 'प्रलय के पंख पर' (१९५१) में समाज के विविध क्षेत्रों से अपने नाटकों के लिए विषय चुने हैं। इस संग्रह में 'प्रलय के पंख पर', 'बालू से तेल', 'धरती के नीचे', 'मेंड तोड़ दी', 'गङ्गा की लहरें' तथा 'चकाचौंध' शीर्षक छ: एकांकी हैं। ये सभी एकांकी किसी न किसी समस्या को लेकर लिखे गये हैं। पर ये समस्याएँ बहुत गहरी न उतर कर समाज के अथवा गृहस्थ जीवन के सामान्य धरातल पर ही घूमती रहती हैं। फिर भी मिश्र जी ने प्रत्येक एकांकी की वस्तु को सुबोध बनाने के हेतु उसका संक्षिप्त परिचय प्रत्येक नाटक के पूर्व दे दिया है। इन समस्त नाटकों में बाह्य संघर्ष की अवतारणा अधिकता से की गई है, किन्तु कहीं-कहीं पात्रों के अन्तर्द्वन्द्व पर भी सूक्ष्म रूप से प्रकाश डाला गया है। संवादों में कई स्थानों पर विरोधी सिद्धांतों अथवा विचार-धाराओं के बीच संघर्ष बड़े शक्तिशाली ढंग से प्रस्तुत किया गया है। पात्रों के चरित्र-चित्रण में भी स्वाभाविकता के साथ कला-कौशल का परिचय दिया गया है। कहीं-कहीं मर्मस्पर्शी प्रसंग भी इन नाटकों में मिलते हैं। अभिनय की दृष्टि से भी ये एकांकी सफल हैं। 'कावेरी में कमल' (१९५५) मिश्र जी के तीन सुंदर और प्रौढ़ एकांकियों का नवीनतम संग्रह है।

वृन्दावनलाल वर्मा का 'सगुन' (१९५०) नौ दृश्यों का सामाजिक एकांकी है। इसमें वर्मा जी ने दिखाया है कि चोरों के समान चोरबाज़ारी करनेवाले भी सगुन की मान्यता में विश्वास रखते हैं, और जनता अथवा सरकार को ठगने का काम करते समय ज्योतिषियों से सगुन अथवा शुभ मुहूर्त सुधाते हैं। पर यह सब कुछ करने पर भी वे कभी न कभी पकड़े जाकर अपने कुकर्म का फल पाते हैं। इस एकांकी का प्रधान पात्र कुबेरदास कई कारखानों का मालिक है। किन्तु वह अपनी अपार धनराशि से संतुष्ट न होकर अनेक प्रकार से उसकी उत्तरोत्तर वृद्धि की चेष्टा करता है। दूसरी ओर वह इन्कम-टैक्स से बचने के लिए अनेक चतुरतापूर्ण उपाय करता है, पर अन्त में अफ़सर उस पर इक्यावन लाख रुपये का टैक्स ठोंस ही देता है। सभी दृष्टियों से यह एकांकी काफ़ी सफल है।

'कनेर' (१९५१) में वर्मा जी के ये तीन एकांकी संगृहीत हैं—कनेर, टंटा गुरु, और शासन का डण्डा। इनमें से पहला एकांकी सब से लम्बा और अड़तालीस पृष्ठों का है, और अंतिम एकांकी सब से छोटा और केवल नौ पृष्ठों का है। 'कनेर' के प्रमुख पात्रों में खेमराज एक उच्च पदाधिकारी है, जो विज्ञान को बड़ा महत्त्व देता है। हेमनाथ एक वकील है जो अध्यात्मवाद का प्रबल समर्थक है। राबर्टमैन एक विज्ञान-भक्त विदेशीय है। नाटक में कार्य की मात्रा कम है; अधिकतर संवादों के द्वारा विज्ञानवाद और अध्यात्मवाद के बीच विवाद प्रस्तुत किया गया है, और अन्त में इन दोनों के समन्वय में ही मनुष्य का कल्याण माना गया है। नाटक में व्यर्थ का विस्तार अधिक है, जो कि एकांकी के लिए बड़ा भारी दोष है।

'टंटा गुरु' तीस पृष्ठों का एक प्रहसन है। इसमें चार भांग पीनेवाले मित्रों के वार्तालाप में पूंजीवाद, समाजवाद और साम्यवाद आदि पर बहस की गई है। इसके अतिरिक्त नशेबाज़ी की निन्दा करने के उद्देश्य से लेखक ने यह दिखाया है कि नशा पीकर मनुष्य पशु बन जाता है। पेय में भांग का केवल भ्रम होने से ही इस नाटक के पात्र अनर्थ करने को उद्यत हो जाते हैं। 'शासन का डंडा' छोटा-सा सुन्दर शिक्षाप्रद प्रहसन है। इसमें वर्मा जी ने दिखाया है कि गाँव का एक ज़मींदार अपने नौकरों तथा गाँव के चमारों के साथ कैसा अमानुषिक व्यवहार करता है; अपने बड़ा होने के कारण छोटे लोगों को अपना शासन का डण्डा दिखा-दिखाकर आतंकित करता है। पर अन्त में चमार चालाकी से वही डंडा उसके हाथ से ले लेता है और उस पर ठीक वैसे ही रोब जमाता है जैसे वह अत्याचारी ज़मींदार दूसरों पर जमाता था। अन्त में आकाशवाणी द्वारा शासकों तथा उच्चपदाधिकारियों को नम्र तथा न्यायशील होने का उपदेश दिया गया है—

"शासन के डण्डे को अकड़ के साथ घुमाते हुए कभी मत चलो। सिर झुका कर चलो, भगवान का नाम याद करके चलो।"

उपेन्द्रनाथ अश्क ने इन वर्षों में बहुत से सुन्दर, कलापूर्ण और अभिनयोपयोगी एकांकियों की रचना की है। 'तूफ़ान से पहले' (१९४८) उनके सात सफल एकांकी नाटकों का संग्रह है, जिनके नाम ये हैं—तूफ़ान से पहले, बहनें, पापी, नया पुराना, वेश्या, तौलिये और पक्का गाना। इनमें विविध सामाजिक और राजनीतिक विषयों को कथानक का आधार बनाया गया है। अगस्त १९४७ के भारत-विभाजन के कारण देश के कई एक भागों में जो साम्प्रदायिक उत्तेजना का तूफ़ान आया था, उसके कुछ पहले की उसी तूफ़ान की सूचना

देनेवाली सन् १९४६ में बम्बई में घटनेवाली कुछ घटनाओं का वर्णन 'तूफ़ान से पहले' में किया गया है। इसमें यह बताया गया है कि कुछ धर्मान्ध हिन्दू तथा मुसलमान झूठी ख़बरें फैलाकर जनता में उत्तेजना उत्पन्न करके निर्दोष और निरपराध प्राणियों की हत्या का कारण बनते हैं। परन्तु इन स्वार्थी दुष्ट मनुष्यों के बीच ही न्याज़मियां और घीसू जैसे सच्ची मनुष्यता के प्रतीक पात्र भी उपस्थित किये गये हैं जो साम्प्रदायिक द्वेष तथा धार्मिक विरोध से मुक्त होकर दूसरों के प्राण बचाने में अपनी जान की बाज़ी लगा देते हैं। रोचक होने के अतिरिक्त यह नाटक एकांकी-कला की दृष्टि से भी उत्तम है। समय, स्थल, तथा कार्य की एकताओं के साथ प्रभाव की एकता भी इसमें पूर्णतया सम्पन्न हुई हैं। प्रमुख पात्रों के चरित्र का चित्रण बड़ा सुन्दर, स्वाभाविक और प्रभावशाली है। नाटक में दंगे-फ़िसाद के यथार्थ वातावरण की सृष्टि बड़ी सफलता से की गई है। संवाद सरल, सबल और गतिशील होने के साथ-साथ पात्रों के चरित्र पर भी यथेष्ट प्रकाश डालते हैं।

'चरवाहे' (१९४८) में अश्क जी के ये सात एकांकी संगृहीत हैं—चरवाहे, मैंमूना, चुम्बक, चिलमन, चमत्कार, खिड़की और सूखी डाली। इस संग्रह के नाटक पहले संग्रह के एकांकियों के कुछ समान होने पर भी उनसे बहुत कुछ भिन्न हैं। उन नाटकों जैसा कला-कौशल, हास्य-व्यंग्य और यथार्थ अथवा आदर्श की अभिव्यक्ति इन नाटकों में भी मिलती है। परन्तु जहाँ उन नाटकों के पात्र हमारे रोज़ के परिचित, समाज में प्रतिदिन मिलनेवाले प्राणी हैं वहाँ इन एकांकियों के अधिकांश पात्र समाज में प्राय: विरले ही होते हैं। इसके अतिरिक्त जहाँ पहले नाटकों की शैली सरल थी, वहाँ अश्क जी ने इन एकांकियों में प्रतीक-प्रधान सांकेतिक शैली को ही अधिक अपनाया है।

प्रस्तुत संग्रह के प्रथम एकांकी 'चरवाहे' में प्रधान पात्र रत्नी है, जो कि अपने मामा की शरण में पड़ी हुई होने के कारण रोज़-रोज़ के अपमान, अनादर और बंधन से तंग आ चुकी है। डाके की दुर्घटना और गोविन्द की वीरता उसकी आत्मा को झकझोर कर उड़ान के लिए प्रेरित कर देती है और फिर पृष्ठभूमि में कभी-कभी उठने वाला चरवाहों का यह गीत—'म्हारा जंगल का सब साज सदा रहती है दूब हरी' इत्यादि उसकी सोई हुई स्वच्छन्द आत्मा को सजग कर देता है, और वह रोज़-रोज के व्यंग्यों और कटु शब्दों भरी पराधीनता से मुक्त होने के लिए तड़प उठती है। अन्त में उसकी आत्मा की प्रेरणा प्रबल होकर उसे गृह-त्याग करने के साहस में समर्थ बना देती है।

इस नाटक में रत्नी एक उद्दण्ड और स्वतन्त्रता पाने को आतुर युवती की

प्रतीक है। कान्त निर्जीवता और निर्बल यौवन का प्रतीक है और गोविंद वीरता तथा साहसपूर्ण यौवन का प्रतिनिधि है। इस नाटक की एक और विशेषता यह है कि जहाँ जवानी के प्रथम दोनों स्पष्ट प्रतिरूप हमारे सम्मुख रंगमंच पर आते हैं, वहाँ नाटक को गति प्रदान करनेवाला चिन्ता-रहित स्वतन्त्र यौवन का प्रतीक—चरवाहे कभी भी रंगमंच पर प्रस्तुत नहीं किये गये। केवल उनका रस-भरा लहराता हुआ गीत ही नाटक को गति प्रदान कर देता है। गोविन्द भी, जिसके व्यक्तित्व में चरवाहों की स्वतन्त्रता और साहसिकता मूर्तिमती हो गई है, सारे नाटक में कहीं भी मंच पर नहीं आता।

'चिलमन' में संकेतों की बाड़ दोहरी हो गई है। चिलमन—जिसके सूक्ष्म से प्रतीक पर इस करुण नाटक की रचना की गई है—रंगमंच के अन्दर अपने जड़ स्वरूप में भी विद्यमान है और मंच के बाहर शशि के रूप में अपने चेतन स्वरूप में भी। 'चमत्कार' में संकेतों की बाड़ तेहरी हो गई है। यहाँ संकेत कुछ अस्पष्ट हैं परन्तु ध्यान देने से समझ में आ जाते हैं। इस एकांकी में मृत मीन भ्रष्ट जीवन का, गढ़वाली गोलियाँ साधारण लोगों के विश्वास का, और श्वेत डाढ़ी वाला सर्व-वेत्ता लेखक का प्रतीक है। शेष एकांकियों के प्रतीक अपेक्षाकृत सरल और सुगम हैं। प्रतीकों में ही इस संग्रह के नाटकों की विशेषता है। इस संग्रह के कुछ नाटक (अश्क जी के पहले एकांकियों की भाँति) रेडियो से सफलतापूर्वक प्रसारित हो चुके हैं। किन्तु सुविकसित और साधन-सम्पन्न रंगमंच पर भी वे बड़ी सफलता से अभिनीत हो सकते हैं।

अश्क जी का 'आदिमार्ग' (१६५०) चार बृहदाकार एकांकी नाटकों का संग्रह है जिन के नाम ये हैं—आदिमार्ग, अंजो दीदी, भंवर, और छठा बेटा। इनमें प्रथम दो को एकांकी कहा जा सकता है, किन्तु 'भंवर' और 'छठा बेटा' एक-एक अंक के होने पर भी पूरे नाटक ही बन गये हैं। 'छठा बेटा' पर इक्कीसवें अध्याय में विचार किया जा चुका है।

सत्येन्द्र शरत् का 'तार के खम्भे' (१६४६) इन पाँच एकांकियों का संग्रह है—'गुड बाई अनीता !', 'एस्फ़ोडेल', 'प्रतिशोध' और 'तार के खम्भे'। प्रायः सभी एकांकी दूसरे लेखकों की रचनाओं से प्रभावित होकर लिखे गये हैं। इनमें मनुष्य के वैयक्तिक तथा सामाजिक जीवन के विविध चित्र अंकित किये गये हैं। पात्रों का चरित्र-चित्रण सफलता से किया गया है और उनकी विशेषताओं तथा पारस्परिक विषमताओं का उद्घाटन सुन्दरता से किया गया है। संवादों में यथेष्ट शक्ति और चुस्ती है, और उनमें प्रसंग तथा पात्र के अनुकूल कहीं तीखा व्यंग्य भरा है और कहीं मार्मिक वेदना। संकलन-त्रय का

भी प्राय: पालन किया गया है। किन्तु एकांकियों के कथानक मौलिक न होने के कारण अथवा लेखक की अपरिपक्व कला के कारण ये एकांकी मन पर उतना गहरा या तीखा प्रभाव नहीं डाल पाते, जिसका दावा लेखक ने 'अपनी बात' में किया है। वातावरण में भी एक कृत्रिमता-सी स्पष्ट प्रतीत होती है।

राजेन्द्र शर्मा के 'ग्राम-पंचायत' (१९५१) में ये साधारण कोटि के सात एकांकी संगृहीत हैं—उद्घाटन, पंचायत फ़ंड, गाँव की रक्षा, स्वास्थ्य और सफ़ाई, बीज-भंडार और पंचायत-घर, सिंचाई, पशु-प्रदर्शनी और बच्चों के लिए खेल-कूद। इन छोटे-छोटे एकांकी नाटकों में इस बात पर प्रकाश डाला गया है कि ग्राम-पंचायत के क्या कर्तव्य हैं और किस प्रकार ग्राम-पंचायतें अपने कर्तव्यों का पालन करती हुई अपने गाँवों की उन्नति और सामाजिक अवस्था का सुधार कर सकती हैं। कला के विचार से सामान्य होने पर भी ये नाटक अपने उद्देश्य में सफल हैं। सभी नाटक रेडियो से प्रसारित हो चुके हैं।

'पर्वत के पीछे' (१९५२) में लक्ष्मीनारायणलाल के इन छः एकांकियों को संगृहीत किया गया है—पर्वत के पीछे, सुबह होगी, नई इमारतें, मड़वे का भोर, धुएँ के नीचे, और क़ैद से पहले। इन नाटकों में लेखक ने सामाजिक जीवन के कई रंगों के चित्र प्रस्तुत किये हैं, जिनमें से अधिकांश कुरूप और कुत्सित हैं। लेखक का उद्देश्य ही हमारे समाज के घिनौने गहरे घावों को खोल कर पाठकों के सम्मुख रखना है। यद्यपि लेखक ने इन एकांकियों को अधिक से अधिक तीखा बनाने की पूरी कोशिश की है, तथापि अपने उद्देश्य में उसे पर्याप्त सफलता नहीं मिल सकी। कम से कम शब्दों में अधिक से अधिक प्रभाव उत्पन्न करने की क्षमता उसमें नहीं है। वस्तु के विकास तथा चरित्र-चित्रण की दृष्टि से ये नाटक सामान्य कोटि के हैं। संवादों में लेखक को अपेक्षाकृत अधिक सफलता मिली है।

श्री यशपाल उपन्यास, कहानी तथा निबन्ध के क्षेत्र में प्रभूत प्रसिद्धि प्राप्त कर चुके हैं। नाटक के क्षेत्र में पदार्पण किये इन्हें अभी अधिक समय नहीं हुआ। अभी तक इनका 'नशे नशे की बात' (१९५२) नामक एक ही एकांकी-संग्रह प्रकाशित हुआ है, जिसमें 'नशे नशे की बात', 'रूप की परख', और 'गुड बाई दर्दे-दिल' नामक तीन एकांकी हैं। यशपाल प्रगतिशील लेखक हैं। अतएव उनके उपन्यासों और कहानियों की भाँति इन नाटकों में भी रूढ़िवाद के विरुद्ध विद्रोह की तीव्र भावना मिलती है। परंपरागत सामाजिक व्यवस्था पर यह बहुत गहरी और कड़ी चोट करते हैं। अपने दृष्टिकोण के अनुकूल

कथावस्तु गढ़ने, चरित्र-चित्रण करने तथा वातावरण उपस्थित करने की इनमें अद्भुत क्षमता है।

उपर्युक्त तीनों एकांकियों को यशपाल जी ने 'एकांकी अथवा दृश्य कहानी' का नाम दिया है जो कि उचित ही है। ये तीनों लम्बी कहानियां इतनी सजीव हैं कि इन्हें पढ़ते समय दृश्य पाठक की आँखों के सामने अनायास उपस्थित होकर उसके अवयव स्वयं ही गतिमान होने लगते हैं। इसके अतिरिक्त इनमें नाटक के अन्य तत्वों की ओर इतना अधिक ध्यान नहीं दिया गया, जितना कि कथोपकथन को सजीव, सरल और नाटकीय बनाने की ओर दिया गया है। संवाद ही इनके प्राण हैं, और इनको नाटक की अपेक्षा नाटकीय संवाद कहना अधिक उपयुक्त होगा। इन रचनाओं में लेखक की तर्क-द्वारा चोट करने की शैली ने अद्भुत सफलता पाई है।

'नशे नशे की बात' इस संग्रह का प्रथम एकांकी है, और इन तीनों नाटकों में श्रेष्ठ भी है। इस एकांकी में लेखक ने दो प्रकार के नशे की बात कही है— एक तो मदिरापान से उत्पन्न होने वाले नशे की, जिसके कारण मनुष्य अपने परिवार तथा समाज के प्रति अपने दायित्व से विमुख हो जाता है। दूसरा नशा आध्यात्मिकता का है जिसके वशीभूत होकर मनुष्य भगवान के ध्यान में मग्न हो जाने के कारण सांसारिक संबंधियों से मुंह मोड़ लेता है। दोनों अवस्थाओं में मनुष्य का स्वार्थ ही प्रधान होता है। शराबी तथा संन्यासी दोनों ही अपने परिवार वालों के दुःख-दर्द की चिन्ता त्याग कर अपने सुख (वह शारीरिक हो अथवा आध्यात्मिक) का लोभ करते हैं। अतः प्रगतिशील नाटककार ने इन दोनों नशों को एक-समान बुरा माना है। आध्यात्मिक नशे पर किया गया उसका व्यंग्य बड़ा पैना और मार्मिक है। उसने केवल आध्यात्मिक नशाबाजों (संन्यासियों) को ही नहीं कोसा, अपितु उन लोगों को भी अपराधी ठहराया है जो उनका आदर-सत्कार करते हैं।

नाटककार ने अपने उद्देश्य की पूर्त्ति के हेतु कथानक का विकास बड़ी कुशलता के साथ किया है। किन्तु अपने उद्देश्य को स्पष्ट करने के मोह में उसने नाटक को कुछ अनावश्यक विस्तार दे दिया है। संवादों में भी सरलता एवं स्वाभाविकता है, किंतु यदि कतिपय कथोपकथन कम कर दिये जाते तो प्रभाव अधिक तीखा होता। नाटक का वातावरण सर्वथा स्वाभाविक है, और पात्रों के वार्तालाप, व्यवहार और चेष्टाओं से मदिरालय का चित्र आँखों के सामने खिंच जाता है। नाटक में कार्य, समय और स्थान की एकता का भी पूर्णतया पालन किया गया है।

प्रस्तुत संग्रह का दूसरा नाटक 'रूप की परख' है। इसमें यशपाल जी ने एक ओर तो भारी दहेज़ माँगने वालों की निन्दा की है, और दूसरी ओर उन लोगों पर भी चोट की है जो कि लड़की के माता-पिता होने के कारण अपने-आप को लड़के वालों के आगे हीन समझते हैं, उनकी पूजा-अर्चना करना अपना सौभाग्य समझते हैं और अपना सर्वस्व लुटाकर भी लड़की का विवाह कर देना ही अपना धर्म मानते हैं। इस प्रकार इस नाटक में भी लेखक के प्रगतिशील दृष्टिकोण का यथेष्ट परिचय मिल जाता है। चरित्र-चित्रण यद्यपि काफ़ी कौशल के साथ किया गया है, तथापि अधिकांश पात्र टाइप हैं। उनमें कुछ रूढ़िवादी विचारधारा के प्रतिनिधि हैं और शेष प्रगतिशील दृष्टिकोण के प्रतीक हैं। इस एकांकी में भी कुछ अनावश्यक विस्तार है, जिसको लेखक अपने सिद्धांत-प्रतिपादन के मोह के कारण कम नहीं कर सका। नाटक का विषय यद्यपि पुराना और घिसा हुआ है, तो भी लेखक ने उसे विशेष सजीवता प्रदान करते हुए मौलिकता का प्रदर्शन किया है।

तीसरे नाटक 'गुड बाई दर्देदिल' में श्री यशपाल ने पुनः अपने प्रगतिवादी दृष्टिकोण का परिचय देते हुए यह दिखाया है कि यदि मनुष्य के दिल में मनुष्य-मात्र के लिए, विशेषतः ग़रीबों के लिए, दर्द नहीं है तो प्रणय के क्षेत्र में उसके दर्देदिल को कोरा यौन-आकर्षण ही कहा जायेगा। ऐसे लोगों का दर्देदिल का दावा केवल अभिनय मात्र है, विडम्बना है। नाटक का नायक रणजीत विलायत से लौटा हुआ एक फ़ैशनेबल युवक है। वह शशि से प्रेम करता है। अपने मित्र केशव के साथ वह शशि के बंगले पर ब्रिज की पार्टी में सम्मिलित होने के बहाने शशि से मिलने जा रहा है। रास्ते में उसके रिक्शा का एक कुली चट्टान से घायल होकर गिर पड़ता है। पर रणजीत को उस कुली के घायल हो जाने पर सहानुभूति तो नहीं होती, बल्कि इस कारण विलम्ब हो जाने पर क्रोध आता है। शशि बड़ी भावुक और कोमलहृदया है। जब उसे रणजीत के इस व्यवहार से उसके सच्चे स्वभाव का पता लगता है, तो वह रणजीत के सारे दर्देदिल और प्रणय-भाव को अपने प्रति उसका केवल यौन-आकर्षण जानकर उसे ठुकरा देती है।

इस नाटक में भी यशपाल जी ने अपने प्रगतिवादी सिद्धांतों का ग़ुबार निकालने के उद्देश्य से वर्मा तथा शर्मा नामक दो पात्रों की अवतारणा की है और इनके वार्तालाप में पूंजीपतियों के व्यवहार की कड़ी आलोचना की है, जिनकी दृष्टि में ग़रीबों के जीवन और प्राणों का कोई मूल्य नहीं। यद्यपि यह संवाद अरोचक नहीं है तथापि कथानक के विकास के साथ इसका कोई

संबंध नहीं है। अन्य सभी प्रकार से यह नाटक सुन्दर है।

'सराय के बाहर' (१९५३) में कृष्णचन्द्र के निम्नलिखित आठ एकांकी संगृहीत हैं—बेकारी, हजामत, दरवाज़ा, नीलकण्ठ, क़ाहिरा की एक शाम, सराय के बाहर, खूबसूरत राजकुमारी और मंगलीक। अपनी कहानियों की भाँति लेखक ने इन नाटकों में भी सामाजिक वास्तविकता को अपना विषय बनाया है, और समाज की नाना परिस्थितियों का यथार्थवादी रीति से दिग्दर्शन कराया है। इन एकांकियों के पात्र वास्तविक हैं, जो जीवन की गंभीर एवं महत्त्वपूर्ण समस्याओं की ओर संकेत करते हैं।

इनके अतिरिक्त एकांकी नाटकों के और भी अनेक संग्रह इन वर्षों में प्रकाशित हो चुके हैं, परन्तु ये प्रायः सामान्य कोटि के हैं और इन पर विचार करने की यहाँ आवश्यकता नहीं है। इन सामान्य एकांकी-संग्रहों में विट्ठलदास कोठारी के 'दहेज' (तीन एकांकी) और 'पुष्पाञ्जलि' (सात एकांकी), हरिकृष्ण मैणवाल के 'कृष्ण-वियोगिनी' (आठ एकांकी) तथा 'मानिनी गोपा' (सात एकांकी), विनोद रस्तोगी का 'पुरुष का पाप' (नौ एकांकी) और डा० कृष्णदत्त भारद्वाज का 'चार अभिनव एकांकी' आदि का नाम लिया जा सकता है।

ऊपर के विवेचन से स्पष्ट है कि यद्यपि इन वर्षों में सामान्य कोटि के एकांकी नाटक भी भारी संख्या में लिखे गये हैं, तथापि उच्च कोटि के कलापूर्ण एकांकियों की रचना भी इन वर्षों में विशेष रूप से हुई है, जिनमें हमें विषयों की विविधता और रोचकता के साथ-साथ नाटककारों की प्रतिभा, मौलिकता और प्रौढ़ कला-कौशल का यथेष्ट परिचय मिलता है। एकांकी का भविष्य और भी अधिक आशापूर्ण है।

नामानुक्रमणिका

अंबिकादत्त व्यास ७४, ७५, ८३
अकबर १०, ११
अभयकुमार यौधेय ३७३, ३८१–८२
अमानसिंह गोटिया ७६
अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' ६६-६७
अविनाशचन्द्र गुप्त ३१५
आग़ा हसन अमानत १२, २७, ३३०
आग़ा मुहम्मद हश्र काश्मीरी ९०, ९१, ९२, १२५, १७५
आज़म शाह २१
आर० के० याज्ञिक ७, ८, २४, २५
आर्या ८७
इन्द्रनाथ मदान ४०
इब्सन (हेनरिक) २०४, २०६, २४७, २४९, २९८, ३३७
उदयशंकर भट्ट ५, २०५, २०६, २०८, २१६–१८, २३२–३४, २३८–४०, २५६, २८०–८५, ३०६–७, ३४४–३४६, ३७३, ३७९, ३८३, ३८६–८७
उदितनारायणलाल ८४
उपेन्द्रनाथ 'अश्क' २०६, २०८, २३०–३१, २७१–७४, ३१०, ३११, ३७३, ३७९–८०, ३८३, ३८९–९१
ए० ए० मेकडानल (देखिए मेकडानल)
ए० बी० कीथ (देखिए कीथ)
एफ़० ई० की २४
एलिज़ाबेथ २
ओ नील २०६, ३०१
औरंगज़ेब ९, ११
कबीर १३
कमलाकान्त ३१५
कल्हण १५१
काञ्चन कवि ३२
कालिदास ६, २४, २६, २७–३१, ४५, ७६, ८२
कॉवस जी खटाऊ ८९
काशीनाथ खत्री ७६
काशीनाथ त्रिम्बक ३२
किशोरीलाल गोस्वामी ६७, ६८, ८०, ८१, ९९, १००
कीथ ४, ६, ८, १५, २०, २५, ५०, १२०, ३००
कुमारहृदय २९७, २९८
कृष्णचन्द्र ३३२, ३८३, ३९४, ३९५
कृष्णचन्द्र ज़ेबा ९६, १२५
कृष्णजीवन २१
कृष्णदत्त भारद्वाज ३९५
कृष्णदेवशरणसिंह गोप ७५, ७६
कृष्ण मिश्र २१, ३२
कृष्ण शर्मा १८
केशवराम भट्ट ८५
कैलाशनाथ भटनागर २४१, ३४४, ३५२
खड्ग बहादुर मल्ल ७५, ८०
खुरशेदजी बल्लीवाला ८९
गंगाप्रसाद ११३
गणपति शास्त्री २००
गणेशप्रसाद द्विवेदी २१२

गदाधर भट्ट ८३
गाल्सवर्दी २०३, २९९, ३०१
गिरिधरदास २३, २५
गिरिधरलाल ११३
गिरीश घोष १९२, २०२
गुलाबराय ३
गेटे २४, ८२
गोकुल चन्द्र २३१
गोपालचन्द्र २३, २५
गोपाल दामोदर तामस्कर १२५, १२६
गोपालराम गहमरी ८१, ११४
गोपीचन्द १७, ८७
गोपीनाथ पुरोहित ८७
गोविंददास सेठ ५, २०५, २०६, २०७, २०८ २१२–१६, २३४–३५, २४१–४६, २५८–७१, २८५–८९, २९५–९७, ३०७–३१०, ३५४, ३६१–६३, ३७३–३७५
गोविंद वल्लभ पन्त १२४, १४३–४६, २१९, २३१–३२, २७५
गोरचरण गोस्वामी ११३
घनानन्द बहुगुणा १९१, १९३–९५
चतुरसेन शास्त्री ३५४, ३६०–६१, ३७३, ३७८
चन्द्रगुप्त विद्यालंकार २०५ २०६, २०९–२१२
चन्द्रबरदाई ६१
चन्द्रराज भण्डारी १३०
चन्द्रशेखर पाण्डेय २७५–७६
चौरकवि ३१
जगदीश ३६३, ३७१–७२
जगदीशचन्द्र माथुर ३५४, ३५९–६०
जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी १९१
जगन्नाथप्रसाद 'मिलिन्द' १४६, ३४४, ३५२, ३७३, ३७७
जगन्नाथप्रसाद शर्मा १७५
जनेश्वर प्रसाद मायल ९२
जमुनादास मेहरा १९१, १९२
जयनाथ 'नलिन' ३७३, ३८०
जयशंकर प्रसाद १४८–१८०, १९६–२००, २७७–७८, ३०१
जहाँगीर १०, ११
जहाँगीर जी ८९
ज्वालाप्रसाद मिश्र ७६, ८३
जॉन गाल्सवर्दी (देखिए गाल्सवर्दी)
जार्ज बर्नार्ड शॉ २०४, २०६, २४७, २४९, २९९, ३०१, ३११, ३१७, ३३७
जी० पी० श्रीवास्तव १८१–८५, २०३
J.W. Marriot १५
Joseph Addison ८५, ८६
Tolstoy २०३
तुलसीदत्त शैदा १२५, १७५
तुलसीदास गोस्वामी ३, १६
तुलसी भाटिया ३७३, ३८२
तोता राम ७५, ८६
Thomas Hardy ३३४
दयानन्द सरस्वती (स्वामी) ८२
दयानाथ झा ३७३, ३७८
दशरथ ओझा ३४४, ३५४
द्वारिकानाथ गांगूली ८४
द्विजेन्द्रलाल राय २००, २०१, २०२, २७७
दादू १३
दामोदर शास्त्री ७६, ८३
दाहर १
दिङ्नाग २००
दुर्गाप्रसाद मिश्र ७५, ८५

देव २१, ३५
देवकीनन्दन तिवारी ८१
देवकीनन्दन त्रिपाठी ७३–७४, ८०, ८१
देवदत्त तिवारी ८३
देवदत्त शर्मा ८१
देवराज दिनेश २३८, ३४४, ३५३–५४, ३६०
देवीप्रसाद पूर्ण ११४
धनञ्जय १०५
धनञ्जय भट्ट 'सरल' ६८
धर्मप्रकाश आनन्द ३१५
नगेन्द्र १४१, १९९
नन्दलाल विश्वनाथ ८३
नवलसिंह ८१
नानक (गुरु) १३, १४
नारायण प्रसाद 'बेताब' ९०, १२४–२५, १२६
नारायण सहाय ११३
नेवाज २१
पद्माकर ३५
पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी २०३
परमेश्वर मिश्र ११४
प्रतापनारायण मिश्र ७३
प्रिन्सेप ८२
प्रेमचंद (मुंशी) १३७–३९, १९१, १९२, १९३, २०३, २५७, ३३४
पूरण भगत १७
पृथ्वीनाथ शर्मा २०७, २५३–५५, ३६३–६६
पृथ्वीराज कपूर ८,३३३
फ्रॉयड् ३५
बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' ७१–७२
बद्रीनाथ भट्ट ११४–११८, ११९, १२४, १३०, १३५–३७, १८५–८७,
बनारसीदास 'करुणाकर' ३४४, ३५२–५३
बलदेवप्रसाद खरे १२५
बलदेवप्रसाद मिश्र ७५, ८१, १२४, १३०
ब्रजरत्नदास ३, ५, २२, ३६, ४०
ब्रजवासीदास २१
ब्राउनिंग २०७, २७७
बाण १५०
बालकृष्ण भट्ट ६८–७१, ७८–९, ८४–८५
बालचन्द नानचन्द शाह ३६०
बालमुकुन्द गुप्त ८३
बालेश्वर प्रसाद ३५, ८७
बेचन शर्मा 'उग्र' १४०–४२, १८७, १८८, २४०–४१, ३१२–१३
बैकुण्ठनाथ दुग्गल ३१५, ३४४, ३४६–४८
बोहृतलिंक ८२
भगवतीचरण वर्मा २०८, २८९–९०, ३१३
भगवतीप्रसाद वाजपेयी २०७, २९३–९५
भट्टनारायण ७६, ११४
भरत मुनि ६, ६८, १०४
भवभूति ६, ८३, २००
भारतेन्दु हरिश्चन्द्र १, ५, २२, २८, २९–५७, ७८, ८३, ९९, २०८
भास २००
मथुराप्रसाद उपाध्याय ८७
मदारीलाल २८
मलूकदास १३
मल्हारराव ४४
मसूद हसन रज़वी १२
महदी हसन एहसान ९०
महमूद गज़नवी ९
महावीरप्रसाद द्विवेदी १२
महावीरसिंह ११३
महिपालदेव ३६
माइकल मधुसूदनदत्त ६८, ८४, ८५, २०२, २२७
माखनलाल चतुर्वेदी १२४, १३०

माधव शुक्ल ३३१, ३३२
मिल्टन मार्क्स १६०
मिश्रबंधु १९१, १९२
मीर क़ासिम १२
मीर जाफ़र १२
मुहम्मद ग़ौरी ६
मेकडानल २५, ८२
मेक्स मूलर ८२
मैथिली शरण गुप्त १२४, १३०, २००, २७८–७९
मोनियर विलियम्स ८२
मोलिएर १८१, १८२
मोहनलाल 'जिज्ञासु' ३६३, ३६७–६९
मॉरिस मैटरलिक २०३
यतीन्द्रमोहन ठाकुर ३१
यशपाल ३८३, ३९२–३९४
यशवन्तसिंह २१
रघुवीरशरण 'मित्र' ३७३, ३८२
रत्नचन्द ७६, ८६
रमाशंकर व्यास ३५
रवीन्द्रनाथ ठाकुर २०२, २७७
रहीम १४
राङ्गेय राघव ३५४, ३६६–६७
राजकिशोर दे ८४
राजकृष्ण राय ११४
राजशेखर ३५
राजेन्द्र शर्मा ३८३, ३९२
राधाकृष्ण दास ३५, ३९, ६१–६६, ९९, १०९, ३३१, ३३२
राधाचरण गोस्वामी ७२–७३, ८०
राधेश्याम 'कथावाचक' ९०, ९१, १२४–२५, १२९
रामकुमार वर्मा २०८, ३०२, ३०४–३०६, ३३८–८६
रामकृष्ण वर्मा ८४
रामगुलाम ११३
रामचन्द्र वर्मा २०१, २०२
रामचंद्र शुक्ल ५, ३६
रामनरेश त्रिपाठी ३७३, ३८२
रामनारायण मिश्र ११४
रामबाबू सक्सेना १२, १३, २७, २८, ९०
रामेश्वर भट्ट ८३
रूपनारायण पाण्डेय २०१, २०२, २२७
रॉथ ८२
ललित प्रसाद शुक्ल २०३
लक्ष्मी प्रसाद पाण्डेय १८१
लल्लूलाल ३
लक्ष्मण शरण २२
लक्ष्मणसिंह १९१, १९२
लक्ष्मणसिंह (राजा) २६, २७, ५३, ८२–८३
लक्ष्मीनारायण मिश्र १९१–१९२, २०६, २०७, २१८, २४९–२५३, ३४३, ३४४, ३४९–३५१, ३५४, ३६३, ३७०–७४, ३८३, ३८७–३८८
लक्ष्मीप्रसाद ११३
लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय ५
लाल ३८३, ३९२
वल्लभाचार्य १६
व्रजचन्द्र ११३, ३३२
व्रजनन्दनसहाय ११३, ११४
व्रजनाथ ८५
व्रजवासीदास २१
वाजिद अली शाह १२, १३, ३३०
वाल्मीकि ३६३
विजयानन्द त्रिपाठी ८१, २००
विट्ठलदास कोठारी ३९५
विद्यापति २०, २१
विनायक प्रसाद 'तालिब' ८९
विनोद रस्तोगी ३९५
विन्टरनिट्ज़ ८२
विलियम जोन्स २४, ८२
विलियम प्रिन्सेप (दे० प्रिन्सेप)
विश्वनाथ सिंह २२
विश्वम्भर नाथ शर्मा 'कौशिक' १२४, १३०

विश्वंभर नाथ 'व्याकुल' ६२
विशाख दत्त ३२, १५६
विष्णु प्रभाकर ३१५, ३७३, ३७८
वी० मुखर्जी 'गुञ्जन' ३६३, ३६९-७०
वृन्दावन लाल वर्मा २२१, २७४–७५, ३४४, ३४८–४९, ३५४, ३५८–५९, ३७३, ३७५–७७, ३८३, ३८८–८९
वेदपाल खन्ना २९८, ३१५
शम्भुदयाल सक्सेना ३१५
शम्भुनाथ सिंह ३७३, ३८०–८१
श्यामसुन्दरदास ३६
श्रीकृष्ण हसरत ९४, १२५, १२८
श्रीकृष्ण लाल ४
श्रीमिवास दास ४२, ५८–६१, १०९
शालिग्राम ७४
शिखर चन्द्र जैन ५
शिवनन्दन सहाय ११३
शिवप्रसाद 'सितारे हिन्द' ५३
शीतला प्रसाद ८३
शूद्रक ८३, ११४
शेक्सपियर २, ४, २४, २५, ३५, ४५, ७६, ८६, ८७, २०१, २०२, २०३ ३१९
शैली २०७, २७७
सत्यनारायण 'कविरत्न' ११४, २००
सत्येन्द्र ३, २०६, २२९, ३६०–३६१
सत्येन्द्र शरत् ३८३, ३९१–९२
सद्गुरु शरण अवस्थी ३१३
सदानन्द अवस्थी ११४
संतोष ३७३, ३८२
सयाजी राव ४४
स्पेंसर १९६
स्विनबर्न २०८, २७७
सियाराम शरण गुप्त २१८–२१९
सिराजुद्दौला १२
सीताराम ८३, ११४, २००, २०२–२०३
सुदर्शन १२४, १३९–१४०, १८७–८८, २१९
सुदर्शनाचार्य ११३
सुमित्रानन्दन पन्त २०७, २९१–२९३
सूरदास ३
सेठ गोविंददास (देखिए गोविंददास सेठ)
सोमनाथ गुप्त ४, ६, १०, ११, १२, १७, २३, ३७
सोहराब जी ८९
सोहराब मोदी २१९
हक़ीक़तराय १७
ह्यूनसांग १५०
हरदत्त २००
हरयालुसिंह ८७, २००
हर्ष १, ८३, २००
हरिकृष्ण 'जौहर' १२५–१२६
हरिकृष्ण 'प्रेमी' २०५, २०६, २२१–२२९, २५७–२५८, २७५, २७९–२८०, ३४४, ३५१–३५२, ३५४–३५८
हरिकृष्ण मैणवाल ३९५
हरिनारायण ११४, ३१४–३१५
हरि राम १८, २२
हरिश्चन्द्र भारतेन्दु (देखिए भारतेन्दु हरिश्चन्द्र)
हरिश्चन्द्र सेठ २१३
हुसैन मियाँ 'ज़रीफ़' ८९
हृदयराम १८, २१
होमर २८५
क्षीरोद प्रसाद २०२
क्षेमीश्वर ३६

ग्रन्थ-सूची

अंगूर की बेटी २७५
अचलायतन २०२
अजातशत्रु १५२–५३
अंजना १२४, १३६–४०
अति अंधेर नगरी ८१
अधिकार का रक्षक ३१०-३११
अनघ २७८–२७६
अनर्घनलचरित ११३
अन्तःपुर का छिद्र २१६
अंधेर नगरी ३०, ४४, ७८
अंधेरे में उजाला २०३
अपराधी २५३–५४
अफ़ज़ल वध ३१२
अभिनव एकांकी ३०७
अभिमन्यु वध ७४, ११३
अभिशाप ३१५
अमरसिंह राठौर ७२
अम्बा २३८–३६
अर्जुन-मद-मर्दन ७४
अलग अलग रास्ते ३७३, ३८०
अली बाबा ८७, ८६
अवसान ३७३, ३८०
अश्रुमती नाटक ८५
अशोक २०५, २०६–२११, २१८
अशोक वन ३८३, ३८७–८८
आँखों में धूल १८१
आदिमार्ग ३८३, ३६१
आधी रात २५३
आधुनिक हिन्दी-नाटक १४०, १६६
आधुनिक हिन्दी साहित्य ५
आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास ४
आनन्दरघुनन्दन नाटक २२, २३
आनरेरी मैजिस्ट्रेट १८७, १८८
आहुति ७३, २२२–२३
इंडियन थिएटर ७, ८, २४, २५
इन्दर सभा १२, १३, २७, २८, ४६, ३३०
इन्साफ़े महमूद ८६
इशरत सभा ८६
ईलियड २८५
ईश्वर भक्ति ६१
उजबक १८७, ३१२
उत्तररामचरित ४, ६, ७, ८३, ११४, २००
उद्धव ११४
उद्धार ३५४–५५
उन्मुक्ति का बन्धन २०३
उर्वशी ११३
उलट फेर १८५
उषा-अनिरुद्ध नाटक ६१
उषा की विजय २६४, ३१५
ऋतुराज ३८३, ३८४–८५
एक-एक के तीन-तीन ८०
एक घूंट ३०१
एकादशी ३०७
एकी की बोले सभ्यता ८५
As You Like It ८७, २०२–२०३
Enjoyment of Drama १६०
Othello २०२
कंसवध ७३, ११४
क़त्ले नज़ीर ६०
कनेर ३८६
कमला २५६
क्या इसी को सभ्यता कहते हैं ८५
करुणाभरण २१
करुणालय ११४, १४८, १४६, २७७–७८

कर्ण २०५, २४१–४२
कर्तव्य २४३–४५
कर्पूरमंजरी ३०, ३३, ३५
कर्मपथ ३७३, ३७९
कर्बला १३७–३९
कलजुगी जनेऊ ८०
कलजुगी विवाह ८१
कलिकौतुक रूपक ७३, ३०१
कलिराज की सभा ६८
कल्प-वृक्ष ७५
कल्याणी-परिणय १४८, १४९
क्रांतिकारी ३७३, ३७९
कवि भारतेन्दु ३५४
कादम्बरी २३३
कामना १५३, १५८, १९६–२००
कामिनी कुसुम ११४
कारवाँ ३०१
कालिदास ३८३, ३८६
किंग रिचर्ड २०२
किंग लियर २०२
कीर्तिस्तम्भ ३५४, ३५६–५८
कुन्दमाला २००
कुर्सी मैन १८५
कुरुवनदहन ११४–१८, १३०
कुलीनता २३४–३५
कृष्णवियोगिनी ३९५
कृष्णाकुमारी ८४, २०२, २२७
कृष्णार्जुन युद्ध १२४, १३०, १३२
कृष्ण-सुदामा ९०
केटो ८६
केटोकृतान्त नाटक ८६
केवट ३७३, ३७६
कैण्डिडा ३११
कोणार्क ३५४
कौमुदी-महोत्सव ३८३, ३८४
Comedy of Errors ७६, ८६, ८७, २०२
खिलौने की खोज ३७३, ३७५
खुदा दोस्त ८९
खूबसूरत बला ९०
गंगा का बेटा २४०–२४१
गंगावतरण ९०, ९४, १२८–२९
गड़बड़झाला १८३–८४
ग़रीबी और अमीरी २६५–६७
गरुडध्वज २१८
ग्रामपाठशाला तथा निकृष्ट नौकरी ७६
ग्राम पंचायत ३८३, ३९२
ग़ुलामी का नशा १९१–९२
गुल बकावली ८९
गृहलक्ष्मी १९२
गोपीचन्द ८९
गोवध-निषेध-नाटक ७४
गोसंकट नाटक ७३, ७४
गौतम नन्द ३४४, ३५२
चक्रव्यूह ३६३, ३७०–७१
चण्ड कौशिक ३६, ३७
चण्ड प्रतिज्ञा २३१
चतुष्पथ ३०८
चन्द्रावली (देखिए श्री चन्द्रावली)
चन्द्रकला भानुकुमार ११४
चन्द्रगुप्त १३७, १५५–५६, २०१
चन्द्रहार ३७३, ३७८
चन्द्रहास १२४, १३०, १३१, १३२
चरवाहे ३८३, ३९०–९१
चाणक्यप्रतिज्ञा ३४४, ३५२
चाँद बीबी ८९
चाँदी की डिबिया २०३
चार अभिनव एकांकी ३९५
चार ऐतिहासिक एकांकी ३८३–८४
चार बेचारे १८७-८८
चारुदत्तम् ४८
चारुमित्रा ३०५
चित्रांगदा २०२, २७७
चिरकुमार सभा २०२
चुंगी की उम्मीदवारी १८५–८६
चौपट चपेट ६८, ८०, ९९

चौर-पञ्चाशिका ३१
चौरासी वैष्णवन की वार्ता ३
छठा बेटा २७२–७४
छत्रसाल २२६, ३५४, ३६०
छलना २६३–६५
छाया २५७–५८
जनमेजय का नागयज्ञ १५३
जय नारसिंह की ८०, ३०१
जय-पराजय २३०–३१
जस्टिस २०३
ज्योत्स्ना २६१-६३
जानकी मंगल ३३१
जानकी रामचरित्र नाटक १८, २२
ज़िन्दा लाश २०३
जीत में हार २७५-७६
जूलियस सीज़र २०२
जैसा काम वैसा परिणाम ७६
जैसे को तैसा ८१
झाँसी की रानी २१६
Tempest २०२
Tess ३३४
ठोक पीट कर वैद्यराज १८१
डाकघर २०२
Devil's Disciples ३११
तप्तासंवरण ५६
तन मन धन गोसाईं जी के अर्पण ८०
त्याग या ग्रहण २६०–६२
त्र्यहस्पर्श २०२
तार के खम्भे ३८३, ३६१
तारा २८६, २६०
ताराबाई २०१
तारीखे-अदबे-उर्दू १२
तिलोत्तमा १२४, १३०, १३१
तीन ऐतिहासिक रूपक ७७, ३०१
तुरकी हूर ६०
तुलसीदास १२४, १३०, १३२, १३३
तूफ़ान से पहले ३८६–६०
The Theatre १५
दमयन्ती-स्वयंवर ६८–६६
दशरूपक ४६, १०५
दस हज़ार ३०७
दहेज़ ३६५
दाहर २३२–३४
दिलफ़रोश ६३
दिलेर दिलशेर ८६
दीनू ३१५
दीप-निर्वाण ८५
दुःखिनी बाला ६१, ३०१
दुमदार आदमी १८३
दुर्गादास २०१
दुर्गावती १३५–३७
दुर्लभबन्धु ३०, ३५, ८६
दुविधा २५३
दूसरा उपाय ही क्या था ३१२
देवताओं की छाया में ३१०–३११
देवमाया-प्रपंच नाटक २१, १६६
देवीचन्द्रगुप्तम् १५६
दो एकांकी ३१३
दो नाटक ३०७
दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता ३
द्रौपदी स्वयंवर ६१
धनंजय-विजय ३०, ३२
धनुषयज्ञ नाटक ११३
धरती और आकाश ३७३, ३८०–८१
धर्मालाप ६२
ध्रुवतारिका ३८३, ३८४
ध्रुवस्वामिनी १५६–५७
धीरे-धीरे २७४–७५
धूमशिखा ३८३, ३८६
नक्शे का रंग २६७–६८
न घर का न घाट का १८५
नन्दोत्सव ७३
नल-दमयन्ती ११३
नवरस २६५–६७
नशे-नशे की बात ३८३, ३६२–६३
नहूष नाटक २३, २५

न्याय २०३
न्यायसभा नाटक ७६
नागानन्द ८३, ११४,२००
नागयज्ञ (देखिए जनमेजय का नागयज्ञ)
नाटक-निबंध ३०
नाट्य-शास्त्र ६, ६८, १०५
नाट्य-संभव ६८
नारी की साधना ३७३, ३८१
नीलकण्ठ ३७३, ३७५–७६
नील देवी ३०, ४२–४३, ३०१
नूरजहाँ २०१
नेत्रोन्मीलन १९१–९२
पगध्वनि ३७३, ३७८
पंचभूत ३०७
पंचरात्र २००
पत्नीप्रताप ९०, १२५
पद्मावती ६८, ८४
पद्मिनी २०२
परदे का अपर पार्श्व ३१२
पर्दे के पीछे ३८३, ३८७
पर्वत के पीछे ३८३, ३९२
पर्वदान ३६३, ३६७–६९
परिवर्तन ९१
परीक्षा ३०६
प्रकाश-स्तम्भ ३५४–५६
प्रचण्ड गोरक्षण ७४
प्रताप-प्रतिज्ञा १४६–४७
प्रतिशोध २२४–२५
प्रतिभा का विवाह ३११–१२
प्रतिमा नाटक २००
प्रद्युम्न-विजय ६६, ६७
प्रपंच नाटक ७६
प्रफुल्ल २०२
प्रबोधचन्द्रोदय २१, २२, ३२, ८३, १९६
प्रभासमिलन ७५, ८५
प्रभासयज्ञ ७५, ८५
प्रयाग रामागमन ७१–७२
प्रलय के पंख पर ३८३, ३८८
प्रवास नाटक ३०, ३१
प्रसाद के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन १७५
प्रह्लाद-चरित ५८, ३०१
प्रादुर्भाव ३६३, ३७१–७२
प्रायश्चित १४८, १४९, २०३
प्रेम की वेदी २५७
प्रेमजोगिनी ३०, ३३, ४१
प्रेमलीला ८७
पाकिस्तान २६३–६४
पाखण्ड-विडम्बन ३०, ३२
पाताल-विजय २३८
पाप-परिणाम १९१–९२
पारिजात-हरण २१
Pilgrims' Progress १९६
पुण्य-पर्व २१८–१९
पुरु-विक्रम ७४
पुरुष का पाप ३९५
पुष्पाञ्जलि ३९५
पूर्व की ओर ३४४, ३४८, ३४९
पृथ्वीराज की आँखें ३०५
पृथ्वीराजरासो ६१
पैंतरे ३७३, ३७९
Fairie Queene १८६, १९६
बनवीर नाटक ११४
बन्दर सभा २८
बन्धन २७५
बाल-विवाह ६८
बालविवाह नाटक ७३–७४
बीरवल ३५४, ३५८–५९
बुद्ध देव ९२
बूढ़े मुँह मुहासे ८०
बूढ़ा वर ११४
बेन चरित १२४, १३०
बैल छः टके को ८०
भक्त प्रह्लाद १२५
भंग तरंग ८०
भट्ट नाटकावली ६९
भ्रम जालक ७६, ८६
भाई-मियाँ ३१२
भागवत पुराण ७५
भाग्यचक्र २०८
भारत आरत ८०
भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ३५४, ३६१–६२
भारतेन्दु नाटकावली ३६, ४६
भारतजननी ३०, ४०, ४१

भारत-दर्पण ६६
भारत-दुर्दशा ३०, ३६, ४०, ७३
भारत-माता ४०, ३७३ ३८२
भारत-ललना ७५
भारत-सौभाग्य ७१, ७४
भीष्म १२४, १३०, २०१–२०२
भीष्म-प्रतिज्ञा ६०
भूदान-यज्ञ ३७३, ३७५
Much Ado About Nothing ११४, २०२
मत्स्यगंधा ५, २८०–८३
मदन-मंजरी ७६
मधुर मिलन १६१
मध्यम-व्यायोग २००
मन की उमंग ७५
मन भावन ८७
मनमोहन का जाल ११४
मन्दिर ३१४–१५
मयंकमंजरी ६७, ६८, १००
मरदानी औरत १८५
Merchant of Venice ३०, ३५, ८६
मर्यादा ३७३, ३८२
मशरिकी हूर ६१
महत्त्व किसे २६४–६५
महा अंधेर नगरी ८१
महात्मा ईसा १४०–१४२
महात्मा कबीर १२५, १२८
महाभारत ६०, ३३२
महाराणा प्रताप ६२–६६, ६६, १०६, ३३१, ३३२
महारानी पद्मावती ६२
महारास ७५
महावीरचरित ४८
माँ-बाप ३१५
माधवानल-कामकन्दला ७४
माधुरी रूपक ७५–७६, ३०१
मानव प्रताप ३५४, ३६०
मानव मन ३०८
मानिनी गोपा ३६५
मालती माधव ८३, २००
मालविकाग्निमित्र ८३, २००
मार मार कर हकीम १८६–८७
Modern Hindi Literature ४०
मित्र २२६–२७
मिस अमेरिकन १८५, १८७–८८
मीठी छुरी ६०
मीरा बाई ७५
मुक्ति का रहस्य १६२, २५०–५१
मुक्तधारा २०२
मुक्ति-पथ २१६–१८
मुक्ति-यज्ञ २२६, ३६०
मुछन्दर सभा २८
मुद्राराक्षस ७, ३०, ३२–३४, ३५२
मुद्रिका ३१३
मूर्खमण्डली २०२
मृच्छकटिक ४८, ६८, ८३, ११४, २००
मेघदूत ८२, ३८३, ३८६–८७
मेवाड़-पतन २०१
Measure for Measure २०२
मैं और केवल मैं ३१३
मैकबेथ ८७
मोरध्वज ७४
यशस्वी भोज ३४४, ३५३–५४
रंगभूमि ३३४
रजतरश्मि ३८३, ३८५
रणधीर और प्रेममोहिनी ४२, ५६–६०, ६१, १०६
रणभेरी ३१५
रत्नावली ७, ३०, ३१, ८३
रति-कुसुमायुध ७५
रहीम ३५४, ३६२–६३
रक्षाबंधन ८०, २२१–२२
राजतरंगिणी १५१
राजमुकुट २३१

राजयोग २५१
राज्यश्री १५०
राजस्थान-केसरी (देखिए महाराणा प्रताप)
राजा दिलीप १२५–२६
राजा शिवि १२५
राजारानी २०२
राधा २८०
राणा प्रताप २०१
रामचरितमानस १६
रामलीला नाटक ७६, ११३
रामलीला विहार नाटक १८, २२
रामवनयात्रा नाटक ११३
रामाभिषेक नाटक ११३
रामायण १८, २२
रावण २३८
राह के काँटे ३१५
राक्षस का मंदिर १९१, २५०–५१
रुक्मिणी-परिणय ६६, ६७
रुक्मिणी-मंगल २१, ८१
रुक्मिणी-हरण २०, ७३
रूपवती ११४
रेवा २०५, २११–१२
रेशमी टाई ३०५
रोमियो एण्ड जूलियट ८७, ८९
L' Amour Medecin १८२
Le Bourgoise Gentilhomme १८२
Le Medecin Malgre Lui १८१
Le Medecin Volant १८२
लबड़ धोंधों १८५–८६
लल्ला बाबू ८१
ललिता नाटिका ७५
लक्ष्मी का स्वागत ३०९–३१०
लक्ष्मी-सरस्वती-मिलन नाटक ७४
लावण्यवती सुदर्शन ७४
लैला-ओ-मजनूं ८९
लैलो निहार ८९
वत्सराज ३४४, ३४९
वरमाला १२४, १४३–४६
वह फिर आई थी ३१२
वारांगना रहस्य ७२
विक्रम विलास ८९
विक्रमोर्वशीय ४९
विकास २६९–७१
वितस्ता की लहरें ३४४, ३४९–५१
विद्यासुन्दर २२, ३०, ३१, ३२, ३३
विवाह विडम्बन ७५
विवाह विज्ञापन १८५–८६, १८७
विशाख १५०–५२
विश्वामित्र २८३–८४
विषपान ८४, २२७–२८
विषस्य विषमौषधम् ३०, ४४, ३०१
विसर्जन २०२
वीर अभिमन्यु ९१, ९६
वीर नारी ८४
वृद्ध विलाप ७२
वृहन्नला ६९
वेणीसंहार ४८, ७५, ७६, ८३, ११५
वेणुसंहार ६९, ७०
वेनिस का व्यापारी ८७
वेनिस का सौदागर ८७
वेश्यानाटक ८१
वेश्या विलास ८०
वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति ३०, ४३, ४४, ७८
वैधव्य कठोर दण्ड है या शांति २०२
शकुन्तला ४, ६, ७, २१, २४, २६–२७, ३१, ४६, ७६, ८२
शक विजय ३४४–४६
शक्ति पूजा ३६३, ३६९–७०
शंकर दिग्विजय १२४, १३०
शपथ ३४४, ३५१–५२
शमशाद सौसन ८५
शरत् और सरोजिनी ८५

शर्मिष्ठा ६८, ८४–८५
शशिगुप्त २१३–१६
शहीदे नाज़ ६०
श्रवणकुमार ६०, ६१
श्रीकृष्णावतार ६१
श्रीचन्द्रावली ३०, ३८–३९
श्रीदामा नाटक ७२–७३, ३०१
श्रीवत्स २४१
शाप या वर ३०८–३१०
शाहजहाँ २०१
शिवा साधना २२३–२४
शीरीं फ़रहाद ८६
शैतान ३११
सगर विजय २३९–४०
सगुन ३८३, ३८८
संग्राम १६१, १६२–६३
सज्जन १४८, १४६
सज्जाद सुम्बुल ८५
सती अनसूया (देखो पत्नी प्रताप)
सती नाटक ८५
सती प्रताप ३०, ३६, ६१
सत्य-हरिश्चन्द्र ३०, ३६–३८, ३६
संतोष कहाँ २६२–६३
संन्यासी १६१, २४६–५०
संयोगिता-स्वयंवर ५८,६१
संस्कृत ड्रामा ४, ६, ८, १५, २०, २५, ५०, १२०, ३००
सप्तम प्रतिमा ११४
सप्त किरण ३८३
सप्त रश्मि ३०५, ३०७
सब से बड़ा आदमी ३१३
समस्या का अन्त ३०७, ३८३, ३८६
समर्पण ३७३, ३७७
समाज १६१, १६३-६५
सम्राट् चन्द्रगुप्त ६२
सम्राट् समुद्रगुप्त ३५४
समुद्र गुप्त ३४४, ३४६–४८
सराय के बाहर ३८३, ३६४
सर्वस्व समर्पण ३१२
स्कन्दगुप्त १५४–५५
स्ट्राइफ़ (Strife) २०३
स्त्री का हृदय ३०७
स्त्री-चरित्र ८०
स्नेह या स्वर्ग ५, २८५–८६
स्वप्नभंग २२५–२६
स्वप्नवासवदत्ता ४८, २००
स्वर्ग की झलक २७१–७२
स्वर्गभूमि का यात्री ३६६–६७
स्वर्ण विहान २७६–८०
साध २५४–५५
साहब बहादुर १८२
साहसेन्द्र साहस ८७
साहित्य का सपूत १८५
सिकन्दर २१६
सितमगर ३१५
सिद्धांत-स्वातन्त्र्य २५६–६०
सिद्धार्थ-कुमार १३०, १३५
सिद्धार्थ बुद्ध ३४४, ३५२–५३
सिंदूर की होली २५१–५२
सिंधपतन (देखिए दाहर)
सिम्बेलीन २०२
सिल्वर बॉक्स २०३
Sister Beatrice २०३
सीता २७७
सीता-बनवास ६०
सीता-हरण ७३
सुख किसमें ३७३–७४
सुदामा नाटक ११३
सुरलता ३५
सुरेन्द्र विनोदिनी ८५
सूरदास ६०
सेवापथ २६०–६१
सैंकड़े में दस-दस ८०
सोहाग बिन्दी ३१२
हठी हमीर ७३
हड़ताल २०३
हनुमन्नाटक १८, २१
हरतालिका ७५

हरिवंश पुराण ७५
हरिश्चन्द्र ८९
हर्ष २१२–१३
हर्ष चरित १५०
हवाई डाक्टर १८२
हवाई मजलिस ८९
हातिम ताई ८९
हिन्दी एकांकी ३
हिन्दी नाटक साहित्य का इतिहास ४, ६, १०, ११, १२, १७, २३, ३७
हिन्दी नाट्य चिन्तन ५
हिन्दी नाट्य विमर्श ३
हिन्दी नाट्य साहित्य ३, ५, २२, ४०
हिन्दी लिटरेचर २४
हिन्दी साहित्य का इतिहास ५, ३६
हिस्ट्री ऑव उर्दू लिटरेचर १२, १३, २७, ९०
हिस्ट्री ऑव संस्कृत लिटरेचर २५
हिन्दी-उर्दू-नाटक ७६
हैमलेट २०२, ३१८

हमारा नवीन उत्कृष्ट प्रकाशन

अलंकार

अलंकार-प्रदीप—जिस प्रकार स्त्री की सुन्दरता आभूषणों से द्विगुण हो जाती है उसी प्रकार अलंकारों से विभूषित भाषा का सौन्दर्य दुगुना हो जाता है। भाषा को रोचक तथा आकर्षक एवं प्रभावोत्पादक बनाने के लिए अलंकारों का ज्ञान अत्यंत आवश्यक है—संसारचंद्र एम. ए. १।।।=)

आलोचना

आलोचना-शास्त्र—आलोचना जैसे गम्भीर विषय पर विभिन्न मतों एवं सिद्धान्तों पर विवेचन—मोहनवल्लभ पन्त एम. ए. २।।)

कवियों का विवेचनात्मक अध्ययन (पूर्वभाग)—चन्दबरदाई से लेकर रीतिकाल तक के प्रमुख कवियों तथा उनकी रचनाओं का आलोचनात्मक विवेचन—डा० सोमनाथ गुप्त २।।)

कवियों का विवेचनात्मक अध्ययन (उत्तरभाग)—भारतेन्दु से लेकर आज तक के विख्यात कवियों तथा उनकी रचनाओं का आलोचनात्मक विवेचन—साहित्याचार्य बृहद्वलसंयमी शास्त्री २।।)

प्राचीन महाकवि—प्राचीन युग के सात सर्वोत्कृष्ट हिंदी-कलाकारों की जीवनियों एवं रचनाओं का समीक्षात्मक अध्ययन—रामलाल सावल एम. ए. २।।)

आधुनिक महाकवि—भारतेन्दु काल से आज तक के सात सर्वोत्कृष्ट हिन्दी-कलाकारों की जीवनियों एवं रचनाओं का समीक्षात्मक अध्ययन—भवानीशंकर शास्त्री २)

हिन्दी-नाटक-साहित्य का आलोचनात्मक अध्ययन—आज तक के समस्त हिन्दी-नाटकों की विस्तृत एवं विद्वत्तापूर्ण आलोचना। नामानुक्रमणिका तथा ग्रन्थानुक्रमणिका सहित। बढ़िया काग़ज़। सुन्दर छपाई। बड़ा आकार। पृष्ठ संख्या ४२५। लेखक—डॉ० वेदपाल खन्ना एम. ए., पी-एच. डी. १०)

इतिहास

हिन्दी-साहित्य का आधुनिक युग—आधुनिक काल के हिन्दी-साहित्य के इतिहास पर एक दृष्टि—परशुराम एम. ए., एम. ओ. एल. १।।)